हिन्दी पत्रकारिता

जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण-भूमि

डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र
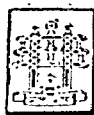
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

बाबा और माँ की स्मृति में
पूज्य पिता जी को—
जिन की साधना ने
मेरी साध को
जीवन दिया

आशीर्वचन

प्रस्तुत पुस्तक मेरे प्रिय छात्र आयुष्मान् डॉ० कृष्णविहारी मिश्र ने डी० फ़िल्० उपाधि के लिए प्रवन्ध के रूप में लिखी थी। इस में पत्रकारिता के क्षेत्र में कलकत्ते के योगदान का विवेचन है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ से ही कलकत्ते का विशिष्ट योग रहा है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के विकास में भी कलकत्ते का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। डॉ० मिश्र ने भूली-अधभूली कहानियों और पत्र-पत्रिकाओं की खोज कर के यह महत्त्वपूर्ण प्रवन्ध लिखा है। वे साहित्य के अच्छे विद्वान् हैं, यद्यपि पत्रकारिता के विकास की कहानी ही उन्हें कहनी थी तथापि आनुषंगिक रूप से साहित्यिक अध्ययन का कार्य भी किया है। वस्तुतः आरम्भ में साहित्य और पत्रकारिता एक-दूसरे से घुले-मिले थे। साहित्य के विकास में भी पत्र-पत्रिकाओं ने वहुत सहायता पहुँचायी है। इस प्रवन्ध में आधुनिक हिन्दी के विकास में कलकत्ते का महत्त्व अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है।

प्रवन्ध मे विस्तृत विवेचन के साथ "पहली वार यह तथ्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है कि हिन्दी पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की कहानी है। हिन्दी पत्रकारिता के आदि उन्नायक जातीय चेतना, युगवोध और अपने महत् दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत थे। कदाचित् इसी लिए विदेशी सरकार की दमन-नीति का उन्हें शिकार होना पड़ा था, उस के नृशंस व्यवहार की यातना झेलनी पड़ी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य-निर्माण की चेष्टा और हिन्दी-प्रचार आन्दोलन अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भयंकर कठिनाइयों का सामना करते हुए भी कितना तेज़ और पुष्ट था इस का साक्ष्य 'भारतमित्र' (सन् १८७८ ई०), 'सार सुधानिधि' (सन् १८७९ ई०) और 'उचितवक्ता' (सन् १८८० ई०) के जीर्ण पृष्ठों पर मुखर है।"

श्री कृष्णविहारी मिश्र ने कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के विवेचन के बहाने उस राष्ट्रीय चेतना का विकास भी स्पष्ट किया है जो हिन्दी पत्रकारिता का विशिष्ट रूप रहा है। उन्हों ने उस चेतना की विशाल पृष्ठभूमि पर रख कर हिन्दी-गद्य के पुष्ट विकास का संकेत दिया है। हिन्दी-गद्य किसी छोटे उद्देश्य से नहीं बल्कि विशाल राष्ट्रीय चेतना और मानवीय संवेदना के प्रचार का साधन बन कर निखरा है। वे बताते हैं कि "हिन्दी के निर्माण में अनेक दिशाओं से प्रयत्न हुए हैं और गद्य का वर्तमान रूप असंख्य साधनाओं का परिणाम है। किन्तु सब से बलवती साधना पुराने पत्रकारों की है। कलकत्ते के हिन्दी पत्रकारों ने इस गद्य के आरम्भिक रूप को सजाया-सँवारा और उसे पुनर्जागरण-कालीन भारतीय राष्ट्र की समस्त आकांक्षाओं और सम्भावनाओं के समर्थ माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया।"

इस प्रकार प्रबन्ध में हिन्दी पत्रकारिता के विकास के माध्यम से हिन्दी की सशक्त गद्यशैली और मानवीय संवेदना की उदार परम्परा का आकलन किया गया है।

मुझे, आशा है कि आधुनिक हिन्दी इतिहास के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि इस पुस्तक के लेखक डॉ० कृष्णविहारी मिश्र निरन्तर प्रबुद्ध भाव से साहित्य की सेवा करते रहें। मैं इन के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

रेक्टर,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५ : २६-६-६८

आभार

मेरी पहली प्रणति और कृतज्ञता सम्मान्य श्री प्रो० कल्याणमल लोढ़ा (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय) के प्रति है जिन के मन में प्रस्तुत प्रवन्ध की योजना उदित हुई और वड़े विश्वास के साथ जिस की क्रियान्विति का दायित्व उन्हों ने मेरे ऊपर सौंपा। लोढ़ाजी के निर्देशन में आधुनिक साहित्य के किसी नये विषय के अनुशीलन की आकुल इच्छा मेरे मन में थी, इसलिए जव उन्हों ने कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के अनुसन्धान का कार्य मुझे दिया तो सहज उत्साह के चलते विषय की कठिनाई की ओर मेरा ध्यान न गया। लोढ़ाजी सम्भावित कठिनाइयों और अवरोधों से परिचित थे। इसलिए उस ओर उन का सदैव ध्यान रहा। कार्य शुरू होने के पहले ही उन्हों ने एक प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान से विश्वविद्यालय का माध्यम ले कर आर्थिक सहायता का अनुबन्ध कराया। प्रवन्ध की रूप-रेखा तैयार की। शोध-विषयक नित्य की श्रमिक प्रगति से अवगत होते रहने की उत्सुकता और सक्रिय रुचि दिखायी। और इस प्रकार निरन्तर उत्साहित करते रहे। इस विकट कार्य को करते जिन असम्भावित कठिनाइयों से जूझना पड़ा, परम आदरणीय लोढ़ाजी-जैसा सहृदय गुरु न होता तो कदाचित् मेरा उत्साह टूट गया होता।

भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा आदरणीय श्रीमती रमा जैन ने प्रस्तुत प्रवन्ध की योजना के सारस्वत महत्त्व को समझ कर इस कार्य को पूरा करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के माध्यम से अपेक्षित आर्थिक सहायता दे कर मुझे उपकृत किया। श्रीमती जैन की इस उदारता के लिए मैं उन का तथा भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री आदरणीय श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का हृदय से आभारी हूँ। भाई साहव (श्री जैन साहव) की सदाशयता का मेरे मन पर गहरा असर है।

हिन्दी के प्रख्यात विद्वान् (स्व०) आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भौगोलिक दूरी के वावजूद समय-समय पर अपने सूक्ष्म-स्वस्थ निर्देशन-द्वारा मुझे अनुशीलन-दृष्टि दी। इस प्रवन्ध की भूमिका लिखने की उन की सहज इच्छा थी। किन्तु दुर्भाग्यवश वे समय से पहले चले गये। मेरी इस पुस्तक को प्रकाशित देख कर शायद उन्हें ही सव से अधिक खुशी होती।

किन्तु दैव-विधान में शायद व्यक्ति की खुशी-नाखुशी की कोई व्यवस्था नहीं है।

सामग्री-संकलन के उद्देश्य से मुझे विभिन्न स्थानों की यात्रा करनी पड़ी। काशी-प्रवास में हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने आदरणीय प्राध्यापक डॉ० विजय शंकर मल्ल से अपने शोध-ग्रन्थ के विषय में विचार-विमर्श किया और उन के महत्त्वपूर्ण सुझावों से लाभान्वित हुआ। हिन्दी नवलेखन के विश्रुत पुरस्कर्ता आदरणीय भाई डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अध्ययन-अनुशीलन और लेखन के विषय में सदा मुझे दिशा-दृष्टि दी है। कृती साहित्यकार होने के साथ ही डॉ० शिवप्रसाद जी प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ और भाषाविद् भी हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में भाषा पर भी एक स्वतन्त्र अध्याय है जिसे तैयार करने में शिवप्रसाद जी से विशेष सहायता मिली है। मैं इन दोनों विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

शोध-कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य व्यापार है। मेरे पूज्य पिता जी ने गार्हस्थिक दायित्व से मुझे मुक्त न कर दिया होता, पूज्य पितृव्य पं० काशीनाथ मिश्र का नित्य का उलाहना-उत्साह न मिला होता, परम आत्मीय श्री राधागोविन्द जी और अनुज श्री रंगन अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता छोड़ कर मेरी अनुकूल व्यवस्था के लिए सदैव सजग न रहे होते तो निश्चित रूप से मेरे कार्य में अपेक्षित रुचि, नैरन्तर्य और सक्रियता न आ पाती। मैं इन्हीं का हूँ, इन के प्रति कृतज्ञता क्या प्रकट करूँ।

परिशिष्ट की सामग्री मेरे निर्देशन में मेरे आत्मीय श्री अवधेश्वर नाथ मिश्र ने तैयार की है। विषयानुक्रमणिका और नामानुक्रमणिका भाई श्री प्रेमचन्द जैन, एम० ए० ने तैयार की। इन दोनों की आत्मीयता और श्रम मेरे लिए अविस्मरणीय है।

मेरे पूज्य गुरुदेव और हिन्दी के प्रख्यात महामनीषी आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने मुखर आशीर्वचन से मुझे प्रेरणा और बल दिया है। पण्डित जी आरम्भ से ही अपने व्यक्तिगत पत्रों, बात चीत और हार्दिक आशीर्वाद से मुझे विद्या के क्षेत्र में, पढ़ने-लिखने की दिशा में सदैव उत्साहित करते रहे हैं। भविष्य में भी मुझे पण्डित जी का आशीर्वाद और स्नेह-प्रकाश मिलता रहे, यही मनोकामना है।

पत्रकारिता के पुराने अध्येता-आचार्य (डॉक्टर) माननीय डॉ० रामसुभग सिंह जी ने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर और अपनी अत्यन्त व्यस्त चर्या में भी मेरी पुस्तक को पढ़ कर प्राक्कथन लिख देने की जो अशेष कृपा की है, उस के लिए किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ। सम्मान्य डॉक्टर साहब के इस प्राक्कथन को मैं पुरानी पीढ़ी के अध्येता का नयी पीढ़ी के अनुसन्धित्सु को आशीर्वाद ही मानता हूँ। डॉक्टर साहब की इस महती कृपा (प्राक्कथन) से और पूज्य पण्डित जी के आशीर्वचन से मेरे प्रबन्ध की महत्ता-वृद्धि हुई है।

भारतीय ज्ञानपीठ के उन कर्मचारियों के प्रति जो मेरे प्रति स्नेह रखते हैं और जिन्हों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में विशेष रुचि ली है, आभारी हूँ। इस ग्रन्थ में मुद्रण-सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। अतः गम्भीर पाठकों से 'शुद्धिपत्र' देखने का

अनुरोध करूँगा। मुझे विश्वास है कि अगले संस्करण में इन मुद्रण-दोषों का परिहार हो जायेगा।

प्रस्तुत पुस्तक कलकत्ता विश्वविद्यालय-द्वारा डॉक्टरेट उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। मूल विषय और मूल नाम था, 'कलकत्ता की हिन्दी पत्रकारिता : उद्भव और विकास।' उद्देश्य था कलकत्ता की हिन्दी पत्रकारिता का अनुशीलन। प्रबन्ध पूरा हो जाने पर यह तथ्य सामने आया कि कलकत्ता की हिन्दी पत्रकारिता को केन्द्र में रख कर हिन्दी पत्रकारिता के अनुशीलन के माध्यम से सम्पूर्ण जातीय चेतना और खड़ी-बोली साहित्य की निर्माण भूमि का अध्ययन यह प्रबन्ध प्रस्तुत करता है। अन्ततः प्रस्तुत प्रबन्ध-द्वारा यह स्थापना सामने आती है कि कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता ने हिन्दी साहित्य की जातीय भूमिका का निर्माण किया। प्रस्तुत प्रबन्ध चूँकि हिन्दी पत्रकारिता के पूरे परिदृश्य, पुनर्जागरणकालीन राष्ट्रीय चेतना, संस्कृति और खड़ी-बोली-साहित्य की विकास दिशाओं का अध्ययन प्रस्तुत करता है, इस लिए इस के मूल नाम को बदल कर इसे अनुकूल नाम देकर प्रकाशित किया जाता है।

पूरा प्रबन्ध पाँच खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में आरम्भिक भारतीय पत्रकारिता का परिवेश-विवेचन और उपलब्ध सामग्री की वैशिष्ट्य-चर्चा है। दूसरे खण्ड में भी दो अध्याय हैं जिस में पत्रकारिता के दूसरे चरण की पृष्ठिका-चर्चा और उस युग के प्रमुख पत्रों की विशद-विवेचना जातीय चेतना के आलोक में की गयी है। तीसरे खण्ड में भी दो अध्याय हैं—१. बीसवीं शताब्दी का आरम्भ और हिन्दी पत्रकारिता का तीसरा दौर, २. तिलक युग की हिन्दी पत्रकारिता की विवेचना और पत्रकार कला सम्बन्धी विकासों की समीक्षा। चौथे खण्ड में गान्धीयुग की पत्रकारिता और दैनिक पत्रकारिता का अनुशीलन दिया गया है। पाँचवें खण्ड में तीन अध्याय हैं जिन में कलकत्ते के पुराने विशिष्ट पत्रकारों का परिचय देते पुरानी आलोकवर्षी पीढ़ी की विवेचना की गयी है। दूसरे अध्याय में साम्प्रतिक पत्रकारिता की अभाव-उपलब्धि की विस्तृत समीक्षा की गयी है। तीसरा अध्याय भाषा-सम्बन्धी विकास की विवेचना प्रस्तुत करता है। प्रबन्ध के प्रारम्भ में प्रस्ताविका है और अन्त में उपसंहार। इसी प्रकार शुरू में कुछ महत्त्वपूर्ण पुराने पत्रों की चित्रलिपियाँ दी गयी हैं और परिशिष्ट में पुराने पत्रों के प्रथम अंक की पहली सम्पादकीय टिप्पणी अविकल उद्धृत की गयी है; कुछ पत्रों की वार्षिक विषय-सूची दी गयी है जिस से पत्रकारिता का समग्र स्वरूप सामने आ सके।

अपने सहयोगियों, शुभचिन्तकों और उन तमाम लोगों के प्रति जिन से किसी भी रूप में थोड़ी भी सहायता मिली है, मेरे मन में अशेष सम्मान और कृतज्ञता का भाव है। इत्यलम्।

— *कृष्णबिहारी मिश्र*

वाराणसी, २०२५ (कार्तिकशुक्ल सप्तमी)

प्राक्कथन

मानव जीवन में पत्रकारिता का बड़ा महत्त्व है। भारतीय पत्रकार—प्रधानतः हिन्दी व कतिपय अन्य भाषाओं के पत्रकार—अपनी देशभक्ति के लिए बड़े विख्यात थे। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में उन्हों ने अपूर्व त्याग व बलिदान किया था। देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष तथा राष्ट्रीयता का प्रचार करना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते थे।

प्रारम्भ से ही हिन्दी पत्रकारिता अपने ऊँचे आदर्शों का पालन करती आ रही है। सदा से ही राष्ट्रीयता इस का मुख्य स्वर रहा है और स्वरूप सार्वदेशिक। राष्ट्रीय सम्मान और मर्यादा की रक्षा के लिए पत्रकारों ने अनेक कष्ट और यातनाएँ सहीं पर वे अपने कर्तव्य से विचलित नहीं हुए। भारतीय पत्रकारों ने पत्रकारिता का मानदण्ड सदैव ऊँचा बनाये रखा है।

आज देश के कोने-कोने से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। इस समय देश के विभिन्न भागों से हिन्दी में १७४ दैनिक पत्र प्रकाशित होते हैं जिन की पाठ्य संख्या ९ लाख ६० हज़ार है। १३ द्विसाप्ताहिक व त्रैसाप्ताहिक निकल रहे हैं जिन की पाठ्य संख्या १२ लाख २४ हज़ार है। अन्य १०५५ प्रकाशन हैं जिन की पाठ्य संख्या करीब २० लाख है। इस से स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में काफ़ी प्रगति हुई है।

इस का यह अर्थ नहीं कि हमारी पत्रकार-कला सर्वांगीण व समुन्नत हो गयी है। आधुनिक जगत् में इस कला ने जो स्तर प्राप्त कर लिया है उस से हम अभी कहीं दूर हैं। उस स्तर तक पहुँचने के लिए अभी हमें बहुत कुछ करना शेष है।

डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र कृत "हिन्दी पत्रकारिता : जातीय चेतना एवं खड़ी बोली साहित्य की निर्माण-भूमि" वस्तुतः इस विषय पर उपलब्ध पुस्तकों की बड़ी भारी कमी की पूर्ति करती है। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० मिश्र ने हिन्दी पत्रकारिता का विद्वत्तापूर्ण तथा गहन विवेचन किया है। पुस्तक की भाषा बड़ी सरल व सुन्दर है। मुझे पूरा भरोसा है कि यह पुस्तक इस विषय में रुचि रखने वाले लोगों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी।

डॉ० मिश्र के इस शोध-ग्रन्थ की जिन विशेषताओं ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया है उन में एक यह है कि हिन्दी पत्रकारिता के अनुशीलन के माध्यम से

लेखक ने राष्ट्रीयता की प्रायः सभी विकास-धाराओं का मूल्यांकन किया है। राजा राम-मोहन राय से ले कर आज तक जिन-जिन आलोक-शिखरों से राष्ट्रीय चेतना प्रकाशित, विकसित और उन्नत हुई है उन सब को बड़ी ईमानदारी और विवेकपूर्ण ढंग से लेखक ने प्रस्तुत किया है।

दूसरी बात जो मुझे प्रिय लगी है वह है लेखक की राष्ट्रीय दृष्टि जो अपने बीते राष्ट्रीय गौरव को इस ग्रन्थ के माध्यम से सामने रखती है। पुराने लोग अपने को नहीं बल्कि अपने देश, राष्ट्र और राष्ट्रीय संस्कृति को महत्त्व देते थे, डॉ० मिश्र का यह प्रबन्ध इसी तथ्य को पुष्ट और प्रमाणित करता है।

'देवनागर'-जैसे पत्र की वस्तु-विवेचना से यह ज्ञात होता है कि उस काल में कठिन राष्ट्रीय और सांस्कृतिक समस्याओं का हल अपने अग्रज कितने सहज ढंग से ढूँढ लेते थे। देश की भावात्मक और सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण रखने वाले उन के वे प्रयत्न आज भी महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी पत्रों की तेजस्वी वाणी को देखते हुए उस युग के राष्ट्रीय जागरण का पता चलता है। डॉ० मिश्र ने बड़े विस्तार से पुनर्जागरण-कालीन भारत के मानस का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इस प्रबन्ध में यह एक महत्त्व की बात दिखाई पड़ी।

यद्यपि डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र का यह प्रबन्ध पत्रकारिता का साहित्यिक अनुशीलन है, किन्तु इस में भाषा और साहित्य के विकास के साथ ही राजनीतिक चेतना के विकास की कहानी भी एक प्रकार से आ गयी है, जिस से इस पुस्तक की महिमा और बढ़ जाती है।

इस शोध-ग्रन्थ को देख कर मुझे विशेष प्रसन्नता इस लिए भी हुई कि इस में डॉ० मिश्र ने पत्रकारिता के अनुशीलन की एक प्रगतिशील और नयी दृष्टि दी है जो इस विषय के अध्येताओं के लिए सहायक सिद्ध होगी।

— रामसुभग सिंह

संचार तथा संसदीय कार्य-मन्त्री
भारत सरकार
नयी दिल्ली
२ नवम्बर १९६८

विषयानुक्रमणिका

प्रस्ताविका

आधुनिकता, पुनर्जागरण और पत्रकारिता–१; हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि और अतीत पत्रकारिता की विशिष्ट रेखाएँ–२; पत्रकारिता के साहित्यिक अनुशीलन का औचित्य–४; विभिन्न चरणों के नामकरण का प्रश्न–६; हिन्दी पत्रकारिता-सम्बन्धी कार्य : अभाव उपलब्धि–७; प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य–१०

● **प्रथम खण्ड**

१. भारतीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता का उदय–पृष्ठ १५

भारतीय नवजागरण और उस के आदि उन्नायक राजा राममोहन राय–१५; भारत में अँगरेजी शिक्षा का प्रवेश–१७; भारत में पत्रकारिता : प्रारम्भिक स्थितियाँ–१७; युरोपीय पत्रकार और बर्तानियाँ सरकार–१९; मिशनरी पत्र–१९; भारतीय पत्रकारिता की सही शुरूआत : बंगीय परिवेश–२०; बंगाल के बाहर के देशी पत्र–२१; भारतीय पत्रकारिता और सरकारी दमननीति २२; मेटकाफ़ की उदार नीति–२४; देश-दशा–२५; साम्राज्यवाद का विकृत रूप : आर्थिक शोषण–२६; भारतीय प्रजा का असन्तोष और राष्ट्रीय चेतना का विकास–२८; सन् १८५७ ई० का प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम–२९; कलकत्ता की विशिष्टता–३०; हिन्दी का पहला पत्र : विभिन्न धारणाएँ–३०; उदन्तमार्तण्ड–३१; प्रजामित्र–३३; साम्यदण्ड मार्तण्ड–३४; हिन्दी का प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण'–३४;

२. कलकत्ते के आरम्भिक पत्र : उपलब्ध सामग्री की विवेचना—पृ० ३५

आरम्भिक पत्रकारिता के उन्नायक–३६; हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्तमार्तण्ड'–३६; बंगदूत–४५; हिन्दी का प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण'–४७;

● **द्वितीय खण्ड**

३. राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति दूसरे दौर की हिन्दीपत्रकारिता पृष्ठिका चर्चा–पृ० ५७

भारतीय पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन–५७; सन् १८५७ का परवर्ती

जातीय परिवेश–५७; सांस्कृतिक आन्दोलन की राष्ट्रीय उपलब्धि–५९; रामकृष्ण-परमहंस की साधना–६०; उपलब्धि–६०; अद्वैत की मानवीय भूमिका–६०; ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन और पाश्चात्य प्रभाव–६२; रामकृष्ण और केशवचन्द्र सेन–६२; शोषित वर्ग के उन्नयन की चिन्ता और उपक्रम–६३; हिन्दी के प्रति केशवचन्द्र की दृष्टि–६४; महर्षि दयानन्द का विश्वास और उपलब्धि–६५; दयानन्द का पाण्डित्य : एक उपलब्धि—एक अभाव–६५; दयानन्द की प्रगतिशीलता–६६; देशोद्धार का प्रश्न और हिन्दी की महत्ता–६६;सर्व संघ-समन्वय की असफल चेष्टा–६७; दयानन्द और केशवचन्द्र की अतिवादिता–६८; समन्वयवादी स्वामी विवेकानन्द–६९; जातीय संस्कार का आग्रह–६९; वेदान्त और विवेकानन्द–७०; आधुनिक विज्ञान : भारत की मुख्य आवश्यकता–७१; स्वतन्त्रता-प्रीति और शक्ति की उपासना–७१; दृश्यमान लोक और विवेकानन्द की दृष्टि–७१; विवेकानन्द का राष्ट्रीय अवदान–७२; देवेन्द्रनाथ टैगोर और तत्त्वबोधिनी सभा–७३; पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर–७३; नयी शिक्षा तथा अन्य सुधार–७४; एक महत् व्यक्तित्व–७४; बंकिमचन्द्र और वन्देमातरम्–७५; रानाडे और प्रार्थना सभा–७६; एनीबेसेन्ट का राष्ट्रीय महत्त्व ७७; हिन्दू मेला और राजनारायण बोस–७८; सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और तत्कालीन जातीय परिवेश–७९; इण्डियन एसोसिएशन : 'बंगाली' नामक पत्र और उन की वाक्‌शक्ति–८०; क्रान्तिकारी आतंकवाद का बीजारोपण–८२; देश-दशा–८३; राजनीतिक जागरण और कांग्रेस की स्थापना–८४; अरविन्द और तिलक के राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ–८७; उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय पत्र–८८; वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट–८९; बंगीय साहित्य परिषद् की स्थापना और रवीन्द्रनाथ की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा–९०; नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना और हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु युग–९०;

४. राष्ट्रीयता का विकास और हिन्दी पत्रकारिता का दूसरा दौर—पृष्ठ–९२

भारतेन्दु-युग : युगीन परिवेश और मूल प्रवृत्ति–९२; दूसरा दौर : सामान्य विशेषताएँ और प्रमुख पत्र–९३; कलकत्ते के प्रमुख पत्र–९६; 'भारतमित्र' सामान्य परिचय–९६; सारसुधानिधि–९९; उचितवक्ता–१०१; भारतमित्र–१०२; 'भारतमित्र' का वस्तु-परिवेश और उद्देश्य–१०८; 'भारतमित्र' के संवाद : देश-दशा का आनयन–११०; सामाजिक सुधार और भारतमित्र–११३; वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट–११४; भाषा–११४; बिहारबन्धु की टिप्पणी और 'भारतमित्र' का उत्तर–११५; 'सारसुधानिधि' : संगठन पक्ष–११८; तत्कालीन पत्रकारों की निष्ठा और हिन्दी समाज–१२१; पत्रों का दायित्व : देशवासियों के राजनीतिक संस्कार के उन्नयन का प्रश्न–१२५; देशी पत्रों की स्वाधीनता का प्रश्न–१२७; जातीयस्वर–१३०;

क़ाबुल युद्ध की आर्थिक क्षति-पूर्ति का प्रश्न–१२३; प्रगतिशीलता–१२५; लार्ड लोटन के प्रति दृष्टि–१२६; भारतबन्धु से संघर्ष–१२७; देशवासियों को सलाह–१३९; लार्ड रिपन के प्रति एक आश्वास बोध–१४१; निराशा–१४१; सारसुधानिधि की सामाजिक दृष्टि–१४३; सुधार आन्दोलन और सारसुधानिधि १४४; सारसुधानिधि और स्वामी दयानन्द–१४५; सारसुधानिधि और महाराष्ट्रीय महिला रमणी रमा–१४६; साम्प्रदायिक दृष्टि–१४९; गोरक्षा का प्रश्न १५४; साम्प्रदायिक दशा–१५८; बेकारी की समस्या–१५९; देश-दशा और सरकार का दायित्व–१६१; किसानों की दुर्दशा का प्रश्न–१६२; सारसुधानिधि में प्रकाशित साहित्य–१६३; 'सारसुधानिधि' की साहित्यिक सामग्री : एक मूल्यांकन–१६८; भाषा और भाषा का प्रश्न–१७०; हिन्दी शिक्षा–१७१; हिन्दी भाषा–१७२; उपलब्धि–१७३;

५. उचितवक्ता–पृ० १७४

'उचितवक्ता' का संगठन पक्ष-१७४, संचालक-सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र १७७; विषय-वस्तु–१७८; उन्नीसवीं शताब्दी की जातीय चेतना और 'उचितवक्ता' का सम्पादकीय स्वर–१८४; विदेशी सरकार का खुला विरोध–१८५; स्वदेशी के प्रति आग्रह १८७; उचितवक्ता की जातीय दृष्टि–१८८; विभिन्न हिन्दी पत्रों से 'उचितवक्ता' का वाद-विवाद–१९५; पत्रकार की निष्ठा और 'उचितवक्ता' की दृष्टि–१९९; प्रेस एक्ट और 'उचितवक्ता'–२००; हिन्दी आन्दोलन और 'उचितवक्ता'–२०३; भाषा सम्बन्धी आदर्श–२०६; 'उचितवक्ता' की भाषा–२०७; सामाजिक विषयों के प्रति 'उचितवक्ता' की दृष्टि–२०८; राजभक्ति और उस का स्वरूप–२०९; हिन्दी बंगवासी–२११;

● तृतीय खण्ड

६. बीसवीं शताब्दी का आरम्भ और हिन्दी पत्रकारिता का तीसरा दौर–पृ० २१७

देश-दशा और वर्तानवी शासन–२१७; बंग-भंग की प्रतिक्रिया और राष्ट्रीय आन्दोलन का नया नेतृत्व–२१८; स्वदेशी–आन्दोलन–२१९; स्वदेशी आन्दोलन और 'वन्दे-मातरम्'–२२०; स्वदेशी आन्दोलन की भावात्मक पीठिका–२२१; स्वदेशी आन्दोलन की वैचारिक भूमिका–२२१; स्वदेशी आन्दोलन के सन्दर्भ में सत्याग्रह–२२२; श्री अरविन्द और प्रच्छन्न हिंसापरक राजनीतिक संगठन–२२२; स्वदेशी आन्दोलन का रचनात्मक पक्ष और रवीन्द्रनाथ का जातीय अवदान–२२५; इस युग के बंगाली पत्र और उन का मुख्य स्वर–२२७; हिन्दी पत्रकारिता का तीसरा दौर और उस की मुख्य विशेषताएँ–२२८; कलकत्ते की पत्रकारिता और बाबू बालमुकुन्द गुप्त–२३०;

गुप्तजी का 'भारतमित्र' में प्रवेश–२३२; 'भारतमित्र' के सम्बन्ध में गुप्तजी का मत–२३३; लॉर्ड कर्जन के कुकृत्य और शिवशम्भु के चिट्ठे की पहली किश्त–समाहृत–२३३; लार्ड कर्जन के दूसरी बार भारत के गवर्नर जेनरल होकर आने पर भारतमित्र द्वारा उनका स्वागत–२३५; भारत के चारित्र्य पर कर्जन का आरोप और 'भारतमित्र'-द्वारा उस का उत्तर–२३६; 'भारतमित्र' सम्पादक का आदर्श–२३७; भारतमित्र और लार्ड कर्जन की विदाई–२३८; वंग भंग और भारतमित्र–२३८; स्वदेशी आन्दोलन पर सरकारी कुदृष्टि और भारतमित्र की टिप्पणी–२४०; भारत-मित्र के टेसू–२४१; भारतमित्र का जातीय अवदान–२४३; आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और भारतमित्र-सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त का व्याकरण सम्बन्धी संघर्ष–२४४; बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों के अन्य हिन्दी पत्र–२४६; सारस्वत सर्वस्व–२४६; वैश्योपकारक–२४६; उद्देश्य–२४७; जातीय स्वर–२४८; लार्ड कर्जन की विदाई–२४९; स्वदेशी आन्दोलन और वैश्योपकारक–२५१; वैश्योपकारक और सामाजिक सुधार–२५४; सीठने की प्रथा के विरुद्ध वैश्योपकारक आन्दोलन–२५५; फाग–२५८;

७. हिन्दी पत्रकारिता का तिलक युग–पृ० २६०

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशक और लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व–२६०; तिलक युग की हिंसापरक राजनीतिधारा और तिलक का दृष्टिकोण–२६५; तिलक युग की मूल चेतना : कलकत्ते के हिन्दी पत्र–२६७;

८. कलकत्ते का राजनीतिक हिन्दी मासिक पत्र 'नृसिंह'–पृ० २६९

'नृसिंह' का उद्देश्य–२७०; 'नृसिंह' शब्द का विशिष्ट अर्थ–२७२; 'स्वराज्य की आवश्यकता' : तिलक युग के भारत की राजनीतिक क्षुधा-२७२; कांग्रेस का गरम दल और 'नृसिंह' की नीति–२७३; 'नृसिंह' की जातीय दृष्टि–२७४; युग के नेता के आदर्शों का 'नृसिंह' में आनयन–२७६; अँगरेजों की संकीर्ण न्याय-व्यवस्था–२७८; ऐंग्लो इंडियन पत्रों के अनौचित्य का निरास–२८०; राष्ट्रभाषा का प्रश्न–२८०;

९. देवनागरी लिपि का उन्नायक पत्र 'देवनागर'–पृ० २८४

उन्नीसवीं शताब्दी का वंगीय सांस्कृतिक परिवेश और जस्टिस सारदा चरण मित्र-२८४; एक लिपि विस्तार परिषद् और देवनागर का आविर्भाव- २८४; देवनागर का प्रकाशन-काल : एक विवाद–२८५; भारतीय पत्रकारिता का सशक्त और नवीन प्रयोग–२८९; प्रकाशन सम्बन्धी कठिनाइयाँ–२९२; देवनागर की अप्रतिम रूपरेखा और सुधीजनों की उदासीनता–२९४; हिन्दी भाषा का पक्ष समर्थन–२९५; सम्पाद-कीय दृष्टिकोण २९८; लिप्यन्तर की पद्धति २९८; साम्प्रतिक चेतना–२९९; देवनागर में प्रकाशित साहित्य और देवनागर के सहयोगी लेखक–३०१; भावात्मक

एकता का संकेत-३०१; बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशक की हिन्दी पत्रकारिता का वैशिष्ट्य-निष्कर्ष-३०३;

● चतुर्थ खण्ड

१०. हिन्दी पत्रकारिता का गान्धी-युग-पृ० ३०७

गान्धी-युग का राजनीतिक परिवेश-३०७; सांस्कृतिक अवदान-३१०; युगीन चेतना पर गान्धी के व्यक्तित्व का प्रभाव-३११; गान्धी-युग और हिन्दी का छायावाद युग-३११; गान्धी-युग की पत्रकारिता-३१२; हिन्दी पत्रकारिता-३१३; मतवाला-३१५;

११. 'आत्म परिचय' मतवाला साप्ताहिक पत्र—पृ० ३१७

मतवाला का उद्देश्य-३२०; 'मतवाला' की वैशिष्ट्य-चर्चा-३२१; 'मतवाला' की वस्तु-विवेचना-३२३; 'मतवाला' का सम्पादकीय स्वर : जातीय दृष्टि-३२४; देश-दशा और मतवाला की स्तम्भ टिप्पणी-३२८; 'मतवाला' की सामाजिक दृष्टि-३३०; साहित्यिक अवदान-३३१; विभिन्न पत्रों से विवाद-३३२; 'मतवाला' पर विशिष्ट सम्मतियाँ-३३४; सेनापति-३३६, प्रकाशन काल और उद्देश्य-३३६, वस्तु-विवेचना-३३८; तलवार की तारीफ़-३३९; विशिष्ट शुभकामनाएँ-३४१; हिन्दू पंच-३४२; श्रीकृष्ण सन्देश-३४४; श्रीकृष्ण-सन्देश के सम्बन्ध में लोकमत-३४५; वर्तमान, कानपुर-३४५, उपन्यास तरंग—कलकत्ता-३४५; किसान, कानपुर-३४६; समन्वय-३४६; सरोज-३४८; सरोज के प्रति-३५०; विशाल भारत-३५२; विरहिणी पर व्यंग-३५५;

१२. कलकत्ते के दैनिक पत्र-पृ० ३५७

समाचार सुधावर्षण-३५७; भारतमित्र-३५७; कलकत्ता समाचार-३६१; विश्वमित्र-३६४; स्वतन्त्र-३६७;

● पंचम खण्ड

१३. कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के विशिष्ट उन्नायक-पृ० ३७५

पुराने पत्रकारों का आदर्श, उद्देश्य और कठिनाइयाँ-३७५; कलकत्ते के पत्रकारों का राष्ट्रीय और साहित्यिक महत्व-३७७; हिन्दी के प्रथम पत्रकार पं० युगलकिशोर शुक्ल ३७९; अहिन्दी-भाषी बाबू श्यामसुन्दर सेन-३८१; 'भारतमित्र' के संस्थापक-सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र-३८२; हिन्दी पत्रकारिता के महान् पुरस्कर्ता पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र-३८४; सारसुधानिधि-सम्पादक पं० सदानन्द मिश्र-३८९; 'हिन्दी बंगवासी' के आदि सम्पादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती-३९१; प्रसिद्ध

शैलीकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त–३९४; सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी–३९७; उग्र राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर–४०१; स्वदेशी आन्दोलन की प्रेरणा और पत्रकार पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे–४०४; विश्वमित्र के संचालक-पत्रकार बाबू बालमुकुन्द अग्रवाल–४०६; 'हिन्दी-भूषण' आचार्य शिवपूजन सहाय–४०८; हिन्दी के विश्रुत पत्रकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी–४१०;

१४. साम्प्रतिक पत्रकारिता—आदर्शों में विघटन और मनोबल का ह्रास–पृ० ४१३

साम्प्रतिक परिवेश—४१३; सरकारी सहायता : देशी सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति ४१५; औद्योगिक प्रगति : उपलब्धि और अवरोध–४१६; वर्तमान पत्रकारिता और वाक्-स्वातन्त्र्य–४१७; पत्रकार का दायित्व : वर्तमान स्थिति–४१८; हिन्दी समाज और वर्तमान पत्रकारिता–४२२; नयी जागृति की अपेक्षा–४२४ ।

१५. हिन्दी गद्य के निर्माण में कलकत्ते की पत्रकारिता का योग–पृ० ४२६

गद्य की विकास-दिशाएँ–४२७; अविकसित गद्य रूप और कलकत्ते के हिन्दी पत्र–४२८;

● उपसंहार–पृ० ४३९

● परिशिष्ट : क

'उदन्तमार्तण्ड', 'बंगदूत', 'भारतमित्र', 'सारसुधानिधि', 'उचितवक्ता', 'देवनागर', और 'मतवाला' के प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का अविकल उद्धरण-संकलन उदन्तमार्तण्ड–पृ० ४४७; बंगदूत–४४८; भारतमित्र–४५०; सारसुधानिधि–४५२; प्रयोजन–४५४; प्रतिज्ञा–४५५; उचितवक्ता–४५५ देवनागर–४५९; मतवाला–४६५;

● परिशिष्ट : ख

(क) विषयानुक्रमणिका–पृ० ४७३

(ख) देवनागर–४७३, वत्सर–१–अंक १–४७३; अंक २–४७३; अंक ३–४७४; अंक ४–४७५; अंक ५–४७५; अंक ६–४७६; अंक ७–४७७; चित्रफलक आदि–४७८; अंक ८–४७८; अंक ९–४७९; चित्रफलक आदि–४७९; अंक १०–४७९; अंक ११–४८०; फलक चित्र आदि–४८०; अंक १२–४८०; चित्रफलक–४८१; देवनागर में प्रकाशित होने वाली हिन्दी भाषा और लिपि के प्रचार-प्रसार के

प्रयत्नों की कुछ मुख्य सूचनाओं के उद्धरण–४८१; हिन्दी भाषा और लिपि के पक्ष-समर्थन में अन्य भाषाओं में लिखे गये जो निबन्ध 'देवनागर' में प्रकाशित होते थे, उन से कुछ मुख्य उद्धरण–४८४; देवनागर पर विशिष्ट व्यक्तियों तथा पत्रों की सम्मतियाँ–४८८;

(ग) मतवाला–४९१;

वर्ष १ अंक १–४९२; वर्ष १ अंक १६–४९३; वर्ष १ अंक ३१–४९४

(घ) सरोज–४९५;

वर्ष २ अंक १–४९५; वर्ष २ अंक १ की चित्र सूची–४९६

(ङ) हिन्दू पञ्च–(बलिदान अंक) ४९७,

विषय-सूची—प्राचीन भारत के बलिदान–४९७, मध्यकालीन भारत के बलिदान-४९८; वर्तमान भारत के बलिदान–४९९; भूमिका–५००;

(च) सहायक आधार–पृ० ५०२

व्यक्ति–५०२; संस्था–५०२; साहित्य–५०४; अँगरेज़ी पुस्तकें–५०४; पत्रिकाएँ ५०४

नामानुक्रमणिका–५०५

शुद्धि पत्र

प्रस्ताविका

आधुनिकता, पुनर्जागरण और पत्रकारिता

पत्रकारिता आधुनिकता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। आधुनिकता उस सांस्कृतिक संचेतना का नाम है जिस ने वैज्ञानिक आलोक से मानवीय धरातल के विभिन्न स्तरों को उजागर किया। भारत में आधुनिकता का प्रवेश नव-जागरण के साथ हुआ और हमारे अन्दर एक ऐसी चेतना उत्पन्न हुई जिस से पश्चिमी जगत् को अधिकाधिक जानने-समझने के लिए हम उत्सुक हो उठे। इस के लिए अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान आवश्यक था। सुधारवादी आन्दोलन के आदि संचालक और भारतीय नवजागरण के उन्नायक राजा राम मोहन रॉय ने इस आवश्यकता को समझा और अँगरेज़ी शिक्षा-प्रचार का पक्षसमर्थन किया। इस प्रकार आधुनिकता के मूल वैशिष्ट्य की समग्रता को पूरी तरह आत्मसात् करने की भूमिका का निर्माण शुरू हुआ।

अँगरेज़ी शिक्षा ने देश के सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन की अपेक्षा उत्पन्न की। उक्त परिवर्तन की अपेक्षा रखने वाले भारतीयों के दो वर्ग थे : उन की दो स्वतन्त्र दृष्टियाँ थीं। एक वह जिस ने आधुनिकता को फ़ैशन के रूप में अपनाया और अँगरेज़ियत के रंग में रंग कर भारतीयता को अन्यथा दृष्टि से देखने लगा। दूसरा वर्ग अपने देश को युरोपीय जगत् के ज्ञानपक्ष से उस की शिक्षा, राजनीति, अर्थनीति और विज्ञान से—आलोकित करने का आकांक्षी था। भारतीय नवजागरण के पुरस्कर्ता इसी वर्ग के थे। अँगरेज़ियत के पीछे पागल नहीं थे बल्कि अपनी परम्परा को आधुनिक सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करने के लिए उसे एक नयी अर्थवत्ता देना चाहते थे। इस के लिए आवश्यक था पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से अपने को एक हद तक सम्पृक्त करना। वर्ग के ज्येष्ठ प्रतिनिधि राजा राममोहन रॉय थे, उन के साथ एक ऐसी स्वस्थ पर-म्परा आविर्भूत हुई जिस ने आधुनिक भारत ही नहीं सम्पूर्ण मानव जाति को उपकृत किया।

भारतवासी ब्रिटिश सरकार की अनुदारता से पीड़ित थे। राममोहन रॉय ने जिस सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया वह नये-नये सुधारकों और विचा-रकों का वैचारिक अवलम्ब पा कर निरन्तर विकासमान था। इस प्रकार, एक ओर सामाजिक कलुष-प्रक्षालन का महत् उपक्रम चल रहा था और दूसरी ओर हमारी

राजनीतिक चेतना प्रखर हो रही थी। राममोहन रॉय और उन के सहयोगी द्वारकानाथ टैगोर ने अनुभव किया था कि सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक सुधार आन्दोलन की अपेक्षित सक्रियता बनाये रखने के लिए स्वतन्त्र पत्रों की प्राथमिक आवश्यकता है। इसी दृष्टि से उन्हों ने अँगरेज़ी, बँगला, फ़ारसी और हिन्दी में कई पत्र प्रकाशित किये। पत्र-प्रकाशन की मूल दृष्टि को स्पष्ट करते हुए राजा राममोहन रॉय ने लिखा था, "मेरा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि जनता के सामने ऐसे बौद्धिक निबन्ध उपस्थित करूँ जो उन के अनुभव को बढ़ायें और सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध हों। मैं अपनी शक्ति-भर शासकों को उन की प्रजा की परिस्थितियों का सही परिचय देना चाहता हूँ और प्रजा को उन के शासकों-द्वारा स्थापित विधि-व्यवस्था से परिचित कराना चाहता हूँ ताकि शासक जनता को अधिक से अधिक सुविधा देने का अवसर पा सके और जनता उन उपायों से अवगत हो सके जिन के द्वारा शासकों से सुरक्षा पायी जा सके और अपनी उचित माँगें पूरी करायी जा सकें।[1] किन्तु सरकार समाचार-पत्रों के प्रति इतनी शंकालु थी कि मामूली-से कारणों पर भी साम्घातिक प्रहार करने को उद्यत रहती।[2] इस दमन-नीति से क्षुब्ध हो कर अपने पत्र 'बंगाल गज़ट' में राजा साहब ने लिखा था कि भारत के किसी निवासी के लिए जो सरकारी भवन की देहरी लाँघने में भी समर्थ नहीं हो पाता, पत्र-प्रकाशन के लिए सरकारी आज्ञा प्राप्त करना दुस्तर कार्य हो गया है। खुली अदालत में हलफ़नामा दाखिल करना कम अपमानजनक नहीं; फिर लाइसेन्स ज़ब्त किये जाने का खतरा सिर पर सदा झूला करता है। ऐसी दशा में पत्र का प्रकाशन रोक देना ही उचित है।[3] इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की आत्यन्तिक अनुदारता से भारतीय मानस पीड़ित और उन्मथित हो गया। अँगरेज़ी-शिक्षा का पहला स्वस्थ परिणाम यह था कि आधुनिक जगत् की अधुनातन राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को एक हद तक हम समझने लगे थे और पराधीनता से त्राण पाने की आतुरता हम में बढ़ने लगी थी।

हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि और अतीत पत्रकारिता की विशिष्ट रेखाएँ :

इसी संक्रमण काल में भारतीय पत्रकारिता का जन्म और विकास हुआ था। भारतीय नवजागरण का पहला अनुभव बंगाल ने किया था; बंगाल की खाड़ी से ही भारत में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। स्वभावतः भारतीय पत्रकारिता की जन्मभूमि बंगाल है और हिन्दी पत्रकारिता का जन्म और विकास भी कलकत्ता में ही हुआ। कलकत्ते की नींव १६९० में पड़ी थी। प्रारम्भ से ही

१. हेमेन्द्र प्रसाद घोष : द न्यूज़पेपर इन इण्डिया, पृ० २५-२६। २. वही, पृ० ३६।
३. कमलापति त्रिपाठी : पत्र और पत्रकार, पृ० ६२।

सुख-सुविधा के लिए इसे निरन्तर सजाया-सँवारा और आधुनिक साधन-सम्पन्न किया गया। १९वीं शती में नौकरी-धन्धे के उद्देश्य से पश्चिमोत्तर प्रदेश से अनेक हिन्दी भाषा-भाषी यहाँ आ गये थे। उन में कुछ अँगरेजी पढ़े-लिखे भी थे जो आधुनिक चेतना को धीरे-धीरे ग्रहण कर रहे थे। हिन्दी समाज को आधुनिकता से सम्पृक्त करने की महत्त्वाकांक्षा उन के मन में उठ रही थी। कलकत्ते में सहज-सुलभ आधुनिक साधन-सुविधाओं ने उन्हें भीतर-भीतर और प्रेरित किया। परिणाम हुआ हिन्दी के प्रथम (साप्ताहिक) पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' का प्रकाशन।

हिन्दी की यह ऐतिहासिक घटना कलकत्ते में सम्पन्न हुई जो हिन्दी-गद्य निर्माण की एक विराट् सम्भावना की सूचक थी। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७) के पूर्व कलकत्ते से अनेक हिन्दी-पत्र प्रकाशित हुए जिन में 'वंगदूत', 'प्रजामित्र', 'साम्यदन्त मार्त्तण्ड' और हिन्दी के प्रथम दैनिक समाचार-पत्र 'सुधावर्षण' की अभिज्ञता है और जिन्हें लक्ष्य कर पं० विष्णुदत्त शुक्ल ने 'माधुरी' में लिखा था कि "कलकत्ते में हिन्दी-पत्रों के सम्बन्ध में जब इतना काम हो चुका था, तब तक दूसरे किसी स्थान पर हिन्दी का एक भी समाचार-पत्र प्रकाशित नहीं हो सका था। इस सन्दर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि कलकत्ता-स्थित फ़ोर्ट विलियम कॉलेज और ईसाई मिशनरी समितियों का हिन्दी गद्य शैली के विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा है। डॉ० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने तो लिखा है कि 'यदि कलकत्ते को हिन्दी की आधुनिक गद्य शैली की जन्मभूमि कहा जाये तो कुछ अत्युक्ति न होगी'।"

१८५७ के परवर्ती काल में कलकत्ते से हिन्दी के अनेक तेजस्वी पत्र प्रकाशित हुए जिन में 'भारतमित्र', सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता' प्रमुख हैं। इन पत्रों का हिन्दी पत्रकारिता के दूसरे दौर के पत्रों में विशिष्ट स्थान है। क्यों कि इन्हों ने १९वीं शती के उत्तरार्ध की समग्र जातीय चेतना को आत्मसात् कर हिन्दी समाज के सांस्कृतिक और राजनीतिक उन्नयन में सक्रिय योग दिया। भाषा और शैली के निर्माण में भी इन का ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी समाज में राजनीतिक संस्कार और चेतना जगाने का दायित्व इन पत्रों पर था। तत्कालीन इतिहास को शृंखलित करने वाले अनेक तथ्य इन पत्रों में भरे पड़े हैं। ये पत्र युगीन साहित्यिक चेतना के प्रति भी पूर्ण सचेत थे। हिन्दी आन्दोलन का सजीव आनयन और पक्ष-समर्थन इन की एक प्रमुख विशेषता है। वास्तव में हिन्दी पत्रकारिता के इसी युग में समग्र भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की अनुकूल भूमि तैयार की गयी।

२०वीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों की हिन्दी पत्रकारिता का मूल स्वर उग्र राष्ट्रीयता का है। भाषा-आन्दोलन भी पत्रकारिता के माध्यम से

निरन्तर सशक्त हुआ। भाषा के साथ ही लिपि का आन्दोलन शुरू हुआ जिसे सार्वत्रिक व्याप्ति देने के लिए १९०७ में कलकत्ते से ही 'देवनागर' पत्र का प्रकाशन हुआ। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व और अप्रतिम प्रयोग था। बाद को गान्धी-युग की पत्रकारिता के साथ यहीं से हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का जन्म हुआ। 'मतवाला' का प्रकाशन हिन्दी पत्रकारिता की समृद्धि का संकेत था। इसी पत्र के माध्यम से हिन्दी-काव्य को 'निराला'-जैसे विशिष्ट हस्ताक्षर की उपलब्धि हुई जो कालान्तर में हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ स्वच्छन्दतावादी कवि माना गया।

स्मरणीय है कि जिस प्रकार राजा राममोहन रॉय से ले कर जवाहर लाल नेहरू और कहना चाहिए डॉ० राममनोहर लोहिया तक आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का प्रायः प्रत्येक पुरस्कर्ता पत्रकार भी रहा है, उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य के अधिकांश श्रेष्ठ लेखक कहीं-न-कहीं और किसी-न-किसी रूप में पत्रकार भी रहे हैं। यह परम्परा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ले कर सच्चिदानन्द वात्स्यायन तक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। और यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी गद्य के निर्माण का अधिकांश श्रेय हिन्दी पत्रकारों को है जिन्हों ने पत्रों के माध्यम से भाषा को एक व्यवस्था, समृद्धि और परिनिष्ठित रूप दिया। इस दृष्टि से भी कलकत्ते के हिन्दी पत्रकारों का महत् अवदान है। दूसरे दौर की हिन्दी पत्रकारिता के पुरस्कर्ताओं में अपनी वाक्-तेजस्विता के लिए विश्रुत कई नाम यहाँ के ही पत्रकारों के हैं।—पं० छोटूलाल मिश्र, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र और पं० सदानन्द मिश्र की प्रातिभ-शक्ति 'भारतमित्र', 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता' के पृष्ठों पर मुखर है। सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा भी कलकत्ते के तपस्वी पत्रकारों में थे। परवर्ती काल के यहाँ के हिन्दी पत्रकारों में तो कुछ ऐसे नाम भी हैं जो हिन्दी के गौरव हैं। बालमुकुन्द गुप्त, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, शिवपूजन सहाय, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' आदि सभी किसी समय कलकत्ते में हिन्दी के पत्रकार थे। और निस्सन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी गद्य की भाषा और शैली के साथ-साथ यहाँ के हिन्दी पत्रकारों ने हिन्दी साहित्य की जातीय भूमिका का भी निर्माण किया।

पत्रकारिता के साहित्यिक अनुशीलन का औचित्य

पत्रकारिता और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा प्रायः की जाती है और दोनों के बीच की दूरी को स्पष्ट करते हुए कहा जाता है कि तात्कालिक यथार्थ पत्रकारिता का उपजीव्य होता है जब कि रचनाकार की प्रवृत्ति यथार्थ

की सूक्ष्मता की ओर होती है। इस प्रकार श्रेष्ठ साहित्य में सामयिकता का स्पर्श ही होता है, उस की बहुलता से साहित्य की विशिष्टता एक अंश तक खण्डित हो जाता है। अर्थात् सामान्य तथ्यों को शाश्वत सत्य से जोड़ने के लिए कला की एक विशिष्ट रचना-शक्ति अपेक्षित होती है। पत्रकारिता में इस तरह की कोई अनिवार्य शर्त नहीं होती; यहाँ तात्कालिक प्रभाव ही प्रधान होता है।

भारतेन्दु युग के साहित्य की वैशिष्ट्य-विवेचना के प्रसंग में प्रायः कहा जाता है कि वह अधिकांश पत्रकारिता का साहित्य है, जिस पर तात्कालिक प्रभाव प्रमुख है, इस लिए उस में उस शाश्वत मूल्य की कमी है जो साहित्य को युग-सीमा से मुक्त करने वाला और उसे युग-युग को आलोक देने की शक्ति से सम्पन्न करने वाला अनिवार्य तत्त्व है। अर्थात् भारतेन्दु युग का साहित्य शाश्वत मानव मूल्यों और मानवीय संवेदना की कलात्मक भूमि से उदासीन हो कर युगधर्म के प्रति अधिक सचेत था इस लिए वह युग-विशेष का साहित्य हो कर रह गया, युग-युग का साहित्य न हो सका। कहना न होगा कि यह धारणा उन कलावादियों की है जो शाश्वत मूल्य की चिन्ता में युगधर्म से आँख मूँद लेते हैं। यह पलायन की दिशा है। सचाई यह है कि "समसामयिक परिवेश से किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक लेखक प्रेरणा ग्रहण करता है, चाहे वह साहित्यकार हो या पत्रकार। दोनों ही लेखक हैं, दोनों ही सर्जनाकार हैं, दोनों के कार्य किन्हीं ऐसे गुणों की अपेक्षा करते हैं जो दोनों के लिए अपरिहार्य हैं—अनाविल दृष्टि, चिन्तन, लेखन में प्रेषणीयता की शक्ति। दोनों देश और काल के आयामों पर अपनी-अपनी विशिष्ट परम्पराओं के अतिरिक्त उस संश्लिष्ट सांस्कृतिक परम्परा, उस सामाजिक चेतना-प्रवाह से भी सम्बद्ध हैं जिस से उन्हें अपनी बात औरों के प्रति निवेदित करने की प्रेरणा और शक्ति मिलती है। प्रत्येक पत्रकार अंशतः साहित्यकार भी है, प्रत्येक साहित्यकार अनिवार्यतः पत्रकार भी।"[1] बर्नार्ड शॉ के शब्दों में : "ऐसा कुछ भी साहित्य के रूप में बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता जो पत्रकारिता भी न हो। जो व्यक्ति अपने और अपने समय के बारे में लिखता है, केवल वही सचमुच समस्त मनुष्यता और सभी युगों के लिए लिख सकता है।" पत्रकारिता का साहित्यिक महत्त्व न मानने वालों को लक्ष्य कर के आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि "हिन्दी दैनिकों ने जहाँ देश को उद्बुद्ध करने में अथक प्रयास किया है वहाँ जनता में साहित्यिक चेतना जगाने का श्रेय भी पाया है।" भाषा का आदर्श रूप स्थिर करने, लोकरुचि का परिष्कार करने तथा साहित्य के अभावों को दूर करने में दैनिक पत्रों का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

---

१. बालकृष्ण राव : माध्यम, वर्ष १, अंक १।

इस प्रकार, जैसा कि शॉ ने कहा है, शाश्वत साहित्य के लिए पत्रकारिता अवरोध नहीं बल्कि सहायक आधार है। कलकत्ते की पत्रकारिता ने उसी साहित्यिक भित्ति का निर्माण किया है, जिसे हम ने ऊपर साहित्य की जातीय भूमिका कहा है। अतः यहां यह बात काफ़ी साफ़ हो जाती है कि पत्रकारिता का अध्ययन साहित्येतर उपक्रम नहीं है। साथ ही पत्रकारिता के साहित्यिक अनुशीलन का अपेक्षा-औचित्य भी स्पष्ट हो जाता है।

विभिन्न चरणों के नामकरण का प्रश्न

यह निवेदन करना यहां अप्रासंगिक न होगा कि भारतीय राष्ट्रीयता के विशिष्ट उन्नायक भारतीय पत्रकारिता के भी पुरस्कर्ता रहे हैं और भारतीय राष्ट्रीयता पत्रकारिता से अत्यधिक सम्पृक्त रही है। अतएव पत्रकारिता के सम्यक् अनुशीलन के लिए राष्ट्रीयता के विकास-क्रम और विभिन्न स्तरों की प्रामाणिक अभिज्ञता नितान्त आवश्यक है। और क्यों कि राष्ट्रीयता का विकास सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों के बीच हुआ है, इन आन्दोलनों के विभिन्न आयामों की विवेचना पत्रकारिता के अनुशीलन की एक दूसरी आवश्यक दिशा है।

पत्रकारिता के विभिन्न चरणों के नामकरण का औचित्य-विचार उक्त प्रसंग का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। राजनीतिक युग के नाम पर पत्रकारिता के विभिन्न चरणों का नामकरण किंचित् विवादास्पद-सा प्रतीत होता है। पूर्ववर्ती वक्तव्य की आवृत्ति उचित न होते हुए भी यह निवेदन सहृदय-क्षम्य होगा कि भारतीय पत्रकारिता के विकास की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की कहानी है।[1] राष्ट्रीयता के पुरस्कर्ता अपने आलोकवर्ती व्यक्तित्व के समग्र युगीन-चेतना को अनायास प्रभावित करते थे। उन के नेतृत्व में पूरी चेतना का सहज संचालन होता था। पत्रकारिता का मूलस्वर उन के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित था कि कभी-कभी वह उन की मूल ध्वनि की प्रतिध्वनि-सा प्रतीत होता था। उपलब्धि की दृष्टि से इस का महत्त्व यह है कि उस युग के पत्रकार अपने युग-धर्म के प्रति सदैव सचेत रहते थे। पराधीनता काल की भारतीय पत्रकारिता राजनीति-प्रधान थी। पूर्ववर्ती युग की बात छोड़ भी दें तो गान्धीयुग का प्रसिद्ध पत्र मतवाला' तक (जो मुख्यतः साहित्यिक पत्र था) गान्धी जी के व्यक्तित्व के प्रति एक हद तक प्रतिश्रुत दिखाई पड़ता है। अस्तु, पत्रकारिता के मूल वैशिष्ट्य के अनुसार उस का नामकरण किसी भी दृष्टि से अनुचित और अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होता।

पत्रकारिता के प्रत्येक अध्याय का अनुशीलन जातीय परिवेश और युग-धर्म

---

१. द्रष्टव्य, द इण्डियन प्रेस—मारगरिटा बर्न्स, इण्ट्रोडक्शन, पृ० १३-१४।

के आलोक में होना चाहिए। पत्रकारिता के समग्र वैशिष्ट्य-विवेचना को यह एक स्वस्थ दिशा है। जिस के प्रति प्रबन्ध-लेखक सचेत रहा है।

हिन्दी पत्रकारिता सम्बन्धी कार्य : अभाव उपलब्धि

हिन्दी समाचारपत्रों के अनुशीलन और इतिहास-लेखन का श्रीगणेश बाबू राधाकृष्णदास ने किया था। उन की पुस्तक 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' एक छोटा-सा विवरण-प्रधान इतिहास है जो नागरी प्रचारिणी सभा से १८९४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस का महत्त्व सिर्फ़ इतना ही है कि समाचारपत्रों का यह पहला इतिहास है। उन्हें जो कुछ सूचना मिली उसे उन्हों ने एक स्थान पर संकलित कर दिया है। अनुसन्धान की प्रवृत्ति का इस में सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। कदाचित् इसी लिए इस में ऐतिहासिक तथ्यों की अनेक त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं।[1]

इसी दिशा में दूसरा प्रयत्न बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने किया। 'भारतमित्र' के माध्यम से उन्हों ने हिन्दी अखबार का इतिहास लिखा। गुप्तजी का इतिहास अपेक्षाकृत व्यवस्थित है। किन्तु उन की व्यवस्था भी अनुसन्धानपरक नहीं है। इस का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि बाबू राधाकृष्णदास के आधार पर ही उन्हों ने 'बनारस अखबार' को हिन्दी का पहला समाचारपत्र मान लिया। इन के प्रबन्ध की एक दूसरी सीमा यह भी है कि यह मुख्य रूप से सूचनापरक है अर्थात् पत्रकारिता के सम्यक् अनुशीलन की जिन दिशाओं और सन्दर्भों की ऊपर चर्चा की गयी है, गुप्तजी उस ओर से एक प्रकार से उदासीन ही दिखाई पड़ते हैं।

इन प्रयत्नों के बाद हिन्दी पत्रकारिता के विकास-क्रम की चर्चा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास-ग्रन्थ में की गयी है, जो हिन्दी साहित्य का प्रथम प्रामाणिक इतिहास है। शुक्लजी ने अपने इस इतिहास में साहित्य की विविध धाराओं का गम्भीर अनुशीलन प्रस्तुत किया है। पत्रकारिता के माध्यम से भाषा और साहित्य को विकास-बल मिला है, इस लिए साहित्यिक इतिहास-निर्माण के समय पत्रकारिता के विकास-क्रम तथा साहित्य के इतिहास की अन्य विकास-भूमियों पर दृष्टिपात करना आवश्यक था। शुक्लजी ने उधर दृष्टि तो डाली किन्तु प्रामाणिक यथार्थ की उपलब्धि इस लिए नहीं हो सकी क्यों कि उस दिशा में शुक्लजी की शोधवृत्ति दब-सी गयी थी। यह स्वाभाविक भी था, क्यों कि

---

१. राधाकृष्णदास ने भारतमित्र का प्रकाशन-काल १८७७ माना है। 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता' का प्रकाशन-काल १८७८ ई० माना है। (द्रष्टव्य, हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, पृ० १६ और २२)। उपरोक्त तीनों तथ्य गलत हैं। भारतमित्र १८७८ में, सारसुधानिधि १८७९ में और उचितवक्ता १८८० में प्रकाशित हुए थे।

शुक्लजी के अनुशीलन की दिशा दूसरी थी, उद्देश्य दूसरा था। कदाचित् इसी लिए उन से तथ्य-सम्बन्धी कई भूलें हो गयीं। ऐसा प्रतीत होता है कि राधाकृष्णदास के इतिहास को उन्हों ने आधार बनाया और अधिकांश तथ्यों को यथावत् अपने इतिहास में रख दिया। बाबू राधाकृष्णदास के मत से कलकत्ते के प्रसिद्ध हिन्दी पत्र 'उचितवक्ता' का प्रकाशन १८७८ ई० में हुआ था। बाबू साहब की यह भ्रान्ति शुक्लजी ने ज्यों-की-त्यों, प्रामाणिक मान कर, अपने इतिहास-ग्रन्थ में उद्धृत कर दी है। अर्थात् शुक्लजी ने भी 'उचितवक्ता' का प्रकाशन-काल १८७८ ई० ही माना है। यह एक दृष्टान्त है। कहीं-कहीं शुक्लजी ने नयी अभिज्ञता के आधार पर पुराने इतिहासकारों की भ्रान्तियों का निराकरण भी किया है और प्रामाणिक तथ्य भी दिये हैं; जैसे पुराने इतिहासकारों के मत से 'बनारस अखबार' हिन्दी का पहला पत्र था, किन्तु नये अनुसन्धान ने इस का निरास किया और 'उदन्तमार्तण्ड' को हिन्दी के प्रथम पत्र के रूप में प्रस्तुत किया। इस अनुसन्धान का श्रेय ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी को है जिसे शुक्लजी ने अपने इतिहास में ग्रहण किया है।[1] अस्तु, इतना स्पष्ट है शुक्ल जी के इतिहास-ग्रन्थ में हिन्दी-पत्रकारिता की जो चर्चा है वह पत्रकारिता के अध्ययन की दृष्टि से नितान्त अपूर्ण है। पत्रकारिता के अनुशीलन की सारी दिशाएँ अछूती रह गयी हैं। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य के जो अन्य इतिहास लिखे गये हैं उन में भी पत्रकारिता के सम्बन्ध में सही दृष्टि का अभाव है।

हिन्दी पत्रकारिता पर पहला अनुसन्धान-कार्य डॉ० रामरतन भटनागर ने किया था जिस पर उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय से 'डॉक्टरेट' की उपाधि मिली थी। अँगरेजी में लिखा-छपा यह प्रबन्ध पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के मतानुसार 'भटनागर जी अपनी कृति से डॉक्टर तो बन गये, पर उन से जिस शोध और परिश्रम की अपेक्षा की जाती थी, उस का परिचय उन के ग्रन्थ से नहीं मिलता।'[2] मेरी प्रतीति यह है भटनागर जी ने हिन्दी पत्रकारिता के समग्र परिप्रेक्ष्य को ले कर उसे अपने प्रबन्ध में प्रस्तुति देने की जो चेष्टा की है, उस में वे सफल नहीं हो सके। उक्त प्रबन्ध में शिथिलता, प्रौढ़ विवेचन का अभाव और अप्रामाणिक तथ्यों का प्राचुर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। अनुसन्धान का अभाव तो है ही, उपलब्ध सामग्री को भी सही ढंग से प्रस्तुत नहीं किया गया। प्राचीन पत्रों के प्रकाशन-काल की अनेक गलत सूचनाएँ हैं। बीसवीं शताब्दी के भी पत्रों तक के नाम और प्रकाशनकाल सही नहीं हैं। उदाहरण के लिए ७ अगस्त १८८० में 'उचितवक्ता' का प्रकाशन हुआ था, किन्तु भटनागर जी के

---

1. डॉ० श्रीकृष्णलाल के मत से हिन्दी के प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन १८२४ ई० में हुआ था। (द्रष्टव्य- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३८२-३८४)।
2. पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी—समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० भूमिका, ग।

मत से 'उचितवक्ता' १८७८ में निकला था।[1] इसी प्रकार 'भारतमित्र' का प्रकाशन-काल १७ मई १८७८ ई० है जब कि भटनागरजी इस का प्रकाशन-काल १८७७ ई० मानते हैं।[2] 'सारसुधानिधि' का प्रकाशन १३ जनवरी १८७९ ई० को हुआ था, किन्तु भटनागरजी का विश्वास है कि वह १८७८ में निकला था।[3] इसी प्रकार १९०७ में प्रकाशित 'नृसिंह' पत्र का उल्लेख करते हुए उन्हों ने लिखा है कि "नरसिंह (१९०९) इस शताब्दी की प्रथम महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पत्रिका थी"।[4] ध्यान देने की वात है कि प्रकाशन-काल के साथ ही उक्त पत्र का नाम भी भटनागरजी ने ग़लत लिखा है। इस पत्र का नाम 'नरसिंह' नहीं वल्कि 'नृसिंह' था जिस के संचालक-सम्पादक पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी थे। इस प्रकार तथ्य-सम्बन्धी त्रुटियों से भटनागरजी का प्रवन्ध भरा पड़ा है। इस के अलावा पत्रकारिता के अनुशीलन का अपेक्षित दृष्टिकोण और सही दिशा भी इन के प्रवन्ध में नहीं दिखाई पड़ती। कहना होगा कि राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों, वल्कि कहना चाहिए, जातीय चेतना को स्पर्श कर देने से पत्रकारिता के अनुसंधान में कोई विशिष्ट अर्थवत्ता नहीं आ जाती। भटनागरजी ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया है। होना यह चाहिए था कि उन सम्पूर्ण सन्दर्भों को मूल्यांकित और उद्घाटित किया जाये जहाँ से पत्रकारिता का जन्म और विकास हुआ है। भटनागरजी की दृष्टि तो उधर गयी किन्तु उन्हों ने उसे सही प्रस्तुति नहीं दी; और उन के प्रवन्ध का यह भी एक वड़ा अभाव है। पत्रकारिता की भाषा-विषयक और साहित्यिक उपलब्धि की ओर भी भटनागरजी ने वड़ी हलकी दृष्टि डाली है। कुल मिला कर भटनागरजी के पूरे प्रवन्ध में एक विखराव आ गया है जिसे लक्ष्य कर पं० अम्बिकाप्रसादजी ने लिखा है कि 'उस में स्वभावतः इधर-उधर की वहुत-सी सामग्री से नाहक वोझ वढ़ा लिया और फिर उस को यथास्थान रखना उन के लिए कठिन हो गया।' शोध-कार्य श्रमसाध्य वौद्धिक व्यापार है। विशिष्ट वौद्धिकता और श्रम-रुचि एकत्र सहज सुलभ नहीं होतीं।

इस दिशा में अधिक प्रामाणिक प्रयत्न 'समाचार पत्रों का इतिहास' (प्रथम संस्करण, सं० २०१०) लिख कर सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने किया। पत्रकारिता के नींव-निर्माताओं में वाजपेयीजी की गणना की जाती है। उन्हों ने हिन्दी पत्रकारिता के विभिन्न चरण-स्तरों को प्रत्यक्ष

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर—'राइज ऐण्ड ग्रोथ ऑव हिन्दी जर्नलिज्म, पृ० १०३।

२. वही, पृ० १०२।

३. वही, पृ० १०३।

४. वही, पृ० ३६५।

देखा है और उस की अभाव-उपलब्धियों के स्वयं निमित्त रहे हैं। बड़ी सचाई के साथ वाजपेयीजी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि "यह काम जितना श्रम, शक्ति और अर्थसाध्य है, उस का इस लेखक में अत्यन्त अभाव था और इस अभाव में जो कसर थी, वह रुग्णता ने पूरी कर दी।" "चेष्टा इस लिए की गयी कि लेखक को गत ४८-४९ वर्षों की पत्रकारिता का जो अनुभव था और पुराने सम्पादकों के सत्संग से जो जानकारी प्राप्त हुई थी, उस का अन्त उस के साथ ही हो जाना न लेखक को अभीष्ट था और न उस के मित्रों को।" हिन्दी-पत्रकारिता को वाजपेयी जी का यह महत्त्वपूर्ण अवदान है। किन्तु अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करूँ कि हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास-लेखन के लिए जो श्रम अपेक्षित था वह वार्धक्य के कारण वाजपेयी जी से सम्भव नहीं हो सका। कदाचित् इसी लिए वाजपेयीजी की पुस्तक में अपेक्षित पूर्णता दिखाई नहीं पड़ती। कई महत्त्वपूर्ण पत्रों की वैशिष्ट्य-चर्चा छूट गयी। हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' की फ़ाइल वाजपेयीजी को समय पर उपलब्ध न हो सकी। इसी प्रकार 'सारसुधानिधि' की भी चर्चा संक्षिप्त ही है। जैसे भटनागरजी की पुस्तक में अनावश्यक कलेवर-भार है वैसे ही वाजपेयीजी की पुस्तक की कलेवर-लघुता इस का अभाव है, क्यों कि इस के चलते पुस्तक में कई तरह के अभाव अनिवार्य रूप से आ गये हैं।

'आज' के भूतपूर्व सम्पादक कमलापति त्रिपाठी ने 'पत्र और पत्रकार' नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक की रचना कारावास-काल में पत्रकार श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के सहयोग से हुई है। इस में पत्रकारिता के विभिन्न पहलुओं पर काफ़ी विस्तार से विचार किया गया है। किन्तु इस में भी हिन्दी पत्रकारिता के विकास-क्रम की ऐतिहासिक प्रस्तुति नहीं दिखाई पड़ती। इतना ही नहीं, पत्रकारिता के साहित्यिक और भाषा-पक्ष की ओर भी लेखक का ध्यान नहीं गया है। पत्रकारिता का स्वरूप-विवेचन ही इस पुस्तक का उद्देश्य और उपलब्धि है। पं० विष्णुदत्त शुक्ल की 'पत्रकार कला' नामक पुस्तक अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और उपयोगी है।

प्रस्तुत प्रबन्ध-लेखक के सामने पत्रकारिता-सम्बन्धी उपरोक्त साहित्य का अभाव-पक्ष स्पष्ट था। इस प्रबन्ध के मुख्य उद्देश्य—कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता का साहित्यिक अनुशीलन—के प्रति लेखक सदैव सचेत रहा है किन्तु कलकत्ते की सीमा में जकड़ कर प्रबन्ध की साहित्यिक महत्ता छोटी न हो जाये, यह चिन्ता भी लेखक को सदैव रही है। एक सारस्वत चिन्ता कि प्रबन्ध को अपेक्षित पूर्णता दी जा सके। कदाचित् इसी लिए इस प्रबन्ध में कलकत्ता की पत्रकारिता के विशेष अध्ययन-विवेचन के साथ ही सम्पूर्ण हिन्दी पत्रकारिता की विकास-कथा अपनी पूरी समग्रता के साथ उभर आयी है और इसी लिए प्रबन्ध

के मूल नाम 'कलकत्ता की हिन्दी पत्रकारिता : उद्भव और विकास' को बदल कर विषयानुरूप नये नाम के साथ इसे प्रस्तुत किया जा रहा है।

लेखक के सामने पत्रकारिता के अनुशीलन की उपरोक्त सारी दिशाएँ साफ़ रही हैं और कदाचित् इसीलिए प्रबन्ध में उन सारे अभावों और भ्रान्त धारणाओं का निरसन हो गया है जो पूर्ववर्ती अध्ययनों की सीमा थी और जिसे उपलब्धि मान लिया गया था।

■

'देवनागर' मुखपृष्ठ : वत्सर १, अंक १; ५००९ कल्यब्द

'सार सुधानिधि' मुखपृष्ठ : भाग १, अंक ८; ३ मार्च १८७९ ई०

: : वर्णमाला फलक

वर्णमाला फलक

क्रमशः ऊपर से नीचे : देवनागर, पाली, शारदा, गुरुमुखी, तिब्बती, वंगला,
तुलू, कनाड़ी, मलयालम, सिंहली, वर्म्मी, श्यामी,
उच्चारण, फ़ारसी के मूल अक्षर, अँगरेज़ी के मू

प्रथम खण्ड

भारतीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता का उदय

भारतीय नवजागरण और उस के आदि उन्नायक राजा राममोहन रॉय

आधुनिकता भारतीय नवजागरण की सब से बड़ी उपलब्धि है। आधुनिकता अर्थात् एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण जो पूर्व और पश्चिम के बीच सांस्कृतिक सेतु बना। चूँकि नवजागरण का अनुभव सब से पहले बंगाल ने किया था इस लिए स्वाभाविक था कि आधुनिकता भारत में बंगाल की खाड़ी से ही प्रवेश करती

आधुनिकता ने हमारे अन्दर एक ऐसी चेतना उत्पन्न की जिस से पश्चिमी जगत् को अधिकाधिक जानने-समझने के लिए हम उत्सुक हो गये, किन्तु आधुनिकता के मूल वैशिष्ट्य की समग्रता को पूरी तरह आत्मसात् करने के लिए अँगरेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक था। सुधारवादी आन्दोलन के आदि संचालक और भारतीय नवजागरण के उन्नायक राजा राममोहन राय ने इसे सही रूप में समझा और अँगरेजी-शिक्षा-प्रचार का पक्ष-समर्थन कर अपनी प्रगतिशीलता का प्रमाण दिया।[1]

अँगरेजी शिक्षा ने सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन की अपेक्षा उत्पन्न की। उक्त परिवर्तन की अपेक्षा रखने वाले भारतीयों के दो वर्ग थे जिन की दो स्वतन्त्र दृष्टियाँ थीं। एक वह वर्ग था जो अँगरेजियत के रंग में इतना रंग गया था कि भारतीयता उसे फूहड़ और विजातीय लगने लगी थी तथा इस ओर से सर्वथा उदासीन हो आचार-विचार में वह अँगरेजों का अनुकरण करने लगा था। इस प्रकार इस वर्ग ने आधुनिकता को फ़ैशन के रूप में अपनाया जो भारतीय दृष्टि से आधुनिकता का अभाव पक्ष था।

---

१. युग बोध के प्रति सचेत कुछ संस्कृत पण्डितों में भी अँगरेजी शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ रही थी। भारत में अँगरेजी शिक्षा का पहला संकेत मई, १८१६ में कलकत्ते के एक विशिष्ट ब्राह्मण नागरिक वैद्यनाथ मुखर्जी की ओर से आया था जिस की पुष्टि सर हाइड ईस्ट के १८ मई, १८१६ ई० के उस पत्र से होती जो उस ने अपने मित्र जे० हेरींगटन को लिखा था। हाईड ईस्ट ने जो उस समय कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट का प्रधान न्यायपति था, वैद्यनाथ मुखर्जी के संकेत से प्रेरित हो कर गवर्नर जेनरल की अनुमति से १४ मई, १८१६ को एक विचार-सभा आयोजित की थी। द्रष्टव्य—डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार-द्वारा लिखित एवं सम्पादित—The British Paramountency and Indian Renaissance—II, Page, 32–33.

ही मुद्रण-कला और पत्र-कला के विकास को वह एक प्रतिकूल शक्ति का अशुभ विकास समझती थी। इस लिए उस के विकास-मार्ग में नाना प्रकार के अवरोध उपस्थित करती रहती थी। किन्तु अधिक समय तक उसे दबा रखना सम्भव न था। स्वार्थ का भी आग्रह था जिस के चलते उसे कलकत्ता और मद्रास में प्रेस खोलना पड़ा। पहला प्रेस सीरामपुर (बंगाल) में बापटिस्ट मिशनरी-द्वारा खोला गया और पहला भारतीय पत्र एक अँगरेज के सम्पादकत्व में २९ जनवरी १७८० ई० में प्रकाशित हुआ। जेम्स अगस्टस हिकी-द्वारा सम्पादित इस पत्र का नाम था 'हिकीज बंगाल गजट अथवा कलकत्ता जेनरल अडवरटाइजर'। 'इण्डिया गैजेट' नाम का दूसरा पत्र नवम्बर १७८० में कलकत्ते से ही निकला। तीसरा पत्र 'कैलकटा गैजेट' फ़रवरी १७८४ में निकला। चौथा पत्र था 'बंगाल जर्नल' जो फ़रवरी १७८५ में निकला। इसी वर्ष 'ओरियण्टल मैगजीन' और मासिक पत्र 'कैलकट एम्यूज़मेण्ट' निकला। इस प्रकार ६ वर्षों के अन्दर कलकत्ते से ही ६ पत्र, एक मासिक और ५ साप्ताहिक—प्रकाशित हुए। सन् १७९१ में विलियम डुआनी नामक अमरीकी ने 'इण्डियन वर्ल्ड' प्रकाशित किया और 'बंगाल जर्नल' का भी सम्पादन करते रहे। सन् १७९५ में मद्रास से 'इण्डियन हैरल्ड' निकला जिस के सम्पादक हम्फ्रीस थे। सन् १८१८ ई० में कलकत्ते से जेम्स सिल्क बकिंघम के सम्पादकत्व में 'कलकत्ता जर्नल' प्रकाशित हुआ। यह अर्ध-साप्ताहिक पत्र था जिस की तेजस्विता और निर्भीक आलोचना से तत्कालीन गवर्नर जेनरल, गवर्नर, जज और लार्ड बिशप भी बच न सके।[1] इसी प्रकार मद्रास से १२ अक्टूबर १७८५ को सरकारी मुद्रक रिचर्ड जान्सन ने एक पत्र निकाला था। यह एक प्रकार से सरकारी तत्त्वावधान में निकला था, इस लिए इसे सरकारी विज्ञापन सुलभ था। 'मैड्रास कूरियर' नाम का यह पत्र साप्ताहिक था और ४ पृष्ठों पर छपता था। जनवरी १७९५ में 'मैड्रास गैजेट' प्रकाशित हुआ। ये पत्र सरकारी अनुमतिपत्र से निकलते थे, मगर 'इण्डिया हैरल्ड' बिना लाइसेन्स लिये ही निकला। इसे २ अप्रैल १७९५ को हम्फ्रीज ने निकाला था। सरकार की इस पर कुदृष्टि थी। इस पर सरकारी आरोप था कि इस ने शासन और प्रिंस ऑव वेल्स के विषय में अत्यन्त अपमानजनक लेख प्रकाशित किये हैं। हम्फ्रीज को वही सजा दी गयी जो अँगरेजों को दी जाती थी यानी उसे जहाज पर चढ़ा कर विलायत भेज दिया गया, मगर हम्फ्रीज मार्ग से ही गायब हो गया। बाम्बे से १७८९ में 'बाम्बे हेरल्ड' निकला। दूसरे वर्ष 'बाम्बे कूरियर' प्रकाशित हुआ। १७९१ में 'बाम्बे गजेट' निकला। दूसरे वर्ष सन् १७९२ में 'बाम्बे हेरल्ड' और 'बाम्बे गजेट' मिल कर एक हो गये।[2] इस प्रकार भारतीय पत्रकारिता की नींव अँगरेजों ने डाली और इस के महत्त्वपूर्ण आर-

---

१. श्री बंकटलाल ओझा : भारत निर्वासित अँग्रेज पत्रकार, नयी धारा, जनवरी, १९५३ ई०।
२. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास।

म्भिक अध्याय का निर्माण किया। यह संयोग की बात थी कि अँगरेज़ी शिक्षा, पत्रकारिता और भारतीय राष्ट्रीय महासभा के त्रिकोण की रेखा अँगरेज़ों ने ही खींची जिस पर भारतीय स्वतन्त्रता की लड़ाई हुई और अन्त में यही त्रिकोण स्वतन्त्रता-प्राप्ति का निमित्त सिद्ध हुआ।

युरॅपीय पत्रकार और वर्तानिया सरकार

उपरोक्त युरॅपीय पत्रकारों को अपने वाक्-स्वातन्त्र्य के लिए बड़ी यातनाएँ सहनी पड़ी, क्योंकि वर्तानिया सरकार इन सजातीय पत्रकारों के प्रति भी नितान्त असहिष्णु थी[1]। उस समय की स्थिति का वर्णन बंगाल के प्रसिद्ध पत्रकार स्व० हेमेन्द्र प्रसाद घोष ने इस प्रकार किया है, "तत्कालीन सरकार समाचार पत्रों के प्रति शंकालु थी और हमेशा मामूली कारणों से उन पर सांघातिक चोट करने के लिए उद्यत रहती थी। दूसरी ओर प्रेस के संचालक सर्वदा ही ऐसे आक्रमणों से बचने के लिए सावधान रहा करते थे। ऐसे संचालक प्रायः ऐंग्लोइण्डियन थे अर्थात् भारत में रहने वाले युरॅपीय जो अधिकारियों की मर्जी पर कभी भी देश से निर्वासित किये जा सकते थे। ये संचालक उन युरॅपीयों-द्वारा शिक्षित थे जो भारत में घृणित व्यापार के उद्देश्य से आये। इन्हीं दिनों अँगरेज़ भारत में अपने आधिपत्य को बढ़ा रहे थे और अपनी सम्पत्ति का संगठन साम्राज्यवादी पद्धति पर करने लगे थे। शासन के खास तौर तरीके तथा देशी जनता का पूरी तरह शोषण उन की इस पद्धति के उदाहरण थे।[2] और यह बहुत बड़ा कारण था जिस के चलते पत्रों की स्वतन्त्रता पर सरकार ने सदैव अंकुश रखा। ब्रिटिश सरकार अपने अभाव और अन्याय तथा शासन सम्बन्धी कठोर नीति को अच्छी तरह समझती थी इस लिए पत्रों के प्रति वह सदैव सशंकित और आतंकित रहती थी। पत्रों की स्वतन्त्रता पर प्रहार करने के हर मौक़े का वह उपयोग करती थी। पत्रों की टिप्पणियों का सूक्ष्म निरीक्षण वह अन्याय के मार्जन के लिए नहीं बल्कि लोकमत का गला घोंटने के लिए करती थी।[3]

मिशनरी पत्र

यहाँ यह भी कह देना उचित जान पड़ता है कि क्रिश्चियन मिशनरी द्वारा संचालित पत्रों को सरकारी प्रोत्साहन मिलता था जिस का परिणाम यह था कि इन पत्रों की प्रगति में कहीं अवरोध नहीं आया और अविलम्ब ही अनेक ईसाई पत्र हिन्दी केन्द्रों से भी प्रकाशित होने लगे। ये विभिन्न संस्थाओं तथा प्रमुख व्यक्तियों को भेजे जाते थे और मेला जैसे सार्वजनिक स्थान पर मुफ़्त में बाँटे जाते थे।[4] इन का एकान्त

---

१. हेमेन्द्रप्रसाद घोष : द न्यूज़पेपर इन इण्डिया, पृ० ३६।

२. वही, पृ० २६।

३. वही, पृ० २६।

४. रामरतन भटनागर : हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव और विकास पृ० २१।

उद्देश्य था ईसाई धर्म का प्रचार और इस दृष्टि से वह सौदा महँगा नहीं था। राजा राममोहन राय ने ईसाइयों के इस साम्प्रदायिक उपक्रम को बड़ी गम्भीरता से देखा। उन्हें चिन्ता हुई यह देख कर कि एक विजातीय धर्म भारतीय वैशिष्ट्य को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता है। राजा साहब ने ईसाइयों की इस साम्प्रदायिकता के वैचारिक प्रतिकार का संकल्प लेकर 'ब्रह्मैनिकल मैगज़िन' का प्रकाशन आरम्भ किया था।

भारतीय पत्रकारिता की सही शुरुआत : बंगीय परिवेश

भारतीय पत्रकारिता का दूसरा अध्याय वहां से शुरू होता है जब भारतीयों के संयोजकत्व और सम्पादकत्व में पत्रों का प्रकाशन आरम्भ होता है। सही अर्थों में देशी पत्रकारिता के जन्म का श्रेय भी राममोहन राय को ही है। राजा साहब ने दिसम्बर १८२१ ई० में 'सम्वाद कौमुदी' नामक बंगला साप्ताहिक का प्रकाशन किया।[1] यह राजनीतिक नहीं सामाजिक समस्याओं को लेकर चलने वाली पत्रिका थी जिस का मुख्य उद्देश्य था सती-प्रथा-जैसी रूढ़ि का खण्डन करना। इस के पहले सीरामपुर मिशनरी के तत्वावधान में दो बंगला पत्र-'समाचार दर्पण' और 'दिग्दर्शन' प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु उन्हें सजातीय मानना उचित नहीं जान पड़ता। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इन ईसाई पत्रों का उद्देश्य था ईसाई धर्म का प्रचार। राजा साहब के 'ब्रह्मैनिकल मैगज़िन' का प्रकाशन इन्हीं पत्रों का जवाब देने के लिए हुआ था। राजा साहब इस में शिवप्रसाद शर्मा नाम से लिखते थे। राजा साहब के दो मित्रों—हरचन्द्र राय और गंगा किशोर भट्टाचार्य—ने 'बंगाल ग्याजेट' नाम का बंगला पत्र प्रकाशित किया था। अपने विचारों को अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से राजा साहब ने फ़ारसी में 'मीरात-उल-अख़बार' निकाला जिसे अपनी तेजस्विता और प्रसिद्धि के कारण ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति का शिकार होना पड़ा। अपने सम्पादकीय दायित्व की चर्चा करते हुए इसी अख़बार में राजा राममोहन राय ने लिखा था, "मेरा सिर्फ़ यही उद्देश्य है कि मैं जनता के सामने ऐसे बौद्धिक निबन्ध उपस्थित करूँ जो उन के अनुभव को बढ़ायें और सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध हों। मैं अपनी शक्ति-भर शासकों को उन की प्रजा की परिस्थितियों का सही परिचय देना चाहता हूँ और प्रजा को उन के शासकों-द्वारा स्थापित क़ानून और तौर तरीक़ों से परिचित कराना चाहता हूँ ताकि शासक जनता को अधिक से अधिक सुविधा देने का अवसर पा सकें और जनता उन उपायों से परिचित हो सके जिनके द्वारा शासकों से

---

१. श्री सुकुमार मित्र ने लिखा है कि बंगला साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' के आदि संचालक ताराचन्द दत्त थे और सम्पादन भवानीचरण बन्द्योपाध्याय करते थे। बाद में इसे राजासाहब ने ले लिया था। शिवकुमार मित्रा : द न्यूजपेपर प्रेस—स्टडीज़ इन द बेंगाल रेनेसां।

सुरक्षा पायी जा सके और उचित माँगें पूरी करायी जा सकें।[1]" अपने इसी अखबार के अन्तिम संस्करण में ४ अप्रैल १८२३ को बड़े खेद के साथ राजा साहब ने लिखा था—"जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है उस में पत्र का प्रकाशन रोक देना ही एक मात्र मार्ग रह गया है। जो नियम बने हैं उन के अनुसार किसी युरेपियन सज्जन के लिए, जिन की पहुँच सरकार के चीफ सेक्रेटरी तक सरलता से हो जाती है, सरकार से लाइसेन्स लेकर पत्र निकाल देना आसान है पर भारत के किसी निवासी के लिए जो सरकारी भवन की देहरी लाँघने में भी समर्थ नहीं हो पाता, पत्र-प्रकाशन के लिए सरकारी आज्ञा प्राप्त करना दुस्तर कार्य हो गया है। फिर खुली अदालत में हलफनामा दाखिल करना भी कम अपमान-जनक नहीं है। लाइसेन्स के लिए जाने का खतरा भी सदा सिर पर झूला करता है। ऐसी दशा में पत्र का प्रकाशन रोक देना ही उचित है।[2] राजा साहब ने 'बंगाल हेरल्ड' के साथ देशी भाषा में भी एक पत्र निकाला था। बँगला, हिन्दी और फ़ारसी में निकलने वाले इस पत्र का नाम 'बंगदूत' था जो ९ मई १८२९ को नीलरतन हालदार के सम्पादकत्व में निकला था। राजा साहब के सुधारवादी आन्दोलन का विरोध करने के लिए पुराणपन्थियों ने बँगला साप्ताहिक 'समाचार चन्द्रिका' का प्रकाशन किया था। बँगला के प्रख्यात कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त के सम्पादकत्व में बँगला का प्रथम दैनिक 'सम्वाद प्रभाकर' १४ जून १८३९ को प्रकाशित हुआ था। बंगीय पत्रकारिता के इतिहास में 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' और 'हिन्दू पैट्रियाट' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बंगाल के बाहर के देशी पत्र

न केवल बंगाल बल्कि विभिन्न प्रदेशों में १८५७ ई० के पूर्व अनेक पत्र प्रकाशित हुए। इन पत्रों में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य छिपे हुए हैं। भारतीयों के संयोजकत्व में निकलने वाले आरम्भिक अँगरेजी और देशी भाषा के पत्रों का एक विशेष अभिप्राय और महत् उद्देश्य था। 'वन्दे मातरम्' को लक्ष्य कर श्री अरविन्द ने कहा था, "इस का जन्म एक सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति और समष्टि-हित के उद्देश्य से हुआ था, न कि किसी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित हो कर व्यक्ति-सुख के लिए। इस का आविर्भाव उस महत् काल में हुआ था जो जातीय दृष्टि से कठिन क्षण था और इसे एक सन्देश देना था जिसे पृथ्वी पर कोई शक्ति रोक नहीं सकती थी। इस का दावा है कि इस ने जनता की अभीप्सा को अभिव्यक्ति दी है और उन के आदर्शों और आकांक्षाओं को पूर्ण सच्चाई के साथ अंकित किया है।" यह बात भारतीय पत्रकारिता के आरम्भिक अध्याय के कुछेक पत्रों को

---

१. हेमेन्द्रप्रसाद घोष : द न्यूज़पेपर इन इण्डिया, पृ० २५-२६।
२. कमलापति त्रिपाठी : पत्र और पत्रकार, पृ० ६२।

छोड़ कर[1] अधिकांश के बारे में भी कही जा सकती है।

भारतीय पत्रकारिता और सरकारी दमन नीति

भारतीय पत्रकारिता के विकास के साथ ही ब्रिटिश सरकार की दमन नीति भी उग्र होती गयी। लार्ड वेलेजली के समय में भारतीय पत्रों को कुण्ठित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने पहला क़ानून बनाया। ब्रिटिश पार्ल्यामेण्ट में टोरियों की संख्या अधिक थी जो प्रकृत्या भारतीय पत्रों की स्वाधीनता के विरुद्ध थे। इस क़ानून के अनुसार (१) पत्र के मुद्रक के लिए पत्र के अन्त में अपना नाम प्रकाशित करना, (२) सम्पादक और संचालक के निवासस्थान का पूरा पता सरकार के सेक्रेटरी को लिख भेजना, (३) रविवार को पत्र का प्रकाशन करना तथा (४) सरकारी अधिकारी के निरीक्षण के पूर्व पत्र न प्रकाशित करना अनिवार्य नियम बना दिया गया। इस क़ानून के पीछे ब्रिटिश सरकार का एक ही मन्तव्य था जो मेटकाफ़ की जीवनी के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि "उन दिनों हमारी ये नीति थी कि भारत के लोगों को जहाँ तक हो सके बर्बरता और अन्धकार में रखा जाय और देशी जनता में ज्ञान फैलाने के किसी भी प्रयत्न का उन दिनों बड़ा कड़ा विरोध किया जाता था···कैप्टन सिडेनहाम ने निज़ाम की एक इच्छा पूरी करने के उद्देश्य से कि वे आधुनिक विज्ञान के कुछ प्रयोगों को देख सकें, कुछ चीजें भेंट कीं, उन में एक एयर पम्प, एक छापाखाना और एक आधुनिक योद्धा का एक माडल था। चीफ़ सेक्रेटरी को भेजे गये अपने पत्रों में कैप्टन ने इस बात का उल्लेख किया था परिणामतः उन पर आरोप लगाया गया कि उन्हों ने एक देशी शासक के हाथ में छापेखाने-जैसी खतरनाक वस्तु रख दी[2]।"

लार्ड हेस्टिंग्स अपेक्षाकृत उदार माना जाता है। सेंसर के नियम को उस ने कुछ शिथिल किया और प्रेस सम्बन्धी कुछ स्पष्ट निर्देश दिये: १. किसी प्रकार की ऐसी ख़बर न प्रकाशित की जाय जो कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स, ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों, कौन्सिल के सदस्यों, सुप्रीम कोर्ट के जजों तथा कलकत्ते के बड़े पादरी के

---

१. 'देश में दो पार्टियाँ थीं। एक सरकार के समर्थकों की और दूसरे उस के आलोचकों की। एक में कुछ अँगरेज और राजा राममोहन राय जैसे भारतीय थे और दूसरी में सरकार के उच्च कर्मचारी थे, जो स्वेच्छाचारी शासन के पक्षपाती थे और उन के समर्थक 'जान बुल' जैसे पत्रों के सम्पादक थे। दूसरे दल के सहायतार्थ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 'एशियाटिक जनरल' निकाल दिया था। पहली पार्टी सुधारकों की थी। वे राजनीति और समाजनीति दोनों में सुधार चाहते थे। पर दूसरी सुधार-विरोधियों की थी। इसी में बंगाली सुधार-विरोधी भी शामिल हो गये थे। 'समाचार चन्द्रिका' कट्टरता-प्रिय बंगालियों की पत्रिका थी। इस प्रकार एक ओर 'संवाद कौमुदी', 'कलकत्ता-जनरल' और 'मीरात-उल-अख़बार' ये तीन पत्र थे तो दूसरी ओर भी तीन पत्र 'समाचार चन्द्रिका', 'जान बुल' और 'एशियाटिक जनरल' थे।' अम्बिका प्रसाद वाजपेयी: हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास।

२. रामरतन भटनागर की पुस्तक द राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ़ हिन्दी जर्नलिज्म से उद्धृत।

सार्वजनिक कार्य अथवा प्रतिष्ठा के विरुद्ध हो। २. किसी के धार्मिक विश्वासों और भावनाओं पर चोट करनेवाली तथा भारतीय प्रजा में आतंक की सृष्टि करनेवाली बातों का प्रकाशन न किया जाय, ३. किसी के व्यक्तिगत आचरण पर आघात करनेवाली खबरें न छापी जायें। ४. किसी विदेशी पत्रिका से ऐसी बातों को उद्धृत कर पुनः न प्रकाशित किया जाय जो असन्तोष की सृष्टि का कारण बने।

इस प्रकार हेस्टिंग्स के कार्य-काल में भारतीय पत्रों ने थोड़ी स्वतन्त्रता की साँस ली थी तभी उस के उत्तराधिकारी के रूप में आदम का भारत में पदार्पण हुआ। वह पत्रों की स्वतन्त्रता का सर्वथा विरोधी था। सन् १८२३ में सरकार ने एक नया क़ानून बनाया और यह आर्डिनेन्स जारी किया कि सरकारी लाइसेन्स के बिना किसी तरह का प्रकाशन न किया जाय। १४ मार्च १८२३ को समाचार पत्र तथा प्रेस-सम्बन्धी जो क़ानून जारी हुए वे वेलेजली की पुरानी व्यवस्था से भी कठोर थे।[1] उस क़ानून के अनुसार—

१. बिना सरकारी स्वीकृति के फ़ोर्ट विलियम के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई समाचार पत्र, पत्रिका, पुस्तक तथा कोई विज्ञप्ति प्रकाशित करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिस में सरकारी नीति या कार्यपद्धति के सम्बन्ध में कोई सूचना अथवा टीका-टिप्पणी की गयी हो।

२. प्रकाशन सम्बन्धी सरकारी लाइसेंस के लिए प्रार्थना पत्र देते समय एक हलफ़नामा देना भी आवश्यक कर दिया गया जिस में पत्रिका, समाचार पत्र या पुस्तिका के प्रकाशक का नाम तथा पूरा पता दिया गया हो। मालिकों की संख्या यदि दो से अधिक हो तो उस में बड़े हिस्सेदार का पूरा ब्योरा देना जरूरी कर दिया गया। इस के साथ ही यह आवश्यक कर दिया गया कि जिस मकान में समाचार पत्र अथवा अन्य प्रकाशन होता हो उस का विस्तृत विवरण और स्वरूप अंकित किया जाय।

३. बिना लाइसेंस के कोई समाचार पत्र प्रकाशित करने पर प्रकाशक को चार सौ रुपये का जुर्माना अथवा चार महीने क़ैद का दण्ड दिया जायेगा।

---

१. देशी पत्रों के प्रति सरकार की नीति दमन की नीति थी। सारसुधा, वर्ष १ अंक १७ में इस पर आनन्दवन का लेख छपा था और सम्पादकीय टिप्पणी का भी विषय यही था। आनन्दवन ने लिखा था, "जितने देशी भाषा के पत्र हैं सब के सब प्रेस एक्ट के चंगुल में पड़ दबी जीभ से बोलते हैं और बहुतेरे पोलिटिक्स पर लिखना ही छोड़ बैठे।" सरकार को सम्बोधित कर उसी लेख में आनन्दवन ने लिखा था कि "हमारी गवर्नमेण्ट ऐसी बुद्धिमती और न्यायप्रिया हो कर भी नेक विचार नहीं करती कि जितना उपकार देशी भाषा के वृत्त पत्रों से साधित है तादृश अँगरेज़ी भाषा के समाचारपत्रों से नहीं हो सकता। जो काम देशी भाषा के पत्र भारतवर्ष में करेंगे वह उन से कदापि सम्भव नहीं। जितना प्रजा के जी का आशय इस भाषा के पत्र से विदित होगा वह उस से कभी नहीं होता है।" विशेष द्रष्टव्य सार सुधानिधि के विवेचन-प्रसंग में।

छोड़ कर अधिकांश के बारे में भी कही जा सकती है।

भारतीय पत्रकारिता और सरकारी दमन नीति

भारतीय पत्रकारिता के विकास के साथ ही ब्रिटिश सरकार की दमन नीति भी उग्र होती गयी। लार्ड वेलेजली के समय में भारतीय पत्रों को कुण्ठित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने पहला क़ानून बनाया। ब्रिटिश पार्लामेण्ट में टोरियों की संख्या अधिक थी जो प्रकृत्या भारतीय पत्रों की स्वाधीनता के विरुद्ध थे। इस क़ानून के अनुसार (१) पत्र के मुद्रक के लिए पत्र के अन्त में अपना नाम प्रकाशित करना, (२) सम्पादक और संचालक के निवासस्थान का पूरा पता सरकार के सेक्रेटरी को लिख भेजना, (३) रविवार को पत्र का प्रकाशन करना तथा (४) सरकारी अधिकारी के निरीक्षण के पूर्व पत्र न प्रकाशित करना अनिवार्य नियम बना दिया गया। इस क़ानून के पीछे ब्रिटिश सरकार का एक ही मन्तव्य था जो मेटकाफ की जीवनी के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि "उन दिनों हमारी ये नीति थी कि भारत के लोगों को जहाँ तक हो सके बर्बरता और अन्धकार में रखा जाय और देशी जनता में ज्ञान फैलाने के किसी भी प्रयत्न का उन दिनों बड़ा कड़ा विरोध किया जाता था'''कैप्टन सिडेनहाम ने निजाम की एक इच्छा पूरी करने के उद्देश्य से कि वे आधुनिक विज्ञान के कुछ प्रयोगों को देख सकें, कुछ चीजें भेंट कीं, उन में एक एयर पम्प, एक छापाखाना और एक आधुनिक योद्धा का एक माडल था। चीफ़ सेक्रेटरी को भेजे गये अपने पत्रों में कैप्टन ने इस बात का उल्लेख किया था परिणामतः उन पर आरोप लगाया गया कि उन्हों ने एक देशी शासक के हाथ में छापेखाने-जैसी खतरनाक वस्तु रख दी[2]।"

लार्ड हेस्टिंग्स अपेक्षाकृत उदार माना जाता है। सेंसर के नियम को उस ने कुछ शिथिल किया और प्रेस सम्बन्धी कुछ स्पष्ट निर्देश दिये : १. किसी प्रकार की ऐसी खबर न प्रकाशित की जाय जो कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स, ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों, कौन्सिल के सदस्यों, सुप्रीम कोर्ट के जजों तथा कलकत्ते के बड़े पादरी के

---

१. "देश में दो पार्टियाँ थीं। एक सरकार के समर्थकों की और दूसरे उस के आलोचकों की। एक में कुछ अँगरेज और राजा राममोहन राय जैसे भारतीय थे और दूसरी में सरकार के उच्च कर्मचारी थे, जो स्वेच्छाचारी शासन के पक्षपाती थे और उन के समर्थक 'जान बुल' जैसे पत्रों के सम्पादक थे। दूसरे दल के सहायतार्थ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 'एशियाटिक जनरल' निकाल दिया था। पहली पार्टी सुधारकों की थी। ये राजनीति और समाजनीति दोनों में सुधार चाहते थे। पर दूसरी सुधार-विरोधियों की थी। इसी में बंगाली सुधार-विरोध भी शामिल हो गये थे। 'समाचार चन्द्रिका' कट्टरता-प्रिय बंगालियों की पत्रिका थी। इस प्रकार एक ओर 'संवाद कौमुदी', 'कलकत्ता-जनरल' और 'मीरात-उल-अखबार' ये तीन पत्र थे तो दूसरी ओर भी तीन पत्र 'समाचार चन्द्रिका', 'जान बुल' और 'एशियाटिक जनरल' थे।' अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास।

२. रामरतन भटनागर की पुस्तक द राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ़ हिन्दी जर्नलिज्म से उद्धृत।

सार्वजनिक कार्य अथवा प्रतिष्ठा के विरुद्ध हो। २. किसी के धार्मिक विश्वासों और भावनाओं पर चोट करनेवाली तथा भारतीय प्रजा में आतंक की सृष्टि करनेवाली बातों का प्रकाशन न किया जाय, ३. किसी के व्यक्तिगत आचरण पर आघात करनेवाली खबरें न छापी जायें। ४. किसी विदेशी पत्रिका से ऐसी बातों को उद्धृत कर पुनः न प्रकाशित किया जाय जो असन्तोष की सृष्टि का कारण बने।

इस प्रकार हेस्टिंग्स के कार्य-काल में भारतीय पत्रों ने थोड़ी स्वतन्त्रता की साँस ली थी तभी उस के उत्तराधिकारी के रूप में आदम का भारत में पदार्पण हुआ। वह पत्रों की स्वतन्त्रता का सर्वथा विरोधी था। सन् १८२३ में सरकार ने एक नया क़ानून बनाया और यह आर्डिनेन्स जारी किया कि सरकारी लाइसेन्स के बिना किसी तरह का प्रकाशन न किया जाय। १४ मार्च १८२३ को समाचार पत्र तथा प्रेस-सम्बन्धी जो क़ानून जारी हुए वे वेलेजली की पुरानी व्यवस्था से भी कठोर थे।[१] उस क़ानून के अनुसार—

१. बिना सरकारी स्वीकृति के फ़ोर्ट विलियम के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई समाचार पत्र, पत्रिका, पुस्तक तथा कोई विज्ञप्ति प्रकाशित करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिस में सरकारी नीति या कार्यपद्धति के सम्बन्ध में कोई सूचना अथवा टीका-टिप्पणी की गयी हो।

२. प्रकाशन सम्बन्धी सरकारी लाइसेंस के लिए प्रार्थना पत्र देते समय एक हलफ़नामा देना भी आवश्यक कर दिया गया जिस में पत्रिका, समाचार पत्र या पुस्तिका के प्रकाशक का नाम तथा पूरा पता दिया गया हो। मालिकों की संख्या यदि दो से अधिक हो तो उस में बड़े हिस्सेदार का पूरा ब्योरा देना ज़रूरी कर दिया गया। इस के साथ ही यह आवश्यक कर दिया गया कि जिस मकान में समाचार पत्र अथवा अन्य प्रकाशन होता हो उस का विस्तृत विवरण और स्वरूप अंकित किया जाय।

३. बिना लाइसेंस के कोई समाचार पत्र प्रकाशित करने पर प्रकाशक को चार सौ रुपये का जुर्माना अथवा चार महीने क़ैद का दण्ड दिया जायेगा।

---

१. देशी पत्रों के प्रति सरकार की नीति दमन की नीति थी। सारसुधा, वर्ष १ अंक १७ में इस पर आनन्दवन का लेख छपा था और सम्पादकीय टिप्पणी का भी विषय यही था। आनन्दवन ने लिखा था, "जितने देशी भाषा के पत्र हैं सब के सब प्रेस एक्ट के चंगुल में पड़ दबी जीभ से बोलते हैं और बहुतेरे पोलिटिक्स पर लिखना ही छोड़ बैठे।" सरकार को सम्बोधित कर उसी लेख में आनन्दवन ने लिखा था कि "हमारी गवर्नमेंट ऐसी बुद्धिमती और न्यायप्रिया हो कर भी नेक विचार नहीं करती कि जितना उपकार देशी भाषा के वृत्त पत्रों से साधित है तादृश अँगरेज़ी भाषा के समाचारपत्रों से नहीं हो सकता। जो काम देशी भाषा के पत्र भारतवर्ष में करेंगे वह उन से कदापि सम्भव नहीं। जितना प्रजा के जी का आशय इस भाषा के पत्र से विदित होगा वह उस से कभी नहीं होता है।" विशेष द्रष्टव्य सार सुधानिधि के विवेचन-प्रसंग में।

इन क़ानून के विरुद्ध हाईकोर्ट में राजा राममोहन राय ने 'पेटिशन' प्रस्तुत किया था जिस का अनुकूल परिणाम नहीं निकला और अन्ततः राजा साहब को अपना प्रिय पत्र 'मिरात-उल-अखबार' ४ अप्रैल १८२३ को बन्द कर देना पड़ा।

अमहर्स्ट के समय में यानी दिसम्बर १८२५ में प्रेस-सम्बन्धी एक नया क़ानून बना जिस के अनुसार किसी पत्र से किसी सरकारी कर्मचारी का किसी प्रकार का सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया गया।

सन् १८२८ में लार्ड विलियम बैण्टिक भारत के गवर्नर जेनरल हो कर आये। शुरू में विलियम बैण्टिक ने पत्रों की स्वतन्त्रता के प्रति उदारता दिखायी; किन्तु पत्रों की स्वतन्त्र टिप्पणी ने उन्हें भी विचलित कर दिया और अन्त में पत्रों की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित कर उन्हों ने आदम के ही पथ का अनुसरण किया।

मेटकाफ़ की उदार नीति

मेटकाफ़ ने भारतीय पत्रों की स्वतन्त्रता के लिए सक्रिय रुचि दिखायी।[1] डॉ० रामरतन भटनागर ने लिखा है कि, "भारतीय पत्रकारिता के पूरे इतिहास में पत्रों की स्वतन्त्रता के लिए अथक परिश्रम करने वाला मेटकाफ़ के समान ईमानदार दूसरा कोई अँगरेज़ व्यक्ति नहीं मिलेगा। वे विधान सभा के एक सदस्य थे और उन्हों ने बैण्टिक के विरुद्ध मत प्रकट किया था और उस पथ का बड़े उत्साहपूर्वक विरोध किया था जो जनमत को सरकार के विरुद्ध भड़काने वाला तथा न्याय का अवरोधक था। सन् १८३२ की शुरू गरमियों में मेटकाफ़ विधान सभा में गवर्नर के कार्यवाही प्रतिनिधि नियुक्त हुए। इस हैसियत से भी मेटकाफ़ ने पत्रों की स्वन्त्रता क़ायम रखने के लिए काफ़ी उद्योग किया। उस आत्मबल को, जिस से भारतीय पत्रों को मुक्त करने वाले इस व्यक्ति का निर्माण हुआ था, द्योतित करने वाला एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है। कलकत्ते के तत्कालीन गवर्नर उस स्थानीय पत्र के विरुद्ध कारवाई करना चाहते थे, जिस ने किसी खास बात पर बाम्बे के गवर्नर की कटु आलोचना की थी। उन्हों ने बैण्टिक को यह पत्र लिखा कि वे सम्पादक को क्षमा-याचना का आदेश दें अथवा पत्र की स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करें। उक्त पत्र की स्मारिका प्रतिलिपि सर चार्ल्स मेटकाफ़ को, जो स्थानीय शासन के प्रधान थे, भेजी गयी ताकि उसे क्रियान्विति

१. कलकत्ता के नागरिकों की एक सभा में मेटकाफ़ ने घोषणा की थी, "It is salutary for the government to have the check of a press on their conduct. "Freedom of public discussion" said he, "which is nothing more than the freedom of speaking aloud, is a right belonging to the people which no government has a right to withhold."—The British Paramountancy and Indian Renaissance. II. Page 235.

दी जा सके, किन्तु गवर्नर के बार-बार कहने पर भी उन्हों ने ऐसा नहीं किया[1]।' सर चार्ल्स मेटकाफ़ की चर्चा करते हुए अपने इतिहास ग्रन्थ में डॉ० पट्टाभि सीता रमैया ने लिखा है कि "सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने अखबारों पर से पाबन्दियाँ उठा लीं। फिर लार्ड लिटन के वाइसराय होने तक अखबार इसी आज़ादी में रहे—सिर्फ़ सन् १८५७ ई० के गदर ज़माने को छोड़ कर[2]।"

सरकार का ध्यान केवल सम्पादकीय दृष्टिकोण पर ही नहीं था बल्कि समाचारों के प्रति भी वह सतर्क थी। इस दमन की प्रतिक्रिया की ओर अधिकारियों का ध्यान नहीं गया। प्रतिक्रिया काफ़ी गहरी हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय पत्रकारिता को ब्रिटिश शासन-काल में वही यातना सहनी पड़ी जो आयरलैण्ड के निवासियों को ब्रिटिश शास-काल में झेलनी पड़ी थी, किन्तु इस पीड़ा का एक बहुत बड़ा मूल्य अँगरेज़ों को चुकाना पड़ा[3]।

देश-दशा

हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भिक अध्याय की चर्चा करने के पूर्व आवश्यक है देश की उन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख, जिन के बीच हिन्दी पत्रकारिता का निर्माण हुआ है। यहाँ बंगाल के विशेष सन्दर्भ में ही हम देश-दशा को देखेंगे। तत्कालीन भारतीय समस्याओं पर विचार करते हुए के० एस० शेल्वेंकर ने एक बड़ी बात कही है: "भारत पहले भी पराजित हुआ था, किन्तु उन विजेताओं से जो इसी भूमि में आ कर बसे और अपने को यहाँ के जीवन का एक अंग बना लिया (इंग्लैण्ड के नॉर्मन्स या चीन की मंचू जाति की तरह) भारत कभी भी अपनी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं हुआ, कभी गुलाम नहीं बना। मतलब यह कि वह कभी भी एक राजनीतिक और आर्थिक पद्धति का अंग नहीं बनाया गया जिस का मूल केन्द्र कहीं अन्यत्र था, कभी भी वह ऐसी जाति के द्वारा पराधीन नहीं हुआ जो मौलिक प्रकृति और व्यक्तित्व में हमेशा ही उस से भिन्न थी और बनी रही।"[४] चूँकि अँगरेज़ों के मन में भारतीय भूमि और भारतीयता के प्रति किसी प्रकार की आत्मीयता न थी इस लिए स्वाभाविक था कि इस उर्वर भूमि को वे पूरी निर्ममता से लूटते। इतिहास का साक्ष्य है कि भारतवर्ष को लूटने में अँगरेज़ों ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। इस प्रकार 'उन्हों ने अटूट धन-सम्पत्ति प्राप्त कर ली, जिस ने आगे चल कर उन के लिए एक बड़ी पूँजी का काम दिया और जिस के बल पर इंग्लैण्ड स्टीम इंजिन चलाने में तथा १९वीं सदी में दुनिया में अपने औद्योगिक प्रभुत्व को स्थापित करने में

१. रामरतन भटनागर : द राइज ऐण्ड ग्रोथ आफ़ हिन्दी जर्नलिज्म।
२. डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैया : काँग्रेस का इतिहास, भाग—१, प्र० संस्करण।
३. हेमेन्द्रप्रसाद घोष : द न्यूज़पेपर इन इण्डिया, पृ० ४९।
४. जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक 'द डिस्कवरी ऑव इण्डिया' से उद्धृत।

सफल हो सका[1]।" दूसरी ओर भारतवर्ष का आर्थिक मेरुदण्ड ही झुक गया। जिस प्रादेशिक अंचल पर उन की कुदृष्टि पड़ी वहीं दारिद्र्य छा गया। भारतीय समुद्री-तटों पर जमने के बाद अँगरेजों ने भीतरी प्रदेशों में धीरे-धीरे अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया था, तभी १७५७ में प्लासी की लड़ाई के परिणामस्वरूप अँगरेजों के हाथ में बहुत बड़ा भू-भाग आ गया। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और पूर्वी तट पर उन का अधिकार हो गया; और इन प्रदेशों की समृद्धि देखते-ही-देखते नष्ट हो गयी। "असल में एक ऐसा नक्शा तैयार किया जा सकता है, जिस से ब्रिटिश राज्यकाल के फैलाव और क्रमिक निर्धनता की वृद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध हो[2]।" अँगरेज इतिहासकारों ने भी इसे पूरी ईमानदारी से स्वीकारा है। एडवर्ड टॉमसन और जी० टी० गैरट ने बड़े साफ़ शब्दों में लिखा है कि "अँगरेजों के दिमाग़ में दौलत के लिए इतना जबर्दस्त लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज और पिजारों के युग के स्पेनवासियों के समय से ले कर आज तक उस की मिसाल नहीं मिल सकती। खास तौर से बंगाल में तो उस वक़्त तक शान्ति नहीं हो सकती थी, जब तक कि वह चूसते-चूसते खोखला न रह जाये।···कितने ही वर्षों तक अँगरेजी व्यवहार की भयंकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव खास तौर से जिम्मेवार था[3]।" परिणाम था ब्रिटेन की आर्थिक उन्नति और भारत का दारिद्र्य। निस्सन्देह बंगाल एक समृद्धशाली प्रदेश था, किन्तु अँगरेजों की लूट का परिणाम यह हुआ कि इस का सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा बिखर गया और १७७० ई० के अकाल में बंगाल-बिहार की एक तिहाई आबादी खत्म हो गयी। भाग्य की विडम्बना यह कि सन् १७७० ई० में ही इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति शुरू हुई। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए एक अमेरिकी इतिहासकार ने लिखा है कि "शायद जब से दुनिया शुरू हुई है, किसी भी पूँजी से कभी भी इतना मुनाफ़ा नहीं हुआ, जितना कि हिन्दुस्तान की लूट से, क्योंकि क़रीब-क़रीब पचास बरस तक ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी मुक़ाबला करने वाला नहीं था[4]।"

साम्राज्यवाद का विकृत रूप : आर्थिक शोषण

इस लूट का सब से विकृत रूप यह था कि "आधुनिक ढंग से आर्थिक साम्राज्यवाद से नये ढंग का आर्थिक शोषण शुरू हुआ, जो पहले युगों में प्रचलित नहीं था।" भारतीय वस्तुओं की खपत ब्रिटेन के बाजारों में होती थी। किन्तु ब्रिटिश उद्योगपतियों के एक नये वर्ग ने पार्लमेण्ट के प्रभाव से इस में एक विचित्र परिवर्तन उपस्थित कर दिया। भारतीय माल के लिए ब्रिटिश बाजार बन्द हो गये। कारबार

---

१. डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : काँग्रेस का इतिहास, भाग–१, पृ० ४।

२. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ४०३।

३. वही, पृ० ४०४।

४. वही, पृ० ४०६।

सम्बन्धी ऐसे-ऐसे क़ानून बनाये गये जिस से व्यापारियों को बड़ा धक्का लगा। माल बाहर भेजना तो दूर रहे देश में ही उन के उत्पादन पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये गये। दूसरी ओर ब्रिटिश माल को भारतीय बाज़ारों में पूरी छूट दी गयी, उस की खपत के लिए भारत के बाज़ार मुक्त कर दिये गये। भारतीय गृह-उद्योग पर यह एक ऐसा प्रहार था जिस का एकमात्र परिणाम बेकारी और दारिद्रय ही हो सकता था। इतिहासकारों की तो बात दूर रहे, हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल लॉर्ड बेण्टिक ने भी इसे स्वीकार किया है कि "व्यापार के इतिहास में तकलीफ़ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है। जुलाहों की हड्डियाँ हिन्दुस्तान के मैदानों को सफ़ेद किये हुए हैं।" श्री नेहरू ने भी इसी सन्दर्भ में इस प्रकार टिप्पणी की है: "इस ढंग की मिसाल इतिहास में नहीं है। और यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यह चीज़ अलग-अलग नामों में और अलग-अलग शक्लों में कुछ वर्षों तक ही नहीं, बल्कि कई पीढ़ियों तक चलती रही। खुली और सीधी लूट-मार की जगह क़ानूनी हुलिया में शोषण ने ले ली, और हालाँकि उस की वजह से खुलापन कम हो गया, लेकिन हालत बदतर हो गयी। हिन्दुस्तान में शुरू की पीढ़ियों में ब्रिटिश राज्य में जो हिंसा, धनलोलुपता, पक्षपात और अनैतिकता थी, उस का अन्दाज़ भी लगाना मुश्किल है। एक बात ध्यान देने की है कि हिन्दुस्तानी 'लफ़्ज़' जो अँगरेज़ी भाषा में शामिल हो गया है 'लूट' है। एडवर्ड टॉमसन ने कहा है और यह बात सिर्फ़ बंगाल के ही हवाले में नहीं कही गयी है कि ब्रिटिश हिन्दुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है जो शायद दुनिया-भर में राजनैतिक छल की सब से बड़ी मिसाल है[१]।"

व्यापार नष्ट हो जाने के बाद लोगबाग खेती की ओर झुके, किन्तु उस में भी कोई रस नहीं था। भारतीय कृषि नाना प्रकार के दोषों से ग्रस्त थी। छोटे-छोटे खेतों का सही उपयोग नहीं हो सकता था। भारतीय योग्यता और सामर्थ्य को विदेशी सरकार के प्रहारों ने कुण्ठित कर दिया था। ब्रिटिश सरकार भारतीय शक्ति से सदैव आतंकित रहती थी, इस लिए सदैव इस प्रयत्न में रहती थी कि किसी प्रकार से उस की शक्ति संगठित न हो सके। विकास के सभी मार्गों को अवरुद्ध करती रहती थी। कहना न होगा कि यह अत्याचार की पराकाष्ठा थी।[२]

अपनी सुरक्षा और लाभ के उद्देश्य से ही उस ने अपने और सामान्य कृषकों के बीच एक ऐसे वर्ग की सृष्टि की जिस से सामान्य कृषकों की पीड़ा और समस्याएँ और भी अधिक बढ़ गयीं। मालगुज़ारी सम्बन्धी नये-नये क़ानून बने जो भारतीय हित के सर्वथा प्रतिकूल थे।[3] इसी प्रकार फ़ौज में हिन्दुस्तानी सैनिकों को हीन दृष्टि से देखा

---

१. जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ४०५।
२. Narendra Krishna Sinha : , Economic Background of the Century; Studies in the Bengal Renaissance, P. 5.
३. जवाहरलाल नेहरू : डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया।

जाता था। खतरे का काम हिन्दुस्तानी सैनिकों के जिम्मे रहता था और ऊँची तन-ख्वाहों की जगहें युरोपीयों के लिए सुरक्षित रहती थीं।

भारतीय प्रजाका असन्तोष और राष्ट्रीय चेतना का विकास

बर्तानिया सरकार की इस अनुदारता और अत्याचार से हम पीड़ित हो गये थे। राममोहन राय ने जिस सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया था वह नये-नये सुधारकों और विचारकों का वैचारिक अवलम्ब पा कर निरन्तर विकासमान है। इस प्रकार एक ओर सामाजिक कलुष-प्रक्षालन का महत् उपक्रम चल रहा था और साथ ही दूसरी ओर हमारी राजनीतिक चेतना भी प्रखर हो रही थी। राजा राममोहन राय और उन के सहयोगी मित्र द्वारका नाथ टैगोर ने भली भाँति अनुभव किया था कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधार-आन्दोलन को अपेक्षित सक्रिय बनाये रखने के लिए स्वतन्त्र पत्रों की प्राथमिक आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से इन्होंने अनेक पत्र अँगरेजी, हिन्दी, फ़ारसी और बंगला में प्रकाशित किये। हिन्दू कॉलिज के कुछ विशिष्ट विद्यार्थियों ने राजा साहब के सम्पर्क से राजनीतिक प्रेरणा प्राप्त की थी और बंगाल में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में इन लोगों ने अपने ढंग से योग दिया था। इन में ताराचन्द चक्रवर्ती, दक्षिणारंजन मुखर्जी, रसिक कृष्ण मलिक, रामगोपाल घोष और पियारीचन्द मित्र के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।[1] हिन्दू कलिज के इन विद्यार्थियों ने भी अपने विचारों के प्रचार के लिए अनेक पत्रों का प्रकाशन किया। इन के अतिरिक्त राजा साहब के दूसरे अनुयायियों में अक्षयकुमार दत्त और प्रसन्नकुमार टैगोर विशिष्ट हैं। अक्षयकुमार दत्त उस समय विश्रुत लेखक थे जो धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर लिखते थे और जिन्होंने सन् १८४३ से १८५५ ई० तक तत्त्वबोधिनी पत्रिका का सम्पादन किया था। प्रसन्नकुमार टैगोर 'रिफ़ॉर्मर' पत्रिका के संचालक थे। इन्हों ने (प्रसन्नकुमार टैगोर ने) 'जमींदारी एसोसियेशन' की स्थापना (सन् १८२७ ई०) में प्रमुख भाग लिया था, जो कालान्तर में 'लैण्ड होल्डर्स-सोसाइटी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसे बंगाल का पहला राजनीतिक संगठन माना गया[2]। जार्ज थॉम्पसन के सलाह-सहयोग से अप्रैल सन् १८४३ ई० में द्वारकानाथ टैगोर ने 'बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना की[3]। इन दोनों को मिला कर

---

१. स्टडीज् इन द बंगाल रेनेशाँस, पृ० १४७।

२. वही, पृ० १४७।

३. "...the first organisation established in india for the advancement of social, economic and political interest of the rising middle class of India. The Bengal British India Society agitated for the spread of education amongst the people and a memorial was sent to the East India Company demanding Indianisation of services."—Somendra Nath Tagore: 'Studies in the Bengal Renaissance,' p. 206.

३१ अक्टूबर १८५१ में ब्रिटिश इण्डिया एसोशियेशन नाम की संस्था क़ायम हुई जिस में प्रसन्नकुमार टैगोर, राधाकान्त देव, कालिकृष्ण देव, सत्यनारायण घोपाल-जैसे परम्परावादी सदस्यों के अतिरिक्त रामगोपाल घोप और पियारीचन्द मित्र-जैसे प्रगतिवादी भी थे। इस का परिवेश देशव्यापी होते हुए भी उद्देश्य किंचित् संकीर्ण था अर्थात् यह ज़मींदारों के हित को शीर्ष प्राथमिकता देती थी। इस का मुख्य कारण यह था कि बंगाल के राजनीतिज्ञ उस अभिजातवर्ग के थे जिन की ब्रिटिश सरकार के प्रति सहानुभूति थी। अँगरेज़ी शिक्षा से उपकृत हो कर वे देशोद्धार के लिए पूरे मनोयोग से तत्पर थे। शिक्षा और सुधार आन्दोलन के प्रति उन का विशेष आग्रह था। भारत के सांस्कृतिक उन्नयन को वे प्रमुखता देते थे। कदाचित् यही कारण है कि अँगरेज़ी सरकार को यन्त्रणा से पीड़ित हो सम्पूर्ण देश, विशेषतः पश्चिमोत्तर प्रदेश, जब राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए पूर्ण रूप से उद्यत था और ब्रिटिश शासन के स्थान पर जातीय सरकार को प्रतिष्ठित करने के लिए संकल्पित था, उस समय भी बंगाल के नेता प्रसन्नकुमार टैगोर ब्रिटिश सरकार की मैत्री की सम्भावना प्रकट कर रहे थे। शशिभूपण चौधुरी ने ठीक ही लिखा है कि "बंगाल को राजनीति विदेशी शासन के सोलहो आने विरुद्ध नहीं थी और न तो उस की राष्ट्रीयता का अर्थ एक संगठित राष्ट्र की राष्ट्रीयता था। विदेशी शासन से मुक्ति पाने की कामना भी स्पष्ट नहीं हुई थी[1]। और यही कारण है कि सन् १८५७ ई० के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम से, आधुनिक भारत का नेतृत्व करने वाला प्रदेश बंगाल एक प्रकार से अप्रभावित ही रहा।[2]

सन् १८५७ ई० का प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम

बर्तानिया सरकारकी आत्यन्तिक अनुदारता के व्यवहार ने भारतीय मानस को इतना पीड़ित और उन्मथित कर दिया था कि उस की गहरी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। राजा राममोहन रॉय के प्रयत्नों तथा मैकाले की इच्छा से भारत में अँगरेज़ी शिक्षा की नींव पड़ी थी जिस का पहला स्वस्थ परिणाम यह हुआ था कि आधुनिक जगत् की अधुनातन राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को एक हद तक हम समझने लगे थे और पराधीनता से त्राण पाने की आतुरता हम में बढ़ने लगी थी। बर्तानिया सरकार के अनौचित्य और अत्याचार को युरॅपीय भी समझने लगे थे। सन् १८१८ ई० में सर टॉमस मुनरो ने कहा था : "विदेशी विजेताओं ने देशवासियों के साथ हिंसा और अकसर बहुत ज़्यादा बेरहमी का बरताव किया है, लेकिन किसी ने भी सारी जनता को अविश्वसनीय बता कर ईमानदारी के लिए असमर्थ बता कर इतना कलंकित नहीं किया है जितना हम ने किया है। हम ने सिर्फ़ उसी जगह उन को भरती करना ठीक समझा जहाँ हमारा काम उन के बिना चल नहीं सकता था। यह बात सिर्फ़

१. Somendra Nath Tagore : 'Studies in the Bengal Renaissance.'
२. जवाहरलाल नेहरू : द डिस्कवरी ऑव इण्डिया।

जाता था। खतरे का काम हिन्दुस्तानी सैनिकों के जिम्मे रहता था और ऊँची तनख्वाहों की जगहें युरोपीयों के लिए सुरक्षित रहती थीं।

भारतीय प्रजाका असन्तोष और राष्ट्रीय चेतना का विकास

बर्तानिया सरकार की इस अनुदारता और अत्याचार से हम पीड़ित हो गये थे। राममोहन राय ने जिस सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया था वह नये-नये सुधारकों और विचारकों का वैचारिक अवलम्ब पा कर निरन्तर विकासमान है। इस प्रकार एक ओर सामाजिक कलुष-प्रक्षालन का महत् उपक्रम चल रहा था और साथ ही दूसरी ओर हमारी राजनीतिक चेतना भी प्रखर हो रही थी। राजा राममोहन राय और इन के सहयोगी मित्र द्वारका नाथ टैगोर ने भली भाँति अनुभव किया था कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधार-आन्दोलन को अपेक्षित सक्रिय बनाये रखने के लिए स्वतन्त्र पत्रों की प्राथमिक आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से इन्होंने अनेक पत्र अँगरेजी, हिन्दी, फ़ारसी और बंगला में प्रकाशित किये। हिन्दू कॉलिज के कुछ विशिष्ट विद्यार्थियों ने राजा साहब के सम्पर्क से राजनीतिक प्रेरणा प्राप्त की थी और बंगाल में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में इन लोगों ने अपने ढंग से योग दिया था। इन में ताराचन्द चक्रवर्ती, दक्षिणारंजन मुखर्जी, रसिक कृष्ण मलिक, रामगोपाल घोष और पियारीचन्द मित्र के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।[1] हिन्दू कॉलिज के इन विद्यार्थियों ने भी अपने विचारों के प्रचार के लिए अनेक पत्रों का प्रकाशन किया। इन के अतिरिक्त राजा साहब के दूसरे अनुयायियों में अक्षयकुमार दत्त और प्रसन्नकुमार टैगोर विशिष्ट हैं। अक्षयकुमार दत्त उस समय विश्रुत लेखक थे जो धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर लिखते थे और जिन्होंने सन् १८४३ से १८५५ ई० तक तत्त्वबोधिनी पत्रिका का सम्पादन किया था। प्रसन्नकुमार टैगोर 'रिफ़ॉर्मर' पत्रिका के संचालक थे। इन्हों ने (प्रसन्नकुमार टैगोर ने) 'जमींदारी एसोसियेशन' की स्थापना (सन् १८३७ ई०) में प्रमुख भाग लिया था, जो कालान्तर में 'लैण्ड होल्डर्स-सोसाइटी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसे बंगाल का पहला राजनीतिक संगठन माना गया।[2] जार्ज थॉम्पसन के सलाह-सहयोग से अप्रैल सन् १८४३ ई० में द्वारकानाथ टैगोर ने 'बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना की।[3] इन दोनों को मिला कर

---

१. स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेशाँस, पृ० १४७।

२. वही, पृ० १४७।

३. "...the first organisation established in india for the advancement of social, economic and political interest of the rising middle class of India. The Bengal British India Society agitated for the spread of education amongst the people and a memorial was sent to the East India Company demanding Indianisation of services."—Somendra Nath Tagore: 'Studies in the Bengal Renaissance,' p. 206.

२१ अक्टूबर १८५१ में ब्रिटिश इण्डिया एसोशियेशन नाम की संस्था क़ायम हुई जिस में प्रसन्नकुमार टैगोर, राधाकान्त देव, कालिकृष्ण देव, सत्यनारायण घोषाल-जैसे परम्परावादी सदस्यों के अतिरिक्त रामगोपाल घोष और पियारीचन्द मित्र-जैसे प्रगतिवादी भी थे। इस का परिवेश देशव्यापी होते हुए भी उद्देश्य किंचित् संकीर्ण था अर्थात् यह ज़मींदारों के हित को शीर्ष प्राथमिकता देती थी। इस का मुख्य कारण यह था कि बंगाल के राजनीतिज्ञ उस अभिजातवर्ग के थे जिन की ब्रिटिश सरकार के प्रति सहानुभूति थी। अँगरेज़ी शिक्षा से उपकृत हो कर वे देशोद्धार के लिए पूरे मनोयोग से तत्पर थे। शिक्षा और सुधार आन्दोलन के प्रति उन का विशेष आग्रह था। भारत के सांस्कृतिक उन्नयन को वे प्रमुखता देते थे। कदाचित् यही कारण है कि अँगरेज़ी सरकार को यन्त्रणा से पीड़ित हो सम्पूर्ण देश, विशेषतः पश्चिमोत्तर प्रदेश, जब राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए पूर्ण रूप से उद्यत था और ब्रिटिश शासन के स्थान पर जातीय सरकार को प्रतिष्ठित करने के लिए संकल्पित था, उस समय भी बंगाल के नेता प्रसन्नकुमार टैगोर ब्रिटिश सरकार की मैत्री की सम्भावना प्रकट कर रहे थे। शशिभूषण चौधुरी ने ठीक ही लिखा है कि "बंगाल की राजनीति विदेशी शासन के सोलहो आने विरुद्ध नहीं थी और न तो उस की राष्ट्रीयता का अर्थ एक संगठित राष्ट्र की राष्ट्रीयता था। विदेशी शासन से मुक्ति पाने की कामना भी स्पष्ट नहीं हुई थी[1]। और यही कारण है कि सन् १८५७ ई० के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम से, आधुनिक भारत का नेतृत्व करने वाला प्रदेश बंगाल एक प्रकार से अप्रभावित ही रहा।[2]

सन् १८५७ ई० का प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम

बर्तानिया सरकारकी आत्यन्तिक अनुदारता के व्यवहार ने भारतीय मानस को इतना पीड़ित और उन्मथित कर दिया था कि उस की गहरी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। राजा राममोहन रॉय के प्रयत्नों तथा मैकाले की इच्छा से भारत में अँगरेज़ी शिक्षा की नींव पड़ी थी जिस का पहला स्वस्थ परिणाम यह हुआ था कि आधुनिक जगत् की अधुनातन राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को एक हद तक हम समझने लगे थे और पराधीनता से त्राण पाने की आतुरता हम में बढ़ने लगी थी। बर्तानिया सरकार के अनौचित्य और अत्याचार को युरॅपीय भी समझने लगे थे। सन् १८१८ ई० में सर टॉमस मुनरो ने कहा था : "विदेशी विजेताओं ने देशवासियों के साथ हिंसा और अकसर बहुत ज्यादा बेरहमी का बरताव किया है, लेकिन किसी ने भी सारी जनता को अविश्वसनीय बता कर ईमानदारी के लिए असमर्थ बता कर इतना कलंकित नहीं किया है जितना हम ने किया है। हम ने सिर्फ़ उसी जगह उन को भरती करना ठीक समझा जहाँ हमारा काम उन के बिना चल नहीं सकता था। यह बात सिर्फ़

१. Somendra Nath Tagore : 'Studies in the Bengal Renaissance.'
२. जवाहरलाल नेहरू : द डिस्कवरी ऑव इण्डिया।

अनुदार ही नहीं मालूम देती बल्कि अनुचित है कि हम विजित जनता के चरित्र को ही कलंकित कर दें।" सन् १८५६ में लॉर्ड कैनिंग भारत का गवर्नर जनरल हो कर आया और मई १८५७ ई० में मेरठ में प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का श्री गणेश हुआ।

उक्त आन्दोलन की असफलता और असफलताजनित अवसाद की संक्षिप्त चर्चा अगले प्रसंग में की जायेगी। यहां इतना ही उल्लेख करना है कि इन्हीं राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में भारतीय पत्रकारिता का आरम्भिक अध्याय निर्मित हुआ है। इसी सांस्कृतिक संक्रमण के बीच हिन्दी पत्रकारिता का उदय भी हुआ है।

कलकत्ता की विशिष्टता

सन् १६९० ई० में कलकत्ते की नींव पड़ी थी। अपनी सुख-सुविधा के लिए लोग उसे निरन्तर सजाते-सँवारते और आधुनिक साधन-सम्पन्न करते गये। ऊपर हम ने चर्चा की है कि मुद्रण-कला और भारतीय पत्रकारिता का विकास यहीं से हुआ है। नौकरी-धन्धा के उद्देश्य से उन्नीसवीं शताब्दी में ही पश्चिमोत्तर प्रदेश से बहुत से हिन्दी भाषी कलकत्ता में आ गये थे। उन में कुछ अँगरेजी पढ़े-लिखे भी थे जो आधुनिक चेतना को धीरे-धीरे ग्रहण कर रहे थे। आधुनिकता से हिन्दी समाज को सम्पृक्त करने की महत्त्वाकांक्षा उन के मन में उठ रही थी। कलकत्ते में सहज सुलभ आधुनिक साधन और सुविधाओं से लाभान्वित होने की इच्छा भी उन्हें भीतर-ही-भीतर प्रेरित कर रही थी। इसी बलवती प्रेरणा का परिणाम था हिन्दी के प्रथम (साप्ताहिक) पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन।

हिन्दी का पहला पत्र : विभिन्न धारणाएँ

नवम्बर १९३१ के पहले तक लोगों की यह ग़लत धारणा थी कि हिन्दी का पहला पत्र 'बनारस अखबार' है जिस का प्रकाशन राजा शिवप्रसाद की सहायता से सन् १८४५ ई० में बनारस से हुआ था।[1] बंगला के प्राचीन पत्रों के अन्वेषी और

---

१. (क) "हिन्दी में सब से पहले सन् १८४५ ई० के जनवरी में राजा शिवप्रसाद की सहायता से 'बनारस अखबार' का जन्म हुआ। यह पत्र लिथो में बहुत ही दरिद्र कागज पर छपता था और इस के सम्पादक गोविन्द रघुनाथ थत्ते राजा साहब के आदेशानुसार इसे लिखते थे। इस का मोटो यह था—

सुबनारस अखबार यह, शिवप्रसाद आधार।
बुधि विवेक जन निपुन को, चित हित बारम्बार।
गिरिजापति नगरी जहाँ, गंग अमल जलधार।
नेत शुभाशुभ मुकुर को, लखो विचार विचार।

'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास', श्रीयुत् बाबू कार्तिकप्रसाद तथा बाबू श्यामसुन्दर दास की सहायता-द्वारा श्री राधाकृष्णदास लिखित, सेक्रेटरी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी-द्वारा प्रकाशित, १८९४।

(ख) 'भारत-मित्र' में 'हिन्दी अखबार' का इतिहास बालमुकुन्द गुप्त ने भी लिखा था और श्री राधाकृष्णदास की बात चुपचाप मान ली थी।

उद्धारक व्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय को हिन्दी के भी कुछ प्राचीन पत्र मिल गये जिन से हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया। नवम्बर १९३१ के 'विशाल भारत' में 'हिन्दी समाचार पत्रों की आरम्भिक कथा' लिख कर श्री वन्द्योपाध्याय ने इतिहासकारों की पुरानी धारणा का निरास किया और 'उदन्तमार्तण्ड' की सूचना दे कर हिन्दी का अशेष उपकार किया। हिन्दी के आरम्भिक समाचारपत्रों के बारे में और भी कई सूचनाएँ उन्होंने दीं और 'विशाल भारत' मार्च, १९३१ में 'हिन्दी का प्रथम समाचारपत्र' शीर्षक लेख लिख कर 'उदन्तमार्तण्ड' की विस्तृत चर्चा की, उस के अनेक महत्त्वपूर्ण स्थल उद्धृत किये और उस के उदय-अस्त की पूरी कहानी लिखी।[1] अब तक का अनुसन्धान और इतिहासकार इसे ही हिन्दी का प्रथम पत्र मानते हैं।

उदन्तमार्तण्ड

ऊपर हम ने चर्चा की है कि ४ अप्रैल सन् १८२३ को ब्रिटिश सरकार ने समाचारपत्र तथा मुद्रण-सम्बन्धी नये कानून क्रियान्वित किये थे जो वेलेज़ली की पुरानी व्यवस्था से भी कठोर थे। इस के अनुसार समाचारपत्र प्रकाशित करने के पूर्व संचालक को भारत सरकार से पत्र-प्रकाशन का लाइसेन्स लेना पड़ता था। 'कलकत्ते में कोलू टोला नामक मुहल्ले के ३७ नम्बर आमड़ातल्ला गली से श्री युगलकिशोर शुक्ल ने सन् १८२६ ई० में 'उदन्तमार्तण्ड' नामक एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र निकालने का आयोजन किया और इस के लिए भारत सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करने की दरख्वास्त दी। १६ फ़रवरी सन् १८२६ ई० को सरकार ने उन की दरख्वास्त मंजूर कर के उन्हें अखबार निकालने का लाइसेन्स दिया[2]।"

'उदन्त मार्तण्ड' का पहला अंक ३० मई सन् १८२६ ई० को प्रकाशित हुआ था[3]। फुलस्केप साइज़ के इस पत्र के मुख्य पृष्ठ पर 'उदन्त मार्तण्ड' शीर्षक के नीचे संस्कृत की एक लम्बी पंक्ति इस प्रकार मुद्रित रहती थी—

उ द न्त मा र्त ण्ड

अर्थात्

---

१. (१) हिन्दी का प्रथम पत्र उदन्तमार्तण्ड। (२) बंगदूत (बंगला, फ़ारसी और हिन्दी) प्रथम अंक ६ मई १८२९ को प्रकाशित हुआ था। हिन्दी अंक अनुपलब्ध। (३) प्रजामित्र, जून १८३४ ई०। (४) बनारस अखबार—सन् १८४५ में नहीं बल्कि सन् १८४४ के जून मास में निकला था और उस के सम्पादक मराठा नहीं बल्कि एक बंगाली सज्जन—तारामोहन मित्र हैं। (५) साम्यदण्ड मार्तण्ड—'उदन्तमार्तण्ड' के संचालक-सम्पादक युगलकिशोर शुक्ल ने ही इसे प्रकाशित किया था १८५०-५१ में।

२. श्री व्रजेन्द्रनाथ बनर्जी के लेख 'हिन्दी का समाचार पत्र' से उद्धृत।

३. डॉ० श्रीकृष्णलाल ने अपने शोध-ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में हिन्दी के आरम्भिक पत्रों की चर्चा करते हुए पृ० ३८२ पर लिखा है, "हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' था जिसे युगलकिशोर शुक्ल ने कलकत्ते से सन् १८२४ में निकाला।"

"दिवाकान्त कान्ति विनाध्वान्तमन्तं
न चाप्नोति तद्वज्जगत्यज्ञ लोकः ।
समाचार सेवामृते ज्ञत्वमाप्तं
न शक्नोति तस्मात्करोमीति यत्नं ॥"

आरम्भ में ही प्रकाशकीय विज्ञप्ति 'इस कागज के प्रकाशक का इश्तिहार' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट में अविकल उद्धृत किया गया है।

स्पष्ट है कि एक महत् इच्छा और ऊँचे आदर्श को ले कर हिन्दी के इस प्रथम पत्र का प्रकाशन हुआ था। प्रति मंगलवार को प्रकाशित होने वाला यह पत्र सरकारी साहाय्य[1] के अभाव तथा पर्याप्त ग्राहकों की कमी के कारण अधिक दिनों तक प्रतिकूलता से न लड़ कर ४ दिसम्बर १८२७ को हमेशा के लिए अस्त हो गया। ४ दिसम्बर के अन्तिम अंक में सम्पादक ने लिखा था—

"आज दिवस लौं उग चुक्यौ मार्तण्ड उदन्त
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्त।"

कहना न होगा कि पं० युगलकिशोर शुक्ल ने ये पंक्तियाँ बड़ी व्यथा के साथ लिखी होंगी। यह भी कुछ विचित्र संयोग है कि हिन्दी पत्रकारिता के उदय के साथ ही आर्थिक संकट का अशुभ ग्रह इस के साथ लग गया जिस की कुदृष्टि हिन्दी पत्रकारिता पर सदैव लगी रही।

बंगदूत

इस पत्र के मूल प्रेरक और संचालक राजा राममोहन रॉय थे। कलकत्ता की चार प्रमुख भाषाओं—अँगरेजी, बंगला, फ़ारसी और हिन्दी—में यह पत्र प्रकाशित होता था। इस का प्रथम अंक १० मई १८२९ ई० को प्रकाशित हुआ था। इस के प्रकाशन के सम्बन्ध में 'समाचार दर्पण' के २७ मई १८२९ ई० (१७ ज्येष्ठ १२३६) में इस प्रकार विज्ञप्ति है—

२७ मे १८२९ । १७ ज्येष्ठ १२३६

नूतन समाचार प्रकाश।—मो० बाशतलार गलिर मध्ये हिन्दू हेरल्ड अर्थात्

---

1. सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास' में लिखा है कि "सरकार 'जामे जहांनुमा' नाम के फ़ारसी पत्र और 'समाचार दर्पण' नाम के बंगला पत्र को आर्थिक सहायता देती थी इसी के भरोसे युगलकिशोरजी ने भी 'उदन्तमार्तण्ड' निकाल दिया था। परन्तु वह न मिली और किसी धनीमानी से सहायता मिलने की आशा न रही, तब यह मार्तण्ड अस्ताचल को चला गया।".
"३० मई १८२६ (ज्येष्ठ वदि ६ सं० १८८३) को निकला और पौष वदि १ सं० १८८४ ता० ११ दिसम्बर १८२७ को बन्द हुआ। इस प्रकार कोई डेढ़ साल चला।" श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी।

वंगदूत प्रेस नामक एक नूतन इंग्रेजी, वांगला उ पारसी एवं नागरी समाचार गत रविवारावधि प्रकाश हइते आरम्भ हइयाछे इहार सम्पादक श्रीयुत् आर० एम० मार्टिन साहेब श्रीयुत् देउयान राममोहन राय उ श्रीयुत् देउयान द्वारकानाथ ठाकुर उ श्रीयुत् वाबू राजकृष्ण सिंह उ श्रीयुत् वावा राधानाथ मित्र एहेक एक जने एकत्र हइयाछे न एहे कागज प्रति रविवारे प्रकाश हइते छे···[1]

इस के प्रथम सम्पादक नीलरतन हालदार थे। यह प्रति रविवार को प्रकाशित होता था और मासिक मूल्य एक रुपया था। इस पत्र का हिन्दी अंश उपलब्ध नहीं है इस लिए इस की विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं है। अपनी पुस्तक में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने इस का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"वंगदूत के हिन्दी अंश के ऊपर यह छन्द रहता था :

"दूतन की यह रीति वहुत थोरे में भाषैं।
लोगनि को वहुलाभ होय याही ते लाखैं।
वंगाला को दूत दूत यहि वायु को जानौ।
होय विदित सब देश क्लेश को लेश न मानौ।"

"वंगदूत की हिन्दी का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

"जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण धर्म परायण श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री ने जो (प्रश्न ?) सांगवेदाध्ययन हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप उठाया (पठाया ?) है, उस में देखा जो उन्हों ने लिखा है—वेदाध्ययन हीन मनुष्यों के स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं[1]।"

प्रजामित्र

'हिन्दी समाचारपत्रों की आरम्भिक कथा' बताते हुए श्री ब्रजेन्द्रनाथ वन्दोपाध्याय ने जून १८३४ ई० में कलकत्ता से ही प्रकाशित होने वाले 'प्रजामित्र' का उल्लेख किया है। बंगला पत्र 'समाचार दर्पण' के २१ जून सन् १८३४ के अंक में 'प्रजामित्र' के सम्बन्ध में इस प्रकार की विज्ञप्ति छपी है—

"नवीन समाचार पत्र। अन्यान्य संवादों के द्वारा ज्ञात हुआ है कि 'प्रजामित्र' नामधारी संवादपत्र अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी में अतिशीघ्र प्रकाशित होगा। उस का मूल्य २) रुपया मासिक अथवा २०) वार्षिक है, एवं वह सप्ताह में एक वार प्रकाशित होगा।"

इस के सम्बन्ध में डॉ० रामरतन भटनागर ने लिखा है : "It is highly probable that the paper saw the light of the day; on what date,

१. हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास' : अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी।

कलकत्ते के आरम्भिक पत्र : उपलब्ध सामग्री की विवेचना

पिछले अध्याय में देश-दशा और जातीय परिवेश के आलोक में हम ने कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भिक अध्याय की संक्षिप्त चर्चा की है, कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले आरम्भिक पत्रों की एक सूची भी दी है जिस से इस तथ्य को पुष्टि होती है कि *हिन्दी पत्रकारिता की नींव का निर्माण कलकत्ते में ही हुआ था।*

उपलब्ध सामग्री की सूचना

यहाँ आरम्भिक पत्रों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर उस की वैशिष्टय चर्चा ही हमारा लक्ष्य है। यहाँ यह भी दुहराना आवश्यक है कि स्व० ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी ने प्राचीन पत्रों के सम्बन्ध में बड़ी प्रामाणिक सूचना दी थी। हिन्दी के प्रथम (साप्ताहिक) पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' के सम्बन्ध में उन्हों ने लिखा था कि "'उदन्त मार्तण्ड' की सम्पूर्ण फ़ाइल, केवल दूसरी संख्या को छोड़ कर, मुझे राजा राधाकान्त देव की लाइब्रेरी में मिली है।" राजा साहब का यह संग्रहालय अत्यन्त उपेक्षित है। इस लिए अधिकांश सामग्री नष्ट हो गयी है। जो बच गयी है वह इतनी अव्यवस्थित है कि उस में से काम की सामग्री ढूंढ़ पाना असम्भव हो गया है। राजा राधाकान्त देव के वंशजों में कदाचित् विद्या-व्यसन का अभाव और पैतृक सम्पत्ति के प्रति मिथ्या मोह है जिस के चलते इतना महत्त्वपूर्ण संग्रहालय नष्ट हो रहा है। वे स्वयं रुचि ले कर इस की रक्षा करने में असमर्थ जान पड़ते हैं और अपने मोह के चलते यह संग्रहालय किसी सार्वजनिक संस्था को देना नहीं चाहते। मेरा अनुमान है कि 'उदन्त मार्तण्ड' की फ़ाइल या तो दीमकों का आहार बन गयी या कोई अनुसन्धित्सु उसे उठा ले गये। दूसरी सम्भावना शुभ-सूचक है क्यों कि ऐसी स्थिति में वह सुरक्षित रह सकेगी और निजी सम्पत्ति के रूप में ही सही, कालान्तर में वह प्रकाश में आ सकेगी। अस्तु, 'उदन्त मार्तण्ड' के कुछ अंक वंगीय साहित्य परिषद् में मुझे उपलब्ध हो सके हैं, जो उस की वैशिष्टय-चर्चा के लिए पर्याप्त हैं।

इसी प्रकार राजा राममोहन रॉय के 'वंगदूत' की एक फ़ाइल वंगीय साहित्य परिषद् में ही उपलब्ध हुई जिस में केवल एक ही अंक ऐसा मिला जिस में वंगला और फ़ारसी के साथ हिन्दी भी है। इस में वंगदूत के हिन्दी संस्करण के प्रकाशन की मात्र सूचना और नियमावली है।

प्रथम हिन्दी दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' की एक फ़ाइल नेशनल लाइब्रेरी

in what form and under what editorship, we cannot guess. There is nothing available to hazard the opinion.[1]"

इस प्रकार 'प्रजामित्र' का प्रकाशन सन्दिग्ध है।

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने 'मार्तण्ड' नामक पत्र का उल्लेख इस प्रकार किया है। "११ जून १८४६ को कलकत्ते के इण्डियनसन प्रेस से 'मार्तण्ड' नामक साप्ताहिक पत्र पाँच भाषाओं में प्रकाशित हुआ था। इण्डियनसन प्रेस पुराना नक्शा १०१ नं० बैठकखाना स्ट्रीट में था। यह पाँच भाषाओं में १० पृष्ठों पर निकलता था। प्रत्येक पृष्ठ पर ५ कालम (स्तम्भ) होते थे। बीच में अंगरेजी, बायीं ओर हिन्दी और फ़ारसी तथा दाहिनी ओर बंगला और उर्दू रहती थीं अर्थात् चार लिपियों में यह पत्र प्रकाशित होता था क्योंकि उर्दू और फ़ारसी की लिपि एक ही है।"

इसी प्रकार १८४९ में कलकत्ते से बंगला-हिन्दी में एक पत्र 'जगद्दीपक भास्कर' नाम से प्रकाशित हुआ था। बहुधा किसी बंगाली सज्जन ने ही इसे प्रकाशित किया था, परन्तु इस विषय में विशेष कुछ भी मालूम नहीं है[2]।"

साम्यदण्ड मार्तण्ड

हिन्दी के आदि पत्रकार पं० युगुलकिशोर शुक्ल ने १८५० में साम्यदण्ड मार्तण्ड प्रकाशित किया था। २३ वर्षों के बाद शुक्ल जी ने पुनः यह महत् उपक्रम किया था।

हिन्दी का प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण'

हिन्दी का प्रथम दैनिकपत्र 'समाचार सुधावर्षण' १८५४ के जून में कलकत्ते से ही श्यामसुन्दर सेन नामक बंगाली सज्जन के सम्पादकत्व में निकला था। इस पत्र की एक फ़ाइल 'राष्ट्रीय पुस्तकालय' कलकत्ता में उपलब्ध है। और एक अंक बंगीय साहित्य परिषद् में है जिस से इस के १८६८ तक निकलने का प्रमाण मिलता है।

सन् १८५७ के पूर्व कलकत्ता से निकलने वाले पत्रों की यह सूची है जिसे लक्ष्य कर स्व० पं० विष्णुदत्त शुक्ल ने 'माधुरी' में लिखा था : "कलकत्ते में हिन्दी पत्रों के सम्बन्ध में जब इतना काम हो चुका था, तब तक दूसरे स्थान पर हिन्दी का एक भी समाचारपत्र प्रकाशित नहीं हो सका था। कलकत्ते के लिए यह गौरव की बात है कि हिन्दी जिस प्रान्त की प्रधान भाषा है, उस प्रान्त में भी जब हिन्दी के समाचार-पत्र प्रकाशित नहीं हुए थे, तब उस ने एक नहीं अनेक समाचारपत्र निकाले।"

अब हम हिन्दी के प्रथम साप्ताहिक 'उदन्त मार्तण्ड' और प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' के स्वरूप, विषय, भाषा अर्थात् इन के पूरे संघटन पक्ष का क्रमशः विवेचन करेंगे।

■

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर : 'राइज़ ऐण्ड ग्रोथ ऑव हिन्दी जर्नलिज़्म,' पृ० ७० ।
२. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : 'हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास'।

कलकत्ते के आरम्भिक पत्र : उपलब्ध सामग्री की विवेचना

पिछले अध्याय में देश-दशा और जातीय परिवेश के आलोक में हम ने कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भिक अध्याय की संक्षिप्त चर्चा की है, कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले आरम्भिक पत्रों की एक सूची भी दी है जिस से इस तथ्य को पुष्टि होती है कि हिन्दी पत्रकारिता की नींव का निर्माण कलकत्ते में ही हुआ था।

उपलब्ध सामग्री की सूचना

यहाँ आरम्भिक पत्रों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर उस की वैशिष्टय चर्चा ही हमारा लक्ष्य है। यहाँ यह भी दुहराना आवश्यक है कि स्व० ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी ने प्राचीन पत्रों के सम्बन्ध में बड़ी प्रामाणिक सूचना दी थी। हिन्दी के प्रथम (साप्ताहिक) पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' के सम्बन्ध में उन्हों ने लिखा था कि " 'उदन्त मार्तण्ड' की सम्पूर्ण फ़ाइल, केवल दूसरी संख्या को छोड़ कर, मुझे राजा राधाकान्त देव की लाइब्रेरी में मिली है।" राजा साहब का यह संग्रहालय अत्यन्त उपेक्षित है। इस लिए अधिकांश सामग्री नष्ट हो गयी है। जो बच गयी है वह इतनी अव्यवस्थित है कि उस में से काम की सामग्री ढूँढ़ पाना असम्भव हो गया है। राजा राधाकान्त देव के वंशजों में कदाचित् विद्या-व्यसन का अभाव और पैतृक सम्पत्ति के प्रति मिथ्या मोह है जिस के चलते इतना महत्त्वपूर्ण संग्रहालय नष्ट हो रहा है। वे स्वयं रुचि ले कर इस की रक्षा करने में असमर्थ जान पड़ते हैं और अपने मोह के चलते यह संग्रहालय किसी सार्वजनिक संस्था को देना नहीं चाहते। मेरा अनुमान है कि 'उदन्त मार्तण्ड' की फ़ाइल या तो दीमकों का आहार बन गयी या कोई अनुसन्धित्सु उसे उठा ले गये। दूसरी सम्भावना शुभ-सूचक है क्यों कि ऐसी स्थिति में वह सुरक्षित रह सकेगी और निजी सम्पत्ति के रूप में ही सही, कालान्तर में वह प्रकाश में आ सकेगी। अस्तु, 'उदन्त मार्तण्ड' के कुछ अंक वंगीय साहित्य परिषद् में मुझे उपलब्ध हो सके हैं, जो उस की वैशिष्टय-चर्चा के लिए पर्याप्त हैं।

इसी प्रकार राजा राममोहन रॉय के 'वंगदूत' की एक फ़ाइल वंगीय साहित्य परिषद् में ही उपलब्ध हुई जिस में केवल एक ही अंक ऐसा मिला जिस में वंगला और फ़ारसी के साथ हिन्दी भी है। इस में वंगदूत के हिन्दी संस्करण के प्रकाशन की मात्र सूचना और नियमावली है।

प्रथम हिन्दी दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' की एक फ़ाइल नेशनल लाइब्रेरी

कलकत्ता में संगृहीत है। जीर्ण होने के कारण इस के पन्ने टूट-टूट गये हैं। बंगीय साहित्य परिषद् में भी इस का एक अंक उपलब्ध है जिस से इस बात की सूचना मिलती है कि १८६८ ई० तक इस पत्र का प्रकाशन जारी रहा।

आरम्भिक पत्रकारिता के उन्नायक

स्मरणीय है कि हिन्दी-पत्रकारिता के आदि उन्नायकों का आदर्श बड़ा था, किन्तु साधन-शक्ति सीमित थी। वे नयी सभ्यता के सम्पर्क में आ चुके थे और अपने देश तथा समाज के लोगों को नवीनता से सम्पृक्त करने की आकुल आकांक्षा रखते थे। उन्हें न तो सरकारी संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त था और न तो हिन्दी-समाज का सक्रिय सहयोग ही सुलभ था। प्रचार-प्रसार के साधन अविकसित थे। सम्पादक का दायित्व बहुत बड़ा था क्यों कि प्रकाशन-सम्बन्धी प्रायः सभी दायित्व उसी को वहन करना पड़ता था। हिन्दी में अभी समाचारपत्रों के स्वागत की भूमि नहीं तैयार हुई थी। इस लिए इन्हें हर क़दम पर प्रतिकूलता से जूझना पड़ता था और प्रगति के प्रत्येक अगले चरण पर अवरोध का मुक़ाबला करना पड़ता था। तथापि इनकी निष्ठा बड़ी बलवती थी। साधन की न्यूनता से इन की निष्ठा सदैव अप्रभावित रही। आर्थिक कठिनाइयों के कारण हिन्दी के आदि पत्रकार पं० युगुलकिशोर शुक्ल ने 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन बन्द कर दिया था किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि आर्थिक कठिनाइयों ने उन की निष्ठा को ही खण्डित कर दिया था। यदि उन की निष्ठा टूट गयी होती तो कदाचित् पुनः पत्र-प्रकाशन का साहस वे न करते। हम जानते हैं कि पं० युगुलकिशोर शुक्ल ने १८५० में पुनः 'सामदण्ड मार्तण्ड' नाम का एक पत्र प्रकाशित किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिकूल परिस्थिति से लड़ने का उन में अदम्य उत्साह था। उस युग के पत्रकारों की यह एक सामान्य विशेषता थी।

युगीन-चेतना के प्रति ये पत्र सचेत थे और हिन्दी-समाज तथा युगीन अभिनवता के बीच सेतु का काम कर रहे थे। चूंकि हिन्दी गद्य का यह निर्माणकाल था इस लिए इन पत्रों की भाषा पर इतर प्रभाव और निर्माणावस्था की अपरिपक्वता स्पष्ट दिखाई पड़ती है जो स्वाभाविक है। उस युग के पत्रों में परिनिष्ठित भाषा की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड'

'हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु' तथा उन्हें परावलम्बन से मुक्ति दिला कर स्वतन्त्र दृष्टि प्रदान करने के निमित्त ही इस पत्र का प्रकाशन हुआ था। प्रति मंगलवार को प्रकाशित होने वाला यह साप्ताहिक पत्र आर्थिक कठिनाइयों से अधिक दिनों तक न लड़ सका और ४ दिसम्बर १८२७ ई० को यह हमेशा के लिए अस्त हो गया।

'उदन्त मार्तण्ड' के पहले ही अंक में 'श्रीमान् गवरनर जनरल वहादुर का सभावर्णन' प्रकाशित हुआ था। उस समय लॉर्ड अमहर्स्ट भारत के गवर्नर जनरल थे। ब्रह्मा की लड़ाई समाप्त हो चुकी थी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रह्मा के राजा में उसी वर्ष सन्धि हुई थी। 'उदन्त मार्तण्ड' में उक्त सन्धि का पूरा ब्योरा भी प्रकाशित हुआ था। इस सन्धि के उपलक्ष में जो दरवार हुआ था उसी का वर्णन है 'श्री श्रीमान् गवरनर जेनरल वहादुर का सभावर्णन।' इसे यहाँ हम अविकल उद्धृत कर रहे हैं—

श्रीमान् गवरनर जेनरल वहादुर का समावर्णन

अंगरेजी १८२६ साल १९ में को सरकार कम्पनि अंगरेज वहादुर जो ब्रह्मा के वीच में परस्पर संधि हो चुकने के प्रसंग से यह दरवार शोभनागार हो के श्रीमान लार्ड एमहर्स्ट गवरनर जेनरेल वहादुर के साक्षत से मौलवि महम्मद खलिलुद्दीन खां अवधविहारी वादशाह के ओर से वकालत के काम पावने के प्रसंग से सात पारचे की खिलअत ओ जिगा सर पेच जडाऊ मुलाहार औ पालकि झालदार ओ मृत महाराजा सुखमपि वहादुर के संतति राजा शिवचंद्र रायवहादुर औ राजा नृसिंह चंद्र रायवहादुर राज्य औ वहादुरी पदवी मिलने के प्रसंग से सात-सात पारचे को खिलअत जिगा सर पेच जडाऊ मुक्ता हार ढाल तरवार औ चार घोड़े की गाढी की सवारी की अनुमति औ राय गिरधारी लाल बहादुर औ मिर्जा महम्मद का मिलखां नवाव नाजिम वहादुर के विवाह के प्रसंग से छ छ परचे की खिलअत जिगा सरपेच जडाऊ ओ कृपाराम पण्डित नवाव फैज महम्मद खां वहादुर के ओर से पुरी वकालत का पद होने के प्रसंग से दोशालां गोशवारा नीमे आस्तीन सरपेच जडाउ पगड़ी ओ मृत विश्म्भर पण्डित की स्त्री के एक्टिंग वकील देविप्रसाद तिवाड़ी दो शाला ओ महम्मद सओद खां साहिव ओ राजा भूप सिंह वहादुर मोटि के एक एक हार से सुवित्त ओ कृतकृत्य हुए ओ जालवन के रईस के वकील शिवराम ने श्री श्री नरवर गवरनर जेनरेल वहादुर के साक्षातकार इस संधि के वधाई की कविता भेट धरी ओ नरेः श्रेष्ठ उस कविता का भाव वूझे पर वहुत रीझ।

'उदन्तमार्तण्ड' में सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति, पब्लिक इश्तहार, जहाजों के आने का समय, कलकत्ते का वाजार-भाव तथा देश-विदेश के समाचार भी प्रकाशित होते थे।

सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति और पद-परिवर्तन के सम्बन्ध में 'उदन्तमार्तण्ड' के पहले अंक में इस प्रकार विज्ञप्ति है :

राज-काज में नियोग।

२१ एप्रिल १८२६ साल

मैस्टर उलवि जेकसन साहिव Mr. Welley Jackson. सदर दिवानी ओ नेजामत् अदालत के रेजेस्टर के दूसरे सहायक हुए॥

मेस्टर एरडब्लिउबेलों साहिब Mr. R. W. Barlow भागलपुर के इनई-शियानर के रेजिस्टर के दूसरे सहायक हुए ॥

मेस्टर अइचपि एम गार्डन साहिब Mr. H. P. M. Gardon, गोरखपुर के मैजिस्टर औ कालेक्टर के रेजिस्टर के सहायक हुए ॥

इस तरह की और सूचनाएँ दूसरे पृष्ठ पर हैं :

'साधारण दफ्तर ॥

२६ एप्रिल ॥

मेस्टर कालिन लिन्जि साहिब Mr. Colin Lindsy कलकत्ते के चिलायती माल के कालेक्टर के डिप्यूटी हुए। मेस्टर डबलिउ पियामर साहिब Mr. W. P. Palmer कलकत्ते के परिमिट बोर्ड के लोन औ अफीम के सेक्रेटरि के पहिले सहायक ओसलखिया के लोन के गोला के सुपिन्टेनडेंट हुए ॥

मेस्टर जे ल्युइस् साहिब Mr. j Lewis सुन्दरवन के कमिश्नर हुए।

१ मे १८२६ साल।

मेस्टर एम ए ट्राटर साहिब Mr. M. A. Trotter, दक्षिण प्रदेश के बोर्ड रिविन्यु के सेक्रेटरि हुए।

मेस्टर""""टुन साहिब Mr. W. T. Toune, विहार के कालेक्टर हुए ॥

पहले अंक के पांचवें पृष्ठ पर पब्लिक इश्तहार है जिस का ऊपरी अंश इस प्रकार है :

इश्तहार

सभों को खबर दी जाती है कि जो किसि को गंगा की मिट्टी लेनी होय तो तीर की राह चल्ली और फुट १५। के अटकल जगह छोडके खाले की मुंह खनि लेय औ जब ताई दूसरा हुक्म न होय तबतक यही हुक्म बहाल रहेगा और जिसको मिट्टी की दरकार होय वह उसी ओर की राह के अमीन मेस्टर केलाक साहब के यहाँ अरजी देवेगा।

जहाज के आने-जाने के समय के सम्बन्ध में एक विज्ञप्ति इस तरह है :

कलकत्ता पोलिस का आफिस् तारीख २९ मे अंग्रेजी १८२६ साल। कलकत्ते में १ से २४ मे सन का १८२६ ताई जहाजों के पहुंचने की सूचना—जो कोई न जहाजों कि आमदनि औ रफतनि की तारीख अथवा जहाज वा कपतान का नाम जाना चाहें तो गिनती ३८ के अमड़ातला की गली मार्तंड छापेखाने में जान सकेंगे।

इस के नीचे 'कलकत्ते की अर्थवती' छपी है।

सातवें पृष्ठ के दूसरे कॉलम के उत्तरार्ध में 'इंलण्ड का समाचार' छपा है जो इस प्रकार है :

इंलण्ड का समाचार ॥

कम्पेनी का ठेमस, नाम का एक जहाज २४ जेनेवेरी को इंलण्ड से चला ओ पिछिले एतवार को यहां आन लगा उसमें यह समाचार भुगता ।

वैद्यों की वढ़ती । श्री श्री युक्त कम्पेनी वहादुर ने यही आयस की है कि वोश आदमि जो अब डाक्तर के सहायक हैं वे पूरे डाक्तर है होयगे और यही वहादुर इंलण्ड से और पचास वैद्य साहिवों को भेजते हैं ओ उस विषय में यही आयस दिई है कि वैदों की कमी देखकर श्री श्रीमान ने टुक दिनों के लिए जिन्हों को डाक्तरी काम में भरती किया है वे नयों के पहुंचने से छुटेंगे । वैदों के काम पावने का व्यौरा वहुतेरें न जान्ने होंयगे इस हेत थोड़े में कहते हैं । काम्पेनी के और और चाकर जैसे अपने अपने प्राचीनता के अनुसार वैद के काम पावते हैं वैसे ही वैद लोग भी कम से पाये पर पहुँचते हैं विशेषकर के उन वैदों के कम पावने की मिति लेख करके जो पुराने होते हैं वे पहिले ऊंचे पाये को पावते हैं इसी रीति से सव लढते हैं । उन डाक्तरों के चिटवे में पहिले जो तीन आदमियों का नाम है वे कलकत्ते के मेडिकेल वोर्ड में भरती हुए । उस उपरांत जो चालीस नाम हैं वे लोगाफूल सरजन वा पूरे वैद हुए । उन फूल सरजनों के वीच ईशरीर अथवा काम छोड़े तो सहायक सरजनों में जिस का नाम उस चिट्ठे में पहिले होयगा वही यह काम पावते हैं । नये वैद जैसे इंलण्ड से अवते हैं उन लोगों का नाम वे महि उस चिट्ठ के नीचे कलाम से लखा जाता है और समय पायकर के रीत के अनुसार ऊँचे पद को पावते हैं ॥

'उदन्त मार्तण्ड' के तीसरे अंक में कलकत्ते का समाचार' छपा है । इसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

कलकत्ते का समाचार ॥

सभों पर जाहिर है कि पिछले दो वर्ष से सरकार के खजाने में रुपये की आमदनी में कसर है और रंगून आदि की लड़ाई के कारण वहुत रुपया उठाओ थोड घने दिनों से कलकत्ते की वाजार में वेयाज वहुत वढ़ गया यह विचार के वहुतेरे हिन्दुस्तानी जो अँगरेज सराफ जो वेपारियों ने व्याकुल हो करके एक सवाल जवाव गवरनर जेनेरल वहादुर को……सो गवरनर जेनेरेल वहादुर के साक्षात से जिस में सव प्रकार संसार का उपकार होय ऐसा हुकुम हुआ कि इन दिनों में अवध के वादशाह के भेजे हुए खजाने के पहुंचने की अवधि आन पहुंची और ३००००००) तीस लाख रुपया पिछले सतवारे के उदंत मार्तण्ड के प्रकाश किये हुए दो जहाज पर रंगून से यहां पहुंचा है और आवा के वादशाह के भेजे हुए अहदनामे के लिखे दूसरी किस्त के मध्ये २५०००००) पचीस लाख रूपया वहुत जल्द पहुँचता है जिस किसि को रूपया चाहिये वह सरकार से लेवे ॥

इस के आगे 'जोघपुर की खवर', 'भरतपुर की खवर', 'लाहौरपति महाराज

रन्जीत सिंह बहादुर की खबर' छपी है। प्रकाशकीय इश्तहार के नीचे व्यापारिक समाचार है। इसी अंक में हिन्दुस्तानी व्यापारियों की एक चिट्ठी भी प्रकाशित हुई है और सम्पादक ने उस का उत्तर भी दिया है। इसे यहाँ उद्धृत किया जाता है।

उदन्त मार्त्तण्डोदयकार पाश्चात्य ज्ञानोपदेशकेषु

हम सभों को ऐसी रीत से उपदेश करने द्वारा विद्या के विषय सेवाय तुम्हारे कौन भया इससे तुमको लाख लाख बेर धन्य कहा चाहिये जो हमारे ऐसे विद्यार्थी के अन्तर पर खुलने पर हम सभों में किसि का दूसरा ओ किसि का तीसरा वा चौथा पण है ओ जन्म भर कोई सराफी कोई बजाजी कोई केरा ने का धंधा करते हैं ओ ऐसे ऐसे काम काजियों के वास्ते तुमने जो अपने मार्त्तण्ड अर्धवती छापते हो पर अर्धवती सब नहीं उतरती ओ खबर में भी कसर होती है इसलिए अब हमलोगों की विनती यह है कि अर्धवती सब बाने को मिले ओ महसूल ओ कच्ची पक्की तौल का ठिकाना ओ सब जहाजी बाने को अर्धवती ओ जहाज की आमदनी रफ्तनी का ब्योरा जहाज कपतान के नांव ठांव समेत का पता मिले तो बड़ी बात होय इससे खबर के कागज से निकाल के अर्धवत्ति कोई दूसरे दिन एक बड़े ऐसे ताव पर छापा कराया करो इसमें सहिजे में जो खरच लगेगा उसमें हम सब प्रस्तुत हैं तुमने इतना
....

कम्मर बांधी है तो इतनी और भी हमलोगों की सुनके इस चिट्ठी को अपने मार्त्तण्ड के ज्योति से प्रकाश करो ओ तुम्हारे खरच के अटकल गांहक हो जाने ही से अर्धवती जुदी कृपया करो ज्यादे शुभमिति जेठवदि १२ रबै संवत १८८३ ॥

हिन्दुतानि व्यापारिभि : स्व साक्षरी कृतं

इस पत्र का प्रकाशकीय उत्तर इस प्रकार है :

उदन्त मार्त्तण्ड प्रकाशकस्य उत्तरमिदं ॥

व्यापारियों की चिट्ठी पाई समाचार जाना भाईजी हमारी भी बड़ी इच्छा थी के इस कागज पढने वालों को अर्धवती के अधिकार से समाचार कम मिलते हैं और सब बाने की अर्धवती भी नहीं हो सकती पर आगे हमने अनुष्ठान पत्र में लिखा था कि सब बाने की अर्धवती भी खबर के कागज के साथ ही प्रकाश करेंगे अब उसी का निर्वाह करना पड़ता है पर अब आप लोगों की चिट्ठी पाय करके मन को बड़ा संतोष भया अब भाई जी अर्धवती जुदी छापने में खरच बड़ा पड़ेगा पर आप लोगों का उपकार जिसमें होय ओ वह बात हमसे हो सके तो करना ही पड़ेगा इसलिये और थोरे बहुत लोग सही करें तो सहज में हो सकता है।

अर्धवती शुक्रवार........भोर को आप लोगों को मिला करेगी इसका खरच अब जो हमारे खबर का कागज लेते हैं उनको एक रूपया महीना लगेगा और जो केवल अर्धवती लेयगे उन्हें दो रूपये का हर माहा लगेगा पर चाहिए तो इससे आप-

लोगों का बड़ा काम निकले सो जादा ज्यादा शुभमिति ज्येष्ठ सुदी—७ सोम सं० १८८३ ।

'उदन्तमार्तण्ड' के इसी अंक में एक ज्योतिष ग्रन्थ की विज्ञप्ति भी छपी है :

अद्भुत ज्योतिष ग्रंथ ॥

देवाधिदेव महादेव ओ सूर्य देवोक्त यामल ओ स्वरोदय ओ केरिल आदि नाना प्रकार के मूल ग्रंथ का आशय लेकर के और सर्वार्थ चिन्तामणि ओ बृहज्जातक आदि करके सब ग्रन्थों का मत लेकर के ओ जिस जिस राज्य में जो जो ग्रंथ चलता है वह तो इस देश का ग्रंथ दीपिका ओ ज्योतिस्तत्व आदि का तत्पर्य लेकर के सबको मिलाय के प्रमाण सहित सब हिन्दूस्तानियों के उपकार के लिए उदाहरण समेत मार्त्तण्ड छापाघर में भाषा में छापा होयगा ओ विना प्रयास लोगों को ब्राह्मण द्वारा अथवा आप ही आप इस ग्रंथ के नियम के अनुसार यथार्थ जान सकेंगे उसमें बीच पड़ने का नहीं। जिसको ऐसी भाषा का पोथी लेने की इच्छा होय वे सही करके अपनी चिट्ठी युगुल किशोर सुकुल के यहां उस छापे घर में भेज देवें अथवा वही पास मंगाय करके सही कर देवें पोथी छप चुकने से पहिले उन लोगों के यहां पहुंचेगी ओ उन लोगों को पोथी पीछे दो रुपये सिक्के लगेंगे ओ उन लोगों का नाम पोथी में मेल समेत लिखा जायेगा ओ अब जो सही न करेंगे ओ पुस्तक छप चुकने से उसकी चाह करेंगे उन लोगों को दो के रूपए चार कलदार लगेंगे ।

खर्च के अटकल सही होने ही से पुस्तक छपेगी ओ दिन दश पंदरह में लोगों के यहां पहुंच जायगी ॥

'उदन्त मार्तण्ड' में कभी-कभी बड़ी मनोरंजक खबरें भी छपती थीं । आषाढ़ वदी १ संवत् १८८३ को 'फरासीस देश की खबर' छपी है जो इस प्रकार है :

फरासीस देश की खबर

कहते हैं कि बादशाह गरदी के रौले में एक ठौर बहुतेरे आदमी मारे गए थे एक दिन एक आदमी ने एक मुरदे की जोरू को उस जगह आते देखा ओ ठंढी सांस लेके यह बोला कि परमेश्वर की इच्छा ऐसी थी तेरा स्वामी संसार से उठ गया इसमें क्षमा के सेवाय कुछ उपाय नहीं है तू अपने जी को समझाव ऊसने उतर किया कि इसमें क्या सन्देह है जो होना था सो हो चुका मैं यह देखने आई हूँ कि घर की कुंजी उसकी खलीती में है या नहीं कुंजी न पाऊं तो घर कैसे जाऊं वह सुनकर एक टक लगा रहा ।

आज की ही तरह उस जमाने में भी वकील अपने मुवक्किलों का बड़ा शोषण करते थे । उन की शिथिलता के कारण मामले की सुनवाई और अदालती कार्रवाई में बहुत समय लग जाता था, इस से मुक़दमेबाज़ों की बड़ी आर्थिक क्षति होती थी। आषाढ़ वदि ८ संवत् १८८३ के 'उदन्तमार्तण्ड' में इसे ही लक्ष्य कर एक मज़ाक़ छपा है—

छूटे की बात

एक यशी वकील वकालत का काम करते करते बुड्ढा होकर अपने दामाद को यह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन वह काम करके एक दिन आया औ प्रसन्न होकर बोला हे महाराज आपने जो फलाने का पुराना औ संगीन मोकद्मा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ यह सुनकर वकील पछता करके बोला कि तुमने सत्यानाश किया उस मोकद्में से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठा के दे गए औ हमने भी उसको बना रखा औ अब तक भली भांति अपना दिन काटा औ वही मोकद्मा तुमको सौंप करके समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलंग पर तुम थोड़े से दिनों में उसको खो बैठे ॥"

हम जानते हैं कि अंगरेजी सरकार अपने भारतीय मित्रों को खिताबें देती थी। 'उदन्तमार्तण्ड' में गवरनर बहादुर की खबर' छपी है जो इस प्रकार है :

गवरनर बहादुर की खबर

१६ और १७ सिप्टेंबर की पटने की चिट्ठियों से समाचार सुनते कि पटने में गवरनर के साथ सब नावें आगे पीछे पहुँची। × × × × × १६ को हिन्दुस्तानियों का दरबार हुआ उस दरबार में विहार के ओर के गिनती के जमींदार औ पटने के रईस सरदार लोग सब गए थे और इतने सरदारों को खिलअतें हुईं। पहले टिकरीव.ले महाराज मित्रजित सिंह को औ दूसरे तिरहुत वाले दरभंगा के महाराज छत्रसिंह को औ चम्पारन के बेतिया वाले राजा अनंद किशोर सिंह को। और शाहाबाद के जमींदार बाबू कुमारसिंह को खिलअतें मिलीं। हम सभों के आनंद का विषय है कि यद्यपि सबेरे के पहर गरमी हुआ करती थी पर लार्ड साहिब इतने औ और कितने अनगिनती आदमियों से मिलते थे परंतु यह किसी ने न लखा कि अब भेंट भवाई से उकता उठे""॥

शाहाबाद के बाबू कुमारसिंह सम्भवतः प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम के सेनानी बाबू कुँवरसिंह ही हैं जो १८५७ के पहले ब्रिटिश सरकार के मित्र थे और जिन्हें सरकारी खिताब मिली थी।[1]

'लाहौरादि प्रान्तपति महाराज रनजीत सिंह बहादुर की खबर' 'उदन्तमार्तण्ड' में प्रायः छपती थी। बंगला के 'समाचार दर्पण' में भूल से महाराज रणजीत सिंह के पुत्र राजकुमार खड्गसिंह का नाम 'गोरक्षसिंह' छप गया था। 'उदन्तमार्तण्ड' के आश्विन वदि ३ के अंक में इस भूल पर सम्पादकीय टिप्पणी छपी थी जो इस प्रकार है :

एडीटोरियल रिमार्क

अशुद्धता

समाचार दर्पण में नए समाचार न मिलें इसका कुछ दुख नहीं है पर लाहौर

---

1. ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय : विशाल भारत।

के रनजीत सिंह के समाचार में गोरक्षसिंह जो लिखा जाता है •यह जैसे श्री रामपुरा भापा व्याकरण के विभक्ति में कुकुर शब्द साधा है वैसा ही तात्पर्य हो तो चिन्ता नहीं है। और कदाचित् जो मूल हो तो भूल इसका खड्गसिंह औ ए महाराजा के बड़े कुमार हैं। इतनी विनय और है कि अंगरेजी गवर्नमेंट गैजेट में भी शोध देवें काहे से कि सन्देह होता है कि इसी खबर की परछाहीं दर्पण में पड़ी न हो।

इस कटाक्ष की प्रतिक्रिया से 'समाचार दर्पण' ने भी इस सम्बन्ध में कुछ लिखा था और दोनों के बीच वादविवाद भी चला था। 'उदन्तमार्तण्ड' के दूसरे अंक में भी इस सम्बन्ध में सम्पादकीय टिप्पणी है—

एडीटोरियल रिमार्क

और भी नई अशुद्धता ॥

गए शनिश्चर के समाचार दर्पण में उसके प्रकाशक ने लिखा है कि हमने प्रचार किया है कि दर्पण प्रदर्शक ने श्री श्रीयुत महाराज रणजीत सिंह बहादुर के पुत्र का प्रकृत नाम 'खड्ग सिंह न लिखके श्लेषोक्ति करके खड्गक लिखा करते हैं' इसमें हमें यह कहना है कि हमने पिछले मार्तण्ड में लिखा है कि दर्पण प्रकाशक सदा गोरक्ष सिंह लिखा करते हैं। खड्गक सिंह लिखते हैं ऐसा हमने लिखा ही नहीं और दर्पण प्रकाशक भी अपने अपूर्व दर्पण में ऐसा शब्द नहीं लिखा। इसमें यही समझ पड़ता है कि यथार्थ जो खड्ग शब्द है उससे खडगक प्रयोग प्रायः तुल्यता और ऐक्यता रखता है इस हेतु दर्पण प्रदर्शक ने अपनी भूल को समूल करने के लिये गोरक्ष शब्द जो आप लिखा करते हैं और हमने अपने कागज में स्पष्ट लिखा है उसका नाम न लेके अद्भुत खडगक शब्द लिख दिया। इस कारण और दर्पण प्रकाशक के ऐसा लिखने में कि बंगाल····अंगरेजी खबर के कागज से जान पड़ा। 'इसके साफ पाया जाता है कि उन्होंने 'उदन्त मार्तण्ड को हेर के भी न हेरा।'

और दर्पण प्रदर्शक ने एक बेर खड्सिंह और दूसरी बेर खड्गक सिंह फिर खडक सिंह अपने दर्पण में लिख दिया है। इसमें कौन शब्द में उनकी अभिरुचि है यह समझ में न आया ॥

दर्पण के प्रकाशक ने लाहौर के आये हुए समाचार से या फारसी अथवा अँगरेजी अखबार को देख वह अशुद्ध नाम लिया था सो हमारे समझ में न आ सका इससे हमारे प्रति 'कल्पना' सम्भव नहीं होती बस यह प्रयोग उनको आप अंगिकार करना पहुँचता है काहे से कि उसी नाम के विषय ओ अनूठा शब्द दर्पण में देख पड़ा और भी हमने सन्देह अपना प्रकाश किया है कि समझ पड़ता है गवर्नमेन्ट गेजेट की परछांही दर्पण में पड़ी होगी जिस हेत उस कागज में भी गोरक्ष शब्द देखने में आया इस हेत विनय की है कि उस कागज में भी शोध देंवे।

और दर्पण प्रकाशक लिखते हैं कि अब प्रकृत नाम जाना हम सभों के सन्तोष

के निमित्त इस उपरांत गड्ड प्रयोग करेंगे। इसमें हम लोगों ने जो भ्रांति दिखलाया था उन के इस चूक के मान लेने ही में हम लोगों का दोष हुआ पर वे भी शुद्ध शुद्ध नाम के विषय गड्ड प्रयोग न करके शुद्ध नाम का प्रयोग करने से सर्वसाधारण के तुष्टि की सम्भावना है पर और नाम की अशुद्धता से व्यक्ति को न निरूप सकने से पढ़वैए सन्तुष्ट न होते उन्हीं के तुष्टि का विशेषकर के कारण होगा।

इसी तरह 'उदन्तमार्तण्ड' प्रत्येक अनौचित्य का ध्यान रखता था। बंगला के 'समाचार चन्द्रिका' नामक पत्र में देशी और मारवाड़ी व्यापारियों के विरुद्ध एक चिट्ठी प्रकाशित हुई। इस चिट्ठी में देशी और मारवाड़ी व्यापारियों को बहुत-कुछ बुरा-भला कहा गया था। इस के उत्तर में 'उदन्तमार्तण्ड' में दो-तीन चिट्ठियाँ प्रकाशित हुईं। उत्तरदाताओं ने तमाचे का जवाब घूँसे से और गाली का बदला गाली से चुकाया। 'चन्द्रिका' का पत्र और 'मार्तण्ड' का उत्तर दोनों में से किसी में शिष्टता का नाम नहीं है। 'मार्तण्ड' ने उत्तर छाप कर एक नोट भी लिखा। इस पर 'समाचार चन्द्रिका' के सम्पादक ने 'उदन्तमार्तण्ड' के सम्पादक पर मानहानि की नालिश कर दी। ५ अप्रैल १८२७ को 'उदन्तमार्तण्ड' के सम्पादक को यह नोटिस मिली थी।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी समाज के हितों के लिए 'उदन्तमार्तण्ड' बराबर संघर्ष करता था जिस के लिए उसे बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी। वैयक्तिक क्षति की ओर कम और अपने दायित्व के प्रति अधिक उस का ध्यान रहता था। इस पर भी वह अधिक दिनों तक न चल सका। ग्राहकों का रोना तो था ही सरकारी साहाय्य भी इसे सुलभ न था। डॉ० रामरतन भटनागर ने लिखा है कि "उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था। कम्पनी-सरकार

---

१. यह नोटिस इस प्रकार है—

To

JUGGUL KISSORE SOOMOOL
Editor and Propritor of the Nagaree News Paper
called the Odunta Martanda.

I have been instructed by my client. Baboo Bhowany Churn Banerjee to institute proceedings against you in the Supreme Court of indicature for the libellous matter contained in your paper the Odunta Martanda of the 27th March last affecting the character and reputation of my client.

I request you will inform me of the name of your Attorney that I may communicate with him accordingly.

Calcutta
4th April 1827

Yours obediently
R. W. Poe
Attorney at Law.

ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परन्तु चेष्टा करने पर भी 'उदन्तमार्तण्ड' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी।"[1] पत्र की अन्तिम विज्ञप्ति से भी इस विषय में काफ़ी प्रकाश पड़ता है—

"इस उदन्त मार्तण्ड के नाव पड़ने के पहिले पछांहियों के चित्त का इस कागज न होने से हमारे मनोर्थ सफल होने का वड़ा उतसा था इसलिये लोग हमारे विन कहे भी इस कागज की सही की वही पर सही करते गये, पै हमें पूछिये तो इनकी मायावी दया से सरकार अँगरेज कम्पनी महाप्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर पड़ी वैसे पड़ जाने की वड़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मेटे तिस पर भी सही की वही देख जी सुखी होता रहा अन्त में नटों कैसे आम दिखाई दिए इत हेत स्वारथ अकारथ जान निरे परमारथ को मान कहाँ तक वनजिए अव अपने व्यवसाई भाइयों से मन की वात वताय विदा होते हैं। हमारे कहे सुने का कुछ मन में न लाइयो जो देव और भूपर मेरी अन्तरव्यथा और इस पत्र के गुण को विचार सुध करैंगे तौ मेरे ही हैं। शुभमिति ॥"

'उदन्तमार्तण्ड' की भाषा पर पछांहीं और यत्र तत्र वंगला का प्रभाव स्पष्ट है। तथापि इस की सम्पादकीय टिप्पणियों की भाषा में एक व्यंग्यात्मिका शक्ति है। विरोध की भाषा अधिक तेज है। 'उदन्तमार्तण्ड' की भाषा की चर्चा करते हुए पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि 'जहाँ तक 'उदन्तमार्तण्ड' की भाषा का प्रश्न है, वह उस समय लिखी जाने वाली भाषा से हीन नहीं है। उस के सम्पादक वहुभाषाज्ञ थे। यह उन का वड़ा भारी गुण था और यद्यपि उन का 'उदन्तमार्तण्ड' डेढ़ वर्ष ही निकला तथापि हमें निस्संकोच कहना पड़ता है कि 'उदन्तमार्तण्ड' हिन्दी का पहला समाचारपत्र होने पर भी भाषा और विचारों की दृष्टि से सुसम्पादित पत्र था।"

वंगदूत

आधुनिक भारत की जातीय धारा के प्रथम उन्नायक राजा राममोहन रॉय के सामने एक महान् उद्देश्य था जिसे प्राप्त करने के लिए उन्हों ने विविध मार्गों का आश्रय लिया था। समाज-सुधारक, शिक्षाशास्त्री और राजनीतिवेत्ता तो वे थे ही, साथ ही

---

१. १२ जून सन् १८२७ के 'उदन्तमार्तण्ड' में निम्नांकित पंक्तियाँ प्रकाशित हुई थीं :

"...इस कागज के निकलने के पहले समझते थे कि यह चीज अनूठी ईजाद करने में आते तो चाहिए कि अपना ओ पराया दोनों के सुख का कारण होवेगा और चाहिये तो आगे पर सभी दुःख इससे विमुख हो जायंगे। यही मन में ठान आज तक किसी आन वान से निबाहे जाते हैं। लेकिन इन दिनों शमसुल अखबार वाले का विलाप देख देख जिसे सुनते हैं सिरिफ अपनी कमाई का भरोसा न था क्योंकि उस कागज के जारी होने से मौक़ूफ होने की तारीख तक ऐसे गाहक उसके न थे कि उनके भरोसे छापेखाने के नौकरों को भी दरमाहे का खर्च चलता हो साथ इसके चार पाँच वरस तक किसी के आसरे पर काम चलता था और एक ही वेर निराश होते ही एक दिन भी कागज न ठहरा ॥"

उन्हों ने अनेक तेजस्वी पत्रों का संचालन भी किया था। पिछले अध्याय में राजा साहब के कृतित्व की संक्षिप्त चर्चा की गयी है जिस में उन पत्रों का भी उल्लेख किया गया है जो राजा साहब के संरक्षण और संचालन में प्रकाशित हुए थे। 'बंगदूत' भी राजा साहब का ही पत्र था। यद्यपि इस पत्र के अधिकारियों में मिस्टर आर० एम० मार्टीन साहिब, राममोहन राय, द्वारकानाथ ठाकुर, प्रसन्नकुमार ठाकुर, नीलरत्न हालदार, राजकृष्ण सिंह और राधानाथ मित्र का नाम छपा है। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने अपने इतिहास में इस की चर्चा करते हुए लिखा है कि "इस साप्ताहिक पत्र के प्रथम वर्ष के सम्पादक नीलरतन हालदार थे और यह प्रति रविवार को बाँसतला गली के 'हिन्दू हेरल्ड' प्रेस से प्रकाशित होता था।" अस्तु।

अपने विचारों को व्यापक प्रसार और सार्वत्रिक व्याप्ति देने के लिए ही कदाचित् राजा साहब-द्वारा इस पत्र में हिन्दी को भी स्थान दिया गया था। 'बंगदूत' बंगला और फ़ारसी के साथ हिन्दी में भी प्रकाशित होता था, ऐसा इतिहासकारों ने लिखा है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में राम मोहन राय की हिन्दी-सेवा की चर्चा करते हुए इस पत्र का उल्लेख इस प्रकार किया है, "संवत् १८८६ में उन्हों ने 'बंगदूत' नाम का एक संवादपत्र भी हिन्दी में निकाला। राजा साहब की भाषा में एक-आध जगह कुछ बंगलापन जरूर मिलता है, पर उस का रूप अधिकांश में वही है जो शास्त्रज्ञ विद्वानों के व्यवहार में आता था। नमूना देखिए—

"जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण-धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांगवेदाध्ययनहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है-वेदाध्ययन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"[1]

राजा साहब की हिन्दी-सेवा की चर्चा करते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि 'बंगदूत' नामक समाचारपत्र भी उन्हों ने निकाला था[2]। आचार्य शुक्ल ने 'बंगदूत' की भाषा का जो नमूना दिया है वही स्थल पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने भी उद्धृत किया है। मेरी उपलब्ध सामग्री में 'बंगदूत' का उक्त स्थल नहीं है इस से स्पष्ट है कि हिन्दी 'बंगदूत' की कुछ विशेष सामग्री इन पण्डितों को उपलब्ध हुई थी, जहाँ से उपरोक्त उद्धरण दिया गया है। अस्तु। बंगदूत की उपलब्ध फ़ाइल में मुझे जो हिन्दी अंश मिला है उसे परिशिष्ट में अविकल उद्धृत किया गया है।

बंगदूत सम्बन्धी उपलब्ध हिन्दी विज्ञप्ति (परिशिष्ट में उद्धृत) से इस पत्र के सम्बन्ध में पाँच-छह मुख्य बातें स्पष्ट होती हैं। यह पत्र मूलतः बंगला का था और आवश्यकता महसूस होने पर फ़ारसी और हिन्दी में छपता था। चूँकि फ़ारसी कचहरी

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७।
२. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : उन्नीसवीं शताब्दी, पृ० ३१२।

की भाषा थी और शिक्षित तथा अभिजात वर्ग की भी इस में रुचि थी, इस लिए उस युग में इस भाषा का महत्त्व असन्दिग्ध था। कदाचित् यही कारण है कि बंगला के साथ फ़ारसी को इस पत्र में सदैव स्थान मिलता था। उस समय भी हिन्दी को जानने-समझने वालों की बड़ी संख्या कलकत्ते में थी, इसी लिए इस पत्र में हिन्दी को भी स्थान देना आवश्यक प्रतीत हुआ था, किन्तु बंगला और फ़ारसी वाली दृष्टि हिन्दी के प्रति नहीं थी और इसी लिए कभी-कभी ही हिन्दी को इस पत्र में स्थान देने की आवश्यकता महसूस की जाती थी जब कि फ़ारसी बंगला के साथ-साथ बराबर रहती थी।

'बंग दूत' का अंगरेज़ी संस्करण अलग से सोलह पृष्ठों का छपता था जिस का मासिक मूल्य दो रुपये था। यह ध्यान देने की बात है कि विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित होने वाली सामग्री एक-दूसरे का रूपान्तर नहीं होती थी। प्रत्येक 'भाषा की लिखावट अपने-अपने ढङ्ग पर अलग-अलग' होती थी। वास्तव में देश-विदेश के वाङ्मय और देशी-विदेशी समाचार प्रकाशित करने तथा व्यावसायिक उन्नति के विचार से इस पत्र का प्रकाशन हुआ था। इस की मूल प्रतिज्ञा थी कि पक्षपात रहित हो कर यह औचित्य का समर्थन करेगा ताकि 'यथार्थ' स्थिति का सहज ही प्रकाशन हो सके।

कहना न होगा कि ये बातें उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही हम ने निर्धारित की हैं। स्पष्ट है कि इस पत्र का प्रकाशन एक महत् उद्देश्य के साथ हुआ था। पर्याप्त सामग्री के अभाव में इस का सम्यक् मूल्यांकन सम्भव नहीं है। जहां तक इस पत्र की हिन्दी भाषा का प्रश्न है उस पर बंगला का प्रभाव काफ़ी स्पष्ट है।

हिन्दी का प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण'

श्यामसुन्दर सेन के सम्पादकत्व में यह प्रथम दैनिक पत्र बड़ा बाज़ार, कलकत्ता से १८५४ ई० में प्रकाशित हुआ था। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का अनुमान है कि "इस के प्रेस के मालिक बाबू महेन्द्रनाथ सेन थे। सम्भवतः दोनों भाई थे और व्यवस्थापक भी महेन्द्र बाबू ही थे।" उपलब्ध सामग्री में कहीं ऐसी विज्ञप्ति नहीं है जिस के आधार पर इस सम्बन्ध में कुछ प्रामाणिक ढंग से कहा जा सके। प्रकाशन सम्बन्धी केवल इतनी ही सूचना है कि "यिह समाचार सुधावर्षण पत्रिका रविवार को छोड़ कर हर रोज़ प्रकाश होति है इस पत्रिका लेनेवाले लोग एक बरिस की सही पहिले लिख देंगे तो पत्रिका मिलेगी इसका दाम १ रुपया।" इस के सम्पादक का नाम विज्ञप्त है—श्यामसुन्दर सेन। विज्ञप्त तथ्यों पर जब पण्डित लोग अनुमान लगाने लगते हैं तभी ग़लत धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। स्पष्ट है कि यह पत्र दैनिक था, किन्तु अपने अनुमान के बल पर एक बंगाली पण्डित ने इस की चर्चा साप्ताहिक के

रूप में की है[1]।"

यह द्विभाषी पत्र था। आरम्भिक दो पृष्ठ हिन्दी के रहते थे और शेष दो बंगला के। पहले पृष्ठ पर प्रायः 'सुप्रिम कोर्ट का विज्ञापन। सरिफ सेल।' रहता था। व्यापारिक, जहाजी तथा देशी समाचार के साथ ही अनेक चमत्कारी सूचनाएँ भी इस में प्रकाशित होती थीं। समाज-सुधार के प्रयत्नों पर भी इस में टीका-टिप्पणी होती थी। सरकार को भी उस के कर्तव्य के प्रति यह पत्र प्रायः सचेत करता था। 'सांवतालों' के उपद्रवों की चर्चा से यह पत्र भरा रहता था। इस प्रकार युगीन वातावरण और देश की गतिविधि के प्रति यथासम्भव यह पत्र सचेत रहता था।

'१८६२ साल तारीख ३, भाद्र शनिवार इंगरेजी १८ अगष्ट श्रावन सुदि ५, के अंक के दूसरे पृष्ठ पर, 'अयोध्या जी में युद्ध का समाचार' छपा है। इस समाचार से कई तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है जिसे हम यहाँ अविकल उद्धृत करते हैं :

अयोध्या जी में युद्ध का समाचार।

हम लोगों ने अपने प्रिय बन्धुओं के मुख से सुना है कि अयोध्या जी में बड़ा युद्ध उपजा है इस युद्ध का कारण यही है कि अयोध्यापुरी के श्री हनुमान गढ़ी के निकट एक शिवालय है उस पर से रेल रोड की सड़क सीधी जाती है इसलिए रेल रोड के साहबों ने हनुमानगढ़ी के महन्त जी से कहा कि इस महादेव जी के उठाय के तुम लोग और जगह में रखो। इस वचन को सुनते ही महन्त जी ने उत्तर दिया कि इस शुद्ध घट में प्रण रहने तक यिह बात कभी भी नहीं होगी अनन्तर सब मिलके युद्ध करने को प्रवृत्त भये।

हिन्दुओं का युद्ध करने का लक्षण देख कर अँगरेजों ने लखनौ के रेसिडेण्ट साहेब के निकट से औ कानपुर से सेना दल मंगवा के युद्ध के लिए तैय्यार होने में दोनों से एक युद्ध हुआ इस युद्ध में दोनों ओर के चार पाँच से आदमी मरे तो भी युद्ध के लिए बड़े साहसी भये हैं।

इस प्रकार का युद्ध देख कर उस देश निवासी हिन्दू, रजपूत औ मुसलमान लोग सब कोई इकट्ठे हो कर इंग्रेज से युद्ध करने के लिए अयोध्यापुरी में आये हैं इस वखत अयोध्यापुरी को देखते ही मनुष्यों का शरीर सब एक दम भय के मारे कापने लगा है यिह युद्ध भयानक और रक्त प्रवाह का होगा इस प्रकार का उपद्रव रेलरोड के सबब से भारत वर्ष में बहुत ही उपजेगा इस व्यपार का उपद्रव देखकर भारतवर्ष निवासियों के मन में बड़ी ही शंका उपजी है कि क्या होगा औ

---

१. समाचार पत्रों की चर्चा करते हुए सुकुमार मित्र ने अपने निबन्ध, 'द न्यूजपेपर प्रेस' में 'समाचार सुधावर्षण' का उल्लेख एक साप्ताहिक के रूप में किया है, "Many Indian papers, like the Samachar Sudhabarshan (Hindi—Bengali weekly of calcutta)," 'Studies in the Bengal Renaissance,' p. 430.

हम लोगों को किस-किस प्रकार का क्लेश सब भोग करना पड़ेगा सो नहीं कहा जाता है परमेश्वर हम लोगों पर अनुग्रह करके इस कष्ट से हम लोगों का उद्धार करो।

इस वख़त लखनौ के नवाब बहादुर इंग्रेजों के पक्ष में है ओ उन के मन्त्री ओ सेनापति ओ सेनादल सब महन्त जी के पक्ष में होकर इंग्रेज के विरुद्ध में देवता के बावत से रणभूमि में आकर युद्ध करने के लिए अयोध्या में आये है इस प्रकार का प्राजा के साथ रूषीय युद्ध के समय में भारतवर्ष में युद्ध करना कोई प्रकार से भी भला नहीं पार्लियामेण्ट के आईन में भी लिखा है कि एक तरप जिस वखत महायुद्ध होता रहता है उस समय में दूसरा युद्ध कभी भी न करना सो आईन के विरुद्ध कर्म्म करने से सब कोई कहते हैं कि यिह कुछ अमंगल का चिह्न है इसलिये हमलोग के राजपुरुषों को प्रथम इस विषय की विवेचना करना अति आवश्यक है।

इसी अंक में 'चौबीस परगने के माजिष्ट्रेट साहेब का समाचार' प्रकाशित हुआ है जिस के अन्त में सम्पादक ने प्रजा के प्रति सरकार के कर्तव्य की स्पष्ट चर्चा की है :

चौवीस परगने के माजिष्ट्रेट साहेब का समाचार।

चौवीस परगने के माजिष्ट्रेट साहेब छुट्टी लेकर पश्चिम देश के तरप जाते थे सो उनको राजमहल के निकट सब सम्पत्ति समेत लूट के चोरों ने उनको नंगा करके सजीव छोड़ दिया है हमलोगों के अन्दाज में आता है कि ये लोग चोर नहीं ये लोग सांउताल नामक अत्याचारी राज्यविद्रोही पहाड़ियों ने ही माजिष्ट्रेट साहेब की ऐसी दुर्दशा कियी है इतना सेनादल राजमहल, भागलपुर औ सूरी के तरप जाके रहा है सो क्या खाली सांउतालों को नमस्कार करने के लिये गया है जब माजिष्ट्रेट को ऐसा क्लेश भया है तब औरो का क्या क्या हवाल नहीं भया होगा हमलोग के समक्ष में आता है कि गवर्णमेण्ट खाली भर्ड देखाते हैं कि बहुत सा सेनादल सांउतालों को दमन करने के लिये भेजा है अगर सत्य करके भेजा होता तो कधी इतना उपद्रव न होता प्रजा के पक्ष में इतनी उपेक्षा करना गवर्णमेण्ट को उचित नहीं।

स्पष्ट है कि सांउतालों के अत्याचार से सामान्य प्रजा की शान्ति भंग हो गयी थी। उन के हिंसापरक उपद्रव से लोगों में आतंक फैल गया था। देशवासियों की रक्षा के लिए सरकारी साहाय्य की याचना की जाती थी। १३ अगस्त की मेदिनीपुर की चिट्ठी इसी अंक में प्रकाशित हुई है, जो द्रष्टव्य है :

मेदिनीपुर की चिट्ठी १२ अगष्ट

मेदिनीपुर के पत्र से मालुम भया कि आजकल मेदिनीपुर के तरफ सांउताल नामक पहाड़ियों का अत्याचार बड़ा भारी भया है, दो चार दिन के भीतर उन लोगों ने मेदिनीपुर को लूटने का इरादा किया है इसके मारे मेदिनीपुर के आमले औ

चालिन्दे लोग सब कोई कापने लगे हैं औ सभों ने नगर छोड़ के भाग जाने का उद्योग किया है इस वखत राज पुरुष लोग चि हां सेना दल नहीं भेजेंगे तो एकदम मेदिनीपुर उजड़ जायेगा इसलिये राजपुरुषों को ऐसे समय में मेदिनीपुर के तरप मन लगावना अति उचित है।

सांउताल अपनी शक्ति और युद्ध-कुशलता से सरकारी सिपाहियों को भी पछाड़ देते थे और उन के उपद्रव से सरकारी अधिकारी भी भयभीत रहते थे। श्रावन वदि १ संवत् १९१२ को 'समाचार सुधावर्षण' में प्रकाशित 'महेशपुर के तरप सान्तालीयों का अत्याचार' शीर्षक टिप्पणी की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है, "साउताल लोग ऐसे डरपोकने नहीं हैं कि खाली धमकी से युद्ध भूमि को त्याग के सहज में भोगेंगे उन्हन के त्रास के मारे राज्य सब काँप रहा है।" इस टिप्पणी की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

महेशपुर के महाराज ने साउंताल नामक पहाड़ियों को दमन करने के लिये कपतान स्मालपेज साहेबका साथ अपने तरपसे ३००० तीन हजार सिपाही देके उनको भेज दिया वे लोग पहाड़ियों के मन्दिर में घुसकर उन्हन की कामा नामक ठाकुर की सूरत लेकर जब फिरि आवते थे सो ऐसे समय में एकदम पहाड़ों में हजारों साउंताल लोग बड़ा झुण्ड का झुण्ड बन्ध कर आये ओ तीरों की वर्षा से गवर्णमेन्ट के सेना दल को ओ महेशपुर के राजसेना दल को भी उन्होंने भगाय दिया दोनों तरप के अनेक सिपाही लोग घायल भये और मर गये औ पहाड़ियों ने अपनी ठाकुर की सूरत को लेके पहिले माफक मन्दिर में स्थापन किया महेशपुर के राजसिपाही लोग घरबार कुटुम्बों को त्याग के डर के मारे भागलपुर को भाग गये और जितने पहाड़ियों को इन लोगों ने पकड़ा था माजिष्ट्रेट साहेब के निकट विचार करके दण्ड देने के लिये कप्तान साहेब ने भेज दिया था माजिष्ट्रेट साहेब ने एक एक पहाड़ियों के पीठ पर छ छ छ बेत मार के उन्हन को छोड़ दिया इस प्रकार दण्ड देने का यही कारण है कि माजिष्ट्रेट साहेब को अपने मन में बड़ा भय उपजा है कि किस वखत आके पहाड़िये लोग उनका सिर काट डालेंगे इस भय के मारे वे दण्ड अत्याचारियों को नहीं दे सकते हैं।"

साउंतालों से सम्बन्धित एक चमत्कारी सूचना है श्रावन सुदि १ संवत् १९१२ के अंक में। 'आश्चर्य्य जन्म' शीर्षक टिप्पणी की आरम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं :

ऐसा एक अपूर्व पुत्र आठ बरिस की कुमारी के उदर से बिना पुरुष के प्रसंग से साउंताल नामक पहाड़ियों के कुल में जन्मा है कहिये सुनने में आया है और इस पुत्री के जन्मते ही गगन से आकाशवाणी भई कि इस पुत्र को तुम लोग सिंहासन पर बैठा के अपना राजा बताओ और इस पुत्र की आज्ञा से राज्याधिकार करो यह पुत्र मनुष्य नहीं पृथिवी का भार उतारने के लिये परमेश्वर ने कुमारी के

पेट में जन्म ग्रहण किया है इस गगन गिरा को सुनते ही साउंताल नामक पहाड़िये लोग सब एकदम मदोन्मत्त होके अपने जातवालों को बुलाय इस संवाद को सुनाय सबके सब दल वन्ध कर राजा के विरुद्ध में उस पुत्र की आज्ञा से अस्त्रादिक लेकर युद्ध करने को प्रवृत्त भये हैं—

सम्पादक ने राजपुरुषों को सलाह देते हुए लिखा है—

अगर यही गौगा सत्यं होय तो हमलोग के राजपुरुषों को इस वात का खोज लगवाना अति आवश्यक है अनन्तर जैसा आगे समझ पड़ेगा वैसा करना और हम-लोगों को वात में अविश्वास करके चुपचाप बैठ रहना ओ खोज न लगवाना यह वड़ा मूर्खता का काम है काहे से कि अज्ञानी पाषण्डी अहंकारी लोग अपने में कहते हैं कि समाचार पत्रिका वाले अपने मन से झूटी झूटी वातें कल्पना करके वैठे वैठे मनुष्यों का मन भुलाने के लिये लिखते हैं ऐसा समझ कर आलसी के समान चुपचाप जो लोग वैठे रहते हैं औ समाचार पत्रों के समाचार पर विश्वास नहीं रखते हैं अनन्तर वे लोग मन की काकुलात मन ही में रखकर अछताय पछताय के नाना प्रकार के कष्ट सब भोग करते हैं अगर--सावधानता के साथ समाचार पत्र पर विश्वास करके अच्छे उपाय की आलोचना करेंगे तो कधी भी क्लेश नहीं होगा।

साउंतालों के विषय में 'समाचार सुधावर्षण' से जो स्थल उद्धृत किये गये हैं उन से साउंतालों के विद्रोही स्वभाव और अन्धविश्वासी मनोवृत्ति के साथ ही सरकार के प्रति उन को अनास्था तथा स्वशासन और स्वेच्छाचार की वलवती इच्छा प्रकट होती है। ये वनवासी पहाड़ी मनुष्य आदिम विश्वासों के पुजारी थे इस लिए आधुनिक सभ्यता से उन्हें वैर था। चूंकि ये स्वच्छन्द जीव थे इस लिए शासकोय व्यवस्था के प्रति इन के मन में विद्रोह का भाव था।

'समाचार सुधावर्षण' में जातीय स्वाभिमान का स्वर भी काफ़ी मुखर है। आश्विन वदि २ संवत् १९१२ के अंक में 'दिल्ली' शीर्षक एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित हुई है। उक्त टिप्पणी की आरम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं "दिल्ली शहर में एक हलाल खोरिन ने हलाली की रोटी छोड़के हरामी के रोटी पर उतारू होकर कसवी का पेशा उठाय लिया और वह थी रूपवती इसलिये एक गोरे चमड़ेवाला साहेव उस हलाल-खोरिन पर आशक होकर उसको अपने घर में डाल लिया वदनामियों का टोकरा सिर पर उठा के दिल लगाना जो है सो झक मारना और गू का खाना है। "इसी प्रकार एक अंगरेज अपराधी को जब हिन्दू सहायता कर रहे थे तो इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उन हिंदुस्तानियों को इस पत्र ने धिक्कारा था। श्रावण सुदि ११ संवत् १९१२ के अंक में प्रकाशित यह प्रसंग द्रष्टव्य है, "मष्टरष्टिवेनस साहव ने रेल रोड के गाड़ी पर श्रीयुत वावु यादव चन्द शील का अपमान करने से सुप्रिम कोर्ट के प्रधान विचारपति श्रीयुत सार............पौल साहव ने ष्टिवेनस साहेव को जिस प्रकार से

दण्ड किया सो हमलोगों ने पहिले पत्रिका में प्रकाश किया है अब उस साहब की अपूर्व दुर्दशा का वर्णन करते हैं स्टिवेनस साहेब दण्ड के औ दोनों तरफ के खरचे के रुपये जुटाय के देने के लिए भीख की झोली कन्धे पर डाल के गली-गली दरवाजे दरवाजे फिरते हैं साहेब लोग दया करिके एक दो रुपये भिक्षा देते हैं लेकिन क्या दुःख की बात है कि मुत सदि बाबु हरिश्चन्द्र घस शराप वाला बाबु रमानाथ वन्द्योपाध्याय इन लोगों ने क्या विवेचना करि के साहेब को भीख दिई है सो हमलोग उसका कारण कुछ भी नहीं ठीक कर सकते हैं श्रीयुत स्टिवेनस साहेब ने रेल रोड के गाड़ी पर एक बंगाली बाबू का अपमान करने से प्रधान विचार पति ने उनको दण्ड किया है उस दण्ड का रुपया संग्रह कराने के लिये हिन्दु लोग सहाय करना उचित नहीं काहे से कि जो बाबु लोगों का हात धर्म्म के विषय में देश के लोगों को एक पैसा खरचा करने के लिये काँपता है वे लोग इस चन्दे का रुपया दान करने में हमलोगों को बड़ा आश्चर्य मालुम देता है।" अपने जातीय स्वर के कारण ही हिन्दी के इस प्रथम दैनिक पत्र को अँगरेजी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा था[1]।

युगीन प्रश्नों के प्रति सचेत रहते हुए भी इस पत्र की यह बहुत बड़ी दुर्बलता थी कि उस युग की वैचारिक क्रान्ति का वह साथ नहीं दे पाता था। हम जानते हैं संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् पण्डित-प्रवर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह आन्दोलन का प्रवर्तन किया था। बंगाल में सुधार आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। शिक्षित तथा श्रीमन्तवर्ग में कुछ प्रगतिशील थे जो नयी रोशनी के स्वागत के लिए हर प्रकार से उद्यत थे, वैचारिक क्रान्ति और सुधार आन्दोलन का वे खुल कर समर्थन करते थे। इन्हीं में कुछ प्रतिगामी थे जो किसी शर्त पर प्राचीनता को छोड़ना और नये सुधारों को अपनाना नहीं चाहते थे। इन पुराणपन्थियों के नेता थे राधाकान्त देव जिन्होंने विद्यासागर का विरोध करने और सुधार आन्दोलन के सामने अवरोध उपस्थित करने के लिए ३६७६३ व्यक्तियों के हस्ताक्षर सहित एक प्रार्थना-पत्र सरकार के सामने प्रेषित किया था। स्मरणीय है कि विधवा-विवाह को सरकार की ओर से वैधानिक अवलम्ब दिलाने के उद्देश्य से विद्यासागर ने ९८७ व्यक्तियों के हस्ताक्षर सहित एक आवेदन-पत्र सरकार को दिया था। विरोधियों की बहुसंख्या और सतत प्रयत्न के बावजूद अन्ततः विद्यासागर की ही विजय हुई। 'समाचार सुधावर्षण' ने प्रतिगामियों का साथ दिया था। कार्तिक वदि ११ संवत् १९१२ के अंक की 'विधवा विवाह विषय' शीर्षक संपादकीय टिप्पणी में विधवा-विवाह का विरोध किया गया है। उक्त टिप्पणी की कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"बंगदेश में विधवा का विवाह के लिये कालेज के पण्डित वर श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने नाना प्रकार के छोटे छोटे ग्रन्थ औ प्रमाण रचना कर बंगालियों के सभा

---

१. द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ४३०।

में प्रकाश किये और बंगालियों को बड़ा प्रिय बोध भया इंगरेज लोगों को इतना प्रिय नहीं यह क्या आश्चर्य की बात है बंगदेशीय मनुष्यों में विद्या का बड़ा प्रचार है परन्तु धर्म्माधर्म्म कुछ भी विचार नहीं करते क्या महामाया का प्रभाव है क्योंकि कुमारी का विवाह सर्वशास्त्र में लिखा है लेकिन विधवा का विवाह कोई शास्त्र वेद में लिखा नहीं औ शुनने में भी आया नहीं केवल इसी देश में इसी देश के पण्डितों के मुख से सुनने में आता है और कोई देश में नाम मात्र चर्चा भी होती नहीं क्या आश्चर्य की बात है पण्डित क्या और देश में होते नहीं या विधवा होती नहीं जो इस्का विधवा विवाह का विधि विचारे मगर इसी देश के आदमियों का विचार है शास्त्र का विचार नहीं क्योंकि श्री काशी जी में महामहोपाध्याय श्री काका राम पण्डित जी के घर में भी युवती विधवा बैठी है वे क्या निर्दयी अविचारी हैं कि विधवा का विवाह नहीं देते।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यह पत्र सुधार आन्दोलन का समर्थक न होकर पुरानी रीति-नीति और आचार-विचार का क़ायल था।

हम ने शुरू में कहा था कि इस पत्र में अकसर चमत्कारी सूचनाएँ भी छपती थीं। सांउंतालों से सम्बन्धित एक चमत्कारी घटना का ऊपर उल्लेख किया गया है। कातिक वदी ११ संवत् १९१२ की सम्पादकीय टिप्पणी के नीचे एक छोटी-सी सूचना प्रकाशित हुई है जो इस प्रकार है —

"कल् वेला ११ घण्टे के वक्त निमतला घाट में मरा आदमी जलाने के वक्त आपसे पानी पिया औ दहि भी खाने को मागा हमारा आदमि देख आया इस्का वेवरा समेत कल् प्रकाश हवेगा।"

१८६८ ई० तक 'समाचार सुधावर्षण' के प्रकाशन का प्रमाण मिलता है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, बंगला का प्रभाव होते हुए भी इस पत्र की भाषा में एक विशेष प्रकार की सफ़ाई है। और बड़ी बात तो यह कि इस पत्र का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि यह हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र है।

■

द्वितीय खण्ड

राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति दूसरे दौर की हिन्दी पत्रकारिता पृष्ठिका चर्चा

भारतीय पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन

भारतीय पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की कहानी है। दोनों की विकास-भूमियाँ एक-दूसरे की सहायक रही हैं। यदि पत्रकारिता को राष्ट्रीयता ने प्रवर्द्धन दिया तो पत्रकारिता ने भी राष्ट्रीयता के विकास की अनुकूल भूमि तैयार की। इस प्रकार राष्ट्रीयता के विकास के साथ ही पत्रकारिता का अपेक्षित विकास हुआ, इसलिए पत्रकारिता की चर्चा के साथ राष्ट्रीयता की विकास-भूमि का उल्लेख आवश्यक है। यहाँ हिन्दी पत्रकारिता के द्वितीय दौर की दृष्टिका के रूप में हम देश-दशा और इस के बीच की सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियों के माध्यम से विकसित राष्ट्रीयता की चर्चा आवश्यक समझते हैं।

सन् १८५७ का परवर्ती जातीय परिवेश

प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम (१८५७ ई०) की असफलता के कारण हमारा जातीय उत्साह कुछ समय के लिए ठण्डा पड़ गया था और हम एक विशेष प्रकार के अवसाद और उदासी से दब गये थे। कहना न होगा कि हमारा दुर्बल संगठन ही हमारी असफलता का प्रधान कारण था। सिक्ख और गुरखों ने सरकार का साथ दिया था। देशी रजवाड़ों ने या तो अँगरेज़ों का साथ दिया था या फिर तटस्थ थे।[1] इस प्रकार इस आन्दोलन का दमन भारतीयों के सहयोग से ही ब्रिटिश सरकार ने बड़ी निर्ममतापूर्वक किया। इसी समय भारत का शासन कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश पार्ल्यामेण्ट के हाथ में चला गया और अशान्त भारतीय प्रजा के परितोष के लिए महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा की जिस में अनुकूल आश्वासन के शब्द थे जिस से आश्वास-बोध प्राप्त हुआ और विश्वास की एक नयी भूमिका तैयार हुई। किन्तु सरकार की

---

१. [क] जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ४४१।
   [ख] "जब १८५७ ई० में सैन्य विद्रोह हुआ था तो कौन राजा विद्रोही हो कर सामने खड़ा हुआ था ? क्या इस पर भी गवर्नमेण्ट को विश्वास नहीं हुआ ? उस काल गवर्नमेण्ट की कितनी सेना थी ? यदि भारतवासी गवर्नमेण्ट का पक्ष न करते तो क्या वैसे शीघ्र और सहज वह विद्रोह की शान्ति होती।" 'विलायती समाचारपत्र और भारतवर्षीय राजा' शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य, सारसुधानिधि, प्रथम वर्ष, अंक ३५।

व्यावहारिक नीति पूर्ववत् बनी रही। पहले ही-जैसी लूट और शोषण जारी रहा। समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता पर पुनः प्रहार हुआ और १३ जून १८५७ ई० को प्रेस-सम्बन्धी एक क़ानून (गैगिंग ऐक्ट) बना कर पत्रों की स्वाधीनता कुण्ठित कर दी गयी। श्रीमती एनीबेसेण्ट के शब्दों में उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय "लोग आस्तिकता और नास्तिकता के बीच अटके ना रहे थे। आधिभौतिकता की बाढ़ के मारे राष्ट्र का जीवन विशृंखलित हो गया था। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग हक्सले, मिल और स्पेन्सर के अनुयायी हो रहे थे, किन्तु अपने साहित्य का उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। वे अपने अतीत से घृणा करते थे, अतः भविष्य के विषय में उन का कोई विश्वास नहीं था। वे अन्धे हो कर अँगरेज़ों के तौर-तरीक़ों की नक़ल कर रहे थे एवं अपने कला-कौशल और शिल्प का विनाश कर के अँगरेज़ी असबाबों से अपना घर सजा रहे थे। राष्ट्रीय जोश का उन में लेश भी नहीं था। राष्ट्रीय जीवन की गति बताने वाली कोई भी क्रिया कहीं दिखाई नहीं पड़ती थी एवं यह सन्दिग्ध था कि भारतीय राष्ट्र के हृदय में कोई धड़कन भी शेष है या नहीं।"[1] भारतीय राष्ट्र के हृदय की धड़कन अभी जीवित थी और बंगाल के परिवेश में राष्ट्रीय प्राणवत्ता केन्द्रित हो गयी थी जिस की चर्चा आगे की जायेगी। यहाँ इतना ही स्वीकार्य है कि उस समय देश-दशा काफ़ी दुर्बल हो गयी थी। किंकर्तव्य-विमूढ़ता सार्वत्रिक व्याधि के रूप में पूरे देश में फैल गयी थी और "फिर अकालों का भी दौर दौरा होता रहा। अनाज की उतनी कमी नहीं थी जितने कि उस के ख़रीदने के साधन कम थे। इन अकालों से देश में हज़ारों-लाखों आदमी काल के गाल हो गये[2]।" किसानों की पीड़ा बहुत बढ़ गयी थी। इस प्रकार देश की दरिद्रता रोज़-रोज़ बढ़ रही थी।[3]

किसानों के दैन्य और अँगरेज़ों के अत्याचार से व्यथित हो कर अँगरेज़ों के प्रति सहानुभूति रखने वाले ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन ने इंग्लैण्ड की एक सभा में कहा था, "तुम मैनचेस्टर के लाभ के लिए और यहाँ (इंग्लैण्ड) की किसी जाति की समृद्धि के लिए भारत को अधिकृत नहीं रख सकते, और न तो उन व्यापारियों के फ़ायदे के लिए ही जो भारत में आ कर स्थान-परिवर्तन करने वाले पक्षियों की तरह रहते हैं और कभी उस देश में स्थायी अभिरुचि नहीं लेते क्यों कि ऐसा वे कर ही नहीं सकते।....वे दिन गये और अब कभी आने वाले नहीं हैं, जब लोग संगीन के बल पर भारत को अधिकृत करने की बात सोचा करते थे। यदि इंग्लैण्ड उस देश

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४९५ से उद्धृत।
२. पट्टाभि सीतारमैया : काँग्रेस का इतिहास, प्रथम भाग।
३. अपने प्रसिद्ध लेख 'द पावर्टी ऑव इण्डिया' में दादा भाई नौरोजी ने अँगरेज़ों द्वारा किये गये उपकारों की चर्चा करते हुए उन के अपकारों की ओर भी संकेत किया है। द्रष्टव्य, पावर्टी ऐण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पृ० २०९।

के लाखों व्यक्तियों की जातीयता को नष्ट कर, इस की दिव्य पुरातनता की अग्नि और प्राचीन देशभक्ति के भावावेग को शमित कर, इसे दलित करने का उद्देश्य रखता है और यदि भारत पर शासन करने का इंग्लैण्ड का उद्देश्य केवल धन कमाना है तो, मैं यही कहूँगा कि ब्रिटिश राज्य को इसी क्षण ध्वस्त कर दो[1] ।" यह वाणी उस भारतीय महापुरुष की है जो इंग्लैण्ड को अपना (यानी आधुनिक भारत का) राजनीतिक और बौद्धिक गुरु मानता था, पाश्चात्य भाव और विचार के प्रति जो एक हद तक सम्पृक्त था ।[2] केशवचन्द सेन भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन के उन नेताओं में थे जिन्हों ने भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति को विशिष्ट धरातल दिया था। 'भारतीय राष्ट्रीय महासभा' की स्थापना के पूर्व बंगाल में राष्ट्रीयता सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों के बीच विकसित हुई। बंगाल के सांस्कृतिक आन्दोलन का देशव्यापी प्रभाव था। यहाँ हम संक्षेप में उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय सुधार-आन्दोलन की चर्चा करते हुए यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीतिक चेतना के निर्माण में इस आन्दोलन का कितना योगदान है। निवेदन किया जा चुका है कि १८५७ के आन्दोलन की पराजय ने हमारी राजनीतिक चेतना में एक गतिरोध उत्पन्न कर दिया था।

सांस्कृतिक आन्दोलन की राष्ट्रीय उपलब्धि

सांस्कृतिक आन्दोलन का सब से प्रत्यक्ष और पहला लाभ राष्ट्रीय दृष्टि से यह हुआ कि इस ने हमारी पराजयजनित निराशा और जड़ता को तोड़ा और हम में नये सिरे से जागृति उत्पन्न की। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अँगरेज़ी शिक्षा के परिणामस्वरूप लोग पाश्चात्य प्रभाव से दबते जा रहे थे। सन् १८५७ में ही कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी।[4] आधुनिक भारत का यह पहला विश्वविद्यालय था। स्व० राममोहन रॉय की आत्मा को इसे श्रद्धांजलि भी कहा जा सकता है, क्यों कि शिक्षा के सम्बन्ध में जो उन की मनःकामना थी उस दिशा में उक्त विश्वविद्यालय की स्थापना प्रगति का एक चरण था या कहना चाहिए कि राजा साहब की आकांक्षा-पूर्ति का एक महत् उपक्रम था, उन की कल्पना को मूर्त करने की एक सक्रिय चेष्टा थी। और यही युग है जब राजा साहब-द्वारा प्रवर्तित और सकुशल संचालित भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन अपनी प्रगति का चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है। आन्दोलन का संचालन और नेतृत्व कर रहे थे रामकृष्ण परमहंस, ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र

---

१. द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ८८-८९।
२. द्रष्टव्य 'Western Influence in Bengal Literature,' Priyaranjan Sen, p. 93.
३. द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० १५३।
४. द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृष्ठ ४०४।

सेन, दयानन्द सरस्वती और रामकृष्ण परमहंस के पट्टशिष्य स्वामी विवेकानन्द। ये सभी आध्यात्मिक पुरुष थे और अपने-अपने ढंग से इन्हों ने जातीय उन्नयन और प्रकारान्तर से मानव-मांगल्य का उपक्रम किया है।

रामकृष्ण परमहंस की साधना

रामकृष्ण परमहंस ऋजुता की सजीव प्रतिमा थे। ब्राह्मणत्व के दम्भ से त्राण पाने के लिए इन्हों ने दरिद्रनारायण की उपासना की थी। वे शाक्त थे, शैव थे, वैष्णव थे, तान्त्रिक थे। इतना ही नहीं ईसाई और मुसलमान धर्म सम्प्रदायों में भी इन्हों ने दीक्षा ली थी और उक्त सम्प्रदायानुकूल आचरण और साधना भी की थी। काली इन की माँ थीं जिन का दर्शन और सामीप्य इन के लिए सहज हो गया था। शिव की नगरी काशी में इन्हें एक विशेष प्रकार की विस्मयता का आभास मिला था। वृन्दावन में वे कृष्ण के पीछे पागल की तरह दौड़ पड़े थे।[1] भैरवी से इन्हों ने तन्त्र की दीक्षा ली थी जिस ने यह बताया था कि रामकृष्ण ने महाभाव की स्थिति प्राप्त कर ली है।

उपलब्धि

इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षित हो कर भी वे इन सम्प्रदायों से अलग और ऊँचे थे। उन्हें इस बात का ज्ञान था कि जो कुछ दृश्यमान है वही सत्य नहीं है और इस सत्य की खोज में ही उन्हें विभिन्न मार्गों और मतों का अनुसरण करना पड़ा था। इस महत् यात्रा में उन्हें जो उपलब्धि हुई वह यह कि सत्य एक है, उसे पाने के रास्ते अलग-अलग हैं।[2] इसी बोध ने उन्हें मानवीय संवेदना की भूमिका दी और यहीं इन का समन्वयवादी दृष्टिकोण बना। सर्वधर्म-समन्वय का ऐसा जीवन्त प्रमाण मानवीय इतिहास में दुर्लभ है। रामकृष्ण में समन्वय की इतनी विराट् चेष्टा यदि न होती तो कदाचित्, मानवजाति को वह आलोक और शान्ति न दे पाते, और न ही भारतीय जातीय चेतना को वे प्रभावित और प्रेरित कर पाते। वे सच्चे अर्थों में एक भारतीय परमहंस थे जिन्हों ने निर्विकल्प समाधि में डूब कर निराकार एक को समझ लिया था[3] और अब जहाँ द्विविधा की कोई स्थिति नहीं थी, सम्प्रदाय जहाँ निरर्थक बाह्याडम्बर थे। तथापि दृश्यमान जगत् की ओर से रामकृष्ण उदासीन नहीं थे।

अद्वैत की मानवीय भूमिका

अद्वैत की भूमिका उपलब्ध करने के बाद रामकृष्ण को मानव-मात्र में भगवान् दिखाई देने लगे। मनुष्य की व्यथा देख कर वे सद्यः व्यथित होने लगे। सनातन-

---

१. रोमाँ रोलाँ : द लाइफ ऑव रामकृष्ण, पृ० ८०।
२. स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० १०१।
३. वही।

सन्तप्त और पीड़ित मानव-जाति को इतनी बड़ी प्रतिष्ठा भगवान् बुद्ध के बाद कदाचित् किसी दूसरे महात्मा ने नहीं दी थी। बहुत-कुछ भगवान् बुद्ध की ही तरह रामकृष्ण भी अपने युग के श्रीमन्तवर्ग को पीड़ित और बुभुक्षित समुदाय की सहायता के लिए सदैव प्रेरित करते रहे। काशी और वृन्दावन की तीर्थयात्रा से लौटते समय रामकृष्ण देवघर भी उतरे थे और वहाँ सन्यालों के दारिद्रय को देख कर रो पड़े थे। उन्हों ने सन्थालों की आर्थिक सहायता के लिए मथुरा बाबू से अनुरोध किया था और अपने इस अनुरोध का अनुकूल परिणाम न देख कर उन्हों ने सत्याग्रह किया था।[1] इसी तरह १८७० ई० में अकाल से पीड़ित किसानों के सहयोग के लिए रामकृष्ण ने पुनः मथुरा बाबू से अनुरोध किया था।[2] रामकृष्ण के आदेश का अन्ततः मथुरा बाबू पालन करते थे।

कहना न होगा कि दरिद्रनारायण की उपासना को आयोजन उस पूरी भारतीयता की उपासना का आयोजन था जो एक दीर्घकाल से आत्यन्तिक दैन्य से पीड़ित और कुण्ठित थी। पीड़ा सम्प्रदाय, धर्म और वर्ग निरपेक्ष थी, इस लिए पीड़ा-निरसन का उपक्रम भी इन संकीर्ण सीमाओं से मुक्त होना चाहिए तभी उस का सार्वत्रिक प्रभाव हो सकता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती में रामकृष्ण ने यही संकीर्णता देखी थी। दयानन्द के बौद्धिक अतिवाद में रामकृष्ण को विशेष आकर्षण नहीं मिला था क्यों कि उस में एक क्षीण शक्ति थी[3]। रामकृष्ण में पाण्डित्य नहीं, सहज ज्ञान था; आध्यात्मिक दम्भ नहीं, सरलता थी; और यही कारण है कि सर्व-धर्म-समन्वय सम्पन्न करने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई। चूंकि वे किसी अतिवाद से सम्पृक्त नहीं थे इसी लिए उन

---

१. रोमा रोलाँ : द लाइफ ऑव रामकृष्ण, पृ० ६१।

२. वही।

३. "It must be admitted that when the two men met at the end of 1873, the Arya Samaj had not yet been founded and the reformer was still in the midst of his career. When Ram Krishna examined him, he found in him, 'a little power', by which he meant, 'real contact with the divine. But the tortured and torturing character, the bellicose athlenticism of the champion of the Vedas, his feverish insistence that he alone was in the right, and therefore had the right to impose his will, were all blots on his mission in Ramkrishna's eyes. He saw him day and night disputing concerning the scriptures, twisting their meanings, and striving at all costs to found a new sect. But such preoccupation with personal and worldly success sullied the true love of God, and so he turned away from Dayanand." Romain Rolland : The Life of Ramkrishna, p. 163-164.

की शक्ति बड़ी थी। वैसे भी पाण्डित्य की अपेक्षा सहजता में अधिक बल होता है। रामकृष्ण सम्प्रदाय नहीं बल्कि व्यक्ति को शीर्ष महत्त्व देते थे। वेदान्त और अद्वैतवाद भारतवर्ष के लिए नया नहीं था किन्तु उस के सिद्धान्त पक्ष को व्यावहारिकता की भूमि पर ला कर रामकृष्ण ने उसे एक नयी अर्थवत्ता अवश्य दी। व्यक्ति में भगवान् के दर्शन कर रामकृष्ण ने व्यक्ति-माहात्म्य को एक विशिष्ट प्रतिष्ठा दी जिसे आधुनिक भारत को और प्रकारान्तर से सम्पूर्ण मानव-जाति को रामकृष्ण का विशेष अवदान कह सकते हैं।

ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन और पाश्चात्त्य प्रभाव

सन् १८५७ में ही ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन ने ब्राह्मसमाज में प्रवेश किया था जब वे मात्र उन्नीस वर्ष के थे। पाश्चात्त्य संस्कृति और ईसाई धर्म का उन पर गहरा असर था। ईसा के चरित्र ने केशवचन्द्र को आकृष्ट किया था और क्षमा तथा आत्म-बलिदान के सिद्धान्त ने उन्हें अत्यन्त प्रभावित किया जिन के द्वारा एशिया और यूरोप के बीच आनुरूप्य और ऐक्य स्थापना की सम्भावना उन्हें दिखाई पड़ रही थी।[1] ईसाई धर्म के प्रति इन के आत्यन्तिक अनुराग का ही परिणाम था कि १८७० ई० में जब उन्हों ने इंग्लैण्ड की यात्रा की थी तो पाश्चात्त्य जगत् के आध्यात्मिक मित्र और ईसाई धर्म-प्रचारक के रूप में उन का स्वागत किया गया था, ग्लैडस्टोन से उन की तुलना की गयी थी और अपने छह माह के प्रवास में उन्हों ने ७० व्याख्यान दिये थे जिसे ४०,००० व्यक्तियों ने बड़ी श्रद्धा से सुना था।[2] इतना ही नहीं केशवचन्द्र की मृत्यु का मातम ईसाइयों ने भी मनाया। तथापि इस का अर्थ यह कदापि नहीं है कि केशवचन्द्र ईसाई थे, या कि भारतीय धर्म-दर्शन के प्रति उन के मन में अनुराग नहीं था।

रामकृष्ण और केशवचन्द्र सेन

रामकृष्ण के प्रति उन के मन में भक्ति थी। रामकृष्ण के दर्शन करने वे प्रायः दक्षिणेश्वर जाया करते थे और वहाँ सत्संग में पूरे मनोयोग से सम्मिलित होते थे। केशवचन्द्र के आध्यात्मिक वैशिष्ट्य से प्रभावित हो कर ही रामकृष्ण उन्हें विशेष स्नेह करते थे और केशवचन्द्र का नातिदीर्घ वियोग भी रामकृष्ण के लिए असह्य हो जाता था।[3] केशव से मिलने वे कलकत्ता पहुँच जाते थे और उन से कुछ बातें कर कुछ विनोद

---

१. रोमाँ रोलाँ : द लाइफ ऑव रामकृष्ण, पृ० १२१।

२. वही, पृ० १२३।

३. केशव के अस्वास्थ्य-समाचार से उदास हो कर रामकृष्ण उन्हें देखने आये थे २८ नवम्बर, १८८३ ई० बुधवार के दिन। एक लम्बी वार्ता के बाद केशव को सम्बोधित कर रामकृष्ण ने कहा था : "जब कभी तुम बीमार पड़ जाते हो तब मुझे बड़ी घबराहट होती है। पहली बार जब तुम बीमार पड़े थे, तब रात के पिछले पहर मैं रोया करता था। कहता था—माँ, केशव को अगर कुछ हो गया तो फिर किस से बातचीत करूँगा? तब कलकत्ता आने पर मैं ने सिद्धेश्वरी को नारियल और चीनी चढ़ायी थी। माँ के पास मनौती मानी थी जिस से बीमारी अच्छी हो जावे।" श्रीरामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृ० ५१६।

कर उन्हें एक आध्यात्मिक परितोष मिलता था। रामकृष्ण के सम्पर्क का प्रत्यक्ष प्रभाव यह देखा गया कि मृत्यु के समय केशव 'माँ, माँ' की आवाज़ लगा रहे थे।[1] अस्तु। कदाचित् रामकृष्ण का ही प्रभाव था कि केशवचन्द्र ने भारत के सब से पीड़ित वर्ग की ओर अधिक ध्यान दिया, उन के प्रति सक्रिय सहानुभूति प्रकट की, उन के उद्धार और उन्नयन के लिए अनेक योजनाएँ प्रस्तुत कीं।

शोषित वर्ग के उन्नयन की चिन्ता और उपक्रम

केशवचन्द्र सेन ने भली प्रकार समझ लिया था कि राष्ट्रीय जागरण और भारत के पुनरुत्थान के लिए देश के उस बड़े वर्ग का उन्नयन, जो हर तरह से शोषित और पीड़ित है, पहली अनिवार्य शर्त है। देश की मुक्ति असम्भव है यदि हम वर्ग-वैषम्य और भेद-दृष्टि को सर्वथा कुण्ठित नहीं कर देते[2]। जन-शिक्षा के लिए उन्हों ने जो योजना प्रस्तुत की वह उन की राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता को सूचित करती है। समाज-सेवा के निमित्त उन्हों ने बंगला में 'सुलभ समाचार' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया था जिस का मूल्य एक पैसा था जिसे दीन जनता आसानी से खरीद कर पढ़ लेती थी। इस पत्र-द्वारा उन्हों ने निम्नवर्ग की हीन मनोवृत्ति को तोड़ने का सतत प्रयत्न किया। उन के भीतर छिपी शक्ति का उन्हें बोध करा कर उन का संस्कार उन्नत किया। वे सच्चे अर्थों में एक राष्ट्रवादी महापुरुष थे जिन्हों ने अँगरेजों को औचित्य रक्षा के लिए बड़े तेजस्वी शब्दों में सावधान किया था।[3] वे कोरे समाज-सुधारक ही नहीं बल्कि एक समाजवादी चिन्तक भी थे। आत्मरति और व्यक्तिवादी साधना उन्हें प्रिय नहीं थी। देश के बौद्धिक विकास की अपेक्षा चारित्रिक विकास को वे अधिक महत्त्व देते थे। शिक्षा और बौद्धिकता के विकास के साथ ही सामाजिक

---

१. "Keshab's disciples told Ramkrishna, when he came to see him during his last days on earth, that a great change had taken place." "Often we find him talking to the Divine Mother, waiting for Her and weeping."

And it is said that in his death agony, Keshab's last words were : Mother ?······Mother ?···" 'The Life of Ramkrishna" by Romain Rolland, p. 181, 183.

२. स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ८५।

३. "···Be mindful, the common people have sacrificed everything. We are having our pleasure and enjoyment at their cast. But how many of us think of showing gratitude to them ? They are providing food for us by toiling day and night and by the sweat of their brows, but how many of us think about their condition even once ?" 'Studies in the Bengal Renaissance', p. 86.

कुरीतियों और रूढ़ियों का शमन भी वे अनिवार्य मानते थे[1]।

वे आँग्ल भाषा के प्रकाण्ड पण्डित, तेजस्वी वक्ता और पाश्चात्य संस्कृति के अनन्य प्रेमी थे। उन की वाक्शक्ति और महान् व्यक्तित्व की सब ने प्रशंसा की है।[2] विराट् पाण्डित्य के बावजूद उन का झुकाव सामान्य जन की ओर ही रहता था, यह उन की देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का प्रमाण है।

हिन्दी के प्रति केशवचन्द्र की दृष्टि

दयानन्द सरस्वती से जब उन की भेंट हुई थी उन्हों ने स्वामीजी के सामने यह सुझाव रखा था कि आप 'हिन्दी-भाषा' में प्रवचन दें ताकि सामान्यजन भी आप की बात समझ सकें और लाभान्वित हो सकें[3]। इतना ही नहीं केशवचन्द्र पहले राष्ट्रीय नेता थे जिन्हों ने सर्वप्रथम हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया।[4] अपने साप्ताहिक पत्र 'सुलभ समाचार' में उन्हों ने भारत में राष्ट्रीय ऐक्य स्थापित करने के लिए एक राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठाया था और हिन्दी की व्यापकता को लक्ष्य कर उस का पक्ष समर्थन किया था। 'यदि भाषा एक न होने के कारण भारतवर्ष में एकता न हो तो उस का क्या उपाय है?' उस का उपाय है समस्त भारतवर्ष में एक भाषा का व्यवहार करना। इस समय भारत में जितनी भाषाएँ प्रचलित थीं, उन में हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र प्रचलित है। इस हिन्दी भाषा को यदि भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनाया जाये तो यह कार्य अनायास ही शीघ्र समाप्त हो सकता है।....एक भाषा के बिना एकता नहीं हो सकती।[5] यह केशवचन्द्र सेन की वाणी है जो आँग्ल भाषा के निष्णात पण्डित थे और जिन्हें ईसाई तक समझने की कुछ लोगों ने भूल की। उन्हों ने ब्राह्मसमाज के प्रचारकों के लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य कर दिया था। उन्हीं की प्रेरणा से कुछ ब्राह्मसमाजी प्रचारकों ने हिन्दी में भजन भी लिखे थे जिन की संख्या दो सौ के क़रीब बतायी जाती है।[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि देशोद्धार के लिए केशवचन्द्र सेन सतत प्रयत्नशील थे और देशहित के लिए बड़ा से बड़ा बलिदान करने की प्रेरणा देशवासियों को देते रहे।[7]

---

१. स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ८७।
२. ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन के बारे में विपिनचन्द्र पाल का वक्तव्य द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ९१।
३, श्रीमद्दयानन्द प्रकाश : स्वामी सत्यानन्दजी, पृष्ठ २४०।
४. अमिय चरन बनर्जी : स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ९२।
५. सन्मार्ग, दीपावली विशेषांक, १९६० में प्रकाशित श्री विष्णुकान्त शास्त्री के लेख 'बंगाल के हिन्दी सेवी' से उद्धृत।
६. वही, दीपावली विशेषांक, १९६०, पृ० ८५।
७. "Prepare yourselves, I say, for the time is coming when you shall be called to undergo heavy self-denials and encounter

महर्षि दयानन्द का विश्वास और उपलब्धि

इसी युग के दूसरे समाज-सुधारक थे महर्षि दयानन्द सरस्वती जिन का विश्वास था कि विदेशी शासन चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो वह स्वदेशी शासन से किसी भी दृष्टि से अच्छा नहीं हो सकता।

उन्नीसवीं शताब्दी का भारत वेद के इतने बड़े किसी दूसरे पण्डित को नहीं जानता। श्री अरविन्द ने लिखा है कि "वेद की व्याख्या के विषय में, मेरा पूरा विश्वास है कि (चाहे वेद की अन्तिम पूर्ण व्याख्या कोई भी हो) दयानन्द उस के सत्य सूत्रों के प्रथम आविष्कर्त्ता के तौर पर सदा आदृत किये जायेंगे। यह दयानन्द की प्रत्यक्षदर्शी चक्षु थी जिस ने पुराने अज्ञान और लम्बे युग से चली आती नासमझी की गोलमाल और अन्धकार के बीच में से चीर कर सत्य को सीधे देखा और अपनी दृष्टि वहाँ आबद्ध की जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। उस ने उन द्वारों की कुंजी प्राप्त कर ली जिन्हें कि काल ने बन्द कर रखा था और रुके पड़े निर्झरों के मुख पर से उन्हें बन्द करने वाली सील-मोहर तोड़ फेंकी[1]।"

दयानन्द का पाण्डित्य : एक उपलब्धि—एक अभाव

स्वामी दयानन्द की यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी और साथ ही यही उन की सीमा थी। वैदिक वाङ्मय उन्हें सिद्ध था, किन्तु इस सिद्धि के चलते सारी दुनिया उन्हें छोटी और हीन दिखाई पड़ती थी। जो वेद-विरुद्ध था, चाहे वह भारतीय ही क्यों न हो, उसी से दयानन्द का विरोध था। वैदिक धारा को ही वे शुद्ध भारतीय मानते थे और इस की निर्मलता तथा जातीय वैशिष्ट्य अखण्डित और अप्रभावित रखने के लिए वे ईसाई और मुसलमान धर्म का विरोध करते थे। देशोद्धार के आन्दोलनों में भी उन्हें विजातीय गन्ध मिलती थी और उन्हें वे शंका की दृष्टि से देखते थे। ब्राह्म-समाज और प्रार्थनासमाज के विषय में उन्हों ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाये और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्ति-पूजा को हटाया, अन्य जाल ग्रन्थों के फन्दों से भी बचाये, इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु, इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं। खान-पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं। अपनी देश की प्रशंसा और पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उस के बदले पेट-भर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अँगरेजों की प्रशंसा भर-पेट करते

---

struggles of no ordinary kind. Be prepared to offer even your blood, if need be, for the regeration of your country" Studies in the Bengal Renaissance, P. 89.

१. दयानन्द : श्री अरविन्द, पृ० ५४।

हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत्, ऐसा कहते हैं कि बिना अँगरेज़ों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्रह्म-समाज की उद्देश्य-पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।" दयानन्द अपनी इसी कट्टरता के चलते कहीं समझौता नहीं कर सके। उन का व्यक्तित्व अत्यन्त पौरुषवान् था। भीरुता उन में नाम-मात्र को न थी और अपने वैदिक पाण्डित्य पर उन्हें पूरा भरोसा था। अपने विरोधी मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ करने के लिए वे हर समय उद्यत रहते थे। तर्क और बुद्धि से उन्हों ने पराशक्ति और अध्यात्म विद्या पर विचार किया था। रामकृष्ण की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। वे प्रायः कहा करते थे, 'शास्त्रार्थ को मैं नापसन्द करता हूँ। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे है। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है वह ईश्वरमय है। फिर तर्कों से क्या फ़ायदा। बागीचों में तुम आम खाने जाते हो न कि पेड़ों के पत्ते गिनने। फिर मूर्ति-पूजा पुनर्जन्म और अवतारवाद को ले कर यह विवाद क्या चलता है ?"

दयानन्द की प्रगतिशीलता

वैदिक कट्टरता के बावजूद दयानन्द अत्यन्त प्रगतिशील महात्मा थे, बल्कि कहना चाहिए कि वैदिक साहित्य का नया भाष्य लिख कर और उसे नयी भूमिका दे कर दयानन्द ने वैदिक धारा का प्रगतिशीलता से सीधा सम्बन्ध प्रमाणित किया। वर्ण-व्यवस्था की उन्हों ने नयी व्याख्या की और ब्राह्मण-शूद्र का तात्त्विक भेद स्पष्ट किया। नारी जाति को अपेक्षित सम्मान दिया। अँगरेज़ियत उन्हें पसन्द नहीं थी। इतना ही नहीं बल्कि देश को वे अँगरेज़ी वातावरण से सर्वथा मुक्त करना चाहते थे। इस लिए शिक्षा के सम्बन्ध में वे भारतीय गुरुकुल व्यवस्था के समर्थक थे।

देशोद्धार का प्रश्न और हिन्दी की महत्ता

देशोद्धार के लिए वे देश में एक भाषा की आवश्यकता का अनुभव करते थे और इस के लिए उन की दृष्टि में हिन्दी ही एकमात्र उपयुक्त भाषा थी। हिन्दी को दयानन्द आर्यभाषा कहते थे और आर्यसमाज के सदस्यों के लिए हिन्दी सीखना उन्हों ने अनिवार्य कर दिया था। हिन्दी में 'आर्य प्रकाश' नामक पत्र-प्रकाशन की प्रेरणा भी दयानन्दजी की थी। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित ने संस्कृत के बाद अपनी मातृभाषा गुजराती की ओर न जा कर हिन्दी को अपनाया और अपनी देशभक्ति का प्रमाण दिया। एक दिन हरिद्वार की एक सभा में महर्षि ने अपने एक श्रोता को सम्बोधित कर कहा था, "नागरी के अक्षर थोड़े दिनों में सीखे जा सकते हैं, आर्य-भाषा का सीखना भी कोई कठिन काम नहीं है। फ़ारसी और अरबी के शब्दों को

छोड़ कर, ब्रह्मावर्त की सभ्य भाषा ही आर्यभाषा है। यह अति कोमल और सुगम है। जो इस देश में उत्पन्न हो कर अपनी भाषा के सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता उस से और क्या आशा की जा सकती है? उस में धर्म्म-लग्न है, इस का भी क्या प्रमाण है? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं कि, जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का ही प्रचार होगा। मैं ने आर्यावर्त-भर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही, अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं[1]।" यह दयानन्द की देशभक्ति और प्रगतिशीलता का प्रमाण है। यहाँ यह भी निवेदन करना अप्रासंगिक न होगा कि हिन्दी गद्य के प्रसार और विकास में स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। दयानन्द के इस महत् उपकार को आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार स्वीकार किया है, "स्वामीजी ने अपना 'सत्यार्थ प्रकाश' तो हिन्दी या आर्यभाषा में प्रकाशित ही किया, वेदों के भाष्य भी संस्कृत और हिन्दी दोनों में किये।....स्वामीजी ने संवत् १९३२ में आर्यसमाज की स्थापना की और सब आर्यसमाजियों के लिए हिन्दी या आर्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। युक्त प्रान्त के पश्चिमी ज़िलों और पंजाब में आर्यसमाज के प्रभाव से हिन्दी-गद्य का प्रचार बड़ी तेज़ी से हुआ।...आज जो पंजाब में हिन्दी की पूरी चर्चा सुनाई देती है, इन्हीं की बदौलत है[2]।"

सर्व संघ-समन्वय की असफल चेष्टा

देश की मुक्ति के लिए दयानन्द बेचैन रहते थे। राष्ट्र की जागृति के लिए ही उन्हें कठोर मार्ग अपनाना पड़ा था जिस के पुरस्कारस्वरूप उन्हें तीव्र विरोध, अपमान और अवज्ञा के कड़ुवे घूँट पीने पड़े और अन्ततः प्राण भी त्यागना पड़ा। एक दिन पण्ड्या मोहनलाल जी से बात करते हुए ऋषि दयानन्द ने कहा था, "एक तो मेरा धार्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है। उसे संकुचित नहीं किया जा सकता; दूसरे, भारतवासी लम्बी तान कर ऐसी गहरी नींद में सो रहे हैं कि मीठे शब्दों से तो आंख तक खोलने को भी समुद्यत नहीं होते। सुधार का तो ये नाम तक नहीं लेते। कुरीतियों और कुनीतियों के खण्डन रूप कड़े कोड़े की तड़ातड़ ध्वनि से भी यदि ये जाग जायें तो, ईश्वर का कोटि-कोटि धन्यवाद करूँगा।....पण्ड्याजी। कोई देश जनशून्य नहीं हो जाया करता। लोग तो बने ही रहा करते हैं। परन्तु धर्म-गुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिह्न बदल जाते हैं। जाति के आचार-विचार परिवर्तित हो जाते हैं। रहन-सहन के ढंगों

---

१. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश : स्वामी सत्यानन्द, पृ० ३८८।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४४५।

में भेद आ जाता है। ठीक ऐसा ही समय अब इस देश पर उपस्थित है। यदि सँभाला न गया तो आर्य जाति परिवर्तन के चंचल चक्र पर चढ़ कर अतिशय उतावली से अपने पूर्व पवित्र शरीर को परिवर्तित कर डालेगी। इस के पिछले प्रमाद के कारण करोड़ों मनुष्य मुसलमान बन गये। अब प्रतिदिन सैकड़ों ईसाई बनते चले जा रहे हैं। ऐसे समय में तो सधर्म बन्धुओं को कड़े हाथ से, उन की चोटियाँ पकड़ कर भी, जगाना होगा। भाई! यह कटु कर्तव्य में कोई अपने स्वार्थ के लिए तो पालन नहीं कर रहा हूँ। मुझे तो इन के कारण अवहेलना, निन्दा, कुवचन, ईंट-पत्थर और विष ही स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु बन्धु-वात्सल्य की भावना, मुझे विपत्तियों के निकट और जटिल जाल में भी समाज-सुधार के लिए प्रोत्साहित कर रही है"।[1] देशोद्धार के लिए सभी मतों के नेताओं को एक भूमि पर लाना चाहते थे। दिल्ली में उन्हों ने एक सभा बुलायी थी जिस में कन्हैयालालजी अलखधारी, श्रीयुत नवीनचन्द्र राय, श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, सर सय्यद अहमद, श्री केशवचन्द्र सेन और श्री इन्द्रमन जी ने भाग लिया था। इस सभा में स्वामीजी ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि हम भारतवासी सब एकमत हो कर एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है कि भारत देश सुधर जावेगा।[2] किन्तु समझौता की कोई भूमि कदाचित् इस लिए उपलब्ध न हो सकी क्यों कि सभी विचारक अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रति एक हद तक कट्टर थे।

दयानन्द और केशवचन्द्र की अतिवादिता

विशेष अप्रासंगिक विस्तार में न जा कर एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख किया जाता है जो दयानन्द सरस्वती और केशवचन्द्र सेन की अतिवादी प्रवृत्ति और उन की सीमा को घोषित करता है। सन् १८७२ ई० में श्री दयानन्द सरस्वती ने कलकत्ता की यात्रा की थी, वहाँ के महापुरुषों ने उन से साक्षात्कार किया था। स्वामी जी के पाण्डित्य और प्रातिभ शक्ति से प्रभावित हो कर केशवचन्द्र सेन ने उन से कहा था, "शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अँगरेजी नहीं जानता, अन्यथा इंग्लैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता।" स्वामीजी ने हँस कर उत्तर दिया था, "शोक है कि ब्रह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे समझते ही नहीं[3]।" ध्वनि काफ़ी स्पष्ट है। केशवचन्द्र का विश्वास था कि दयानन्द यदि अँगरेजी जानते तो पाश्चात्य जगत् की आधुनिक उपलब्धियों के साथ वैदिक ज्ञान की संगति बैठा पाते और तब उन के द्वारा आधुनिक

---

१. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृ० ५०७।

२. वही, पृ० २६७।

३. वही, पृ० २३६।

भारत का अधिक कल्याण होता। दयानन्द का उत्तर भी सटीक था, उन्हें यह अफ़सोस था कि संस्कृत भाषा न जानने के कारण ही केशवचन्द्र स्वस्थ वैदिक परम्परा का सही अर्थ नहीं समझते और उसे अपेक्षित महत्त्व न दे कर विदेशी संस्कृति पर मुग्ध हैं।

समन्वयवादी स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द का व्यक्तित्व इन दोनों अतियों से मुक्त था। वे अँगरेज़ी और संस्कृत दोनों के पण्डित थे। पुरातनता और आधुनिकता की उन्हें समान अभिज्ञता थी। इतना ही नहीं वे रामकृष्ण परमहंस के पट्ट शिष्य थे। स्मरणीय है कि ब्राह्म समाज का झुकाव भारतीय दर्शन की औपनिषदिक धारा के प्रति था। स्वामी दयानन्द वैदिक धारा के उन्नायक थे। किन्तु रामकृष्ण भारतीयता की समग्रता में ग़ोता लगा चुके थे। वे उस बिन्दु पर खड़े थे जिसे स्पर्श कर सारी धाराएँ प्रवाहित होती हैं। विवेकानन्द के आराध्य रामकृष्ण ही थे, उन्हीं के आदर्शों का बल उन के साथ था। और कदाचित् इसी लिए वे दो अतियों के बीच में समन्वय स्थापित कर सके।

जातीय संस्कार का आग्रह

पाश्चात्य देशों के भ्रमण से लौट कर दक्षिण भारत की एक सभा में अपने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए देशवासियों से विवेकानन्द ने कहा था, "आजकल हम पाश्चात्य शिक्षा में शिक्षित जितने लोगों को देखते हैं उन में से एक का भी जीवन आशाप्रद नहीं है। इस समय हमारी एक ओर प्राचीन हिन्दू समाज और दूसरी ओर अर्वाचीन युरॅपीय सभ्यता है। इन दोनों में यदि कोई मुझ से एक को पसन्द करने के लिए कहे, तो मैं प्राचीन हिन्दू समाज को ही पसन्द करूँगा, क्योंकि अज्ञ होने पर भी, कुसंस्कार से घिरे होने पर भी, हिन्दू के हृदय में एक विश्वास है—उसी विश्वास के बल पर अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। किन्तु विलायती रंग रँगे सर्वथा मेरुदण्डविहीन बाबू लोग अपरिपक्व, शृंखलाशून्य, बेमेल विभिन्न भावों से भरे होते हैं। वे उन्हें हज़म नहीं कर सकते—उन को आत्मसात् नहीं कर सकते। अपने पैरों पर वे खड़े नहीं हो सकते—उन का सिर हमेशा चक्कर खाया करता है। वे लोग जो कुछ कहते हैं, उस का कारण जानते हो? अँगरेज़ों से थोड़ी शाबाशी पा जाना ही उन के सब कार्यों का मूल कारण है। वे लोग जो समाज-संस्कार करने के लिए अग्रसर होते हैं, हमारी कितनी ही सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध तीव्र आक्रमण करते हैं, उस का कारण केवल यह है कि हमारे ये सब आचार साहबों की प्रथा के विरुद्ध हैं। हमारी कितनी ही प्रथाएँ केवल इस लिए दोषपूर्ण हैं कि साहब लोग उन्हें दोषपूर्ण कहते हैं। मुझे ऐसे विचार पसन्द नहीं। बल्कि जो कुछ तुम्हारा अपना है, उसे ले कर अपने बल पर खड़े रहो और मर जाओ। यदि जगत् में कोई पाप है, तो वह दुर्बलता है। दुर्बलता ही मृत्यु है,

"दुर्बलता ही पाप है, इस लिए सब प्रकार की दुर्बलता का त्याग करो।"[1] पाश्चात्य सभ्यता के प्रति अपनी धारणा को जरा और स्पष्ट करते हुए उन्हों ने इसी भाषण में कहा था कि "पाश्चात्य सभ्यता में चाहे कितनी ही चमक-दमक क्यों न हो, वह चाहे कितनी ही अद्भुत व्यापार करने में समर्थ क्यों न हो, मैं इस सभा के बीच खड़ा हो कर उनसे साफ़-साफ़ कहे देता हूँ, कि यह सब केवल भ्रान्ति और मिथ्या है। एकमात्र ईश्वर ही सत्य है, एकमात्र आत्मा ही सत्य है, एकमात्र धर्म ही सत्य है। इसी सत्य को पकड़े रखो।"[2] उन्हों ने सचेत किया था कि "भलीभाँति स्मरण रखिए यदि आप धर्म छोड़ कर पाश्चात्य जाति की जड़वाद-सर्वस्व सभ्यता के पीछे दौड़िएगा, तो आप का तीन ही पीढ़ियों में विनाश निश्चित है। धर्म छोड़ने से हिन्दू जाति का मेरुदण्ड ही टूट जायेगा—जिस भित्ति के ऊपर यह जातीय सुविशाल सौध खड़ा है, वही नष्ट हो जायेगा, फिर तो सर्वनाश रखा ही है।"[3]

वेदान्त और विवेकानन्द

स्मरणीय है कि विवेकानन्द जिस धर्म की बात कहते थे वह वेदान्त पर आधृत था। वही वेदान्त जो 'सब से पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिए कहता है। जिस प्रकार संसार का कोई-कोई धर्म कहता है कि जो व्यक्ति अपने से अतिरिक्त सगुण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता वह नास्तिक है, उसी प्रकार वेदान्त भी कहता है कि जो व्यक्ति अपने-आप पर विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करनेवाले को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं।"[4] इसी नास्तिकता से विवेकानन्द का विरोध था। वे भली प्रकार समझ रहे थे कि अपना देश सत्त्व गुण की आड़ में धीरे-धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है, "जहाँ महा जड़-बुद्धि पराबुद्धि के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं, जहाँ जन्म-भर आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है, जहाँ क्रूर कर्म वाले तपस्या आदि का स्वाँग कर के निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं, जहाँ अपनी कमजोरी के ऊपर किसी की भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर है, जहाँ केवल कुछ पुस्तकों को कण्ठस्थ करना ही ज्ञान है, दूसरों के विचारों की टिप्पणी करना ही प्रतिभा है, और इन सब से बढ़ कर केवल पितृपुरुषों का नाम लेने में ही जिस की महत्ता रहती है, वह देश दिन-परदिन तमोगुण में डूब रहा है, यह सिद्ध करने के लिए हमें क्या और कोई प्रमाण चाहिए?"[5]

---

१. विवेकानन्द : स्वाधीन भारत ! जय हो !, पृ० ११, १२।

२. वही, पृ० ६।

३. विवेकानन्द : भारत में विवेकानन्द, पृ० ८२।

४. स्वामी विवेकानन्द : व्यावहारिक जीवन में वेदान्त पृ० ७।

५. विवेकानन्द : स्वाधीन भारत ! जय हो !, पृ० २७-२८।

आधुनिक विज्ञान : भारत की मुख्य आवश्यकता

इस डूबते देश की रक्षा के लिए पूर्वग्रह और रूढ़िमुक्त हो कर विवेकानन्द ने उस आधार-स्तम्भ को अपनाना उचित समझा जिस से वंचित हो कर हम दीन हो गये हैं। बड़े आग्रहपूर्वक उन्हों ने कहा था, "जो हमारे पास नहीं है, शायद जो पहले भी नहीं थी, जो यवनों के पास था, जिस का स्पन्दन युरोपीय विद्युदाधार (डाइनमों) से उस महाशक्ति को बड़े वेग से उत्पन्न कर रहा है, जिस का संचार समस्त भूमण्डल में हो रहा है—हम उसी को चाहते हैं। हम वही उद्यम, वही स्वाधीनता की प्रीति, वही आत्मावलम्बन, वही अटल धैर्य, वही कार्य-दक्षता, वही एकता और वही उन्नति-तृष्णा चाहते हैं। बीती बातों की उधेड़-बुन छोड़ कर अनन्त तक विस्तारित अग्रसर दृष्टि की हम कामना करते हैं और सिर से ले कर पैर तक की सब नसों में बहने वाले रजोगुण को उत्कट इच्छा रखते हैं।"[1] यही विवेकानन्द की समन्वयवादी दृष्टि है।

स्वतन्त्रता-प्रीति और शक्ति की उपासना

विवेकानन्द ने देश की अवनति का मूल कारण समझ लिया था और उस के निराकरण के लिए उन का विश्वास था कि "उन्नति की पहली शर्त है स्वाधीनता। मनुष्य को जिस प्रकार विचार और वाणी में स्वोधानता मिलनी चाहिए, वैसे ही उसे खान-पान, रहन-सहन, विवाह आदि हर-एक बात में स्वाधीनता मिलनी चाहिए—जब तक कि उस के द्वारा दूसरों को कोई हानि नहीं पहुँचती!"[2] इस स्वाधीनता को पाने के लिए आवश्यक है शक्ति की उपासना, छात्र-धर्म की प्रतिष्ठा। विवेकानन्द ने अपनी हार्दिक आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा था, "मैं भारत में लोहे की मांस-पेशियाँ और फ़ौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शम्पाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, छात्र-वीर्य और ब्रह्मतेज इन के समन्वय से भारत की नयी मानवता का निर्माण होना चाहिए।" उन्होंने भारतवासियों को सलाह दी थी कि "मृत्यु का ध्यान करो, प्रलय को अपनी समाधि में देखो, तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उस की अर्चना से ही भय बस में आयेगा।···सम्भव हो तो जीवन को छोड़ कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।"[3]

दृश्यमान लोक और विवेकानन्द की दृष्टि

इसी तरह ईसाइयों को धिक्कारते हुए उन्हों ने शिकागो के विश्वधर्मसम्मेलन में

---

१. विवेकानन्द : स्वाधीन भारत ! जय हो !, पृ० २६।

२. वही, पृ० ५८।

३. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५०२।

कहा था, 'भयानक दुर्भिक्षों के समय लाखों भारतवासी निराहार मर गये, किन्तु, तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। भारत की भूमि पर तुम गिरजों पर गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि पूर्वी जगत् की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशियावालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ पढ़ना नहीं चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उस के आगे धर्म परोसना उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है उस के हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रन्थ रखना उस का मजाक उड़ाना है।'[1] विवेकानन्द खूब समझते थे कि "भारतवर्ष के सभी अनर्थों की जड़ है—जनसाधारण की गरीबी।" और इस गरीबी से मुक्ति पाने के लिए विवेकानन्द के अनुसार, 'भौतिक सभ्यता आवश्यक है, इतना ही नहीं, आवश्यकता से अधिक चीजों का व्यवहार भी आवश्यक है, ताकि गरीबों के लिए नये-नये काम निकलते रहें। अन्न ! अन्न ! चाहिए ! मुझे तो इस पर विश्वास नहीं होता कि जो भगवान् मुझे यहाँ पर अन्न नहीं दे सकता, वह स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा। राम कहो ! भारत को उठाना होगा, गरीबों को रोटी देनी होगी, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहिती की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चक्कर खाती हुई एकदम अतलान्तिक महासागर में जा गिरें। ब्राह्मण हो या संन्यासी—किसी की बुराइयों को क्षमा न मिलनी चाहिए। ऐसा करना होगा, जिस से पुरोहिती की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान तक न रहे, सब के लिए अन्न अधिक सुलभ हो जाये और सब को अधिकाधिक सुविधा मिलती रहे[2]।

विवेकानन्द का राष्ट्रीय अवदान

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शती की समग्र चेतना विवेकानन्द के व्यक्तित्व में मुखर थी।[3] कदाचित् इसी लिए रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।" प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार ने बहुत ठीक कहा है कि सक्रिय राजनीतिक न होते हुए भी विवेकानन्द ने जो चेतना उत्पन्न की उस का भारतीय राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा[4]। निस्सन्देह "स्वामीजी के भीतर से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ

१. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५०१।

२. विवेकानन्द : स्वाधीन भारत ! जय हो ! पृ० ५६।

3. "In fact the revival of Vedant in Hindu thought at the end of the nineteenth and in the first two decades of the twentieth century constitutes a religious movement of national significance." —K.M. Panikkar-The Foundation of New India P.—32.

4. Neither Bankimchandra nor Vivekananda was an active politician, but the spirit which they created had a great repercussion on Indian politics." Ramesh Chandra Mazumdar : 'Studies in Bengal Renaissance,' P. 190.

कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई—राजनीतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी[1]।' स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु जो भी उन के अथवा उन की रचनाओं के सम्पर्क में आया, उस में देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता आप से आप उत्पन्न हो गयी[2]।''

देवेन्द्रनाथ टैगोर और तत्त्वबोधिनी सभा

यहाँ स्मरणीय है कि महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर की तत्त्वबोधिनी सभा का उद्देश्य प्रत्यक्ष राजनीति और राजनीतिक नहीं था तथापि इस के तत्त्वावधान में होने वाली धार्मिक, सामाजिक गतिविधियों से शिक्षित समुदाय में राष्ट्रीय चेतना और जातीय स्वाभिमान की भावना उत्पन्न हुई थी। इस दिशा में महर्षि देवेन्द्रनाथ का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि 'ब्रिटिश इण्डियन एसोशियेशन' के प्रथम मन्त्री की हैसियत से उन्हों ने मद्रास और बम्बई के प्रमुख नागरिकों से सम्बन्ध स्थापित कर इस बात की चर्चा की थी कि देश की प्रमुख माँग को सामूहिक रूप से ब्रिटिश सरकार के सम्मुख रखने के लिए देश के विभिन्न अंचलों की विभिन्न प्रमुख संस्थाओं के बीच सहयोग-सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक है[3]।

उपरोक्त धार्मिक आन्दोलनों से दूर उसी युग में कुछ ऐसे दूसरे महापुरुष थे जिन्हों ने अपने-अपने प्रयत्नों-द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इन में पण्डित-प्रवर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और ऋषि बंकिमचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

ईश्वरचद्र विद्यासगार अपने युग के अप्रतिम पण्डित और शास्त्रज्ञ ही नहीं थे बल्कि एक प्रगतिशील समाज-सुधारक भी थे। संस्कृत वाङ्मय को उन्हों ने पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था और उस की अभाव-उपलब्धियों को वे खूब समझते थे। भारतीय विद्या की जीवनी-शक्ति को सम्बर्द्धित करने के लिए विद्यासागर ने आवश्यक समझा कि नये आलोक में इस का अनुशीलन किया जाये। शिक्षा की पुरानी व्यवस्था में भी परिवर्तन अपेक्षित था। इस सम्बन्ध में विद्यासागर आधुनिकता के पूर्ण आग्रही थे। भारत की प्राचीन विद्या को आधुनिक युग के लिए उस की सार्थकता बनी रहे। इस सम्बन्ध में १८५० ई० में जब वे संस्कृत कॉलेज के प्राध्यापक थे सरकार की शिक्षा समिति के सामने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जिस में उन्हों ने

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४६८।

२. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४६७ से उद्धृत।

३. द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ४५।

सरकार से यह माँग की थी कि रूढ़ और मृत शिक्षा-व्यवस्था के स्थान पर जीवन्त और युगानुकूल व्यवस्था स्वीकृत और निर्दिष्ट की जाये। इस नयी शिक्षा-व्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए इन्हों ने वैज्ञानिक और युगीन पद्धति से संस्कृत व्याकरण लिखा।

नयी शिक्षा तथा अन्य सुधार

शिक्षा-सम्बन्धी इन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य था स्त्री-शिक्षा का प्रचार। स्त्री-शिक्षा के प्रथम उन्नायक के रूप में विद्यासागर को सदैव स्मरण किया जायेगा। १८५७ से १८५८ के बीच पण्डित विद्यासागर ने बंगाल के विभिन्न अंचलों में ३५ बालिका विद्यालयों की स्थापना की थी जिन की छात्राओं की संख्या १३०० थी[१]।

बहुविवाह और बालविवाह के अनौचित्य की ओर भी विद्यासागर की दृष्टि पड़ी थी और इस कलुष-प्रक्षालन के लिए उन्हों ने १८५०, १८५५ और १८६६ में सरकार से पुनः-पुनः अनुरोध किया था।

निस्सन्देह इस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो विद्यासागर ने किया था वह था विधवा-विवाह आन्दोलन। कहना न होगा कि विधवा-विवाह के औचित्य की चर्चा राजा राममोहन के ज़माने से होने लगी थी किन्तु विद्यासागर ने इस में पूरी सक्रियता दिखलायी, इसे आन्दोलन का रूप दिया। इतना ही नहीं अनेकानेक पाण्डित्यपूर्ण लेख लिख कर इसे शास्त्रसम्मत प्रमाणित किया। ९८७ व्यक्तियों के हस्ताक्षर सहित उन्हों ने एक प्रार्थनापत्र सरकार को दिया था जिस में यह अनुरोध किया गया था कि हिन्दू विधवा के पुनर्विवाह को वैधानिक अवलम्ब देने के लिए सरकार इस सम्बन्ध में एक क़ानून बनाये। पुरातनवादी हिन्दुओं पर इस की गहरी प्रतिक्रिया हुई और उन के नेता राधाकान्त देव ने सरकार के सामने ३६७६३ व्यक्तियों के हस्ताक्षर सहित एक प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया था जिस में विद्यासागर के अनुरोध का प्रत्यक्ष विरोध था[२]। किन्तु पुरातनवादियों को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली और २६ जुलाई १८५६ को विधवा-विवाह-सम्बन्धी क़ानून पास हो गया। विद्यासागर की सक्रियता बनी रही और ७ दिसम्बर १८५६ ई० को उन के प्रयत्न से उन्हीं के निरीक्षण में प्रथम बार वैधानिक रीति से हिन्दू विधवा का पुनर्विवाह हुआ[3]। इतना ही नहीं अपने पूरे जीवनकाल में वे इस आन्दोलन के प्रति सचेत और सचेष्ट रहे।

एक महत् व्यक्तित्व

विद्यासागर के पाण्डित्य का प्रभाव देशव्यापी था, इस लिए स्वाभाविक था

---

१. स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ५२।

२. द्रष्टव्य, स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेसाँ।

३. श्री रामकृष्ण परमहंस ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से भेंट की थी, उस समय काफ़ी देर तक दोनों में वार्ता हुई थी। द्रष्टव्य, श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग—२, पृष्ठ ५५–५६।

कि उन के आन्दोलन का प्रभाव पूरे देश पर पड़े। उन के पाण्डित्य के अनुसार ही उन का व्यक्तित्व भी महान् था जिस की प्रशंसा रामकृष्ण परमहंस भी करते थे। जितना बड़ा उन का आदर्श था उतनी ही बड़ी उन की दृष्टि थी और उसी कोटि की उन में उदारता थी। प्रादेशिक सीमा से वे ऊपर थे और 'देश की सम्पूर्ण मनीषा के साथ वे आत्मीयता अनुभव करते थे। हिन्दी की शक्ति को वे समझते थे, हिन्दी भाषा और साहित्य भी समझते थे। अपनी काशी-यात्रा में वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के यहाँ ठहरे थे जिन के हाथों में उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-साहित्य का नेतृत्व था। भारतेन्दु के संग्रहालय में उन्हों ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की पुरानी प्रतियाँ देखी थीं और उस नाटक का सम्पादन कर उसे भारतेन्दु को ही समर्पित किया था[1]। भारतेन्दु के साथ ही यह हिन्दी और हिन्दी-समाज का सम्मान था जो वस्तुतः एक बड़ी चीज़ थी जिस की ओर आज के पूर्वग्रह-पीड़ित मूर्धन्य पण्डितों का ध्यान नहीं जाता। परिणामतः रोज़-रोज़ सांस्कृतिक ग्रन्थियाँ बनती जा रही हैं। "पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और पं० द्वारिकानाथ विद्याभूषण का 'सोमप्रकाश' प्रति सोमवार को बंगला में प्रकाशित होता था। कलकत्ते से हिन्दी का कोई पत्र नहीं निकलता था। पं० युगलकिशोर शुक्ल के 'उदन्तमार्तण्ड' और 'सामदन्त मार्तण्ड' को अस्त हुए एक ज़माना हो गया था और बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री के 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' को बुझे भी कई वर्ष बीत चुके थे। दुर्गाप्रसादजी के मन में विचार हुआ कि हिन्दी का पत्र भी निकलना चाहिए। उन्हों ने इस विषय पर पं० छोटूलालजीं मिश्र से परामर्श किया। छोटूलालजी भी डोगरे सारस्वत थे और जम्मू राज्य के निवासी थे। दुर्गाप्रसादजी इन्हें बड़ा भाई मानते थे। छोटूलालजी इस प्रस्ताव पर सहमत हुए और दोनों के सहयोग से 'भारतमित्र' प्रकाशित हुआ।[2]"

वंकिमचन्द्र और वन्देमातरम

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर मनीषी और शिक्षाविद् थे और वंकिमचन्द्र महान् साहित्यकार, इतना ही नहीं ये एक ऋषि थे क्योंकि उन्हों ने एक मन्त्र दिया था। यह मन्त्र था 'वन्दे मातरम्'। यह एक ऐसा उद्बोधक मन्त्र था जो नवभारत के निर्माण में मूल प्रेरक बना। वंकिमचन्द्र की यह कविता साधारण कविता नहीं थी। प्रखर राष्ट्रीयता की ध्वनि ही इस की आत्मा थी। इस कविता में कल्पित माता कोई धार्मिक देवी नहीं बल्कि वह देश है जहाँ हम रहते हैं और यह देश-माता मात्र प्रादेशिक राशि नहीं बल्कि एक जीवन्त सत्ता है जो अपने बच्चों के साथ सदैव क्रियाशील रह कर उन के माध्यम से अपनी इच्छाएँ पूरी करती है। इस कविता-द्वारा वंकिमचन्द्र ने देशभक्ति के धर्म का आविष्कार किया और इस मन्त्र-गीत द्वारा उन्हों ने अमृत प्रकाश दिया।[3]

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, पृ० १६५।
२. पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० ३६८–३६९।
३. द्रष्टव्य, वन्देमातरम ऐण्ड इण्डियन नेशनलिज्म, पृ० ७।

बंकिम के पूरे कृतित्व में राष्ट्रीयता का उन्मेष है[1]। कृष्ण के चरित्र का अंकन १८८६ ई० में उन्हों ने 'कृष्णचरित्र' नामक कृति में राष्ट्रीय ऐक्य के प्रतीक के रूप में किया है। 'धर्मतत्त्व' (१८८८) में उन्हों ने धर्म की एक सर्वथा नवीन और मानवीय व्याख्या प्रस्तुत की। इसी प्रकार कपालकुण्डला, दुर्गेशनन्दिनी और मृणालिनी आदि कृतियों में जातीय स्वर ही प्रमुख है। बंकिमचन्द्र अपने समकालीन महापुरुषों में प्रखर हिन्दुत्व के सब से बड़े आग्रही थे। विदेशी साहित्य और दर्शन के स्थान पर गीता और कालिदास की कृतियां उन्हें अधिक आकृष्ट करती थीं।

'वन्देमातरम्' मन्त्र का स्रष्टा उस चेतना का प्रेरक था जो देश को देश की स्वतन्त्रता और मुक्ति की ओर खींच रही थी। प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग न लेते हुए भी वह राजनीतिक गुरु था।[2] और इस मन्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव ७ अगस्त १९०५ को कलकत्ता टाउनहाल की उस ऐतिहासिक सभा में देखा गया जो विदेशी बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन के निमित्त हुई थी और जिस में हज़ारों व्यक्तियों ने इस मन्त्र का उच्चारण किया था[3]। कहना न होगा कि स्वदेशी आन्दोलन के नेताओं को इस मन्त्र ने एक वैचारिक अवलम्ब दिया था जिस की व्याख्या-द्वारा उन्हों ने अपने आन्दोलन में प्राण-प्रतिष्ठा की थी।

रानाडे और प्रार्थना-सभा

सुधार आन्दोलन और राष्ट्रीयता की धारा बंगाल के बाहर भी चल रही थी। विश्वविश्रुत वैदिक विचारधाराके उन्नायक दयानन्द सरस्वती की चर्चा हम ने की है। महाराष्ट्र में इसी युग में ब्राह्म समाज की समान भूमि पर महादेव गोविन्द रानाडे के संरक्षण में 'प्रार्थना सभा' की स्थापना हुई थी। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में रानाडे महाशय की समान रुचि थी। महाराष्ट्र की सामाजिक गतिविधि के मूल प्रेरक और संचालक रानाडे ही थे। समाज सुधार के साथ ही वे राजनीतिक सुधार पर भी बल देते थे। रानाडे ने भारतीय जनता के सम्बन्ध में अपना विश्वास इस प्रकार प्रकट किया था : "हिन्दू जनता इतनी बुरी नहीं है कि हम उसे सड़ाँध से भरा हुआ बर्बादियों का अम्बार कहें। यह जनता कुछ दूर तक कट्टर अवश्य है, किन्तु इसी कट्टरता ने इस की रक्षा भी की है। जो जाति अपने विश्वास और नैतिकता को, अपने आचारों और सामाजिक आचरणों को फ़ैशन के समान आसानी से बदल दे, वह इतिहास में किसी बड़े उद्देश्य की प्राप्ति से वंचित रहेगी, साथ ही यह भी सच है कि

---

१. "The religion of patriotism, this is the master idea of Bankim's writings." Shri Aurobindo-Bankim, Tilak, Dayanand, p.11
२. "of the new spirit which is leading the nation to resurgence and independence, he is the inspirer and political guru." Ibid, p.12.
३. Bande Mataram and Indian Nationalism, p. 13.

हमारी कट्टरता इतनी भयानक नहीं है कि हम नये विचारों और नूतन प्रयोगों को अपने भीतर धीरे-धीरे नहीं पचा लें[1] ।" तिलक के शब्दों में 'उनकी राष्ट्रहित में सच्ची आस्था, ज्ञानप्राप्ति में उत्सुकता और असाधारण कल्पना शक्ति असन्दिग्ध थी। राज्य और प्रजा में उन्हें जो आदर मिला और उन्हों ने देश की जो सेवाएँ कीं, वे साधारण नहीं थीं। रानाडे महोदय को महापुरुष की पदवी के योग्य बनाने में इतना ही पर्याप्त होता, परन्तु राष्ट्रीय जीवन की समुन्नति में उन्हों ने जो भाग लिया, वह उन से अधिक बहुमूल्य था[2] ।" इस प्रकार रानाडे ने महाराष्ट्र प्रदेश में राष्ट्रीयता की वह पुष्ट भित्ति तैयार की जिस पर खड़े हो कर गोखले और तिलक ने देश की राजनीति को एक नयी दिशा दी।

एनीबेसेण्ट का राष्ट्रीय महत्त्व

अप्रासंगिक न होगा उस विदेशी महिला का नामोल्लेख जिस का हमारे जातीय उत्थान में एक बड़ा अवदान है। वह थीं अँगरेज़ महिला श्रीमती एनीबेसेण्ट, जिन्हों ने बड़ी ईमानदारी से घोषणा की थी "चालीस वर्षों के सुगम्भीर चिन्तन के बाद मैं यह कह रही हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में हिन्दू धर्म से बढ़ कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शन युक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और कोई नहीं है[3] ।" हिन्दूधर्म के प्रति उन के मन में अनन्त अनुराग था। वे हिन्दुओं को सदैव सचेत करती थीं कि हिन्दूधर्म ही उन का कल्याण कर सकता है और उस धर्म के उन्नयन का दायित्व हिन्दुओं पर ही है। भारतीय दर्शन की औपनिषदिक धारा में उन्हें मानसिक अनुकूलता मिलती थी।

राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में श्रीमती एनीबेसेण्ट का कार्य अप्रतिम है।[4] कालान्तर में श्रीमती बेसेण्ट भारतीय राजनीति में भी सक्रिय रुचि लेने लगीं। १९१७ की कलकत्ता कांग्रेस के सभापति-पद पर वे प्रतिष्ठित हुई थीं। 'ऑल इण्डिया होमरूल लीग' की संचालिका थीं। यह संस्था उस होमरूल लीग से अलग थी जिस की स्थापना २३ अप्रैल १९१६ को तिलक ने की थी। डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि "वैसे तो मि० बैंगला के समय से ही श्रीमती बेसेण्ट का सारा जीवन ग़रीबों और भारतवासियों की सेवा में व्यतीत हुआ, लेकिन कांग्रेस में वे १९१४ में ही सम्मिलित हुईं। उन्हों ने अपने साथ नये विचार, नयी योग्यता, नवीन साधन, नया दृष्टिकोण और संगठन का एक बिलकुल ही नूतन ढंग लेकर कांग्रेस क्षेत्र में पदार्पण किया। उन का व्यक्तित्व तो पहले से ही सारे जगत् में महान् था। पूर्व और पश्चिम के देशों

---

१. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४६१-२।
२. लोकमान्य तिलक और उन का युग, पृ० ८।
३. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४७६।
४. द्रष्टव्य, स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेसाँ; पृ० ४१२।

में, नये और पुराने गोलार्ध में, लाखों की संख्या में इन के भक्त एवं अनुयायी थे। इस लिए यह कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है कि अपने पीछे इतने प्रबल भक्तों और अनुयायियों और अथक कार्य-शक्ति के होते हुए उन्होंने भारतीय राजनीति को एक नवीन जीवन प्रदान किया[1]।

इन सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलनों के साथ ही १८५७ ई० के परवर्ती परिवेश में प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियाँ भी चल रही थीं जो राष्ट्रीय चेतना को प्रखर कर रही थीं। यह वह युग था जब बंगाल की राजनीति प्रादेशिक भूमिका से ऊपर उठ कर सार्वदेशिक सन्दर्भ पर प्रतिष्ठित हो रही थी। ब्रिटिश इण्डियन एसोसि-एशन की शाखाएँ देश के विभिन्न अंचलों में स्थापित हुईं।

हिन्दू मेला और राजनारायण बोस

हिन्दू मेला, जिस का शुभारम्भ १८६७ ई० में हुआ था, ने स्वतन्त्रता की संज्ञा और राष्ट्रीय भावना को पूर्ण अभिव्यक्ति दी[2]। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर इस के प्रेरक और संस्थापक थे, गणेन्द्रनाथ टैगोर मन्त्री और नव गोपाल मित्र सहायक मन्त्री थे। स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण और प्रयोग को प्रश्रय देना तथा अपनी भाषा और शरीर-विज्ञान के विकास का प्रयत्न करना इस के विज्ञप्त उद्देश्य थे। विदेशी सत्ता के साथ सतत संघर्ष के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस की राजनीतिक योजना—स्वदेशी वस्तु राष्ट्रीय भाषा और जातीय पौरुष का संवर्द्धन—को राष्ट्रीय आन्दोलन ने स्वीकार कर लिया था[3]। श्री अरविन्द के पितामह राजनारायण बोस इस युग के तेजस्वी नेता थे जिन्हों ने भारतीयों को उद्बुद्ध करते हुए कहा था, "क्या तुम लोग इतने मन्दबुद्धि हो कि इतना भी नहीं समझते कि विजेता मानव सुहृदों के समूह नहीं हैं और यह कि वे तुम्हारे हित के लिए नहीं बल्कि अपने स्वार्थ-साधन के लिए आये हैं? क्या तुम लोग यह सोचते हो कि वे अपने बंकिघम और मनचेस्टर की ओर से उदासीन हो कर तुम्हारी इच्छा के मुताबिक तुम्हारी कला और उत्पादन को प्रश्रय देंगे? पददलित जाति के लोगो, ध्यान रखो, उन्नति कामी को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है[4]। यहाँ स्मरणीय है कि १८६१ में सब से पहले राजनारायण बोस द्वारा ही इस उद्बोधक वाणी का उद्घोष हुआ था जब उन्हों ने शिक्षित बंगालियों में राष्ट्रीय भावोद्रेक के लिए एक समिति-स्थापन की नियमावली प्रस्तुत की थी। अँगरेजी शिक्षा-प्राप्त और अँगरेजियत-पसन्द बंगालियों को जातीय संस्कृति की ओर उन्मुख करने का यह एक ओजस्वी उप-

---

१. डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : काँग्रेस का इतिहास, भाग-१, पृ० ६८।
२. द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० १५७।
३. वही।
४. वही।

क्रम था।[1] जो अँगरेज़ी में सोचने, अँगरेज़ी में बात करने और अँगरेज़ी में ही कल्पना करने के अभ्यासी थे उन से बंगला में बोलने-लिखने हैट-कोट के स्थान पर धोती-चादर धारण करने, होटल में विदेशी पद्धति से भोजन करने के अभ्यास का परित्याग करने और देशी खेल और व्यायाम को अपनाने तथा देशी औषधि विज्ञान को प्रश्रय देने का अनुरोध किया गया। राजनारायण बोस स्वयं अँगरेज़ी शिक्षा की उपज थे किन्तु बड़ी दृढ़तापूर्वक उन्हों ने ईसाई धर्म और सभ्यता की अपेक्षा हिन्दू धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता का उद्‌घोष किया। स्मरणीय है कि राजनारायण बोस भी उसी पीढ़ी के थे जो ईसाई धर्म और पाश्चात्य बौद्धिकता का सोत्साह पक्ष-समर्थन करने वाली थी;[2] किन्तु वे हिन्दुत्व के कट्टर समर्थक थे। 'हिन्दू मेला' के चतुर्थ अधिवेशन के उपरान्त हिन्दू राष्ट्र भाव के उन्नयन के उद्देश्य से 'नेशनल सोसाइटी' नामक संघ की स्थापना हुई थी।[3]

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और तत्कालीन जातीय परिवेश

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की वाग्मिता ने देश के कोने-कोने में चैतन्य उत्पन्न कर दिया था। १८७७ के दिल्ली दरबार में सम्मिलित हो देश के राजा महाराजाओं तथा विशिष्ट लोगों से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भेंट की थी। देशव्यापी राजनैतिक संगठन की प्रेरणा उन्हें वहीं से मिली थी। इन पर ग्लैडस्ट्रोन और मेजिनी का गहरा प्रभाव था। मेजिनी के लेखों का उन्हों ने बंगला में अनुवाद किया था और अपने तेजस्वी भाषणों में उन का हवाला दिया करते थे। सुरेन्द्र बाबू ने देश की चेतना को समझने और उसे अपनी बात समझाने के उद्देश्य से पूरे देश की यात्रा की थी और अनुकूल परिणाम से उत्साहित हो वे राजनीति में पूरी सक्रियता से लग गये थे। लॉर्ड लिटन के कुकृत्यों तथा इलवर्ट बिल की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकटित अँगरेज़ों की स्वार्थपरता ने पूरे देश में असन्तोष उत्पन्न कर दिया था जिसे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी-जैसे नेताओं ने राष्ट्रीय रूप दिया था। इसी समय लॉर्ड लिटन के प्रतिगामी शासन की शुरूआत होती है। उन के ज़माने में (१८७८) वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट बना, अफगान युद्ध हुआ, बड़ा खर्चीला दरबार किया गया और १८७७ में ही कपास-आयात-कर उठा दिया गया। लॉर्ड रिटन के

---

१. राजनारायण बोस की उग्र राष्ट्रीयता एवं हिन्दू मेला की वैशिष्ट्य-अभिज्ञता के लिए द्रष्टव्य-द ब्रिटिश पैरामाउन्टेंसी एण्ड इण्डियन रेनेसाँ—डॉ० आर० सी० मजुमदार, पृष्ठ ४७०-७२।

२. द्रष्टव्य, स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० १८८।

३. ··· "The National Society arranged a monthly discourse. In one of these monthly meetings, presided over by Devendranath Tagore, Rajnarayan Bose delivered an address on the "Superiority of Hindusm" embodying his main views........"—Dr. R. C. Mazumdar The British Paramountancy and Indian Renaissance—II P. 472

बाद लार्ड रिपन का दौरा हुआ जिन्हों ने अफ़गानिस्तान के अमीर के साथ सुलह कर के, वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर के, स्थानिक स्वराज्य का आरम्भ कर के और इलबर्ट बिल को उपस्थित कर के एक नये युग का श्रीगणेश किया। यह आख़िरी बिल भारत सरकार के तत्कालीन ला-मेम्बर मि० इलबर्ट ने १८८३ में उपस्थित किया था जिस का उद्देश्य यह था कि हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेटों पर से यह रुकावट उठा ली जाये जिस के द्वारा वे युरोपियन और अमेरिकन अपराधियों के मुक़दमें फ़ैसला नहीं कर सकते थे। इस पर गोरे लोग इतने बिगड़े कि कुछ लोगों ने तो गवर्नमेण्ट हाउस के मन्त्रियों को मिला कर वाइसराय को जहाज़ पर बिठा कर इंगलैण्ड भेजने की एक साज़िश कर डाली। इस साज़िश में कलकत्ते के कई लोगों का हाथ था, जिन्हों ने यह संकल्प कर लिया था कि यदि सरकार ने इस बिल को आगे बढ़ाया तो वे इस साज़िश को कामयाब बना कर छोड़ेंगे। नतीजा यह हुआ कि असली बिल उसी साल क़रीब-क़रीब हटा लिया गया और उस की जगह यह सिद्धान्त मान लिया गया कि सिर्फ़ ज़िला मजिस्ट्रेट और दौरा जज को ही ऐसा अधिकार रहेगा। जब लॉर्ड रिपन भारत से विदा होने लगे तो देश के एक छोर से ले कर दूसरे छोर तक के लोगों ने उन्हें हार्दिक विदाई दी। अँगरेज़ों के लिए यह बात ईर्ष्या का विषय हो गयी थी किन्तु उस से बहुतेरे लोगों की आँखें भी खुल गयी थीं।

"इस बिल के सम्बन्ध में गोरे लोगों को जो सफलता मिल गयी उस से हिन्दुस्तानी जाग उठे और उन्हों ने बहुत जल्दी इस बिल के विरोध का आन्तरिक हेतु पहचान लिया। गोरे यह मनवाना चाहते थे कि हिन्दुस्तान पर गोरी जातियों का प्रभुत्व है और वह सदा रहेगा। इस ने भारत के तत्कालीन देशसेवकों को संगठन के महत्त्व का पाठ पढ़ाया और उन्हों ने तुरन्त ही १८८३ में कलकत्ता के अलबर्ट हाल में एक राजनैतिक परिषद् की आयोजना की, जिस में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बसु दोनों उपस्थित थे। इस सभा में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने आरम्भिक भाषण में इस बात का ज़िक्र किया कि किस तरह दिल्ली दरबार ने उन के सामने एक राजनैतिक संस्था जो कि भारत के हित-साधन में तत्पर रहे, बनाने का नमूना पेश किया था।[1]"

इण्डियन एसोशिएशन : 'बंगाली' नामक पत्र और उन की वाक्शक्ति

अपने पत्र 'बंगाली'-द्वारा सुरेन्द्र बाबू बड़ी तेजस्वी भाषा में सरकारी साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध करते थे। स्मरणीय है कि इसी तेजस्विता के परिणामस्वरूप उन्हें १८८३ में सरकार ने दो महीने के लिए जेल में बन्द कर दिया था।[2] इस दण्ड

---

१. डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : काँग्रेस का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६।

२. यह शोक संवाद हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'उचित वक्ता' के ५ मई १८८३ ई० के सम्पादकीय वक्ता के शीर्ष पर 'शोक' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।

को सुरेन्द्रनाथ ने बड़े गौरव के साथ स्वीकार किया था।[1] और सुरेन्द्रनाथ की इस सजा की देश में बड़ी गहरी प्रतिक्रिया हुई थी जो राजनीतिक जागरण का प्रमाण था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए कलकत्ते में एक विराट् सभा हुई थी जिस की सूचना १९ मई १८८३ के 'उचित वक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत प्रकाशित हुई थी, "गत बुद्धवार को और एक महती सभा विडन-स्ट्रीट में हुई थी प्रायः बीस-पचीस हज़ार मनुष्य एकत्र थे बंगदेश के राजा महा-राजा ज़मींदार बड़े-बड़े रईस और सर्दार लोग सभा में उपस्थित थे। भारतवर्ष में ऐसी कोई जाति नहीं है जिसकी हम लोगों ने इस सभा में समवेदना प्रकाश करते न देखा हो।" सम्पूर्ण देश से संवेदना के तार आये थे। इस सम्बन्ध में पत्रों में काफ़ी चर्चा रहती थी। 'उचित वक्ता' में इस सम्बन्ध में अनेक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। १८ मई १८८३ के 'उचित वक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—"क्या वास्तव में सुरेन्द्र बाबू का न्याय विचार हुआ है ?" इस में सरकारी अनौचित्य की खुल कर चर्चा की गयी है। सम्पादकों को सलाह देते हुए 'उचित वक्ता'-सम्पादक ने इस टिप्पणी में लिखा था, "···सुरेन्द्र बाबू की ऐसी दशा देख कर किसी को भी लेखनी शिथिल नहीं करनी चाहिए। इस समय यदि हम लोग किसी विषय में ढीले हो जायँगे तो म से फिर कभी कुछ नहीं बन पड़ेगा। और नौरिश साहब ऐसे अप्रशस्त हृदय विचारक निःशंक होकर यथेष्ट अन्याय किया करेंगे। अतएव देशीय सम्पादकों ! सावधान !! कहीं जेल का नाम सुनकर कर्तव्य विमूढ़ मत हो जाना, यदि धर्म की रक्षा करते हुए यदि गवर्मेण्ट को सत्परामर्श देते हुए जेल जाना पड़े तो क्या चिन्ता है इस से मानहानि नहीं होती है ? हाकिमों के जिन अन्याय आचरणों से गवर्मेण्ट पर सर्वसाधारण की अश्रद्धा हो सकती है उनका प्रतिवाद करने में जेल तो क्या यदि द्वीपांतरित भी होना पड़े तो क्या बड़ी बात है ? क्या इस सामान्य विभीषिका से हम लोग अपना कर्तव्य छोड़ बैठें।" सुरेन्द्र बाबू पूरे देश का हित सोचते थे, इस लिए पूरा देश उन के साथ था। १८७६ में उन्हों ने 'इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना की थी जिसे प्रथम अखिल भारतवर्षीय राजनीतिक संगठन माना जाता है। इसी के तत्वावधान में १८८३ ई० में २० दिसम्बर से ३० दिसम्बर तक कलकत्ते

---

१. अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस दण्ड के सम्बन्ध में लिखा है—"The news of my imprisonment created a profound impression not only in Calcutta and in my own province but throughout India." आगे बड़े गर्व के साथ उन्हों ने लिखा है—

"I claim the honour (for such I deem it) of being the first Indian of my generation who suffered imprisonment in the discharge of a public duty." Surendranath Banerjee : A Nation in Making. p. 74.

में अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी के अवसर पर एक राष्ट्रीय सभा हुई थी जिसे आनन्दमोहन बोस ने राष्ट्रीय संगठन का प्रथम चरण कहा था। चूँकि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी प्रादेशिक इकाई से ऊपर थे इस लिए राष्ट्रोत्थान के हर उचित प्रयत्न का वे खुल कर समर्थन करते थे।[1] इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता का क्रमशः विकास हो रहा था, 'वन्दे मातरम्' की अर्थवत्ता निरन्तर स्पष्ट और बलवती होती जा रही थी और उस राजनैतिक भूमिका का निर्माण हो रहा था जहाँ भावी स्वदेशी आन्दोलन की अवतारणा होने वाली थी। ब्राह्मसमाजी नेता पं० शिवनाथ शास्त्री नवयुवकों के एक ऐसे वर्ग का राजनीतिक संस्कार कर रहे थे जिन्हें भारतीय राजनीति का एक बड़ा दायित्व सँभालना था। इन में विपिनचन्द्र पाल प्रमुख थे जिन्हों ने आगे चल कर स्वदेशी आन्दोलन का नेतृत्व किया[2]।

क्रान्तिकारी आतंकवाद का बीजारोपण

भावी क्रान्तिकारी आतंकवाद का बीज-वपन भी इसी युग में हुआ था जो बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र की धरती में पल्लवित हुआ। हिन्दू मेला का प्रत्यक्ष परिणाम यह था कि लोगों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान की भावना उत्पन्न हुई। लार्ड लिटन के शासन-काल में विभिन्न विचारों के लोगों ने समान रूप से यह अनुभव किया कि भारतीय राजनीति की प्रगति सरकारी अधिकारियों के लिए असह्य है। इस प्रतीति का आधार था वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट तथा आर्म्स ऐक्ट और सहज परिणाम था गुप्त समितियों की आविर्भूति[3]। इस ओर छात्रों का अधिक झुकाव था और उन्हें राजनारायण बोस का संरक्षण, निर्देशन और प्रोत्साहन मिल रहा था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भी इस में रुचि ले रहे थे और कहा जाता है कि इस प्रकार की अनेक समितियों के वे प्रधान थे।[4] रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रसंग में राजनारायण बोस की 'संजीवनी सभा' का उल्लेख किया है जिस के वे और ज्योतिन्द्रनाथ टैगोर सदस्य थे। गोपाल हालदार ने लिखा है कि गम्भीर प्रकृति के लोग उक्त गुप्त संगठनों की आवश्यकता महसूस करने को परवश थे क्यों कि राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए

कोई दूसरा विकल्प नहीं था[1]। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम के अस्त्र के रूप में राजनारायण बोस-द्वारा उद्भावित वैयक्तिक आतंकवाद भारतीय युयुत्सु राष्ट्रीय वर्ग-द्वारा नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया गया था तथापि इस की पूर्ण क्रियान्विति में अभी कुछ विलम्ब था अर्थात् अरविन्द घोष, वारिन घोष और सत्येन बोस के नेतृत्व की प्रतीक्षा करनी थी।[2]

देश-दशा

सामान्य जनता दारिद्र और अकाल पीड़ित थी। सरकार के नये-नये क़ानून के चलते नयी-नयी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी थीं। उस समय का यथार्थ चित्र डॉ० बेसेण्ट के शब्दों में इस प्रकार हैं 'हमारे पास पशुओं की कमी नहीं है, चरागाहों की और उन की तन्दुरुस्ती के लिए आवश्यक नमक की भी बहुतायत थी, परन्तु अब जंगलात के महकमे ने सारी जमीन पर क़ब्ज़ा कर लिया है, जिस से हमारे पास चरागाह नहीं रहे और यदि भूखों मरते पशु चारे की जगह अनाज के खेत में भटक कर चले आते हैं तो उन्हें काँजीहाउस में बन्द कर के हम पर जुर्माना किया जाता है।'' अपने मकानों, हलों तथा हर तरह के खेती के सभी कामों के लिए हमारे पास लकड़ी की बहुतायत है; लेकिन अब उस सब पर जंगल-विभाग का ताला पड़ा हुआ है। जहाँ हम ने उसे बिला इजाज़त छुआ नहीं कि हम सरकारी शिकंजे में आये नहीं। अब तो हमें एक भी लकड़ी चाहिए तो उस के लिए हफ़्ते-भर तक एक से दूसरे अफ़सर के पास भागना पड़ेगा और हर जगह खर्च-ही-खर्च करना होगा, तब कहीं जा कर वह मिलेगी।

''पहले हमारे पास हथियार थे, जिन से खेती को नुक़सान पहुँचाने वाले जंगली जानवरों को हम मार या भगा सकते थे, पर अब हमारे सामने ऐसा शस्त्र विभाग है, जो विदेशों से यहाँ आने वाले एक हब्शी को तो हर तरह के हथियार रखने की इजाज़त देता है, पर जिन ग़रीब किसानों को अपने गुज़ारे के एकमात्र सहारे खेती की जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए उन की ज़रूरत है उन्हें क़सम खाने को भी एक हथियार नहीं मिलता[3]।'' स्मरणीय है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देश में कई बार अकाल पड़ चुका था। सन् १८६८-६९ में राजपूताने में, १८७३-७४ में बंगाल और बिहार में १८७६-७८ तक मद्रास और बम्बई प्रान्त अकाल की मार से टूट गया था। असन्तोष पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। कई जगह किसानों के बलवे तक हो गये। किसानों की यन्त्रणा की एक प्रतिक्रिया पूर्वी बंगाल में बहावी

१. स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० २२८।
२. वही, पृ० २१०-२११।
३. डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : काँग्रेस का इतिहास, भाग–१।

आन्दोलन' के रूप में हुई जिस का प्रभाव सारे देश पर पड़ा। १८७३ में पावना जिला के किसानों ने अपने को विद्रोही घोषित किया और यूरोपीय शोषण का प्रतिकार करने के लिए समितियों का संगठन भी किया गया।[2] सरकार के साथ ही राष्ट्रीय नेताओं का भी ध्यान इस ओर गया। चूँकि उन्नसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की बंगीय राजनीति का नेतृत्व सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के हाथ में था इस लिए उन का ध्यान प्रत्येक राष्ट्रीय समस्या की ओर समान रूप से रहता था। 'इण्डियन एसोशियेशन' के सदस्य गाँव में जा कर किसानों की समस्याओं में पूरी रुचि लेने लगे। भूमिव्यवस्था में सद्यः सुधार की उन्हों ने आवाज उठायी और मद्य-व्यापार के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया जिस के चलते उन्हें एक प्रतिकूल शक्ति से लड़ना पड़ा। स्मरणीय है कि इण्डियन एसोशियेशन के नेताओं ने प्रतिनिधि शासन-प्रणाली अथवा राष्ट्रीय शासन की भूमि तैयार करने के लिए पंचायत राज्य का आन्दोलन भी शुरू कर दिया था।[3]

राजनीतिक जागरण और कांग्रेस की स्थापना

दादा भाई नौरोजी के उद्योग से इंगलैण्ड में 'ईस्ट इण्डिया एसोशियेशन' और 'लन्दन इण्डिया सोसाइटी' नाम की संस्था १८६१ में स्थापित हुई थी। जिस के माध्यम से भारत के प्रति इंगलैण्ड के राजनीतिक पुरुषों की सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता था। दादाभाई नौरोजी ने अपने लेखों में शिक्षित समुदाय का ध्यान देश की गरीबी की ओर आकृष्ट किया था। उन्हों ने उस के कारण बताये थे और निवारण के उपाय भी सुझाये थे।[4] देश-दशा को सरकार भी समझ रही थी और उस के शुभचिन्तक भी सार्वत्रिक व्याप्त देश के असन्तोष से चिन्तित थे। किसानों के कष्टों को वे भली प्रकार समझ रहे थे और देश में बढ़ती हुई अशान्ति का उन के पास प्रामाणिक अभिज्ञता थी।[5] यह अशान्ति-खतरे के बिन्दु के निकट पहुँच गयी थी। इसे

एक निरापद व्यवस्था देने के उद्देश्य से ही इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई जिस के मूल प्रेरक संस्थापक मि० ह्यूम थे। ह्यूम साहब के हृदय में भारतीय जनता के प्रति पूरी सहानुभूति थी। "वे भारत को सिविल सर्विस में अनेक पदों पर रहे। जब वे जिला मजिस्ट्रेट रहे, इन्हों ने साधारण जनता में शिक्षा-प्रसार, पुलिस सुधार, मदिरा-निषेध, देशी भाषाओं के समाचारपत्रों की उन्नति, बाल-अपराधियों के सुधार एवं अन्य घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिश्रम किया। इन्हें किसी बात में रस था तो गाँव और खेती में। इन्हें किसी बात की चिन्ता थी तो जनता की।" ह्यूम साहब अँगरेजी सरकार के अनेक अनौचित्य को देख-समझ रहे थे और अपनी न्यायप्रियता के चलते व्यक्तिगत क्षति उठा चुके थे।[1] न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्हें पंचायत व्यवस्था भारतीय ग्रामीणों के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल जान पड़ती थी। १८७९ में दक्षिण की कष्ट-पीड़ित जनता के हितार्थ एक योजना भी बनायी थी जिसे बम्बई सरकार की अनिच्छा के कारण क्रियान्वित करना सम्भव न हो सका। उन का विश्वास था कि आत्म-बलिदान और निःस्वार्थता ही सुख और स्वातन्त्र्य के अचूक पथ-प्रदर्शक हैं।" अपने इस विश्वास को एक व्यापक क्रियान्विति देने के लिए उन्हों ने एक पुष्ट संगठन की आवश्यकता महसूस की और इसे लक्ष्य कर उन्हों ने १ मार्च १८८३ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक उत्तेजक पत्र लिखा जिस मे ५० निःस्वार्थ और आत्म-बलिदान की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले निष्ठा-वान् मनुष्यों की माँग की गयी थी। अनुकूल आश्वासन से उत्साहित हो कर लॉर्ड डफरिन से भी परामर्श किया और उन के सुझाव पर विशेष ध्यान भी दिया। वह यह भी चाहते थे कि जिस प्रान्त में यह सभा हो वहाँ का गवर्नर उस का सभापति हो, जिस से कि सरकारी और ग़ैरसरकारी राजनीतिज्ञों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित हों। इन खयालों को ले कर वह १८८५ में लार्ड डफरिन से शिमला में मिले। लार्ड डफरिन ने उन की बातों को ध्यान से और दिलचस्पी से सुना और कुछ समय के बाद मि० ह्यूम से कहा कि मेरी समझ में यह तजबीज, कि गवर्नर सभापति बने, उपयोगी न होगी, क्यों कि इस देश में ऐसा कोई सार्वजनिक मण्डल नहीं है जो इंग्लैण्ड की तरह यहाँ सरकार के विरोध का काम करे—हालाँकि यहाँ अखबार हैं और लोकमत को प्रदर्शित भी करते हैं, फिर भी उन पर आधार नहीं रखा जा सकता, और अँगरेज जो हैं, वे जानते ही नहीं कि लोग उन के और उन की नीति के बारे में क्या खयाल करते हैं। इस लिए ऐसी दशा में यह अच्छा होगा और इस में शासक और शासित दोनों

---

१. "१८७० ई० से १८७९ तक ह्यूम साहब भारत-सरकार के मन्त्री रहे, परन्तु उन्हें वहाँ से इसी अपराध पर निकाल दिया गया कि बहुत ज्यादा ईमानदार और स्वतन्त्र प्रकृति के थे। इस की भारतीय समाचार-पत्रों से एक स्वर से निन्दा की परन्तु कुछ सुनाई नहीं हुई। काँग्रेस का इतिहास, भाग-१, डॉ० पट्टाभि सीतारमैया, पृष्ठ ७२।

इतना जरूर किया है कि उस ने अपना गन्तव्य स्थान खोज लिया है और राष्ट्र के विचारों और प्रवृत्तियों को एक ही बिन्दु पर ला कर ठहरा दिया है[1]। अस्तु, भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की कहानी कहते समय कांग्रेस की चर्चा नितान्त आवश्यक थी क्यों कि कांग्रेस के विकास के साथ राष्ट्रीयता का विकास भी जुड़ा हुआ है। निवेदन किया जा चुका है कि उस पीढ़ी का भी जन्म हो चुका था जिसे स्वदेशी आन्दोलन का नेतृत्व करना था और जिस ने अपना राजनीतिक कार्य शुरू कर दिया था। स्मरणीय है कि यह पीढ़ी उग्र राष्ट्रीयता को अपना धर्म मानती थी इस लिए स्वाभाविक रूप से कांग्रेस की गतिविधि इसे अपर्याप्त लगती थी। बंगाल की नयी पीढ़ी के नेताओं की यह भी प्रतीति थी कि यह अखिल भारतवर्षीय संस्था प्रादेशिक अथवा स्थानिक समस्याओं में अपेक्षित रुचि नहीं लेती। इसी धारणा का रचनात्मक परिणाम था 'बंगाल प्राविंसियल कॉन्फ्रेंस' की स्थापना जिस का पहला अधिवेशन डॉ० महेन्द्रलाल सरकार के सभापतित्व में १८८७ के मध्य में हुआ था और जिस का स्पष्ट उद्देश्य था स्थानिक विषयों की अपेक्षित चर्चा। चायबगान के मजदूरों की समस्याओं को उस ने विशेष महत्त्व दिया था और साथ ही यह घोषणा भी की गयी थी कि यह विषय शुद्ध प्रान्तीय नहीं कहा जा सकता क्यों कि चायबगान के मज़दूरों में अधिकांश, बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, और मद्रास के हैं। बंगाल के इस नये उपक्रम का अनुकरण बम्बई और मद्रास ने भी किया था।

अरविन्द और तिलक के राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ

श्री अरविन्द ने १८९४ ई० में बम्बई से निकलने वाले 'इन्दुप्रकाश' में 'न्यू लैम्प फ़ॉर ओल्ड' शीर्षक से राजनीतिक लेख लिखना शुरू कर दिया था जिस में उग्र राष्ट्रीयता की ध्वनि और कांग्रेस के प्रति असन्तोष काफ़ी मुखर था। अन्ततः रानाडे के दबाव डालने से 'इन्दुप्रकाश' के सम्पादक ने श्री अरविन्द के लेखों को प्रकाशित करना बन्द कर दिया।

१८९७ ई० में पूर्वी बंगाल (बारीसाल) के अश्विनीकुमार दत्त ने अमरावती कांग्रेस को तीन दिन का तमाशा कह कर खुली निन्दा की थी। अश्विनीकुमार दत्त ने सामान्य वर्ग के, जिन में किसान, बुनकर (जुलाहे), कारीगर तथा छोटे व्यवसायी थे, ४०००० व्यक्तियों के हस्ताक्षर सहित ब्रिटिश पार्लमेण्ट के सामने एक अनुरोध-पत्र प्रस्तुत किया था जिस में मुख्य रूप से प्रतिनिधि शासन-प्रणाली-द्वारा निर्मित सरकार की माँग की गयी थी।[2]

---

१. काँग्रेस का इतिहास भाग १, पृ० १८-१९।

२. स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० १७०। स्मरणीय है कि 'सारसुधानिधि' ने भी प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का पक्ष समर्थन करते हुए अपनी आवाज़ उठायी थी।

सुलभ समाचार, अमृत बाज़ार पत्रिका, साधना, आर्यदर्शन, बंगाली, मराठा, केसरी, ट्रिब्यून, इण्डियन मिरर इत्यादि प्रमुख हैं, सोमप्रकाश और हिन्दू पैट्रियट का ध्यान ग्रामीण विषयों की ओर अधिक था। १८९१ ई० में पत्रकारिता के क्षेत्र में रामानन्द चटर्जी का प्रवेश हुआ। उन्हों ने कई पत्र निकाले। दासी, प्रदीप, प्रवासी और मॉडर्न रिव्यू प्रमुख हैं। केवल बंगाल से ३८ पत्र प्रकाशित हुए थे। १८७३ की सरकारी नीति[1] के परिणामस्वरूप ३८ पत्र प्रकाशित हुए। "इस कालावधि में हिन्दी के अनेक पत्र निकले जिन में प्रमुख हैं, 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका', 'भारतमित्र', 'हिन्दी प्रदीप', 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता'। 'हिन्दी बंगवासी' भी १८९० में प्रकाशित हुआ था।

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट

लॉर्ड लिटन के प्रतिगामी शासन की संक्षिप्त चर्चा ऊपर की गयी है। इसी के शासन-काल में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट १८७८ (The Vernacular press Act IX of 1878) पास हुआ था, जो १४ मार्च को क़ानून बना और जो मद्रास के अलावे सभी प्रान्तों पर लागू हुआ।[2]

इस क़ानून की देश में बड़ी गहरी प्रतिक्रिया हुई। अपने कठोर शासन के लिए लॉर्ड लिटन कुख्यात था। उस के सम्बन्ध में पूरे देश में एक विरोधी वातावरण बनता जा रहा था। कुछ पत्रों का अनुमान था कि इसी विरोधी स्वर के प्रकाशन को अवरुद्ध करने के लिए वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट बना है। अमृत बाज़ार पत्रिका को भी यही धारणा थी। लिटन के सम्बन्ध में असन्तोष बढ़ता गया और इसी की प्रतिक्रिया के रूप में मद्रास से 'हिन्दू' का प्रकाशन हुआ।

राष्ट्रीय नेताओं के साथ ही उस समय के अनेक पत्रों ने खुल कर इस क़ानून का विरोध किया था। अगले अध्याय में दादाभाई नौरोजी के वक्तव्य का अंश उद्धृत किया गया है जो वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट के विरुद्ध है। तत्कालीन हिन्दी-पत्रों ने भी अपने दायित्व का पूर्ण पालन किया था। कलकत्ते के 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता' के

---

gu, Malayalam and Hindustani. Their circulations were, of a necessity, restricted but they were nevertheless expanding. It was computed about this time that there were probably 100, 000 readers of such papers and that the highest circulation of any one paper was in the neighbourhood of 3,000." Margarita Barns : The Indian press, p. 276

१. वही, पृ० २७२।

२. See, The full text of the original Act. The Indian press by Margarita Barns, p. 281-288.

अनेक स्थल अगले अध्याय में उद्धृत किये गये हैं जो वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट के विरोध में लिखे गये थे।

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट पत्रों के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न था इस लिए सभी पत्रों ने इस का खुल कर विरोध किया था। कलकत्ते के विशेष सन्दर्भ में हम ने अगले अध्याय में विचार किया है और हिन्दी-पत्रों की वैशिष्टय-चर्चा करते हुए देखा है कि इन पत्रों ने अपने अस्तित्व की चिन्ता छोड़ कर औचित्य का समर्थन किया, लोकमत को वाणी दी और इस प्रकार अपने दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत रहे।

वंगीय साहित्य परिषद् की स्थापना और रवीन्द्रनाथ की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा

२९ अप्रैल १८९४ को वंगीय साहित्य परिषद्, जो मूलतः बंगाल अकादेमी ऑव लिट्रेचर के नाम से जानी जाती थी, की स्थापना हुई जिस का उद्देश्य था बंगला भाषा और साहित्य का प्रचार और विकास[1]। बंगला साहित्य में रवीन्द्रनाथ की स्वच्छन्दतावादी धारा का प्रवेश हो गया था और वह क्रमशः गत्वर हो रही थी। १८८१ में रवीन्द्रनाथ के 'सन्ध्या संगीत' के द्वारा बंगला में स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्रवेश हुआ था। १८९३ ई० की प्रसिद्ध काव्य-कृति 'सोनारतरी' प्रकाशित हो चुकी थी। इस प्रकार ३३ वर्ष की अवस्था में ही अपने महत् साहित्यिक कृतित्व के बल पर वंगीय नवोत्थान-काल के सब से बड़े साहित्यिक के रूप में रवीन्द्रनाथ ने सम्मान प्राप्त कर लिया था[2]। रवीन्द्रनाथ का झुकाव राष्ट्रीय शिक्षा की ओर भी था और कालान्तर में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी, हीरेन्द्रनाथ दत्त तथा बंगला के अन्य प्रमुख व्यक्तियों के साथ रवीन्द्रनाथ ने भी राष्ट्रीय शिक्षा-समिति की स्थापना में सक्रिय भाग लिया था। 'राष्ट्रीय संरक्षण में राष्ट्रीय पद्धति से—वैज्ञानिक, साहित्य और तकनीकी शिक्षा' को समिति ने अपना उद्देश्य घोषित किया था[3]। आगे चल कर विश्वविश्रुत शिक्षा-संस्था 'विश्वभारती' की स्थापना भी इसी उद्देश्य से हुई।

नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना और हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु युग

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध यानी १६ जुलाई १८९३ ई० को हिन्दी के तीन महापुरुषों (बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामनारायण मिश्र, ठा० शिवकुमार सिंह) के महत् प्रयत्न से नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। 'वह भाषा और संस्कृति के

---

१. प्रियारंजन सेन : वेस्टर्न इन्फ्लुएन्स इन बंगाली लिटरेचर, पृ० ६७।
२. हीरेनकुमार सान्याल : स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० १२६।
३. सोमेन्द्रनाथ टैगोर : स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० २१३।

क्षेत्र में हमारे राष्ट्रीय विद्रोह की प्रथम प्रतीक थी। अपने प्राथमिक वर्षों में उस की नीति आत्मरक्षात्मक अधिक थी। कदाचित् इसी लिए उस के नाम में हिन्दी के स्थान पर 'नागरी' शब्द रखा गया था। उन आरम्भिक वर्षों में हिन्दी प्रदेश की राष्ट्रीयता और भाषा का केन्द्र ग्रहण कर रही थी। हिन्दी, नागरी और राष्ट्रीयता अन्योन्याश्रित वस्तुएँ समझी जाती थीं। हम यह मानते हैं कि हमारा यह दृष्टिकोण सीमित और संकुचित था, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि हम एक दुर्दमनीय विदेशी सत्ता की नृशंस नीति से टक्कर लेने जा रहे थे। वैसी स्थिति में हमारे भीतर कट्टर राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ काम कर रही हों, तो इस में आश्चर्य क्या है।"[1]

हिन्दी साहित्य का यह भारतेन्दु युग था जो दरबारी संस्कृति और रीतिकालीन साहित्य के प्रति राष्ट्रीय विद्रोह प्रकट कर रहा था। इस युग का नेतृत्व भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के हाथ में था। वे स्वदेशी के आग्रही और प्रचारक थे। उन्हों ने अपने देश-वासियों से बड़ी साफ़ भाषा में कहा था, "जिस में तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो, परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो[2]।" 'तदीय समाज' की स्थापना के मूल में शुद्ध राष्ट्रीयता ही थी।

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, : नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २०७।
२. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दुयुग, पृ० ५१।

राष्ट्रीयता का विकास और हिन्दी पत्रकारिता का दूसरा दौर

भारतेन्दु-युग : युगीन परिवेश और मूल प्रवृत्ति

हिन्दी पत्रकारिता के दूसरे दौर का आरम्भ १८७७ ई० से माना जाता है। हिन्दी-साहित्य का यह 'भारतेन्दु युग' था। यह युग उस दरबारी संस्कृति और रीतिकालीन साहित्य पर एक प्रश्न-चिह्न था जो एक छोटी सीमामें बँध कर रुग्ण हो गया था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र इसे खूब समझते थे इस लिए श्रीमन्त होते हुए भी उन्हें बँधी हवा पसन्द नहीं थी। और ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही वे देश-दशा का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने निकल पड़े थे। देश की दुर्दशा देख कर हरिश्चन्द्र व्यथित हो गये थे—

"अब जहँ देखहु तँह दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

२३ मार्च १८७४ की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु ने एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित किया था : "हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी दे कर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा नहीं पहिनेंगे और जो कपड़ा पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास है उन को तो उन के जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल ले कर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे हिन्दुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देशहितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे[1]।" भारतेन्दु-युगीन साहित्य के अधिकारी विद्वान् डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "कांग्रेस ने अभी स्वदेशी आन्दोलन विधिपूर्वक न आरम्भ किया था, न वंगभंग आन्दोलन ने जन्म लिया था। केवल हिन्दी में भारतेन्दु ने स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात बहुत पहले कर दिया था। 'तदीय समाज' के सदस्यों के लिए स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार उन्हों ने अनिवार्य रखा था। 'देशी कपड़ा' नाम के निबन्ध का अन्तिम अंश नीचे उद्धृत किया जाता है।···स्वदेशी के लिए हिन्दी

१. डॉ० रामविलास शर्मा, : भारतेन्दुयुग।

लेखकों के आन्दोलन की ओर संकेत करते हुए प्रतापनारायण ने लिखा था, "हम और हमारे सहयोगी गण लिखते-लिखते हार गये कि देशोन्नति करो, पर यहां वालों का सिद्धान्त है कि अपना भला हो, देश चाहे चूल्हे में जाय, यद्यपि जब देश चूल्हे में जायेगा तो हम बच न रहेंगे। पर समझाना तो मुश्किल काम है ना। सो भाइयो, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहनोगे ही, एक बेर हमारे कहने से एक-दो जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्धार का फल सेंतमेंत। यदि अब भी न चेते तो तुम से ज्यादा भकुआ कौन ? नहीं, नहीं, हम सब से अधिक, जो ऐसों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं।[1]" इसी विषय को भारतेन्दु ने इस ढंग से समझाया था, "जैसे हज़ार धारा हो कर गंगा समुद्र में मिली है। वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हज़ार तरह से इंग्लैण्ड, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दियासलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। ज़रा, अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो, वह अमेरिका की बनी है। जिस लंकलाट का तुम्हारा अंगा है, वह इंग्लैण्ड का है। फरांसीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है।" भारतेंदु युग के लेखकों के इसी जातीय वैशिष्ट्य को लक्ष्य कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "आजकल के समान उन का जीवन देश के सामान्य-जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अन्धड़ों ने उन की आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता। काल की गति को वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे, प्राचीन और नवीन के सन्धि-स्थल पर खड़े हो कर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।[2]" यह कहना अनुचित न होगा कि भारतेन्दु युग के साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण राष्ट्रीय प्रयत्न और जातीय चेतना का जीवन्त स्पर्श और यथार्थ आनयन हुआ है।

दूसरा दौर : सामान्य विशेषताएँ और प्रमुख पत्र

यहीं से हिन्दी पत्रकारिता का दूसरा दौर शुरू होता है। यह युग हिन्दी-गद्य-निर्माण का युग माना जाता है। हिन्दी की अनेक महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं का प्रकाशन इसी युग में हुआ।[3] 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'हिन्दी

१. डॉ० राम विलास शर्मा, भारतेन्दु युग।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५३।
३. हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास लेखक डॉ० रामरतन भटनागर के अनुसार इस युग के पत्रों का विवरण इस प्रकार है : कविवचनसुधा (१८६७), हरिश्चन्द्र मैगज़ीन (१८७४), श्री

प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'हिन्दुस्तान' 'भारतमित्र' 'सारसुधानिधि' और 'उचित वक्ता' का विशेष महत्त्वपूर्ण अवदान है। साहित्य के साथ ही अन्य विषयों के लेख भी इन पत्रों में प्रकाशित होते थे। साहित्य और राजनीति को प्रमुखता रहती थी। इन पत्रों में प्रहसन, व्यंग्य तथा ललित निबन्धों की अधिक संख्या रहती थी। इन पत्रों का एकमात्र उद्देश्य था सामाजिक कलुष-प्रक्षालन और जातीय उन्नयन। कदाचित् इसी लिए सामाजिक और राजनीतिक विषयों की ओर इन पत्रों का विशेष झुकाव था। कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले पत्रों में 'भारतमित्र', 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता' अपनी राजनीतिक तेजस्विता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सम्मानित थे। यहाँ ध्यान देने योग्य एक और बात है कि इस युग के अधिकांश तेजस्वी पत्रों के सम्पादक ही पत्रों के संचालक भी थे, इस प्रकार इन पत्रों के साथ एक बड़ी इच्छा-शक्ति, महत् संकल्प और ऊँचा आदर्श था। कदाचित् यही कारण है कि अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच ये पत्र खड़े हो सके और जी सके। देश-दशा का जितना यथार्थ चित्र इन पत्रों में है और ब्रिटिश सरकार के अनौचित्य का उद्घाटन जिस साहस से इस समय के तेजस्वी पत्रकारों ने किया वह वस्तुतः हर दृष्टि से असाधारण महत्त्व की बात है। अपनी राज-भक्ति का विज्ञापन करते हुए इन पत्रों ने राजकीय व्यवस्था और भ्रष्टाचार पर बड़े तीखे व्यंग्य किये। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में "राजनीतिक वातावरण में जो रूढ़िप्रियता, अन्धपरम्पराप्रियता, शासकों की खुशामद और अपनी सभ्यता के प्रति हीन भावना फैली हुई थी, उसे देखते हुए हिन्दी पत्रकारों की निर्भीक लेखन-शैली और भी चमक उठती है। उन में पर्याप्त साहस था और उस साहस का उपयोग वे बेपर की बातें करने में न करते थे वरन् वे दिन-प्रतिदिन का देश तथा विदेश-

---

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (१८७४), 'बालबोधिनी', 'श्री जन कौ' (१८७४) के रूप में भारतेन्दु ने इस दिशा में पथ-प्रदर्शन किया था। हिन्दी प्रदीप (१८७७) और भारतजीवन (१८८४) का नामकरण भी भारतेन्दु बाबू ने ही किया था। भारतेन्दु के बाद इस युग के पत्रकार और पत्र ये हैं— पं० रुद्रदत्त शर्मा : 'भारतमित्र', १८७७; बालकृष्ण भट्ट : 'हिन्दी प्रदीप'; १८७७; दुर्गाप्रसाद मिश्र : 'उचितवक्ता' १८७८; पं० सदानन्द मिश्र : 'सारसुधानिधि', १८७८; पं० वंशीधर : 'सज्जन कीर्ति सुधाकर', १८७८, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'; 'आनन्द कादम्बिनी', १८८१; देवकीनन्दन त्रिपाठी : 'प्रयाग समाचार', १८८२: राधाचरण गोस्वामी : 'भारतेन्दु', १८८२; पं० गौरीदत्त : 'देवनागरी प्रचारक', १८८२; राजा रामपालसिंह : 'हिन्दुस्तान', १८८३; प्रतापनारायण मिश्र : 'ब्राह्मण', १८८३; अम्बिकादत्त व्यास : 'पीयूष-प्रवाह'; १८८४; बाबू रामकृष्ण वर्मा : 'भारत जीवन', १८८४; पं० रामगुलाम अवस्थी : 'शुभ चिन्तक', १८८८; योगेशचन्द्र वसु : 'हिन्दी बंगवासी' १८९०; पं० कुन्दनलाल : 'कवि व चित्रकार' १८९१; और बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं बाबू जगन्नाथ दास 'साहित्य सुधा-निधि'; १८९४। १८९५ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन। १९०० में सरस्वती 'सुदर्शन' के प्रकाशन के साथ नये युग का आरम्भ।—डॉ० रामरतन भटनागर, : आलोचना इतिहास शेषांक, पृ० ३३-३४।

सम्बन्धी समस्याओं के विवेचन में उस का उपयोग करते थे। "क़ाबुल युद्ध, ज़ुलू और अँगरेजों की लड़ाई आदि पर जो कुछ तब लिखा गया था, उस से और साफ़-सुथरा लिखना आज के लेखक के लिए भी कठिन है। सब से बड़ी बात उन की सरल भाषा और मनोरंजक शैली है। वे जनता के हित का नारा बुलन्द न कर के वास्तविक जन-साहित्य की सृष्टि करने में लगे थे। अकाल महामारी, टैक्स, किसानों की निर्धनता, स्वदेशी आदि पर उन्हों ने सीधे सरल ढंग से निबन्ध और कविताएँ लिखीं[1]।" इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी पत्रकारिता के द्वितीय अध्याय का निर्माण काफ़ी संघर्षों के बीच में हुआ। यह संघर्ष इस लिए भी था क्यों कि इस युग की पत्रकारिता राष्ट्रीय चेतना के विकास का सशक्त माध्यम थी।

दूसरे दौर के पत्रों की चर्चा करते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है: "प्रथम समय के पत्र एक तो ठीक समय पर बहुत कम निकलने पाते थे। कुछ-न-कुछ कारण उन के विलम्ब से निकलने के हो जाते थे। दूसरे उन को बहुत ग्राहक भी नहीं मिले और इसी से उन में से अधिक बहुत दिन ठहर न सके। दूसरे समय के पत्रों ने यह त्रुटियाँ दूर करने की चेष्टा की और कुछ सफलता भी उन को प्राप्त हुई[2]।" स्मरणीय है कि १८५७ के बाद के जातीय-उन्नयन के प्रयत्नों का प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ था कि देश-दशा और सरकारी रीति-नीति के बारे में अधिकाधिक जानने और अभिज्ञता रखने की उत्सुकता लोगों में उत्पन्न हो गयी थी। पत्रों की ओर लोगों का झुकाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था। चाहे स्वयं न पढ़ें लेकिन समाचारपत्रों में छपी खबरों को लोग जानने के इच्छुक हो चले थे। इस झुकाव का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि पत्र-प्रकाशन पर पाठक की हैसियत से लोग प्रतिक्रिया प्रकट करने लगे थे और सम्पादक के नाम पत्र लिख कर बधाई देने लगे थे। किन्तु यह सामान्य स्थिति नहीं थी, इस प्रकार के पाठकों की संख्या न्यून थी और पत्रों के ऐसे ग्राहक भी थे जो ग्राहक हो कर भी पत्र स्वयं नहीं पढ़ते थे बल्कि सम्पादक को स्वयं उन के पास जा कर पत्र पढ़ कर सुनाना पड़ता था। इसी शर्त पर वे ग्राहक बनते थे। 'भारत मित्र' की चर्चा करते हुए सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "उन दिनों हिन्दी-पाठक बहुत कम थे, इस लिए ग्राहक तो लोग बन जाते थे, पर पत्र पढ़ न सकते थे। यह समस्या इस तरह हल की गयी कि पं० दुर्गाप्रसाद कई गद्दियों में जा कर 'भारत मित्र' पढ़ कर सुना आया करते थे।[3]" यह उस युग के पत्रकारों की निष्ठा और

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दुयुग, पृ० ४१।

२. बालमुकुन्द गुप्त : गुप्त निबन्धावली, पृ०३३०।

३. क. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशाल भारत, मई, १९३१।

ख. "उस समय हिन्दी संवाद-पत्र पढ़ने वाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिए बाबू कार्तिकप्रसाद ने बहुत दौड़-धूप की थी। लोगों के घर जा-जा कर वे पत्र सुना तक आते थे। इतना सब करने पर भी उन का पत्र थोड़े दिन चल कर बन्द हो गया।" आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५७।

आदर्श-वादिता का प्रमाण है। सरकारी दमन नीति के बावजूद इन पत्रों में उग्र राष्ट्रीयता की झलक मिलती है। १८७८ के वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट की अनुकूल प्रतिक्रिया यह थी कि इस युग के पत्रों में स्वाधीनता और अस्तित्व-प्रतिष्ठा की आकांक्षा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगी। इस युग के पत्रों में पहली बार सरकारी अनौचित्य की आलोचना दिखाई पड़ी और इसी युग के पत्रों ने यह पहली बार उग्र राष्ट्रीयता का पक्ष-समर्थन किया। व्यावसायिक विषयों की विज्ञप्तियाँ भी छपने लगीं। देशी-विदेशी समाचार के साथ विभिन्न विषयों पर लम्बे-लम्बे लेख छपने लगे और लोकरुचि के परिष्कार का भी कार्य इसी युग के पत्रों ने किया। यह साधारण दायित्व नहीं था। स्मरणीय है कि पूर्ववर्ती हिन्दी पत्रकारिता इस दायित्व से दूर थी। इस प्रकार परिवर्तन के बिन्दु काफ़ी स्पष्ट हैं और इन्हें ही हम हिन्दी पत्रकारिता के द्वितीय दौर के लक्षण या मूल वैशिष्ट्य मानते हैं।

कलकत्ते के प्रमुख पत्र

कलकत्ते के हिन्दी पत्रों की चर्चा करते समय दूसरे दौर की हिन्दी पत्रकारिता के वैशिष्ट्य को हम अधिक स्पष्ट कर सकेंगे। इस युग में कलकत्ते से तीन प्रमुख पत्र निकले 'भारतमित्र' (१८७८),[1] 'सारसुधानिधि' (१८७९) और 'उचितवक्ता' (१८८०)। इन तीनों पत्रों के मूल प्रेरक और संचालक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। "पं० सदानन्द मिश्र, पं० गोविन्द नारायण आदि ने हिन्दी पत्र-सम्पादन और प्रकाशन का कार्य किया सही, परन्तु पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र यदि न होते, तो उन के कामों को कोई नहीं जानता।"

'भारतमित्र' सामान्य परिचय

बंगला पत्र 'सोमप्रकाश' से प्रभावित हो कर पं० छोटूलाल मिश्र और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के मन में हिन्दी पत्र-प्रकाशन की महत्त्वाकांक्षा उदित हुई जिस के परिणामस्वरूप 'भारतमित्र' का प्रकाशन १७ मई १८७८ को आरम्भ हुआ। आरम्भ में यह पाक्षिक था और इस की पहली संख्या आधे रॉयलशीट के दो पन्नों पर छपी थी। इस के सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र थे, प्रबन्धकर्ता थे पं दुर्गाप्रसाद मिश्र। इस के मुख्य पृष्ठ पर इस का यह उद्देश्य मुद्रित था जो इस प्रकार है: 'जयो स्तु

---

१. श्री राधाकृष्ण दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास' में 'भारतमित्र' की चर्चा इस प्रकार की है, "सन् १८७७ में भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता नगर से पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० छोटूलाल मिश्र, पण्डित सदानन्द मिश्र तथा बाबू जगन्नाथ खन्ना के उद्योग से 'भारतमित्र' कमिटी बनी और उस के द्वारा 'भारतमित्र' पत्र निकला।" (पृ० १९) यह धारणा ग़लत है। मुझे १८७८ ई० का 'भारतमित्र' मिला है, जो प्रथम अंक है।

सत्यनिष्ठानां येषां सर्वे मनोरथाः'। मूल्य था प्रति संख्या दो पैसे। अपेक्षित आर्थिक सहायता प्राप्त होने पर दसवें अंक से 'भारतमित्र' साप्ताहिक हो गया। साल-भर में ही इसे कई संवाददाता मिल गये थे। पाठकों को प्रतिक्रियाएँ भी उन के पत्रों के माध्यम से छपने लगी थीं। २२ जून सन् १८७९ के 'भारतमित्र' में श्री राधाचरण गोस्वामी का वह पत्र छपा है जिस में उन्हों ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द से वेद-विद्या का ज्ञान प्राप्त करने अमेरिका के कई पादरी बम्बई में आये हुए हैं। इसी अंक में महा-राष्ट्र की (विवादास्पद और अस्थिर मति वाली) प्रसिद्ध महिला रमा बाई का भी पत्र छपा है जिस में उन्हों ने कामाख्या-यात्रा का वर्णन किया है। १८८३ ई० के 'भारतमित्र' में इलवर्ट बिल और बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सम्बन्ध में अनेक लेख प्रकाशित हुए थे। इस समय पं० हरमुकुन्द शास्त्री इस के सम्पादक थे जिन की योग्यता की चर्चा करते हुए पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "शास्त्रीजी ने कई साल तक इस का बड़ी योग्यता से सम्पादन किया।" इस समय इस पत्र की स्थिति इतनी विकसित हो गयी थी कि पाठकों को इस में ताज़ा खबरें भी पढ़ने को मिलने लगी थीं। इसी वर्ष यानी १८८३ के ३० अक्टूबर को स्वामी दयानन्द सरस्वती का देहान्त हुआ था और १ नवम्बर को ही 'भारतमित्र' में यह खबर प्रकाशित हो गयी। १८८४ ई० के 'भारतमित्र' ने हिन्दी प्रचार आन्दोलन शुरू किया था। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है कि "इस हिन्दी के आन्दोलन का यह फल हुआ कि मेरठ-जैसे उर्दू के दास शहर में देवनागरी प्रचारिणी सभा बन गयी। इस विषय में लिखा-पढ़ी और जोश यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि सिरसा के स्वर्गीय काशीनाथ खत्री ने इंग्लैण्ड में हिन्दी पर आन्दोलन करने की सलाह दी थी[1]।" १८८५ के १५ जनवरी के अंक में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की मृत्यु का शोक-समाचार और फिर बाद के कई अंकों में इस की चर्चा रही। स्मरणीय है कि भारतेन्दु बाबू एक बहुत बड़े आन्दोलन का संचालन कर रहे थे और निर्विवाद रूप से हिन्दी के सब से बड़े साहित्यिक और नेता थे जिन की मृत्यु मात्र ३५ वर्ष की अवस्था में हुई थी। १८८९ की प्रयाग कांग्रेस और काश्मीर नरेश महाराज प्रतापसिंह की अधिकार-च्युति के सम्बन्ध में 'भारतमित्र' में बहुत-कुछ प्रकाशित हुआ था। १८९१ में 'सहवास-सम्मति' बिल को ले कर आन्दोलन चल रहा था। इस में 'भारतमित्र' ने भी सहयोग दिया था। १५ जून १८९३ से इस का आकार बड़ा हो गया और यह सचित्र प्रकाशित होने लगा। अब सुपर रॉयल कागज़ के बड़े दो कवर पर छपने लगा। ७ मई १८९६ ई० में 'भारतमित्र' का आकार और भी बड़ा हो गया और तब से १८९७ के अन्त तक वह डबल सुपर रॉयल पर छपता रहा। १८९७ में ही छोटे आकार में 'भारतमित्र' का दैनिक अंक निकला और कुछ ही महीनों के बाद बन्द हो

---

१. गुप्त-निबन्धावली, प्रथम भाग, सं० झाबर मल्ल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, पृ० ४०६।

गया। १८९८ में पुनः 'भारतमित्र' का दैनिक संस्करण निकला जिस का वार्षिक मूल्य १२) था। साल-भर के बाद यह पुनः बन्द हो गया। १८९९ में पुनः बड़े आकार और कम मूल्य में यह प्रकाशित हुआ।

इस के आदि सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र थे। इस के बाद इस के सम्पादन का भार पं० हरमुकुन्द शास्त्री के ऊपर आया। शास्त्रीजी वैतनिक सम्पादक थे। १४ अप्रैल १८८७ ई० से पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी इस के सम्पादक और प्रबन्धकर्ता के पद पर आसीन हुए। इसी वर्ष १४ दिसम्बर को अमृतलाल चक्रवर्ती इस के सम्पादक हुए और प्रायः दो वर्षों तक उन्हों ने ही इस का सम्पादन किया। इन के १८९० में पं० राधाकृष्ण चतुर्वेदी और १९९१ में बाबू रामदास वर्मा क्रमशः इस पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस के बाद डॉ० एस० के बर्मन इस के व्यवस्थापक हुए और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने सम्पादक का दायित्व सँभाला। इस के बाद पं० रुद्रदत्त शर्मा अपने पत्रकार-जीवन के अनुभव का वर्णन करते हुए 'विशाल भारत' के प्रथम वर्ष के प्रथम खण्ड में पं० रुद्रदत्त शर्मा ने 'भारतमित्र' की इस प्रकार चर्चा की है : "'भारतमित्र' के सब से पहले वैतनिक सम्पादक पण्डित हरमुकुन्द शास्त्री जी लाहौर से बुलाये गये थे। जब यह महाशय 'भारतमित्र' से पृथक् हो कर चले गये, तब सन् १८८४ में मैं सहकारी सम्पादक नियत कर के बुलाया गया। मैं ने वहाँ जा कर देखा कि मुख्य सम्पादक कोई नहीं है और न प्रेस मैनेजर है। सन्ध्या को अपने ऑफ़िस के कामों से छुट्टी पाने पर बाबू हनुमानप्रशाद कपूर या बाबू मनोहर दास खन्ना 'भारतमित्र' ऑफ़िस आ कर छापे के काम की देखभाल कर जाते हैं और सम्पादकीय लेखों के विषय में सम्मति लेने के लिए दिन में कई बार बाबू नित्यलाल मल्लिक के पास जाना पड़ता है, इन झगड़ों को देख कर मैं ने इस्तीफ़ा दे दिया।'" श्रीयुत् बाबू जगन्नाथ दास अग्रवाल ने हरीसन रोड के मकान में ला कर जब 'भारतमित्र' को दैनिक किया तब एक वर्ष तक मैं ने इस के दैनिक संस्करण का भी सम्पादन किया था। फिर कुछ काल के वास्ते 'भारतमित्र' को चलाने का भार डॉ० एम० के० दर्म्मन को सौंपा गया। उन के यहाँ कुछ दिनों तक मैं ने और कुछ दिनों तक पं० दुर्गाप्रसाद जी ने इसे चलाया था। थोड़े समय तक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती और कुछ दिनों तक बाबू ब्रह्मानन्द जी ने 'भारतमित्र' का सम्पादन-कार्य्य किया था। बाबू ब्रह्मानन्द जी के बाद फिर दो-चार महीनों के लिए मैं ने 'भारतमित्र' सम्पादन-भार ग्रहण किया। इस बार मैं ने एक

१. सारसुधानिधि' के प्रथम वर्ष के अंक–६ में एक 'सूचना' इस प्रकार प्रकाशित हुई है : "विदित हो कि हम 'भारतमित्र' के अवैतनिक कार्य्य-सम्पादक थे, परन्तु कई एक विशेष विषयों में अध्यक्षों से मतान्तर होने के कारण हम ने 'भारतमित्र' से अपना सम्पर्क बिलकुल छोड़ दिया अतएव कोई 'भारतमित्र' सम्बन्धीय चिट्ठी-पत्री रुपै-पैसे हमारे नाम से न भेजें।

जिनको खास हमसे कुछ प्रयोजन होय तो सारसुधानिधि-कार्यालय में पत्रादि भेजें। दुर्गाप्रसाद मिश्र।"

ऐसा पत्र लिखा कि जिस के कारण एक प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट साहिब बहुत चिढ़ गये और उन्होंने बाबू जगन्नाथदास अग्रवाल से मेरी बड़ी शिकायत की, क्योंकि वह पंच एक सुप्रसिद्ध वेश्या की मार्फ़त रिश्वत लेने के विरुद्ध था। भारतवर्ष में भला यह किस की शक्ति है कि जो मजिस्ट्रेट की शिकायत कर के अपनी नौकरी पर रह सके। खैर इस बार मेरे छोड़ने पर स्वर्गवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस के सम्पादक नियत हुए।" पं० राधाकृष्ण चतुर्वेदी, पं० प्यारेलाल और बाबू ब्रह्मानन्द क्रमशः इस के सम्पादक नियुक्त हुए। १८९९ में बाबू बालमुकुन्द गुप्त सम्पादक हुए और १९०७ के पूर्वार्द्ध तक प्रतिष्ठित रहे। गुप्त जी के देहावसान के बाद पं० अमृतलाल शर्मा, बाबू शिवनारायण सिंह, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे ने 'भारतमित्र' का सम्पादन किया। इस परवर्ती काल की चर्चा स्वदेशी आन्दोलन के सन्दर्भ में अगले अध्याय में की जायेगी। इस अध्याय की सीमा है उन्नीसवीं शताब्दी।

सारसुधानिधि

इस युग का दूसरा तेजस्वी पत्र है 'सारसुधानिधि' जो साप्ताहिक था और जिसे कलकत्ता से ही १८७९ ई० में पं० सदानन्द मिश्र के सक्रिय सहयोग से पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने प्रकाशित किया था। "इसमें चार साझी थे—सदानन्द जी, दुर्गाप्रसाद जी, गोविन्दनारायण जी और शम्भुनाथ जी। इस के सम्पादक पं० सदानन्द जी, संयुक्त सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद जी, सहायक सम्पादक पं० गोविन्दनारायण और व्यवस्थापक पं० शम्भुनाथ जी थे।…दूसरे दौर के अखबारों में वह बड़ा तेजस्वी अखबार था। दुःख यही है कि बहुत ग्राहक उसे नहीं मिले जो मिले वे ठीक समय पर मूल्य नहीं देते थे। लाचार पत्र बन्द करना पड़ा। १२ साल चल कर १८९० में यह पत्र बन्द हुआ।"[1]

रॉयल एक शीट के आठ पन्नों पर निकलता था। इसके प्रथम अंक के प्रथम पृष्ठ की पूरी सामग्री इस प्रकार है :

सारसुधानिधि

कुमुद रसिक मनमोदकर हरि दुख तम सरवत्र। जनपथ दरसावे अचल सारसुधानिधि-पत्र॥
काव्य रसायन यत्र तत्र सुदर्शन नृप चरित। सार सुधानिधि-पत्र दोष व्यसन ज्वर विषय हर॥

१. पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : *हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास*।

१ भाग कलकत्ता सम्वत् १९३५ ता० १ माघ चन्द्रवार १३ जनवरी सन् १८७९ ई०
अंक १

'सार सुधानिधि' सम्बन्धीय विशेष नियम।

१। 'सार सुधानिधि' दाम केवल वार्षिक नियत रहेगा एक वरस के लिए पहिले देने वालों से ५) रुपै और विदेश वालों से डाक व्यय समेत ६॥=) छय रुपै दस आने।

और पीछे देने वालों से ७) सात रुपै और पीछे देने वाले विदेशियों से ८॥=) आठ रुपै दश आने लिये जायँगे।

परन्तु तीन महीने के वाद देने वालों से पीछे देने वालों के हिसाब से लिया जायगा।

राजा-महाराजाओं के सम्मान रक्षा के निमित्त साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उन लोगों से (राजा महाराजाओं से) दूना दाम लिया जायगा।

२। 'सारसुधा-निधि' विना दाम के नहीं दिया जायगा पर स्थल विशेष में—विशेष आवश्यक होने से दाम की न्यूनाधिकता हो सकेगी।

३। विज्ञापन का दाम प्रति पंक्ति =) दो आने परन्तु ज्यादा और वहुत दिनों के लिये देने वालों से अलग वन्दोवस्त किया जायगा।

४। दाम जिसको जिस प्रकार सुभीता होय भेजे पर स्टाम्प का टिकट केवल चिट्ठी का आध-आने वाला लिया जायेगा और किसी प्रकार का टिकट नहीं लिया जायगा।

और जो आध आने के टिकट में दाम भेजेंगे उन को रुपै पीछे आध आना वट्टे का वेसी भेजना होगा।

और चिट्ठी पत्रि भी टिकट वाली ली जावेगी वेरिंग पत्रादि नहीं लिये जावेंगे।

५। 'सारसुधा-निधि' सम्वन्धीय चिट्ठी पत्रि सार सुधा निधि कार्य्य सम्पादक शम्भुनाथ मिश्र के नाम भेजनी होवेगी।

विशेष सूचना।

जिन लोगों की 'सारसुधा निधि' लेने की इच्छा होय वो लोग अपना-अपना नाम धाम और पता ठिकाना अच्छे स्पष्ट अक्षरों में मेरे पास लिख भेजें। जिसमें 'सारसुधा-निधि' ठिक् ठिक पहुँच सके।

कार्य्य सम्पादक
शम्भुनाथ मिश्र
कलकत्ता वड़ा वाजार
सुतापट्टि नं० ६५।

यह पत्र नितान्त लोकपरक था। लोकपरक इस लिए कि इस में तत्कालीन लोकजीवन और देश-दशा का बड़ा यथार्थ चित्र है। इस में राजनीति, समाजनीति, धर्म, स्वास्थ्य, भाषा और साहित्य के साथ ही देश-विदेश की प्रमुख खबरें भी रहती

थीं। सम्पादकीय नीति शुद्ध राष्ट्रीय थी और सारे हिन्दी प्रदेश में इस पत्र का आदर था, दूसरी भाषा वाले भी इस के महत्त्व और जातीय स्वर से परिचित थे। कुछ ऐसे पत्र और लोग थे जो 'सारसुधानिधि' के उत्कर्ष से पीड़ित और ईर्ष्या-दग्ध हो कर इस के विरुद्ध बोलने में औचित्य की सीमा लाँघ जाते थे। 'प्रथम अब्दपूर्ति' के अवसर पर अपनी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए सम्पादक ने स्पष्ट घोषणा की थी कि विशेष आर्थिक सहायता के अभाव में इस पत्र का स्थायी रूप से निकलना असम्भव है। उक्त सहायता मिलने पर ही इस का प्रकाशन हो सकेगा। उक्त सहायता की प्रतीक्षा दो सप्ताह तक की जायेगी, अनुकूल परिणाम नहीं निकलने पर बन्द कर दिया जायेगा। इस पर काफ़ी संख्या में लोगों ने दुःख प्रकट करते हुए इस की वैशिष्ट्य-चर्चा के साथ ही पुनः प्रकाशन की मंगलकामना की थी। इन सारी बातों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध सामग्री के आधार पर आगे की जायेगी। यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस पत्र में एक भी ऐसा शब्द नहीं छपता था जिस में प्रखर राष्ट्रीयता का स्वर न हो। कदाचित् यही कारण है कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का यह अत्यन्त प्रिय पत्र था।

उचितवक्ता

हिन्दी-पत्रकारिता के उन्नायक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र का यह अपना पत्र था जिस का प्रकाशन ७ अगस्त, १८८० ई० को ६५ नं० सूतापट्टी, बड़ा बाजार कलकत्ता से हुआ था।[1] चूँकि यह पत्र पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र का अपना था यानी वे ही इस के सब-कुछ थे, इस लिए पूरी स्वेच्छा और स्वतन्त्रता से वे इसे प्रकाशित करते थे। स्वाधीनता

---

१. (क) "उचितवक्ता (१८७८, पं० दुर्गाप्रसाद-द्वारा सम्पादित) का प्रकाशन एक अत्यन्त लोकप्रिय उपक्रम था।......१८८४ में इस का पुनः प्रकाशन हुआ किन्तु सद्यः बन्द हो गया।" डॉ० रामरतन भटनागर :—Rise and Growth of Hindi Journalism, P. 3

(ख) "सन् १८७८ ईसवी में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र और पंडित छोटूलाल मिश्र के प्रयत्न से 'भारतमित्र' प्रकाशित हुआ। यह आरम्भ में पाक्षिक रूप में निकला। इस के सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र और व्यवस्थापक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र बने। इस के एक वर्ष बाद 'सारसुधानिधि' और प्रायः एक दशक बाद प्रसिद्ध 'उचितवक्ता' ने कलकत्ते में जन्म ग्रहण किया।"—कमलापति त्रिपाठी : पत्र और पत्रकार, पृ० ११५।

अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन करूँ कि उपर्युक्त दोनों ही धारणाएँ गलत हैं। 'उचितवक्ता' की १५ फ़ाइलें उपलब्ध हैं। पहला अंक ७ अगस्त १८८० को निकला था। १८९५ ई० की भी फ़ाइल मुझे प्राप्त हुई है। 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास के लेखक श्री राधाकृष्णदास के विचारानुसार 'सन् १८७८ में कलकत्ता से 'उचितवक्ता' का और 'सारसुधानिधि' का प्रकाश हुआ।" इसी का समर्थन आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है। द्रष्टव्य : १. हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास—पृ० २३। २. हिन्दी साहित्य का इतिहास (ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) प्रथम संस्करण, पृ० २२४, (आठवाँ संस्करण, पृ० ४५८)

की उन्नति करने में गौरव नहीं है, यह 'उचितवक्ता' के पहले अंक की पहली सम्पादकीय टिप्पणी का मूल स्वर है। प्राचीन भारतीय उन्नति से अँगरेजी शासनकालीन उन्नति की तुलना करते हुए बड़ी स्पष्ट भाषा में सम्पादक ने लिखा था; "पहिली उन्नति और अबकी उन्नति में अन्तर इतना ही है कि वह स्वाधीन भारत की उन्नति थी, उस उन्नति में उन्नतिमना स्वाधीनताप्रिय भारत सन्तानों का गौरव था, और यह पराधीन भारतकी उन्नति हो रही है इस उन्नति में पद्नानत निर्वीर्य्य हम भारत कुलतिलकों की अगौरव के सहित गर्दन नीची होती जाती है।" उक्त सम्पादकीय लेख की अन्तिम पंक्तियों में 'उचितवक्ता' के उद्देश्य की विज्ञप्ति है : "........दोष दिखाने वाले को भी उचितवक्ता और समदर्शी होना उचित है अन्यथा झूठे दोष दिखा कर अकारण ही किसी को आक्रमण करने से सिवाय झगड़ा बढ़ा कर गाली खाने के और कुछ फल नहीं होता अतएव ऐसे स्थल में यथार्थ समदर्शी उचित-परामर्शदाता उचितवक्ता का अत्यन्त ही प्रयोजन है। पाठक! इस निमित्त आज यह उचितवक्ता आपलोगों के सम्मुखीन है। पूर्वोक्त दोषों का निवारण करना ही इसका एकमात्र उद्देश्य है। अपने यथार्थ दोषों को इसमें अंकित देखकर भी यदि कोई इस पर क्रुद्ध होंगे तो उस विषय में इसका कुछ दोष नहीं कारण 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।' इसी महत् उद्देश्य को ले कर 'उचितवक्ता' का प्रकाशन हुआ था। और चूँकि हर महत् उपक्रम को नाना प्रकार के अवरोध घेर लेते हैं इस लिए 'उचितवक्ता' को भी कठिनाइयों से काफ़ी जूझना पड़ा। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में इस की चर्चा इस प्रकार की है, "इस पत्र में कई गुण विशेष थे। मूल्य खूब कम था। एक बार रॉयल एक सीट पर छपता था और केवल एक पैसे में बेचा जाता था। फिर छपाई-सफाई काग़ज़ आदि सब बातें इसकी अच्छी होती थीं। इससे बढ़कर इसके तीखे और चटपटे लेख और चुटकुले होते थे, जो किसी को माफ़ नहीं करते थे। एकबार इसके ग्राहक भी दो डेढ़ हज़ार के लगभग हो गये थे। यह बात उस समय तक किसी पत्र को हासिल नहीं हुई थी।" तथापि इसके साथ आर्थिक संकट था क्योंकि ग्राहकों से उचित समय पर मूल्य नहीं मिलता था। इसी प्रश्न को लेकर १३.१.१८८३ के अंक की दूसरी सम्पादकीय टिप्पणी है जिस का शीर्षक है, 'कौन कहता है कि भारतवासियों में एका नहीं है', इस का उपसंहार करते हुए लिखा गया है कि और किसी बात में चाहे एका न भी हो, पर समाचारपत्र का मूल्य न देने में तो पूरा एका है।

प्रसंगानुसार इस पत्र का समग्र विवेचन किया जायेगा। इस पत्र की मुझे १५ फ़ाइलें उपलब्ध हुई हैं और यही मेरी विवेचना का आधार है।

भारतमित्र

ऊपर कहा जा चुका है कि 'भारतमित्र' का प्रकाशन एक पाक्षिक पत्र के रूप में १७ मई १८७८ ई० को हुआ था। इस के सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र और पं०

दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। इस की छपाई बाबू खटर मोहन मुखर्जी-द्वारा सरस्वती प्रेस ४९ नं० मछुआ बाज़ार रोड में होता था। मूल्य प्रति अंक २ पैसे था। रॉयल शीट के दो पन्नों पर छपता था। २२ वें अंक यानी १२ दिसम्बर १८७८ ई० तक इसी आकार में छपता था। तीसरे अंक तक सम्पादक के स्थान पर (अर्थात् पत्र के अन्त में 'निवेदन' के नीचे) छोटूलाल मिश्र और दुर्गाप्रसाद मिश्र दो नाम छपते थे। चौथे अंक से उक्त स्थान पर केवल दुर्गाप्रसाद मिश्र का नाम छपने लगा—'भारत मित्र कार्य सम्पादक दुर्गाप्रसाद मिश्र'। असल में पं० छोटूलाल मिश्र पत्र के सम्पादक थे और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र प्रबन्धक या प्रबन्ध-सम्पादक थे[1]।

पहले अंक के अन्त में एक सम्पादकीय विज्ञप्ति है जो इस प्रकार है—

निवेदन :

विदित हो कि यह पत्र प्रतिपक्ष में एक बार प्रकाशित होगा परन्तु बिना सर्व-साधारण कि सहायता के इस के चिरस्थाई होने की आशा निराशा मात्र है इसलिए सर्वसाधारण को उचित है कि इसकी सहायता करे और यदि यह पत्र ईश्वर की इच्छा से समाज में प्रचलित हुआ तो और इसके ५०० ग्राहक हुए तो शीघ्र ही साप्ताहिक होके प्रचारित होगा।

कलकत्ता — छोटूलाल मिश्र
बड़ाबाजार — दुर्गाप्रसाद मिश्र
सुतापट्टि

यही विज्ञप्ति दूसरे अंक में भी किंचित् परिवर्धन के साथ दी गयी है। इस में पहली विज्ञप्ति से एक अधिक वाक्य है जो इस प्रकार है—"इस्से जिन महाशयों को इस पत्र के ग्राहक होना हो वो शीघ्र वार्षिक मूल्य ॥।) बारे आना और डाक मासुल ॥।) बारे आना भेज के बाधित करे। और अपना ठिकाना हमें लिख भेजे।" आगे के अंकों में भी इस निवेदन की आवृत्ति हुई है। मासिक के रूप में 'भारतमित्र' के नौ अंक प्रकाशित हुए, दसवाँ अंक १९ सितम्बर १८७८ ई० को साप्ताहिक निकला। इस सम्बन्ध में मुखपृष्ठ पर 'विशेष सूचना' है—

---

१. "कलत्ते के वे पूज्यजन धन्य हैं, जिन्होंने 'भारतमित्र' समाचार पत्र प्रकाशित करने की कल्पना की और बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेल कर उसे आगे बढ़ाया। आगे चल कर यह 'भारतमित्र' ही हिन्दी-जगत् की एक प्रधान संस्था बन गया। गुप्त जी के पहुँचने पर 'भारतमित्र' का प्रभाव अत्यधिक बढ़ा। गुप्त जी ने इस पत्र के द्वारा सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् में राष्ट्रीय चेतना पैदा की, उभड़ती हुई विदेशी भावना को रोक कर भारतीय संस्कृति की रक्षा की और अपने देश तथा धर्म के प्रति सम्मान की भावना पैदा की।—किशोरीदास वाजपेयी बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ४०७-४०८।

विशेष सूचना :

आज से यह पत्र प्रति गुरुवार को प्रकाशित हुआ करेगा इसका अग्रिम वार्षिक १॥) डाक व्यय सहित २ निर्धारित है और आज से भारतमित्र कार्यालय सुतापट्टी नं० ६० शालग्राम खन्ना और कम्पनी की दोकान में स्थापित हुआ है जिन महाशयों को चिट्ठी-पत्रादि भेजना होय वो उपरोक्त स्थान में भेजे।

सम्पादकीय वक्तव्य में अपनी आशंका, हिन्दी पाठकों की सदाशयता और प्रोत्साहन की चर्चा करते हुए साप्ताहिक संस्करण के प्रकाशन की अनुकूल भूमिका का उल्लेख किया गया है।[1]

भारतमित्र का मोटो या शीर्षवाक्य संस्कृत में मुखपृष्ठ पर मुद्रित रहता था—"जयोस्तु सत्यनिष्ठानां येषां सर्वे मनोरथाः।" १४ वें अंक में संस्कृत के साथ ही शीर्षवाक्य हिन्दी में भी दिया जाने लगा। १५ वें अंक में संस्कृत के स्थान पर केवल हिन्दी में पहली बार शीर्षवाक्य प्रकाशित हुआ था जो इस प्रकार है—

सगुण खनित्र विचित्र अति खोले सब के चित्र।
शोधे नर चारित्र यह भारतमित्र पवित्र॥

भारतमित्र के अपने संवाददाता भी थे जिन के पत्र 'भारतमित्र' में प्रकाशित होते थे जिन में स्थानिक सूचनाएँ रहती थीं। 'भारतमित्र' के नौवें अंक में प्रकाशित इस प्रकार का एक पत्र उद्धृत किया जाता है—

---

१. १० संख्या १६ सेप्टेम्बर १८७८ ई०।

आजकल हमलोगों की मातृभाषा की जैसी दुरवस्था है और समाचारपत्र पढ़ने में हम लोगों को समाजस्थ अधिकांश मनुष्यों की जैसी अरुचि है उसको देख के इस पत्र को प्रकाश करने के पहले हमको यह आशा न थी कि एक हिन्दी भाषा (मातृभाषा) के सामयिक पत्र को हिन्दुस्थानी लोग आदर से ग्रहण करेंगे और इसी भय से यह पत्र प्रति सप्ताह में प्रकाशित न हो के महीने में केवल दो बेर प्रकाशित होता था परन्तु इस पत्र की दो तीन संख्या प्रकाशित होने पर बहुत से महाशयों ने इस पत्र को आश्रय प्रदान किया और इसके बहुत देर पर आने से अत्यन्त व्यथित हुए और अत्यन्त उदारता के साथ वे लोग इसको प्रति सप्ताह में प्रकाशित करने के लिये बारम्बार अनुरोध करते रहे इन महाशयों के उदार वाक्यों से और ग्राहकों की वृद्धि होने पर हमारा पूर्वोक्त भय चित्त से दूरीभूत हुआ और उसके बदले में साहस का संचार हुआ और इस पत्र को साप्ताहिक करने की इच्छा अत्यन्त बलवती हुई परन्तु वह एक विशेष प्रतिबन्धकों से आशानुरूप फल लाभ करने में विलम्ब करना पड़ा परन्तु जगदीश्वर की कृपा से शीघ्र ही उन प्रतिबन्धकों से मुक्ति लाभ हुई और 'शुभस्य शीघ्रं' इस महावाक्य को याद करके और देरी लगाना अनुचित न.लूम पड़ा इसलिए आज ही के दिन से यह पत्र प्रति सप्ताह में प्रति गुरुवार को एक बार प्रकाशित हुआ करेगा।

उपसंहार में हम ग्राहक महाशयों को अत्यन्त धन्यवाद देते हैं जिन्हों ने ऐसे सामान्य पत्र पर भी दयादृष्टि करी और केवल उन्हका एकमात्र अनुग्रह इस पत्र की उन्नति का कारण हुआ आशा करते हैं कि वे लोग पूर्ववत् अपनी कृपादृष्टि इस पर सर्वदा बनाये रहेंगे।

निज संवाददाता का पत्र।

वडवाणी ष्टेट २४–८–७८ ई०

वर्तमान मास की १९ तारीख को नगर पाठशाला में 'मेवाड़ ष्टुडेन्ट्स क्लब' की पाक्षिक सभा नियत हुई थी इस सभा में श्रीमान् महम्मद नजफ खां वहादुर दीवान रियासत संकुल राजभृत्यों समेत सुशोभित थे। प्रथम श्री बाबु रामगोपाल ज्यु प्रेसिडेण्ट क्लब ने लायब्रेरी (जो उसी क्लब के सम्मिलित है,) के लिये चन्दे की प्रार्थना की और उसी समय उक्त दीवान साहब की सहायता से अनुमान १५० रुपये का चन्दा एकत्र हो गया पश्चात् उक्त प्रेसिडेण्ट साहब ने उस सहायता का उत्तम प्रकार से धन्यवाद किया और तदुपरान्त सभा विसर्जन हुइ कोटि-कोटि धन्यवाद उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर को कि जिसकी अपूर्व कृपा से इस प्रान्त में अच्छी वृष्टि हुई और दिन प्रति होती जाती है वर्तमान दिवस तक अनुमान २० इंच वर्षा हो चुकी है परन्तु अन्न का भाव वैसा ही बना है—मैं बड़े खेदपूर्वक प्रकाशित करता हुँ कि आजकल यहां विसूचिका की बड़ी प्रबलता है ईश्वर अपना अनुग्रह करके अपनी पृय प्रजा का प्राण संरक्षण करे—

इत्यलम्। आपका शुभाकांक्षी

चुन्निलाल शर्म्मा

'भारतमित्र' को आरम्भ से ही विज्ञापन मिलने लगा था। पहले अंक में ही कई विज्ञापन प्रकाशित हुए हैं। प्रत्येक अंकमें कुछ-न-कुछ विज्ञापन रहता है। पहले अंक में प्रकाशित विज्ञापन इस प्रकार है—

विज्ञापन।

विना मूल्य वितरण।

दमा और पुरानो खांसी की दवा जिस्को चाहिये मगवा ले परन्तु विदेश वालों को पेड चिट्ठी में डाक मसूल दो पैसे की टिकट रखके अपना ठिकाना लिख भेजने से पहुँच जायगी।

कलकत्ता

वड़ाबाजार, निक्कामल क्षत्री

सुतापट्टी ललताप्रसाद क्षत्री

विज्ञापन।

जे, सिंस टुथ पाउड :

सब रकम दांत के रोग की दवाई

ये दवाई वहोत दिन से बनी है वहोत आदमि निरोग हो गये हैं और इस दवाई के दांत के रोग वालों को लगा के देखने से गुण दोष मालुम होगा

दाम १ नंबर १ एक रुपया २ नंबर ॥) आना

दाद की दवाई वहोत वढिया लगा के देखने से हाल मालुम होगा एक वत्ति का दाम चार आना।

पुराने बुखार की दवाई वहोत वढिया, बुखार वाले को विगर खिलाये हाल मालुम नहि होगा वहोत जलदि निरोग होगा।

कान की दवाई वहोत उपकारि कान का शुल, कर्णस्फीतता, कान का फोडा, कान में पीप, कान में कीडा, कान में धमका, कमाक्षि शुनुना, और कण्डु इत्यादि सव रकम कान के रोग आराम होय है। दाम एक शिशि एक रुपया।

प्रसुति प्रसन्न वटिका।

इसको व्यवहार करने से निर्दोष, सूतिका रोग और सव रकम के दोष न रहेंने और सुख वढ़ेगी अन्न हजम अच्छि तरह से होयगा शरिर मोटा और-जोर वढ़ेगा एक महिना खाने की दवाई का दाम २ दो रुपया।

असली भीमसेनी कपूर

सस्ते दाम में मिलेगा

यह सव दवाई चितपुर रोड आमडातला गलि के सामने ताराचन्द दत्त इस्टिट नंवर ८ आठ मकान में जे सिंह के पास मिलेगी।

विज्ञापन कभी-कभी वंगला (भाषा और लिपि) में भी छपता था। हिन्दी पत्रों के प्रकाशन की विज्ञप्ति भी छपती थी। अंक ९ में 'मित्र विलास' और 'कविवचन-सुधा' का विज्ञापन है। अंक १९ में राधाकृष्णदास के नाटकोपन्यास का विज्ञापन है। अंक छह में 'सारसुधानिधि' का विज्ञापन इस प्रकार है—

विज्ञापन 'सारसुधानिधि'—

हम लोगों का चिरवांछित समाचारपत्र (सारसुधानिधि) अव शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला हैं। ये प्रति सोमवार को (रायल ४ पेजी ३ फरमा) प्रचार होयगा।

इसमें साहित्य, दर्शन, रसायन (साइन्स) राजनीति (पॉलिटिक्स) वाणिज्य और विविध संवाद आदि अच्छे-अच्छे विषय लिखे जायेंगे अवश्य ये समाचारपत्र का कर्त्तव्य हिन्दी भाषा में सम्पादन करेगा। क्योंकि कई एक अच्छे उपयुक्त महाशय नियमित लिखने को स्वीकृत हुए हैं। इसका अग्रिम वार्षिक मूल्य ५ रुपे डाक व्यय १॥=) रुपे निरधारित हुए हैं। परन्तु दो सौ ग्राहक होने पर प्रकाशित होयगा। जिन महाशयों को लेना होय वो अपना अपना नाम स्पष्ट अक्षरों में मेरे पास लिख भेजे।

कलकत्ता, वड़ाबाजार

सूतापट्टी, नं० ६५।

दुर्गाप्रसाद मिश्र

अंक २० में एक 'सूचना' और एक 'विज्ञापन' भारतमित्र के कार्य्य सम्पादक की ओर से प्रकाशित हुआ है जिस से 'भारतमित्र' के प्रकाशन-सम्बन्धी नये परिवर्तन की सूचना मिलती है—

सूचना ।

प्रकट हो कि अब शीघ्र ही 'भारतमित्र' का अवयव इसी मूल्य में बढाया जायगा इसलिये जिन ग्राहक महाशयों से 'भारतमित्र' का मूल्य पावना है वो कृपाकर के जल्दी भेज दें ।

विज्ञापन ।

काबुल की लड़ाई के समाचार जो रोज तेज तार से आते हैं हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरों में छापे जायगे, जो लोग अंगरेजी नहीं जानते हैं वे लोग इसको पढ़ने से काबुल की लड़ाई का सब हाल अच्छी तरह से रोज-रोज मालूम कर सकेंगें, और किसी अंग्रेजी पढ़े हुए आदमी से पूछने की आवश्यकता न रहेगी ।

जिन लोगों को इस तार के समाचार को नित्यप्रति लेने की इच्छा होय उनसे निवेदन है कि शीघ्र ही एक महीने का अग्रम मूल्य ॥) आठ आने भारतमित्र के आफिस में (जो बड़ाबाजार सूतापट्टी ६० नं० बाबू सालग्राम खन्ना कम्पनी की दुकान में है) जमा करा दें और अपना पता ठिकाना लिखा दें.। ऐसा करने से उन लोगों के ठिकाने पर रोज-रोज तार के समाचार आवेंगे सो छपाकर भेजवा दिये जायेंगे ।

जिनको लेना होय वो शीघ्र ही मूल्य भेज दें किस वास्ते कि थोड़े से ग्राहक हो चुके हैं और थोड़े से होने पर वह जल्दी छपना आरम्भ हो जायगा । विदेश के ग्राहक यदि लिया चाहें तो आठ आना मूल्य और एक रुपया डाक व्यय शीघ्र ही भेद दें ।

कार्य्य सम्पादक भारतमित्र

मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ उस जमाने में अपरिहार्य थीं । 'भारतमित्र' के मुद्रण में भी यह दोष था । कहना न होगा इस दोष के चलते आज जब हम 'भारतमित्र' की भाषा पर विचार करते हैं तो कहीं-कहीं बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है । इस त्रुटि के प्रति सम्पादक सचेत रहता था फिर भी कर्मचारियों की असावधानी से प्रायः त्रुटि हो जाती थी । १८वीं संख्या में इस त्रुटि के लिए सम्पादक ने पाठकों से क्षमा-निवेदन किया है—

निवेदन ।

पाठक महाशयों से यह प्रार्थना है कि गत वार का भारतमित्र अत्यंत अशुद्ध और भ्रमास्पद प्रकाशित हुआ था कारण कई एक विशेष प्रतिबंधकों से और कर्मचारियों की असावधानता से प्रूफ उत्तम रीति से संशोधित नहीं हुआ था अतएव पाठक महाशय क्षमा करें ।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है कि 'प्रथम वर्ष २६ दिसम्बर १८७८ ई० तक 'भारतमित्र' की २४ संख्याएँ निकलीं। हमें (नागरी प्रचारणी सभा के आर्य-भाषा पुस्तकालय, वाराणसी में) प्रथम वर्ष के आरम्भिक २२ अंक उपलब्ध हुए हैं।[1] इसी उपलब्ध सामग्री के आधार पर 'भारतमित्र' के आरम्भिक संघटनपक्ष की चर्चा की गयी है। अब हम इस के दूसरे पक्षों पर विचार करेंगे।

'भारतमित्र' के प्रथम अंक (संवत् १९३५ ज्येष्ठ कृष्ण प्रतिपदा शुक्रवार १७ मे १८७८ ई०) में सम्पादक ने समाचारपत्र के माहात्म्य-वर्णन के साथ ही इस बात पर दुःख प्रकट किया है कि हिन्दी में एक भी अच्छा समाचारपत्र नहीं है कि जिस से हिन्दी-समाज का कल्याण हो सके। सम्पादकीय मन्तव्य को पूरी तरह समझने के लिए प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी द्रष्टव्य है जिसे परिशिष्ट में अविकल उद्धृत किया गया है।

'भारतमित्र' का वस्तु-परिवेश और उद्देश्य

प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में उस परिवेश की ओर स्पष्ट संकेत है जिसे 'भारतमित्र' को स्पर्श करना था। यह राजनीतिक परिवेश है। राजा, प्रजा, राज्य-व्यवस्था, वाणिज्य, भाषा और सब के ऊपर देशहित की चर्चा करने वाला 'भारतमित्र' एक तेजस्वी राजनीतिक पत्र के रूप में चर्चित और विख्यात हुआ। यह एक शुद्ध राष्ट्रीय पत्र था जिस का 'देशी' वस्तुओं के प्रति विशेष आग्रह था। देश की राजनीति, वाणिज्य भाषा और समग्र जातीय चेतना का विकास ही इस का लक्ष्य था। इस के पहले ही अंक में अपना विश्वास स्पष्ट प्रकट किया गया था कि 'सुसभ्य प्रजाहितैषी

---

१. १ जुलाई १८७८ ई० को 'भारतमित्र' का एक 'क्रोडपत्र' प्रकाशित हुआ था जिस की रूपरेखा इस प्रकार है—

भारतमित्र

क्रोडपत्र।

जयो स्तु सत्य निष्ठानां येषां सर्वे मनोरथाः।

१म खण्ड कलकत्ता, संवत् १९३५ आषाढ़ शुक्ल प्रतिपद सोमवार १ जुलाई १८७८ ई० ४र्थ संख्या।

इउरोपीय समाचार। विलायत के वाणिज्य का संक्षेप समाचार।

इस्तहार। विज्ञापन। विज्ञापन। निवेदन।

'इउरोपीय समाचार' के अन्तर्गत केवल विदेशी ही नहीं देशी समाचार प्रकाशित हुए हैं। उदाहरणार्थ एक (अन्तिम) समाचार इस प्रकार है—

१९ जून बुधवार को यहाँ पर टाउनहाल में लाईसेंस टाक्स उठा देने के लिये महाजनो और रुजगार करनेवालों की एक सभा हुई थी और जितने आदमी कि उपस्थित हुए थे उसमें हिन्दुस्तानी और मारवाड़ी अधिक थे। बाबू इरखचन्द ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। प्रायः दो घण्टे तक और और बाबू मदनमोहन भट्ट और बाबू केशोराम भट्ट ने हिन्दी बोली में और बाबू श्यामाशारदा चरण मित्र ने बंगला में अच्छी वक्तृता की पहेलीबार हिंदी भाषा में इसकी कारखाई की।

राजा लोग समाचार पत्रों को स्वाधीनता दे के उत्साहित करते हैं''''क्यों कि सदाचार पत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होती है।' स्मरणीय है कि १४ मार्च १८७८ ई० को वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट जारी हुआ था। उस सन्दर्भ में १७ मार्च १८७८ को कहा गया 'भारतमित्र' का यह वाक्य कितना कड़ा है। उस समय राजा तक प्रजा के कष्ट, अभाव को पहुँचाने वाले माध्यम की स्वाधीनता की मांग सरकारी दृष्टि से कदाचित् सब से बड़ा अपराध था, किन्तु राष्ट्रीयता का यही तक़ाज़ा था। 'भारत-मित्र'-सम्पादक के सामने ब्रिटिस सरकार की नीति स्पष्ट थी और उसे अपनी बात जनता तक पहुँचानी थी, 'भारतमित्र' को क़ायम रखना था। शायद यही कारण है कि 'भारतमित्र' की सम्पादकीय टिप्पणी में राजभक्ति का मुलम्मा भी दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए अंक १६ की टिप्पणी 'भारतवर्षीय देशी राजागण और अंगरेज़ी गवर्नमेन्ट' देखी जा सकती है। किन्तु 'भारतमित्र' का यह सजातीय स्वर नहीं है। 'भारतमित्र' की असली प्रकृति दिखाई पड़ती है—अंक १० की टिप्पणी, 'अपने को ठाँव नहीं पाँच पीर संग चलें में।' मि० जजंटकर ने लन्दन के टाइम्स नामक अखबार में एक पत्र लिख कर यह अनुरोध किया कि भारत से आने वाले चावल पर से ड्यूटी उठा दी जाये। अपने इस स्वार्थ का औचित्य प्रमाणित करने के लिए उक्त महाशय ने जो तर्क दिये थे नितान्त दुर्बल और विचारशून्य थे। उन की स्वार्थपरता पर सम्पाद-कीय टिप्पणी द्रष्टव्य है :

"''' दुसरे का दुःख दूर करने के पहले उसी प्रकार अपना दुःख दूर करना उचित है, इस देश में आजकल जैसी दुर्भिक्ष की बढ़ती है उस के लिए देश हितैषी सम दुःखी गणों को यह उचित है जो पहले भारत को उस कष्ट से बचाये तब उस से और का उपकार करें जो स्वयं दीन, निरीहार और मुट्ठी भर अन्न के लिए लाला-यित रहते हैं उनसे साहाय्य की प्रार्थना करना और बलपूर्वक छीन लेना दोनों एक ही समान है।

"उपरोक्त पत्र लेखक लिखते हैं कि रफ्तनी का कर उठ जाने से कृषक गण उस कर से बच जायेंगे। आहा। लेखक महाशय किसानों के परम उपकारि हैं क्या आश्चर्य हैं रफ्तनी का कर कृपकों को देना पड़ता है न कि जिस जगह चावल खरच होता है वहाँ कर लगता है यदि दो कर उठा दिया जाय तो केवल विदेशीय लोगों का उपकार होता है उपर कर लगने से चावल की दर वैसी होगा और जो लोग उसको खाते हैं उन्हीं को वह कर देना पड़ता है इस्से भारत का उपकार होना तो असम्भव है परन्तु केवल विदेशियों का उपकार होता है किन्तु इसलिये इस कर को उठा देने से राजकर की आमदनी बहुत घट जायगी और उसको पूरण करने के लिए फेर प्रजा के उपर लाइसेंस टेक्स की तरह कोई दूसरा नया टिक्स लगाना पड़ेगा इसलिए प्रधान राज-पुरुषों से यह प्रार्थना है जो वे लोग उस पत्र की पोपकता न करें नहीं तो गरीब भारतवासियों को अनाहार ही प्राणत्याग करना पड़ेगा।"

'भारतमित्र' के संवाद : देश-दशा का आनयन

'भारतमित्र' में प्रकाशित संवादों से देशदशा का जीवन्त चित्र सामने आता है। कुछ संवाद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

१ म संख्या—विविध संवाद।

इस वर्ष इस देश में धान और पाट की आवादी बहुत हुई है, और समय समय में पानी होने से अन्न के होने की आशा जानी जाती है, ईश्वर अपनी अनुग्रह रखे तो अन्न बहुत होगा।

प्रिन्स अव ऑयेलस ने ष्टेट सेक्रेटरी के द्वारा खबर भेजी है कि पेरिस को (नुमाईस गाह) के मेले में भारतवर्ष से भेजी हुयी चीज का अच्छी तरह आदर हुआ है।

एक आदमी हाल में बड़े आश्चर्य के साथ समुद्र में खोया मिला है। यह आदमी समुद्र में बहे रहा था एक जहाज ने उसको उठा लिया। जब जहाज में वो उठाया गया उस समय वो बेहोश था यह आदमी पहले मन्द्राज फेर बम्बई उसके बाद कलकत्ते में लाया गया है अब पुलिस उस्के घर की खोज कर रही है। एक आदमी ने उस्से बातचीत कर के मालुम किया जो इस्का नाम ब्रजकान्त घोष और श्रीहट्टका रहने वाला है। बचपन से वो पितृमातृ हीन होके एक सन्यासी के आश्रम में प्रतिपालित हुआ था। सन्यासी ने एक शालग्राम शिला एक राधाकृष्ण की मूर्ति उसे दी थी। एक समय वो बहोत बीमार हो गया। संन्यासी ने उस्को अच्छा किया। इसके बाद एक दिन संन्यासी ने सुना कि किसी युरोपियन के छू जाने से ब्रजकान्त अपवित्र हो गया। यह सुनके वो (सन्यासी) उस्को एक नौका में चढ़ाके समुद्र में ढकेल के चला आया। इस तरह २४ दिन तक वो समुद्र में भूखा बहता रहा, इस्के पास दो तो ज्योतिष की पोथी और वही शालग्राम शिला है।

६म संख्या—विविध संवाद।

चटगाँव के पहाड़ी देशों में ऐसा अकाल पड़ा कि वहाँ चावल का दर रुपये में ६ सेर करके बिक रहा है। टाइमस नामा संवादपत्र के मंद्राज के संवाद देने वाले ने लिखा है कि मंद्राज के आकाल में ६० लाख आदमी मरे।

२३ जुलाई को पार्लियामेंट सभा में ग्लाडष्टोन साहेब ने वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट को उठा देने के लिये प्रस्ताव किया था अधिकांश आदमीयों के राजी नहीं होने से उन्का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ।

हमलोग यह सुनके बड़े आनन्दित हुए जो मंद्राज गवर्नमेन्ट ने भारतवर्षीय गवर्नमेन्ट की सम्मति से मदुराके डिस्ट्रिक्ट जज त्रि० माधुस्वामी अयार को मंद्राज हाइकोर्ट का जज नियुक्त किया है यह प्रथमबार है जिस्से एकदेशी आदमी मंद्रास हाइकोर्ट का जज नियुक्त हुआ है।

एक मासिक उर्दू संवाद पत्र रोमन अक्षरों में लाहौर से निकलता है देसी अक्षरों को एक दम से उड़ा देना इसका प्रधान उद्देश्य है। हम लोगों की भारतेश्वरी विक्टोरियाने एक नया नियम प्रचार किया है। जिस स्त्री के नाम में अदालत में स्वामी परित्याग करने की अथवा जिसके स्वामी ने स्त्री को परित्याग करने की नालिश की होगी उनको वो (विक्टोरिया) अपने पास नहीं आने देगी। ये नियम अति उत्कृष्ट हुआ है और इससे बहोत सी स्त्रियों को लज्जा के भय से अपना दोष सुधारने की चेष्टा निश्चित करनी पड़ेगी।

९म संख्या—विविध संवाद।

काश्मीर में अकाल की अत्यन्त वृद्धि देखके महाराज अपनी दरिद्र प्रजा से दो महीने के लिये किसी प्रकार का कर नहीं लेंगे।

१२श संख्या—

काश्मीर में बड़ा भारी अकाल पड़ा है। सुन्ने में आया है कि काश्मीर के निवासियों में से प्राय एक तिहाइ आदमी तो देश छोड़ के भाग गये और एक तेहाइ मर चुके और बाकी भूखे मरने के लिये वहीं पर पड़े हैं।[1]

२०श संख्या—

ष्टेट्समयान लिखते हैं कि लार्ड लिटन ने जब से इस देश में पदार्पण किया है तभी से ये अमीर के साथ लड़ाई करने की चेष्टा में है। पंजाब में ४०००० पल्टन गुप्त भाव से दो वर्ष पहिले भेजी गई। पे ली साहे ब का जब दौत्य कार्य्य निष्फल हुआ तब कमिसरियट विभाग को तैयार होने की आज्ञा मिली कल कौशल से क्वेटा ले लिया गया यह सब गुप्त बातें किसी ने नहीं जानी थीं। अब सब भेद खुल गया।

बाबु गिरिश चन्द्र घोष जो कलकत्ते की छोटी अदालत के जज हैं वो गया के एडिशनल जज के पद में नियुक्त होंगे। इसके पहिले यह पद केवल अंग्रेजों ही को मिलता था और यह पहिले देशी आदमी हैं जो ऐसे उच्च पद में नियुक्त हुए।

---

१. कश्मीर के दुर्भिक्ष को लक्ष्य कर कुछ विलायती समाचारपत्रों ने ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया था कि कश्मीर का, शासन राजा के हाथ से सरकार ले ले क्यों कि राजा दुर्भिक्ष-निवारण में असमर्थ है, इस की चर्चा, 'सारसुधानिधि' के प्रथम वर्ष के ३५वें अंक के सम्पादकीय टिप्पणी में इस प्रकार है: "कोई तो कहता है कि कश्मीर ले लेना चाहिये, क्यों कि राजा दुर्भिक्ष-निवारण में सामर्थ्य नहीं हुए, अतएव इनका तात्पर्य यह कि इसी छल से कश्मीर ले लेना चाहिये और कोई कहते हैं कि एक करोड़ रुपये जो कि लिए थे फेर कर कश्मीर ले लेना चाहिये। भला इनसे पूछिये तो जब ईश्वर दुर्विपाक से कहीं दुर्भिक्ष हो जाता है तो क्या जल्दी निवारित हो सकता है? यदि ऐसा ही होता तो दक्षिण के दुर्भिक्ष में असंख्य लक्ष मनुष्य मरने न पाते और जो इसी विषय में राजा की योग्यता जानी जाती तो क्या महात्मा लर्ड लीटन अयोग्य है? जो इनके अधिकार काल में पचास लाख से भी ऊपर प्रजा केवल दुर्भिक्ष के सताये भूखों के मारे मर गयी।"

२१ श संख्या—

महारानी क्वीन विक्टोरिया ने आनंदित होके तार से यह संवाद लाट साहब के पास भेजा है कि हमको अपनी साहसी सेना की जीत सुनके बड़ी खुशी हुई। परन्तु यहां दुःख का विषय है कि कई एक आदमियों का प्राण नष्ट हुआ। और देशी राजे जिन्होंने इस लड़ाई में मित्रता के साथ हमसे व्यवहार किया है, उनकी राजभक्ति देख के हम अत्यन्त सन्तुष्ट हुए हैं।

अयोध्या के जमींदार लोग चांदा करके काबुल के युद्ध में गवर्नमेन्ट की साहाय्य करेंगे देखिये बंगाली और हिन्दुस्तानी लोग इस अवसर पर क्या करते हैं।

१० नवम्बर को हिन्दुस्तान के सेक्रेटरि अव स्टेट ने काबुल की लड़ाई का खरचा हिन्दुस्तान ही को देना चाहिये इस बारे में कहा है कि उन अवस्थाओं को देखके जो लड़ाई के साथ सम्बन्ध रखती है और भारतवर्ष के खजाने की अवस्था देखके हम सोचते हैं कि विलायत से लड़ाई का खरचा लेने का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई पड़ता। लड़ाई का खरचा बाद दे ये जो कि १ कोड़ २२ लाख रुपया अनुमान किया जाता है सरकार को ५० लाख की बचत होगी। लाट साहब की विशेष चिट्ठी का जवाब जो अमीर काबुल ने भेजी है वो कुछ नहीं है केवल टाल-मटोल की बातें हैं। इंलण्ड काबुल में निश्चय प्रधान होके रहेगा। काबुल हिन्दुस्तान की ताली है, और उसको अंग्रेजों से मित्रता रखनी चाहिये नहीं तो अंग्रेजी गवर्नमेन्ट इस ताली को अपने हाथ में रखे थी। लार्ड हालिफाक्स ने गवर्नमेण्ट की इस कारवाई की बड़ी निन्दा की लार्ड लारेन्स ने कहा कि अफगानों से हम लोगों को कुछ भी नहीं लेना चाहिये, और उनसे यह प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि उन पर किसी का चढ़ाई होने से हम लोग उनकी सहायता करेंगे, और यदि विलायत से लड़ाई का खरचा नहीं दिया जायगा तो भारत-निवासी बहुत निरास और क्रुद्ध हो जायेंगे। लार्ड डर्बी और कारनावोरन साहब भी गवर्नमेन्ट की कार्य्यप्रणाली के विपक्ष बोले। मंगलवार को फिर पार्लीयामेन्ट खुलने से इसका निश्चय होगा। कमन्स टोगों की सभा में च्यान्सेलर अव दि एक्स चेकर ने कहा कि काउन्ट शोवेलफ रशिया के वकील ने लार्ड सालिसबरी को जना दिया है कि रूस का दूत काबुल से लौट गया मिष्टर ह्वाइट ब्रेड साहब ने गवर्नमेन्ट के कार्य्य प्रणाली की निन्दा की और कहा कि जितने सरकारी निपुण आदमी हैं उन सबकी मत से विरुद्ध हैं। मिष्टर टानहोप ने अमीर काबुल के साथ मित्रता टूटने का प्रधान कारण लिबरल पार्टि के मनुष्य हैं।

२२ श संख्या—

हिन्दुस्तान के छोटे मन्त्री ने कहा कि काबुल की लड़ाई का खरचा हिन्दुस्तान के राज्य से लेना उचित है, सेट साहब ने जो हिन्दुस्तान पर बड़ी दया रखते हैं, कहा कि हिन्दुस्तान से नहीं लेना चाहिये परन्तु गवर्नमेन्ट ने कहा कि इसका निश्चय सोमवार के दिन होगा।

देश-दशा और बाज़ार-भाव की परिस्थिति को द्योतित करने वाले दो और स्थल 'भारतमित्र' से उद्धृत किये जाते हैं :—

१२ श संख्या—विलायत का बाजार।

गत मेल के समाचार से जाना जाता है कि सब चीज का दर आगे से दिन पर दिन घटता जाता है। खरीदार लोग माल का जो दर देते हैं उसमें माल तैयार नहीं हो सकता। इसीलिये बहुत सी कलें एक प्रकार बन्द हो गयी हैं। केवल योरोप के खरच के लिये जो कुछ थोडे थोडे प्रयोजनीय द्रव्यादि तैयार होते हैं उसी में कल-वालों की गुजरात होती है। जब तक भारत देश में चावल और अन्यान्य आहारीय द्रव्य सस्ता नहीं होगा तब तक विलायती चीजों की माँग अधिक नहीं होगी क्योंकि जिस समय अन्न कष्ट उपस्थित होता है उस समय कपड़ा खरीदने की इच्छा किसी को नहीं होती। ईश्वर की कृपा से इस बरस प्रायः सब देशों में भरपूर अन्न होने का सम्भव देख के ऐसी आशा होती है कि पौष माघ महीने के बीच नये चावल की आमदनी होने से बाजार की अवस्था सुधर जा सकती है। नये बरस की आमदनी से इस बरस की आमदनी की तुलना करने से यह मालुम होता है कि इस साल ३१ अगष्ट तक ८४४९१९७० रुपये का माल विलायत से कलकत्ते में आमदनी हुआ है, परन्तु नये साल उस तारीख तक ९३४२३४०० रुपये का माल आमदनी हुआ था और इस साल से गये साल कपड़े की ३०५४१५४२ गज अधिक आमदनी हुई थी और सूता ६६४८३२ पाउण्ड इस साल कमती आमदनी हुआ है परन्तु अब की साल छीट की १०४१०३२ गज अधिक आमदनी हुई है।

सामाजिक सुधार और भारतमित्र

बालविवाह-निषेध आन्दोलन का उल्लेख ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की वैशिष्ट्य-चर्चा के प्रसंग में किया गया है। 'भारतमित्र' की दूसरी संख्या (रविवार २ जून १८७८ ई०) की सम्पादकीय टिप्पणी का यही विषय है। इस टिप्पणी की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

…"बाल्य विवाह के कुसंस्कार में आबद्ध होने के कारण समाज की बहोत हानि होती है यह देखके भी हमलोग वह त्याग नहीं करते सांसारिक अत्यन्त अहित-कर विषय एक यदि समाजस्थ मनुष्यों के द्वारा संशोधित न हो सके तब दयालु गवर्नमेण्ट के निकट साहाय्य प्रार्थना करना उचित है परन्तु धर्म संक्रान्त विषय में ऐसा करना उचित नहि है करने से अनेक व्यक्तियों के मन में कष्ट होता है, तथापि देखिये जब गवर्नमेण्ट ने सतीदाह निषेध का नियम प्रचलित किया था उस समय में भी बहोतेरे लोग दुखी हुए थे परन्तु अब वह नियम का उपकार देखके सन्तुष्ट चित्त से पालन करते हैं इसी प्रकार कोइ कोइ अत्यन्त प्रयोजनीय विषय में गवर्नमेण्ट हस्तक्षेप करे तो किसी प्रकार की हानी नहि हो सक्ति परंच हम लोगों को ऐसी दया-

शील प्रजाहितैषी नीतिपरायण गवर्नमेण्ट को अंतःकरण से धन्यवाद देना चाहिये जो हमलोगों के उपकार के लिए, हमलोगों के विद्या पढ़ने और उन्नति के प्रतिबंधक बाल्यविवाह को समाज से विदूरित करने के लिए, ऐसा यत्न कर रहे हैं और सब आदमियों को एकता होकर इस नियम के शीघ्र ही प्रचलित हो जाने की पोषकता करनी चाहिये।

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट

लार्ड लिटन के शासन-काल में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट पास हुआ था जिस का पूरे देश ने विरोध किया था। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस में बड़ी सक्रियता दिखाई थी और 'इण्डियन एसोसियेशन' ने इस सम्बन्ध में पार्लमेण्ट को एक प्रार्थना-पत्र दिया था जिसे ग्लैडस्टन ने पार्लमेण्ट में प्रस्तुत किया था। पार्लमेण्ट में इस सम्बन्ध में वादविवाद भी हुआ था किन्तु विपक्षियों के बहुमत के कारण ग्लैडस्टन का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका था। तथापि भारतीय जनता ग्लैडस्टन के प्रति कृतज्ञ थी। ग्लैडस्टन की उदारता और हितैषिता के लिए उन्हें धन्यवाद देने और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए 'इण्डियन एसोसियेशन' के तत्त्वावधान में ६ सितम्बर को कलकत्ता के टाउनहाल में एक जन-सभा हुई थी। काफ़ी संख्या में लोग एकत्र थे। अनेक बंगाली मनीषी भी उपस्थित थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस सभा में बड़ा प्रभावशाली भाषण दिया था क्यों कि 'वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट' से वे अत्यन्त दुःखी और उन्मथित थे। इसी अवसर पर बड़ा बाजार की ज्ञानवर्द्धिनी सभा ने हिन्दी भाषा में ग्लैडस्टन के प्रति एक अभिनन्दन पत्र प्रस्तुत किया था जिसे श्री सदानन्द मिश्र ने पढ़ा था। वह पूरा पत्र 'भारतमित्र' के ९ म संख्या में अविकल प्रकाशित हुआ था।

भाषा

जहाँ तक भारतमित्र की भाषा का प्रश्न है यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में परिनिष्ठित गद्य का युग अभी नहीं आया था तथापि उस की सारी सम्भावनाएँ स्पष्ट हो गयी थीं। व्रजभाषा का प्रभाव अभी नहीं मिटा था। क्रियापदों में भी कहीं-कहीं शुद्ध खड़ी बोली की प्रकृति नहीं आ पायी थी। ह्रस्व-दीर्घ सम्बन्धी भी विचित्र प्रयोग दिखाई पड़ते हैं जो उपरोक्त उद्धरणों में स्पष्ट है। वैसे कुल मिला कर भाषा सरल और उस युग के लिए सहज एवं व्यावहारिक भी थी। उस समय भाषा को ले कर 'बिहारबन्धु' और 'भारतमित्र' में एक विवाद भी चला था जिस की विस्तृत चर्चा अंक ६ में है और जिस से 'भारतमित्र' की भाषा-सम्बन्धी नीति भी स्पष्ट हो जाती है। स्मरणीय है कि 'भारतमित्र' के माध्यम से ही १९०६ में 'भाषा की अनस्थिरता' पर ऐतिहासिक विवाद हुआ था जो काफ़ी प्रसिद्ध हुआ क्यों कि हिन्दी के दो महारथियों का वह झगड़ा था जिस से हिन्दी के अनेक पारम्परिक सम्बद्ध हो गये थे।

विहारवन्धु की टिप्पणी और 'भारतमित्र' का उत्तर

'विहारवन्धु' ने १९ जून को 'भारतमित्र' पर टिप्पणी करते हुए यह कहा था कि इस की 'लिखावट अभी इतनी उमदे नहीं है लेकिन उम्मीद है कि थोड़े दिनों के बाद लिखावट अच्छी हो जायगी'। अंक ५ में 'भारतमित्र' के सम्पादक ने इस का जवाब देते हुए 'विहारवन्धु' की भाषा की आलोचना की और अन्त में कहा कि 'कला एक दिन कविवचन सुधा कहते तो कुछ कह भी सक्ते थे ये तो वो ही कहावत है कि सूप बोल तो बोले चलनी भी बोले जिसमें बहत्तर छेद।' झगड़ा यहीं से शुरू होता है। छठवें अंक की इस से सम्बन्धित टिप्पणी यहाँ उद्धृत की जाती है —

" 'विहारवन्धु' कहते हैं कि 'साफ़ कहना कैसा कड़ुवा मालूम होता है' साफ कहने से कष्ट होता है सही परन्तु साफ़ कहने में यदि सत्य का लेशमात्र भी होय अर्थात् झूठ न होय तो कष्टदायक होना तो किनारे रहा परंच वो साफ़ कहना आनन्ददायक ही होता है परन्तु जो सत्यप्रिय नहीं है जिनको अपना दोष विन्दुमात्र भी दिखायी नहीं पड़ता अथवा जो सबसे प्रशंसा पाने की इच्छा सर्वदा करते हैं जो अपना दोष सुधारने के पहले साफ कहके दूसरों का दोष सुधारना चाहते हैं या दूसरों पर अपवाद लगाके उनका उत्तर पाने पर क्रोधांध होके ऐल फैल वक देते हैं उन्हीं को साफ कहना कड़ुवा मालुम होता है। विहारवन्धु के संपादक महाशय यथार्थ विवेचना करके देखिये तो आपने अपने १७ जुलाई के पत्र में ठीक ऐसा ही अनुकरण किया है कि नहीं? आपकी यदि यथार्थ ही हमारे दोष सुधारने की इच्छा होती तो आप रागांध न होके वरंच सरल भाव और शांत भाषा में अपने जी का दुःख प्रकाश करते जैसे आप लिखते हैं कि 'सुयोग्य सम्पादक हम नहीं हैं आप हैं।' भला इस्में आपको क्या बुरा लगा? क्या अपो इस्का अर्थ बुरा समझा है? ऐसा समझना आपका भ्रममात्र है, कभी हमने आपको बुरी बात नहीं कही चाहे आप किसी से पूछ लो आगे वढ़के आप फेर भी हमसे पूछते हैं कि 'आप क्या हैं? क्या आप नहीं जानते कि विहार और भारतका क्या सम्बन्ध है? भला ऐसा क्या? गोदी में बैठ के दाढ़ी नोचना और फेर भी पूछना॥ ऐसा भूल जाना क्या उचित है?

आपने भाषा के विषय में जो सब दृष्टान्त देके विद्याप्रकाश करी है ये विषय थोड़ा समझने लायक है, इस्को समझना भी अवश्य कठिन है, क्योंकि भाषा का अच्छा बुरा सब कोइ नहीं जान सक्ते हैं। सच तो ये है कि जबतक संस्कृत जोकि सब भाषाओं कि माता स्वरूप है इस्को (संस्कृत को) न जाने तबतक भाषा के लक्षण और माधुर्य्य, प्रासाद, प्रांजल, सरल और ललित आदि गुणों को समझना असम्भव है। और भाषा को इन्हीं सब गुणों के साथ सम्पन्न करना पुरुषार्थ है। हम लोगों की हिन्दी भाषा है यद्यपि ये प्राकृत से उत्पन्न हुई है तथापि संस्कृत का अखंड भंडार इस्की समृद्धि वृद्धि करे है। और जो इस्में कहीं कहीं सूरसेनी, मागधी, माथुरी,

फारसी, अरबी और अंगरेजी भी सरल भाव से मिल गई हैं, तो इसको बिगाड़ती है ? हमारी समझ में तो स्वभाव सुन्दरी हिन्दी को बरन अलंकृत करती है। परन्तु ऐसा कहने से ये नहीं, समझना कि अब हम अरबी, इरानी, तुर्की और युनानी आदी से हिन्दी को ढाँक दें और मूल को आघात करें। इन सब भाषाओं के शब्द तो वो ही रखने चाहिए जो सब कि इसमें मिल गये हैं। जैसा कि मालूम, नक्सा, तारीख, तीर, तरहां, स्टेशन, नेशन और फैशन आदि दूसरी भाषा के हैं। और भाषा को ललित करने के लिये तो एक हम क्या पहले से बड़े बड़े प्रसिद्ध कवियों ने भी दूसरी भाषा के शब्द कहीं कहीं रक्खे हैं सम्पादक जी। ये झुंझलाने की बात नहीं है, आप यदि चिन्ता करके देखिये तो अवश्य आप समझेंगे कि विहारबन्धु मूल हिन्दी को बिगाड़ता है अथवा भारतमित्र ? आप जरा विचार के देखिये क्या आपकी भाषा हिन्दी भाषा हुई ? हिन्दी की क्या ऐसी ही लिखावट होनी चाहिये जैसा कि आपने तीन पंक्ती में दो बेर अखबार कहा, और 'नागरी हर्फों में' केवल इतना ही कहके चुप हो रहे क्या आपको 'हिन्दी' शब्द से इतनी ही चिढ़ है ? जोकि लिख न सके। और 'इतनी उमदे' का क्या तात्पर्य था 'इतनी' कितनी ? क्या आप जितनी ? ये तो आपको पहले ही समझना था कि ये हिन्दी का पत्र और राजधानी से प्रचार होता है इसको क्या प्रयोजन है जो ये दिहातियों के लिये अपनी हिन्दी को विकृत करने लगा है। आप से हम विनयपूर्वक पूछते हैं कला आप सच तो कहिये ? अब आपने अपने पत्र का नाम 'विहारबन्धु' रक्खा था तब क्या आपका ठीक ऐसा ही विचार था कि जैसी भाषा अब आप लिखने लगे हैं ऐसा ही लिखेंगे ? या विचारे विहारियों के अनुरोध से अपनी उदार इच्छा को बिगाड़ा है ?

उपसंहार में आपने जो लिखा कि 'आप का ऐसा लिखना छोटे मुंह बड़ी बात होती है' तो क्या आपको ऐसा बुरा लगा ? ये तो ईश्वर की इच्छा है जिसपर वो प्रसन्न होते हैं उसी की बड़ी बात करते हैं, ये क्या सबके बाँट हैं ? आपका मुंह यदि डेढ़ हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा है परन्तु तो भी बिना ईश्वर की कृपा के ६ बरस में भी बड़ी बात न हुई, तो क्या अब आप दिन रात कुढ़ा करें ऐसा उचित नहीं है आगे आप अपने जी के मालिक हैं।"

'भारतमित्र' की भाषा का यह एक नमूना है। भाषा अत्यन्त साफ़ है और शैली में एक विशिष्ट कोटि की वक्रता है। अपनी भाषा के वैशिष्ट्य को क़ायम रखते हुए दूसरी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की यह उदारता आज भी वही महत्त्व रखती है और आज भी इस की उतनी ही अपेक्षा है क्यों कि इस में भाषा-सम्बन्धी एक सही दिशा का संकेत है, हिन्दी के संवर्द्धन का स्वस्थ उपक्रम है। बड़ा बनने के लिए बड़े परिवेश को अपनाना पड़ता है, पूर्वग्रह और संकीर्णता को छोड़ कर ही ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है इस लिए उस का दायित्व महान् है और इस दायित्व के उचित निर्वाह के लिए उस में अपेक्षित उदारता आवश्यक

है, इस तथ्य को भारतेन्दु युग के लेखकों ने खूब ठीक से समझा था, इस का एक प्रत्यक्ष प्रमाण 'भारतमित्र' की उपरोक्त टिप्पणी है। यहाँ भी स्पष्ट कह देना आवश्यक है कि 'भारतमित्र' का भाषा-सम्बन्धी उपरोक्त वक्तव्य मात्र उस का सिद्धान्त पक्ष ही नहीं है बल्कि उस के व्यवहार पक्ष में भी इस नीति का पूर्ण पालन दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि 'भारतमित्र' की भाषा-शैली में आरम्भ से ही एक विशिष्टता दिखाई पड़ती है जिसे लक्ष्य कर हिन्दी के प्रख्यात प्रगतिवादी समीक्षक डॉ० रामविलास शर्माने लिखा है कि "यदि अपनी रुदनशील शैली को छोड़ कर अनेक प्रगतिशील लेखक 'भारतमित्र' की शैली को अपनावें तो अपनी बात जनता तक अधिक सरलता से पहुँचा सकेंगे।[1]"

'भारतमित्र' में पाठकों के पत्र भी प्रकाशित होते थे। अंक २ में एक लम्बा पत्र 'कोइ देशहितैषि-श्री शं० मिश्र' का प्रकाशित हुआ है जिस में 'भारतमित्र' के प्रकाशन को एक बड़े अभाव की पूर्ति बताते हुए प्रसन्नता प्रकट की गयी है और अन्त में पत्र-प्रेषक ने ईश्वर से 'भारतमित्र' के दीर्घ जीवन की प्रार्थना की है।

'भारतमित्र' के बीसवें अंक में एक (कार्य्य सम्पादकीय) विज्ञप्ति प्रकाशित हुई है जिस में पुराने मूल्य में ही 'भारतमित्र' के कलेवर-वृद्धि की सूचना है। इसे पढ़ कर एक पाठक ने सम्पादक के नाम पत्र भेजा था जो २२वें अंक में प्रकाशित हुआ है। उस पत्र को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

प्रेरित पत्र।

सम्पादक महाशय।

ता० २८ नवेम्बर के भा० मि० में उक्त पत्र के कलेवर बृहत् होने का विज्ञापन देख के, हम को कितना हर्ष प्राप्त भया, इस्का बृतान्त सूचन कराने को लेखनी असमर्थ है। आहा। वह कौन सा दिन होगा जिस दिन भा० मि० अपने हृष्ट पुष्ट कलेवर से हमारे नेत्रगोचर हो अपने सुमधुर वाक्य से हृदय को शीतल करेगा। वरंच अपने एकल पाठक वर्गों का शोक सन्ताप दूर करेगा हे पाठक वर्ग महाशय। आप सब सेवी हमारा यह निवेदन है कि सम्पादक महाशय को तनमन एवं धन से सहायता एवं उत्साह देकर संकल्पित कार्य्य की शीघ्र साधन कराइये और देश का हित करिये इत्यलम्।

पटना आपका पत्रदर्शी एक जन

ऊपर 'भारतमित्र' के जिस भावी परिवर्तन और परिवर्द्धन की चर्चा है उस की समीक्षात्मक प्रस्तुति यहाँ सम्भव नहीं है क्यों कि उक्त परिवर्द्धित अंक उपलब्ध नहीं हो सके। ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि 'भारतमित्र' के आरम्भिक २२ अंक मुझे उपलब्ध हुए हैं। इस उपलब्ध सामग्री की मेरी चर्चा यहीं समाप्त होती है।

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दुयुग, पृ० ३७।

'सारसुधानिधि' : संगठन पक्ष

पं० सदानन्द मिश्र के सम्पादकत्व में निकलने वाले इस साप्ताहिक पत्र का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया है। यहां इस के संगठन पक्ष की किंचित् विस्तृत चर्चा अपेक्षित जान पड़ती है। इस का मुख्य पृष्ठ पहले उद्धृत किया गया है। पहले अंक का सम्पादकीय पृष्ठ परिशिष्ट (क) पर उद्धृत किया गया है। वहीं 'सारसुधानिधि' का 'प्रयोजन या उद्देश्य तथा इस की पूरी 'प्रतिज्ञा' भी उद्धृत की गयी है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के परिशिष्ट में उद्धृत सारसुधानिधि के प्रथम अंक का प्रथम तथा इस की सम्पूर्ण प्रयोजन-प्रतिज्ञा से यह स्पष्ट है कि एक महत् उद्देश्य, बलवती निष्ठा और आर्थिक साहाय्य की सम्भावना से प्रेरित हो कर 'सारसुधानिधि' का प्रकाशन हुआ था। कलकत्ता-प्रवासी हिन्दी के धौरन्धरिकों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त था।[1] पं० शम्भुनाथ मिश्र इस के व्यवस्थापक (या कार्य-सम्पादक) थे और 'सारसुधानिधि' के प्रकाश सम्बन्धी दायित्व के साथ ही 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित 'समाचारावली' वे ही लिखते थे। कार्य सम्पादक 'शम्भुनाथ मिश्र' की ओर से 'ग्राहकों के देखने योग्य अति प्रयोजनीय सूचना' प्रायः प्रकाशित की जाती थी जिसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

ग्राहकों के देखने योग्य अति प्रयोजनीय सूचना।

'सारसुधानिधि' का दाम प्रथम एक बरस के लिये शीघ्र ही देना चाहिये, क्योंकि इसके छपने आदि में बहुत खर्च होता है, इसलिये सहायता स्वरूप पहिले एक बरस का दाम भेजकर हमलोगों को बाधित करें।

कार्य्य सम्पादक
शम्भुनाथ मिश्र।

'सारसुधानिधि' की आर्थिक समस्या टेढ़ी थी, क्यों कि न तो पर्याप्त ग्राहक थे और न कोई दूसरी बड़ी आर्थिक सहायता ही उपलब्ध थी। संचालक-सम्पादकों ने ऊँचे आदर्श से प्रेरित हो कर इसे प्रकाशित किया था, इस लिए उन्हें यथासम्भव इस की आर्थिक क्षति-पूर्ति भी करनी पड़ती थी। भाग दो, अंक तीन में एक सम्पादकीय नोट है जिस से इस के आर्थिक पक्ष की सूचना मिलती है—

विशेष द्रष्टव्य।

गतवर्ष में तो इतनी आशा भी थी कि कुछ अपने अंशियों से भी घटी पूरण हो जायगी। परन्तु अब 'सारसुधानिधि' का व्यय निर्वाह करना केवल मुझी पर निर्भर

---

1. "इस में चार साझी थे—सदानन्द जी, दुर्गाप्रसाद जी, गोविन्दनारायण जी और शम्भूनाथ जी। इस के सम्पादक पं० सदानन्द जी, संयुक्त सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद जी, सहायक सम्पादक पं० गोविन्दनारायण जी और व्यवस्थापक पं० शम्भूनाथ जी थे। —अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी : हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास।

है : और इसके यंत्रालय स्थापन करने में भी बहुत रुपये लग चुके हैं, अतएव मैं ऐसी आशा करता हूँ कि देशहितैषी महानुभाव ग्राहक वृन्द विवेचना और अनुग्रह करके 'सारसुधानिधि' का अग्रिम दाम शीघ्र ही देकर विशेष सहायता करें।

सारसुधानिधि सम्पादक

सदानन्द मिश्र।

'सारसुधानिधि' की प्रथम 'अब्दपूर्ति' के अवसर पर सम्पादक पं० सदानन्द मिश्र ने अपने सहायकों के प्रति इस प्रकार कृतज्ञता ज्ञापित की थी—

कृतज्ञता स्वीकार।

अन्तरंग सहायक हैं श्रीमान् पं० शम्भुनाथ मिश्र, श्रीयुक्त पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, श्रीयुक्त पं० गोविन्दनारायण मिश्र, श्री युक्त पं० जीवानन्द विद्यासागर बी० ए० महाशय। शम्भुनाथ जी ने 'सारसुधानिधि' कार्य सम्पादन करने का भार लेकर इसके प्रारम्भ से ही इसके कार्य्यों की परिपाटी और यथा समय पर पाठकों के निकट भेजना आदि यथासाध्य परिश्रम-द्वारा सम्पादित किया, केवल इतना ही नहीं वरन् लेख-सहायता भी इन्होंने यथोचित देशोपकारक धन के विषय में एक उत्कृष्ट प्रस्ताव लिखा और वंगविजेता उपन्यासका अनुवाद तथा समाचारावली का अधिकांश लिख कर और घटी के मध्ये कुछ रुपयों से भी यथोचित सहायता किये। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 'सारसुधानिधि' का प्रथम अनुष्ठान-पत्र प्रचार किया यथार्थ तो यह है कि इन्हीं के उद्योग और उत्साह से 'सारसुधानिधि' प्रचारित हुआ।

और इस के प्रकाशन की गहरी प्रतिक्रिया पूरे हिन्दी समाज में हुई थी। उस समय के पत्रों और पाठकों ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी[1]। और एक वर्ष के बाद दो सप्ताह

---

१. पत्रों की प्रतिक्रिया का संक्षिप्त अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

विहार बन्धु :

हम धन्यवादपूर्वक 'सारसुधानिधि' नाम अखबार की प्राप्ति स्वीकार करते हैं। यह अखबार नागरी हर्फों में हर सोमवार को कलकत्ता में छपता है। यह रायल चारपेजी १२ सफों का है। विषय इसमें हर तरह के साहित्य-विज्ञान और राजनीति के छपते हैं। भाषा में वंगलेपन की बू के सिवा कोई ऐब नहीं है। खैर जो हो इसके पढ़ने वालों इससे बहुत सी बातें सीखेंगे इसमें तिलभर भी शक नहीं है। ईश्वर इसे चिरंजीव रक्खें।

भारतबन्धु :

आज हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें जिधर को अपनी मेज पर दृष्टि डालते हैं किसी न किसी नवीन पत्र के हमको दर्शन होते हैं—हमारी हिन्दी भाषा के कुछ दिन अच्छे ज्ञात होते हैं—कि इसमें अब समाचार पत्रों की दिन-दिन वृद्धि होती है—सारसुधानिधि नामक नवीन हिन्दी भाषा का पत्र हमारे सम्मुख वर्तमान है भाषा इसकी उत्तम और मधुर है विषय भी सब अच्छे हैं कलेवर भी बड़ा है मूल्य अधिक नहीं है ईश्वर इसकी दिन २ वृद्धि करे—हम अपने भारतबन्धु को बदले में समर्पण करते हैं।

भारतमित्र :

जबतक किसी भाषा में बहुत सी पुस्तकें और समाचारपत्र प्रकाशित नहीं होते तबतक

के लिये जब पत्र का प्रकाशन विशेष प्रयोजन से रोक दिया गया उस समय भी पत्रों ने 'सारसुधानिधि' की वैशिष्ट्य-चर्चा करते हुए अपनी संवेदना प्रकट की थी जिस से 'सारसुधानिधि' के महत्त्व की विज्ञप्ति मिलती है।[1]

उस भाषा की उन्नति नहीं होगी। आजकल की अवस्था से ज्ञात पड़ता है कि हमारी हिन्दी भाषा भी इतने दिनों तक जिस का निरादर होता था उस का भी अब सौभाग्य एवं उदित होना चाहता है। आज कई सप्ताह से यहां पर 'सारसुधानिधि' नामक एक हिन्दी भाषा का समाचार पत्र हमारे मित्रवर श्रीयुक्त पण्डित सदानन्द मिश्र-द्वारा प्रकाशित होता है। इसके प्रस्ताव अति उत्तम और उनको पढ़ने से बहुत-सा ज्ञान लाभ हो सकता है। ईश्वर करे यह पत्र दीर्घायु होकर अपना कर्तव्य साधन में बलवान होय।

मित्रविलास :

······ऐसा २ पत्रों को देख हमारा मन आप से आप कह उठता है कि निःसन्देह इस से हमारी दीन और मलीन 'हिन्दी भाषा' का बहुत कुछ उपकार हो जायगा। हम अपने पाठक जनों के पास निवेदन करते हैं कि वे सब मिल कर इस पत्र की सहायता करें कि जिस से इस के प्रकाशित करने हारे महाशय का परिश्रम वृथा न हो और यह भी चिरंजीव रहे।

अंक ७ में एक पत्र प्रकाशित है जो इस प्रकार है —

प्रेरित पत्र—महाशय! अनयास आप का सारसुधानिधि पत्र हमारे पास आया उस के अवलोकन से मन प्रसन्न हो यह प्रस्तुति करता है—

सार सुधानिधि पत्र,
सकल भ्रम तिमिर नसावत।
चन्द्र दिवस प्रति प्रकट,
वरण अभिनव दरसावत।
पूरण कला प्रकाश,
वचन अमृत बरसावत।

भेद संधि संग्राम,
नीति नृप डर सरसावत।
नाना विचित्र सत् गुण सरस
हिय अंकुर उत्पन्न कर।
विधिवत चरित्र कहि मनुज मन
मोद बढ़ावत अधिकतर।

१. भारत मित्र :

कलकत्ते का 'सारसुधानिधि' नामक समाचार पत्र जो एक बरस से प्रकाशित होता था, अब ग्राहकों की सहायता के बिना बन्द हुआ चाहता है। १५ दिन के अन्दर अगर मदद मिले तो फिर निकल सकता है।

८ फरवरी १८८७ ई० कलकत्ता

मित्रविलास (कुछ विशेष स्थल उद्धृत किया जाता है :)

'हर! हर! यह कैसे शोक का विषय है कि 'सारसुधानिधि' का सा उत्कृष्ट देश-दुर्दशाहर्ता, भारतभापियों को ज्ञानी जन शलाका फेरने वाला, सर्व उपकारी और उत्तम विषयों से भरा भारतवासियों के हितार्थ गवर्नमेन्ट को स्पष्ट रूपेण फटकारने हाहारा, सब बातों में अग्रणी और हिन्दी पत्रों का शिरताज पत्र केवल ग्राहकों के अभाव से और उन के मूल्य न देने के कारण बन्द हो जाय। जिस पत्र ने प्रथम वर्ष ही में ऐसे २ गम्भीर आशयों से पाठकों का मनरंजन किया और जिस के स्थिर रहने से हम सब को अनेक लाभ की आशायें हैं ऐसा 'सारसुधानिधि' पत्र यदि बन्द हो जाय तो क्या थोड़े संताप का कारण है? जिस पत्र में थोड़े ही दिनों में भारतवासियों की गवर्नमेन्ट और गवर्नमेन्ट का विचार प्रजा पर प्रकट कर देशियों को अनेक लाभ पहुंचाये ऐसा 'सारसुधानिधि' पत्र यदि बन्द हो जाय तो

तत्कालीन पत्रकारों की निष्ठा और हिन्दी समाज

उस युग के पत्रकारों में उच्चकोटि की आदर्शवादिता थी। उन्हें अर्थ-चिन्ता अपने लिए नहीं बल्कि पत्रों के सकुशल संचालन के लिए थी और इस के चलते उन्हें

क्या महान दुःख का कारण नहीं है? जिस में सर्व प्रकार के गुण भरे हो जो राजा महाराजाओं के हितार्थ गवर्नमेन्ट से झगड़ता हो, जो देशियों की उन्नति में प्रसन्न और अवनति में खिन्न हो, और जिस के सम्पादक और लेख-सम्पादक ऐसे हों कि जिन के लेखों को—स्वर्णपट्टिका पर लिखना चाहिये और जो आज कल के रत्न हैं ऐसा सर्वांग सुन्दर और सर्वगुण विभूषित देशोन्नतिकारक 'सारसुधानिधि' पत्र यदि सहाय्य के अभाव से बन्द हो जाय तो धिक्। क्या यह महान लज्जा का कारण भारतवासियों और हिन्दी के रसिकों के कारण नहीं होगा?

"हायरे। देशियों और आर्य्यभापा रसिकों का क्या मन्द भाग्य है। और क्या ही ये लोग निर्लज्ज हैं, त्राहि। बिचारे सम्पादकगण दिन-रात परिश्रम करके इनके उन्नति साधक व्याख्यान लिखें और इन्हें उन्नति का मार्ग बतावे और इस परिश्रम के पलटे उन्हें कुछ लाभ होने के पलते उलटा घाटा पड़े। आजकल के पधाधिकारीगण इस आशा से पत्र नहीं निकालते कि उन से कुछ लाभ उठावे किन्तु केवल देशानुराग ही इन को उस ओर सावित करता है। परन्तु जब पाठकों इतनी लज्जा भी न हो कि जिस पत्र को वह पढते हैं और जो केवल उन्हीं की आशा पर और उन्हीं को उन्नति देने के अर्थ प्रकाशित किया गया है, उसके दाम की ओर कुछ भी ध्यान न दे तो सम्पादक को घाटा न पडे तो क्या हो? जब सम्पादक को घाटा ही घाटा रहा तो देशहित साधन को उमंग जो उसके मन में उठ रही है उसको क्या करेगा जब अपना प्राणप्रिय पत्र ही उसे बन्द करना पड़ा। हम यह वाक्य 'सारसुधानिधि' पर ही नहीं कहते किन्तु सारे वर्तमान हिन्दी पत्रों की यही दशा है बिना उन एक दो के कि जो केवल 'स्वार्थलाभ करें सब प्रीत' इत्यादि के अनुयायी हो शुद्ध हिन्दी भाषाके व्यवहार से च्युत हैं।"

जगतमित्र :

"'सारसुधानिधि' ने एक वरष में जो-जो विषय लिखे हैं आज तक किसी हिन्दी समाचार पत्र में नहीं लिखे गये जिन महाशयों ने ५ तारीख के सारसुधानिधि की गतवर्ष प्रकाशित विषयों की सूची देखी है निःसन्देह अवश्य उनके नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा बहेगी। पाठक! इससे अधिक दुःख का विषय और क्या होगा के जो ऐसे उत्तमोत्तम विषयों पूर्ण संवादपत्र केवल क्षति-ग्रस्त हो के अस्त हो जायगा अन्य देशवासी जिनसे सारसुधानिधि का परिचय है वो क्या ये नहीं कहेंगे के भारतवासी अद्यावधि संवादपत्र के गुणों को नहीं जानते थे क्या अल्प लज्जा का विषय है हाय! हमारे देश में कोई इतना भी समुझने वाला नहीं रहा जिस सारसुधानिधि ने एक वर्ष तक इस देश में कृष्णपक्ष ही है इस हृदय विदारक समाचार को पाठ करके कौन दुःखी न होगा हाय अब एवम्विध राजनीति की समालोचना कौन करेगा के प्रेस एक्ट के रहते भी स्वाधीन भाव से लिखता था।"

'भारतबन्धु' तथा 'कविवचन सुधा' आदि ने भी अपनी संवेदना प्रकट की थी। इसी अवसर पर जयपुर नरेश का पत्र आया था जो वर्ष २, अंक ४ में प्रकाशित हुआ, और जिसे अविकल उद्धृत किया जाता है—

प्राय: आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी। उन के सामने आर्थिक लाभ का प्रश्न ही नहीं

Private office
JEYPOOR PALACE
the 17th Jany. 1880.

To

PANDIT SADANAND MISRA
65 Sutapatti, Barabazar, Calcutta.

Dear Sir,

I am commanded by His Highness the Maharajah of Jaypoor to acknowledge receipt of you Hindee letter to his highness dated the 8th instant and in reply to inform you that his highness is fully sensible of the benefits which Sarasudhanidhi is like to produce and will think it a misfortune to the country if any untoward circumstances were to cut short the career of so useful and important varnacular paper.

However, His Highness trusts that the intelligent portion of the Indian public well feel it their interest to respond to your appeal in behalf of so noble and disinterested an object.

I beg to enclose here with 1st halves of currency Notes for Rs. 300 (Three Hundred) as per Memo at foot, which His Highness will thank you to ascept as a donation to the Sarasudhanidhi. The remaining halves will be sent as soon as His Highness hears from you in reply.

Yours faithfully
Mahadeb Mookherjee
Private Secy.

'इण्डियन मिरर' ने अपनी सहानुभूति इस प्रकार प्रकट की थी—

THE INDIAN MIRROR
9th Jany. 1880.

The publication of Calcutta Hindi weekly paper, Sarasudhanidhi, which was doing a very useful work among the Hindustani population of Calcutta, has, we very much regret to find, been suspended for a time for want of sufficient public support. It was ably edited by an educated Hindustani gentleman, whose Sanskrit learning and general attainments fully qualified him for the task he had undertaken; and he had been fortunate enough to secure the literary assistance of some distinguished graduates of Calcutta University. His Highness of Maharajah of Jaypoore and His Highness the Maharana of Udaypore, both princes well

था[1]। पाठकों की स्थिति सर्वथा विपरीत थी। उन की राजनीतिक चेतना पर्याप्त विकसित नहीं थी और न तो समाचार पत्रों में उन्हें कोई विशेष रुचि थी। उन की दशा का यथार्थ वर्णन 'सारसुधानिधि' के ५ जनवरी १८८० के अंक में सम्पादक ने किया है :

---

versed in the Sanskrit language and literature and excellent judge of the Hindi language not only Commended the editor for the general ability with which his paper was Conducted, and especially the remarkable purity of the style in which he wrote, but gave him liberal pecuniary support in aid of an undertaking, which both princes, enlightended and liberal minded were convinced, was calculated to effect much good among the Hindustani population whether here on in Upper India. But in the age in which we live public patronage is the breath of life to literature and literarymen, and public patronage in India is embodied in the Government. To awaken a taste of literature among the Hindustani population is a work which deserves the earliest attention. In the present dearth of information among this rection of the India population, the wildest reports and rumours are often accepted as a positive truths, and such reports and rumours are as often apt to be injurious to the public interests. The Sarasudhanidhi, of which the leading articles on political subjects always stated the facts, was exercising a healthy influence on the Hindustanis by counteracting the fiffusion of these wild reports and rumours. But the Hindustanis, as we have said, have not yet imbibed that love of literature which has deeply imbued the other races of India. Business is their chief occupation. In the Government would only assist such journals by a grant-in-aid, they would be helping in a good work. when once a taste for literature was awakended among the Hindustanis, no such aid would be needed. A wellwritten and well conducted newspaper in Hindi would be a powerful auxiliary to the school master; and it seems to us that their subjects should be placed in possession of the most correct information on all points affecting their mutual relations."

१. 'सारसुधानिधि', वर्ष २, अंक ७ में उन पत्रों की प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित की गयी हैं जो 'सारसुधानिधि' के पुनः प्रचार होने पर समाचारपत्रों ने प्रकट की थी। जयपुर गजट, सज्जनकीर्ति सुधाकर, हिन्दी प्रदीप, कविवचनसुधा, भारतबन्धु, बिहारबन्धु, मित्रविलास आदि पत्रों ने प्रसन्नता प्रकट की है।

"जैसी अवस्था हिन्दी भाषा की है, इस पर ऐसी आशा नहीं होती है कि लोग शौक से हिन्दी भाषा के अनुरागी होकर हिन्दी पत्रों की सहायता की दृष्टी से लिया करें, और यथासमय दाम दिया करें कि जिसमें पत्र-सम्पादकों को केवल देशोपकार की चिन्ता के दूसरी चिन्ता न रहे।....अभी तो हमारे हिन्दुस्तानी भाइयों में बहुत तो पढ़ने-लिखने से कुछ प्रयोजन ही नहीं रखते और जो लोग कुछ कुछ पढ़ते-लिखते भी हैं उनको केवल किस्से-कहानियों ही से छुट्टी नहीं मिलती फलतः अभी हमारे देशवासियों को समाचार पत्र का प्रयोजन-उसका उद्देश्य और उपयोगिता हृदयंगम नहीं हुई है। अतएव इतनी बड़ा और सम्पूर्ण उपकारी विषयों से परिपूर्ण समाचार पत्र सिवाय विशेष सहायता के, केवल साधारण सहायता पर निर्भर होकर चल नहीं सकता है।" पाठकों की उदासीनता की ओर संकेत करते हुए इसी संपादकीय टिप्पणी में कहा गया है कि 'अनेक ग्राहक 'सारसुधानिधि' का दाम भेजना भूल गये, और उन लोगों ने हम लोगों को अपदस्त करने में कसर नहीं रक्खी, क्योंकि कई सूचना और विशेष सूचना दे देकर ग्राहकों को चैतन्य किया वरन् उनमें से बहुतों को चिट्ठी भेजी परन्तु उनको क्या थोड़ा सा देना कहीं याद हो सकता है? अथवा कभी ध्यान में भी आता है कि जो पत्र केवल देशोपकार के निमित्त प्रचारित होता है जिसके हरएक लेखक का महत उद्देश्य प्रत्यक्ष ही है, और ये नहीं कि भलीभांति देखा नहीं है कि इसमें सांप है या बिच्छू भला किस प्रकार से उसकी सहायता करें। जब बराबर एक बरस उन महाशयों को घर से टिकट लगाकर भेजा जाता है, और ऐसा भी जान पड़ता है कि ग्राहक कुछ विरक्त भी नहीं है, ऐसा होने से क्या वे लोग चुपचाप लिये जावे और मन्हीं भी नहीं लिखते? ऐसी सो भी नहीं क्या उन लोगों ने चिट्ठी लिखने की कसम खायी है? क्योंकि चिट्ठी लिखें तो क्या लिखें या तो दाम भेजें या मन्हा लिखें परन्तु अब किस लज्जा से मन्हा, लिख सकते हैं, यदि मन्हा करते तो पहिले ही लिखते, इसी प्रकार दाम भेजने में भी संकोच पड़ गया, क्योंकि यदि भेजते तो पहिले ही भेज देते ॥=) के बदले ॥=) न देने पड़ते। हमको ऐसा जान पड़ता है कि अभी भी जिन लोगों ने दाम नहीं भेजा है वे इसी संकोच में पड़ गये हैं कि न तो उनसे दाम दिया जाता है और उधर अपनी मान इज्जत की ओदर देख कर बिना देना दिये कागज लेना बन्द भी नहीं कर सकते।.... यद्यपि हमारा पावना कुछ ऊपर तीन सौ रुपये के है और घटी घर से लग चुकी है तो भी, यदि कृपाकर वे लोग लिख भेजते कि अभी हम नहीं देंगे, अथवा दे नहीं सकते हैं तो हमको सन्तोष होता, और आगामी साल के लिये यह निश्चय हो जाता कि इतने महाशयों को इस पत्र देखने का अनुराग है और इतने विरक्त हैं और इतने ऐसे हैं कि पत्र पढ़ने में तो रुची और आग्रह है परन्तु द्रव्यखरचने की इच्छा नहीं है यदि यह भी जाना जाता तो उपयुक्त और योग्य महाशयों को जान कर उनकी संख्या से हम पड़ता फैला सकते थे कि आगामी साल में निर्वाह हो सकता है या नहीं।

समाचार पत्र केवल ग्राहकों पर निर्भर रहते हैं और उन्हीं की सहायता से चल सकते हैं। ये नहीं हो सकता कि सम्पादक घर से रुपये लगाकर रात दिन परिश्रम करे और कागज चलावे। हे पाठक। अब हमलोग उभय संकट में पड़े हैं। यह गत प्रथम वरस तो हमलोग इस आशा और उत्साह से पत्र प्रचार किया कि क्या हुआ अभी तो पहिला वरस है तो जिस प्रकार से होय निर्वाह करना चाहिये, एक वरस में इसकी ग्राहक संख्या अवश्य बढ़ेगी और उनकी सहायता से बराबर चल सकेगा, परन्तु ग्राहकों की अवस्था देखने से वह आशा प्रायः भ्रान्त जान पड़ती है क्योंकि इस गत वरस में यदि पौने पाँच रुपये विशेष नहीं आते तो आठ सौ रुपये घटी लगती, परन्तु सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने बड़ी कृपा कियी कि उतनी क्षति नहीं हुई थोड़े ही में बेड़ा पार हो गया। "पाठकों की अरुचि और असहयोग के कारण 'सार-सुधा निधि' का प्रकाशन –दो सप्ताह के लिए बन्द कर दिया गया था। सम्पादक ने स्पष्ट लिखा था कि 'यदि इस अवसर के भीतर पाठकों का अनुराग और महामान्य महाराजाधिराजों की कृपादृष्टी दिखायी दियी तो हम पुनरुत्साहित होकर 'सारसुधा-निधि' १८८० ई० का प्रचार करेंगे। नहीं तो असमय जानकर अगत्या प्रचार करने से विरत होना पड़ेगा।' इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए संपादक ने लिखा था, 'हम यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि इस दो सप्ताह के भीतर वित वरस का जो पाउना है वह भी सब आ जायगा तो भी 'सारसुधानिधि' पुनः प्रचार कर देंगे।"

पत्रों का दायित्व :
देशवासियों के राजनीतिक संस्कार के उन्नयन का प्रश्न—

नितान्त प्रतिकूल परिस्थिति में भी जब मनुष्य की आस्था न टूटे तो मानना पड़ता है कि उस में अग्नि-तत्त्व का प्राधान्य है जो सदैव उन्नयनशील होता है। कहना न होगा कि इस युग के पत्रकारों के चरित्र में इसी तत्त्व की प्रमुखता थी और कदाचित् यही कारण है कि प्रतिकूलता से वे अन्तिम क्षण तक जूझते रहे। 'सारसुधानिधि' की उपरोक्त प्रतिज्ञा इस बात की स्पष्ट सूचना देती है कि उस युग के पत्रकार अपने गम्भीर दायित्व को सही रूप में समझते थे और उस के प्रति पूर्ण सचेत थे। 'सार-सुधानिधि' का विश्वास था कि देशोन्नति का बड़ा आधार होता है देशवासियों का राजनीतिक संस्कार। अर्थात् राजनीतिक संस्कार उन्नत होने पर ही देशोन्नति सम्भव होती है। राष्ट्रीयता के विकास की चर्चा करते हुए हम ने पहले निवेदन किया है कि विशिष्ट वर्ग में आधुनिक शिक्षा के परिणामस्वरूप राजनीतिक चेतना जागृत थी और उस का प्रभाव देशव्यापी हो रहा था, किन्तु देश में एक बड़ा वर्ग ऐसा था जहाँ राजनीतिक संस्कार के नाम पर कुछ था ही नहीं। 'सारसुधानिधि' के द्वितीय वर्ष के १६वें अंक के सम्पादकीय वक्तव्य का विषय है, 'हिन्दुस्तानियों का राजनैतिक संस्कार',

राजनैतिक और समाजनैतिक विषयों की समालोचना छोड न दें। यदि विचार करके देखो तो ऊपर कहे हुए कारणों के सुधारने का एक वही छठा कारण है। जब हम सब संस्कारक कार्य्य में व्रती हुए हैं तो हम लोगों को उचित है कि यावज्जीवन हम गुरुतम कार्य्य के साधन में प्रवृत्त रहें। और यह भी ध्यान रहे कि जब-जब जो-जो राजनीति और समाजनीति के सुधारने के प्रयत्न हुए हैं, मानापमान सभी उनको सह्य करना पड़ा है। इस विषय के साक्षी इतिहास वर्तमान है। हम लोगों के प्रधान आश्रय धीरता, साहस और अध्यवसाय हैं। यदि हम इन तीनों के आश्रय से निरन्तर अपने कर्तव्य साधन में प्रवृत्त रहेंगे तो निःसन्देह ईश्वर हमारा सहायक हो हमारे हिन्दुस्तानियों के संस्कारों को सुधार हमारी बृटिश गवर्नमेन्ट द्वारा भारतवर्ष की पूर्व स्वाधीनता, पूर्व समृद्धि और पूर्वोन्नति दिखायेगा। आपाततः इसका उपाय एक आप ही सब समाचार पत्र हो, अतएव हम पुनः अनुरोध करते हैं कि कदापि किसी के कहने से शिथिल प्रयत्न न होगा। जो आपको विपरीत सुझाते हैं वह उसी भ्रष्ट संस्कार के वशवर्ती हैं। यह निश्चय है कि जो कुछ भारतवर्ष का हित होना है वह समाचार पत्रों ही से होना है।"

देशी पत्रों की स्वाधीनता का प्रश्न

पत्रकारों से ही नहीं 'सारसुधानिधि' ने सरकार से भी बड़े साफ़ शब्दों में अनुरोध किया था कि देशी समाचारपत्रों की स्वाधीनता में ही हम लोगों का कल्याण है। 'लार्ड हार्टिंगटन और भारतवर्ष' (वर्ष २, अंक ८) शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य की अन्तिम पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं :—

"हम लोगों का दुरवस्था जानने का मुख्य उपाय देशी समाचार पत्र है। जब तक इन पर विश्वास स्थापित करके इनको पूरी स्वाधीनता नहीं दियी जायगी तब तक प्रजा की यथार्थ प्रकृत अवस्था कभी भी जानी नहीं जायगी। परन्तु इसके साथ ही गवर्नमेन्ट का कर्तव्य है कि देशी समाचार पत्रों का अनुवाद का नियम परिवर्तन करना अब जिस प्रकार से अनुवाद होता है उस द्वारा आशानुरूप फल नहीं फलता। क्योंकि यदि सम्पूर्ण देशी समाचार पत्रों का यथार्थ अनुवाद हुआ करता तो आज यह नहीं होता कि ये दोनों विषयों की मीमांसा लार्ड राइपन के यहां आने पर बाकी रहती। अतएव एक तो देशी समाचारपत्रों को पूरी स्वाधीनता देकर उन सबों का पूरा अनुवाद कराना चाहिये। दूसरे हम भारतवासियों से अब जो राजपुरुषों से घृणा उत्पन्न हुई है उसको दूर करना चाहिये। तब कहीं राजपुरुषों को हम लोगों की अवस्था जान पड़ेगी। उपसंहार काल में इतना और कहना योग्य है कि देशी मुद्रा शासनी व्यवस्था के रहित करने में विलंब होना जितना हम भारत प्रजा के लिये अनिष्टकारी है उतना ही महामान्य ग्लाडष्टोन, हार्टिंगटन प्रभृति लिबरल प्रधानों के

लिये बुरा है।[1] क्योंकि जिस छिद्र द्वारा कंसरवेटियों की पराजय हुई उसी छिद्र को बनाये रखना इनके योग्य नहीं है। अतएव काबुल का युद्ध, लाइसनस टेक्स इनकी मीमांसा को चाहे किंचित काल विलम्ब होय तो इतनी चिन्ता नहीं क्योंकि उसका जवाब तो यह भी हो सकता है कि ये दोनों यद्यपि अत्यावश्यकीय और विशेष प्रयोजनीय विषय हैं तथापि ये दोनों दुस्तर प्रश्न हैं इनकी मीमांसा होना बहुत ही कठिन है। परन्तु देशी मुद्रा यन्त्र शासनी व्यवस्था के रहित करने के विषय में यदि विलम्ब हुआ तो ऐसी कौन सी बात है कि जिसको बना के अपना पूर्वपक्ष समर्थन हो सकेगा अतएव इस जघन्य व्यवस्था के रहित करने में देरी होना उचित नहीं है।"

इस प्रकार औचित्य-रक्षा के लिए सदैव सजग, समाचारपत्र की मर्यादा और वैशिष्ट्य को भली प्रकार समझते हुए 'सारसुधानिधि' सम्पादक ने अपने दायित्वका पूर्ण पालन किया। पुरस्कार के रूप में एक बड़े वर्ग की प्रशंसा और सम्मान प्राप्त किया तो दूसरी ओर अपने उत्कर्ष के लिए उसे ईर्ष्या की चोट भी सहनी पड़ी। यहाँ एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख आवश्यक है। 'सारसुधानिधि' के लेखों से अत्यन्त प्रभावित होकर सवाई महाराजा जयपुराधिपति ने 'सारसुधानिधि' को एक प्रशंसा-पत्र भेजा था जिसे 'सारसुधानिधि' में छाप दिया गया। उसे देख कर कई पत्र-सम्पादकों को जलन हुई और 'भारतमित्र' के माध्यम से 'सारसुधानिधि' पर कीचड़ उछालने की कोशिश की गयी। 'भारतमित्र' में एक गुमनाम पत्र छापा गया था जिस में 'सारसुधानिधि' के सम्बन्ध में यह आपत्ति उठायी गयी थी कि दूसरे वर्ष के १४वें अंक में प्रकाशित 'भारतवर्ष में प्रतिनिधिशासन प्रणाली की आवश्यकता' शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य बंगला 'सोमप्रकाश' और 'नवविभाकर' पत्र में प्रकाशित लेख 'प्रतिनिधिशासन प्रणाली' का उल्था है। उस में अपनी मौलिकता कुछ नहीं है। चूँकि यह आरोप शुद्ध ईर्ष्या-जनित था इस लिए तथ्य से इसका कोई मतलब नहीं था। इस के निराकरण के लिए काशी की पत्रिका 'कविवचन-सुधा' ने २० सितम्बर को एक वक्तव्य

---

१. "The English are, and justly and gloriously, the greatest champions of liberty of speech. What a falling of must have taken place in their character when, after granting this boon to India, they should have been thought of withdrawing it. This act, together with that of disarming the people, is a clear confession by the rulers to the world that they have no hold as yet upon the affection and loyality of the people, though in the same breath they make every profession of their belief in the loyalty of the people. Now, which is the truth? And are gagging and disarming the outcome of a long benign rule?" —Dadabhai Naoroji : Poverty and the British Rule in India P. 216.

प्रकाशित किया था जिस में 'सारसुधानिधि' का खुल कर पक्ष समर्थन किया गया था और जिसे 'सारसुधानिधि' ने अविकल उद्‌धृत भी किया था।[1]

---

१. 'कविवचनसुधा' के उक्त लेख से कुछ स्थल यहाँ उद्‌धृत किये जाते हैं :
"शोक का स्थान है कि भारतवासी लोग अवतक इस वात से अनभिज्ञ हैं कि इस देश की अवनति का मूल यही परस्पर का द्वेष है और इसी फूट, वैर से भारत ऐसी हीन दशा को पहुँचा। इसी द्वेष के कारण बड़े-बड़े राज्य नष्ट हो गये और इसी ईर्ष्या के हाथ पड़ बड़े-बड़े लोगों ने अपना जीवन नष्ट कर दिया। हम अधिक समाचार पत्रों के प्रकाश होने से प्रसन्न होते थे कि भला जो हुआ सो हुआ अब भी इनके प्रचार से लोगों के हृदय का अंधकार दूर हो जावेगा और देशोन्नति का अंकुर जमता रहेगा। परन्तु विचार कर देखता हूँ तो सबके पहले इन्हीं में यह दोष पाया जाता है, यही लोगों पर द्वेष और ईर्ष्या का प्रयोग करते हैं। और यहाँतक वेसुध हो जाते हैं कि इसके पंजे में पड़ अपने अपने वाक्यों को भूल जाते हैं, अर्थात् आरम्भ में तो ऐसी गर्जना करते हैं कि पढ़ने वाले प्रसन्न हो फूले नहीं समाते कि अब क्या, देखो अमुक समाचारपत्र के प्रादुर्भाव होते ही देशहितैषी विषय प्रकाश हुआ करेंगे जिससे दिनोंदिन विद्या देश और हितैषिता की वृद्धि होती जावेगी। किन्तु थोड़े ही कालोपरांत जहाँ उन्होंने अपने किसी सहकारी भाई की उन्नति होते देखी कि वस चट से मोगली कमर कस द्वेष युक्त प्रस्तावों की भुजाली ले उनपर आघात करने पर उत्सुक हो जाते हैं और अपने से आप वाहर से जगत में हास्यास्पद होते हैं। ··· ··· ··· ··· ··· ··· अधिक और क्या कहें अभी दो-तीन सप्ताह की वात है कि सारसुधानिधि-सम्पादक ने श्रीमन्महाराजाधिराज सवाई जयपुराधीश्वर का भेजा हुआ प्रशंसा पत्र अपने अमूल पत्र में प्रकाश किया था, कि उसके देखते ही अनेक दुष्टों के हृदय में जलन का फफोला पड़ गया और द्वेषानल में भष्म हो गये। अन्त में उन धूर्तों को जव और कोई उपाय न मिला तो उन्होंने झट से भारतमित्र पत्र द्वारा जो द्वेषियों का एकमात्र शरण है, सारसुधानिधि को कलंकित करने का यत्न किया, और अनायास उसके सम्पादक पर यह दोषारोपण किया कि उन्होंने जो 'प्रतिनिधि शासन प्रणाली' शीर्षक प्रस्ताव प्रकाशित किया था वह सोमप्रकाश और नवविभाकर पत्र के आशय पर लिखा गया था, बल्कि पत्र प्रेरक ने उसे यह कहकर कि उसमें उपरोक्त उभय पत्र से और कोई-आशय न था, अनुवाद सिद्ध किया और द्वेष के वल से जो कुछ महाशय को सूझा वह सब रोना गा गये।

प्यारे पाठक :—भारतमित्र के 'सभा में एक' पत्र प्रेरक महाशय ने तो द्वेषानल से भस्म हो अपने भरसक कुछ कहने में नहीं उठा रक्खा पर इतने पर भी सा० सु० नि० सम्पादक महाशय की सहिष्णुता को धन्य है कि उन्होंने विवाद वढ़ाने की अपेक्षा उसके उत्तर में सोम-प्रकाश पत्र के उस प्रस्ताव को अपने पत्र में अविकल्प प्रकाश कर दिया, कि जिसमें लोगों की सफाई और साधारण लोगों पर सत्यासत्य निश्चय हो जावे, और भारतमित्र सम्पादक से प्रेरक के नाम प्रकाश करने की प्रार्थना की, परन्तु भारतमित्र ने जो अपने वरावर दूसरे को नहीं समझने इसपर कुछ भी ध्यान न दिया वल्कि झगड़े वढ़ाने पर उद्यत हैं।

हमने दोनों पत्रों के एतद् विषयक लेखों को पढ़ा और निज सोमप्रकाश के पत्र के और सा० सु० नि० के "प्रतिनिधि शासन प्रणाली" शीर्षक प्रस्तावों को भी सावधानी से देखा परन्तु सोमप्रकाश और उसमें बहुत भेद पाया और जो कुछ द्वेषी पत्र प्रेरक ने लिखा था उससे

'सारसुधानिधि' शुद्ध राष्ट्रीय पत्र था जिस में राजनीतिक विषयों की प्रधानता रहती थी। दूसरे वर्ष के चौथे अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है, 'राजप्रतिनिधि लार्ड लीटन साहिब का वियोग दुःख'। सम्पादक ने बड़ी साफ़ भाषा में कहा है कि "भारतवासियों को अब यह सूझने लगा कि उन्नति का मूल एक राजनीति की चर्चा ही है। राजनीति की चर्चा जितनी अधिक होयगी, उतनी ही भावी उन्नति भी हाथ जोड़ कर सम्मुख उपस्थित होयगी।" ता० २३ जून १८७९ ई० को 'लार्ड

कहीं विपरीत मालूम हुआ। हमें विशेष करके इस बात का शोक है कि भारतमित्र के सम्पादक महाशय को दो-तीन सप्ताह से हो क्या गया है जो आप प्रायः द्वेषी पत्रों को आँख मूँदे प्रकाश कर देते हैं। आपको उचित था कि अपने पत्र 'भा० मि०' के नाम को कुछ तो सार्थक करते, और भारतमित्र को तो दूर मारिये, स्वमित्र की मैत्री को स्थापित रखते। आप तो भारत मात्र के मित्र बना चाहते हैं पर देखने में आता है कि आप कोस भर की मित्रता भी नहीं निभा सकते। लज्जा का विषय है कि आप ऐसे योग्य सम्पादक ऐसे ऐसे पत्रों को स्वभारतमित्र में स्थान दें। क्या सम्पादक को यही उचित है चाहे जो जैसा लिख भेजे उसे अन्धाधुन्ध बिना सोचे विचारे छाप देना और व्यर्थ आपस के शील को तोड़ना मित्रों से मुँह फेरना इसी को उत्तम समझे। मित्रवर, भा० मि० सम्पादक आप तो सारसुधानिधि-सम्पादक के निकटवर्ती मित्र हैं फेर क्या कारण जो अपने बिना विचारे ऐसे उत्तम देशहितैषी मित्र और देशहित साधक पत्र के विरुद्ध किसी द्वेषी का भेजा हुआ पत्र प्रकाश कर दिया। हम लोगों को यह उचित नहीं है कि आपस में विरोध रखें, किन्तु यथाशक्य सख्य भाव रखना उचित है। यदि पत्र सम्पादक लोग परस्पर वैमनस्य धारण करेंगे तो देशोन्नति हो चुकी और समाचारपत्रों का कर्तव्य भी हो चुका। 'आर्य महाशयों! हम इसे निःसन्देह मुक्तकण्ठ से कह सकते हैं कि इस समय हिन्दी वृत्त पत्रों में सारसुधानिधि सर्वोत्कृष्ट और प्रथम कक्षा का पत्र है। प्रति सप्ताह में इसके अनेक प्रस्ताव देशोन्नति सूचक होते हैं, सम्पादक के लेखक ही से उनकी देश-हितैषिता और देश कल्याण का सत्यानुराग स्पष्ट प्रतीत होता है। इससे हिन्दी भाषा के पत्रों की शोभा है और यदि ईश्वर ने दुष्टों की दुष्टता से इसकी रक्षा की तो थोड़े ही काल में इसका चमत्कार देखियेगा······················वास्तव में इस पत्र के प्रतिसप्ताह के प्रस्तावों में से देश का कुछ न कुछ उपकार सूचित होता है। जो लोग इस पत्र की उन्नति नहीं देख सकते वे मूर्ख और अधम हैं।··············ऐसे विशिष्ट पत्र के कलंकित करने से कोई बड़ियाई नहीं। हमारी जान तो यह इस समय सब पत्रों में अनूठा और अग्रगण्य है, हमारी तो यही इच्छा रहा करती है कि ईश्वर इसे चिरकाल पर्यन्त स्थायी कर जिसमें देश का कल्याण और जलने वालों का दाँत खट्टा होता रहे। हम सदा इसकी वृद्धि चाहते हैं और यद्यपि प्रियवर पण्डित सदानन्द मिश्र जी हमसे सब प्रकार से वृद्ध हैं तथापि मित्रता के कारण यही प्रार्थना करते हैं कि आप इन दुष्टों के कुत्सित और भ्रष्ट बुद्धियों पर ध्यान कदापि न दीजिये और सदा अपने देशहित साधना की ओर रुचि और श्रद्धा अधिक करते जाइये।

(अन्त में एक दोहा है, दोहा के ऊपर श्लोक है। दोहा नीचे उद्धृत किया जाता है।

दोहा— सदानन्द जू करहु तुम सदा आनन्द विलास
सहि हैं सुख भारत हितो मरि हैं दुष्ट उसास।"

लीटन और उनकी कौंसिल' की चर्चा करते हुए सम्पादक ने लिखा था, "प्रजा के आवेदन पर नजर नहीं करना अति संकीर्ण राजनीति है, ऐसी नीति अवलम्बन करके ब्रिटिश गवर्नमेण्ट स्थापित नहीं हुआ है, और इस प्रकार की नीति अवलम्बन करने से राज्य भी बहुत दिन रहने का नहीं।" यह 'सारसुधानिधि' की राजनीतिक भविष्य-वाणी थी। इसी प्रकार 'भारतवर्ष में प्रतिनिधि शासन प्रणाली की आवश्यकता' का राजनीति विवेचन करते हुए दूसरे वर्ष के १४ वें अंक में बड़ी निर्भीकतापूर्वक सम्पादक ने कहा था कि "इतनी सुशिक्षा, इतनी उदारता पर भी अभी तक ब्रिटिश जाति के चित्त में जेता और जित भाव का तिरोधान नहीं हुआ। क्योंकि जेता का अहंकार क्रोध और द्वेष जित पर तभी तक रहता है कि जब तक दोनों असभ्य रहते हैं। जैसा कि हिंसक सिंह जंगल के सब पशुओं का राजा होकर भी अपने जेता-अभिमान से अपनी आश्रित प्रजा स्वरूप जित पशुओं के प्रति अपनी जिंघासावृत्त चरितार्थ करके उनको प्रतिदिन मार मार कर खाता है। यह पशु व्यवहार उन्हीं के चित्त से शीघ्र नहीं दूर होता जो कि निरे जंगली असभ्य हैं।" कहना न होगा कि उस जमाने में राजनीतिक दृष्टिसे यह एक बहुत बड़ी बात थी। इसी टिप्पणी में आगे कहा गया है कि "जिस राजा के चित्त में अपने जीतने का अभिमान बहुत दिनों तक आबद्ध रहता है, वह राजा कदाचित् सुशासन नहीं कर सकता और न उसके राज्य में सुख समृद्धि की वृद्धि आदि किसी प्रकार की उन्नति होती है।" क्यों कि जिस राज्य में राजा-प्रजा का परस्पर सद्भाव और परस्पर विश्वास नहीं रहता है उस राज्य का मंगल होना असम्भव है। (वर्ष १, अंक ३५ 'विलायती समाचारपत्र और भारतवर्षीय राजा')। देश के प्रतिनिधि[1] की हैसियत से कही गयी 'सारसुधानिधि' की यह बात उस की राजनीतिक दृष्टि को द्योतित करती है। यह जातीय दृष्टि थी जो राजनीतिक परिवेश के हर बिन्दु को स्पर्श करती थी। युगीन राजनीतिक चेतना का एक भी प्रश्न ऐसा नहीं था जिस ओर 'सारसुधानिधि' का ध्यान न गया हो। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए किंचित् विस्तार में जाना चाहूँगा अर्थात् 'सारसुधानिधि' की वैशिष्ट्य-चर्चा अधूरी रह जायेगी यदि उस की विषय-सामग्री की विस्तृत समीक्षात्मक प्रस्तुति न की जाये। इस लिए हम यहाँ पहले राजनीतिक फिर सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से 'सारसुधानिधि' का मूल्यांकन करेंगे।

'सारसुधानिधि' के प्रत्येक शब्द में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध की स्पष्ट ध्वनि है। बीच-बीच में राजभक्ति का पुट अवश्य है किन्तु साम्राज्यशाही जनित अनौचित्य के प्रतिकार का प्रयत्न ही सम्पादकीय लेख की मूल विशेषता है। 'सारसुधा-निधि' के ३ मार्च सन् १८७९ ई० के अंक में प्रकाशित सम्पादकीय लेख का शीर्षक

१. 'सारसुधानिधि' ने प्रारम्भ में ही प्रतिज्ञा की थी कि "यथासाध्य देश प्रतिनिधि स्वरूप हो कर, सत्परामर्शदान द्वारा कर्तव्य साधन में नियुक्त रहेगा।"

है : 'उन्नीसवीं शताब्दी और ये सभ्यता ! ! !' इस लेख के आरम्भ की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"क्या इसी को सभ्यता, राजनीति, धर्म्मनीति और दयावृत्ति कहते हैं ? जो अपनी सभ्यता, राजनीति, धर्म्मनीति और दयावृत्ति के आगे प्राचीनों को असभ्य, मूर्ख, धर्म्मज्ञानशून्य और नृशंस कहते हैं, ये क्या उन्हीं लोगों के काम हैं। गत फरासीस और जर्म्मन का युद्ध, रूस और टर्की का युद्ध, ये सब युद्धों से स्पष्ट प्रमाण होता है कि सभ्य और असभ्य, राजा और शेर इनमें कुछ भी फरक नहीं है। क्योंकि असभ्यकाल के लोग जिस प्रकार क्रोध, लोभ, हिंसा, वैर निर्य्यातन और जिगीषा आदि पशुधर्म के वशीभूत हो निरपराधियों के रुधिर से देशप्लावित करते थे, अब के सभ्य महापुरुष भी उसी प्रकार रुधिर की नदी बहाया करते हैं। शेर को जिस प्रकार धर्म्म का ज्ञान नहीं है, जीवों के प्रति दया नहीं है, जैसे उनकी जिघांसा वृत्ति प्रबल हुई और क्षुधा उद्दीपित्त हुई, वैसे ही शिकार पर जा गिरे, इसी प्रकार राजा और अबके सभ्य राजा भी वैसे ही हैं, इनके भी लोभ और जिघांसा वृत्ति के उत्तेजित होते ही ये लोग भी लोभ्य वस्तु पर शेरवत जा पड़ते हैं। यदि कोई प्रतिद्वन्दी हुआ तो आग दूनी भड़की। शेरवत इन लोगों को भी मनुष्य वध में अरुचि, धर्म्माधर्म्म का ज्ञान और दया तो बिलकुल ही नहीं है। क्या इसी को सभ्यता, राजनीतिज्ञता, धर्म्मनिष्ठा और दया कहते हैं ? हमलोग प्राचीन काल को असभ्य कहते हैं परन्तु अबके जिगीषु राजाओं का व्यवहार देखकर ये सन्देह होता है कि प्राचीनकाल असभ्य था या अब का समय असभ्य है।"

जूलू और अंगरेजों की लड़ाई के मूल कारण की ओर संकेत करते हुए इसी लेख में कहा गया है कि "जूलू लोगों का भी अपराध ये ही है कि वो स्वाधीन हैं। सेंट लुइसा उपसागर उनके हाथ है, वो अस्त्र-शास्त्र और युद्ध की चीजों की आमदनी का एक उत्तम रास्ता है। अंग्रेजों की ये इच्छा कि ये उपसागर को जूलू लोग छोड़ दें, हथियार रख दें और हमलोगों की अनुग्रह छाया के आसरे जीते रहें।" इस प्रकार स्पष्ट है कि "जूलू इस युद्ध में प्रथम अपराधी नहीं हैं उन लोगों ने इनके राज्य में आके कुछ उपद्रव नहीं किया था और न इनको छेड़ा था। ये युद्ध और काबुल का युद्ध ये दोनों ही इन्हीं लोगों के छेड़छाड़ से हुआ। ये दोनों युद्ध का कारण देखने से कुछ हमलोग विस्मित नहीं होते, क्योंकि इतिहासों के प्रारम्भ से ही दिखाई देता है कि निर्बल पर सबल राजा चढ़ाई करते आये हैं। परन्तु विशेष आश्चर्य तो ये है कि अबके राजा सभ्यता का गर्व करते हैं।" इस वक्तव्य का उपसंहार करते हुए सम्पादक ने बड़ी साफ़ भाषा में अपनी विचारणा प्रस्तुत की है, "....इस उन्नीसवीं सदी में अब ऐसी सभ्यता से यथार्थ सभ्यता का निरादर होता है। क्योंकि गत पचीस बरस के भीतर अबके सभ्य राजाओं की एक युद्ध तृष्णा से संसार का कितना नुकसान हुआ है। इसके उदाहरण के लिये तो रशिया के एक

समाचार-पत्र ने खूब हिसाब करके युद्धों में मरे हुए मनुष्यों की संख्या और रुपयों का श्राद्ध प्रकाश किया है।" इन सब युद्धों में सब मिला के—२७४३०००००० दो खर्व सात अर्व और तितालिस करोड़ रुपे खरच हुए। अभी भी हिन्दुस्तान का गदर इस हिसाब से जुदा है। तिसपर भी युद्ध ! युद्ध ! युद्ध ! करके हमारे सभ्य राजा व्यस्त हो रहे हैं इधर काबुल उधर जूलू, ये ही क्या सभ्यता का स्वरूप है ?"

क़ाबुल युद्ध की आर्थिक क्षति-पूर्ति का प्रश्न

लॉर्ड लिटन के ही कार्यकाल में क़ाबुल का युद्ध हुआ था जिस में खर्च हुए धन की पूर्ति करना सरकार भारत से चाहती थी। इस सम्बन्ध में १० नवम्बर १८७८ ई० को ब्रिटिश पार्लामेण्ट में बहस हुई थी जिस की सूचना 'भारतमित्र' के प्रथमवर्ष की २१वीं और २२वीं संख्या में प्रकाशित हुई थी जिसे पहले उद्धृत किया गया है। 'सारसुधानिधि' के प्रथम वर्ष के ३८वें अंक में इस विषय पर सम्पादकीय लेख—'क़ाबुल का व्यय कौन देगा' प्रकाशित हुआ है, जिस में सम्पादक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "काबुल का युद्ध भारतवर्ष के विशेष हित के लिये न होकर इंगलंड के हित के लिये हुआ था। अब इंगलंडीय गवर्नमेन्ट ने अपनी मर्य्यादा और गौरव वृद्धि के लिये काबुल युद्ध का सूत्रपात किया तब उसका यावतीय व्यय भार भी इंगलंडीय गवर्नमेन्ट को न्यायानुसार उठाना उचित है।" यह तो औचित्य की बात हुई। इसी लेख में सम्पादक ने इस समस्या का एक समाधान भी प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है : "…जो रुपये भारतवर्ष से प्रतिवरस इंगलण्ड में जाते हैं वे रुपये इस तात्पर्य से जाते हैं कि भारतवर्ष की रक्षा के लिये वहाँ सेना रहती है, उसमें व्यय होते हैं, और कुछ इंगलंड में जो इण्डिया आफिस है, उसमें व्यय होते हैं, और कुछ यहाँ के भूतपूर्व राजकर्म्मचारियों को पेंशन दिये जाते हैं। इन्हीं तीन कार्य्यों के लिये अन्दाज बीस करोड़ के भारतवर्ष से प्रति वरस विलायत में रुपये भेजे जाते हैं उनमें से इन्डिया आफिर और पेनशन का व्यय देने के बाद जो रुपये सेना के लिये जोकि केवल भारतवर्ष की रक्षा के लिये नियुक्त है, उसमें व्यय होते हैं। उसमें से काबुल युद्ध का व्यय निर्वाहार्थ रुपये दे देने चाहिये। इसमें हमारे वर्तमान राजमंत्री और इंगलंडीय इम्पीरियल गवर्णमेन्ट की मर्य्यादा रक्षा होती है, और इंगलंड को भी व्यय न देना पड़ा, पक्षान्तर में भारतवर्ष से काबुल का व्यय लिया भी गया और भारतवर्ष को व्यय भार भी न जान पड़ा।"

प्रथम वर्ष के १०वें अंक में 'लॉर्ड लिटन और ब्रिटिश इण्डियन एशोसियेशन' शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य प्रकाशित हुआ है। बंगाल के जमींदारों ने लॉर्ड लिटन के सामने एक दर्खास्त इस बात की दी थी कि "आजकल मेनचेष्टर से जो सूती माल आता है उसपर भी डिउटी अर्थात् परमिट का महसूल उठा देने का जो प्रस्ताव हो रहा है, जिससे हमारे गवर्णमेन्ट कहीं मासूल उठा देने की सम्मति न दे दे।" इसके जवाब में लार्ड लिटन साहब ने बड़े क्रोध के साथ कहा था, "कामन्स सभा में कपड़े के

महसूल सम्बन्ध में जो निश्चय हो गया है हम ठीक वैसा ही करेंगे।" इस पर सम्पादकीय टिप्पणी इस प्रकार है, "···गवर्नर जेनरल वहादुर से इन लोगों ने अति सामान्य आदमियों जैसा वर्ताव किया। हमलोग सविनय प्रार्थना करते हैं यदि लार्ड लीटन वहादुर गुस्से होने के बदले मीठी तरह से समझा देते तो क्या अच्छा नहीं होता ?"

और भी एक प्रार्थना है कि लार्ड लीटन साहब जब भारत राज्य शासन का सर्वोपरि और सम्पूर्ण भार लेकर आये हैं तो इनको अवश्य इंगलंड और भारतवर्ष की अवस्था पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये। ये नहीं कि कमनस सभा में जो निरधारित हो गया वो ही करेंगे। अगर ऐसा ही होता तो वे लोग इनकी मंजूरी के लिये क्यों भेजते ? ··· गवर्नर का प्रयोजन होता है कि एक सर्वोपरि शासनकर्ता होना चाहिये कि जो कर्म्मभूमि की अवस्था देखकर शासित करे। हमलोग सम्पूर्ण आशा करते हैं कि हमारे गवर्नर जेनरल साहब वहादुर दरिद्र भारत पर कृपा दृष्टि रक्खेंगे।" यह प्रार्थना उस व्यक्ति से की गयी है कि जिस की संकीर्णता को सम्पादक खूब समझता था इनकी राजनीति से इनके स्वभाव का परिचय एक यह होता है कि 'इनकी इच्छा तो भारतवर्ष की उन्नति की ओर रहती है परन्तु स्वभाव की संकीर्णता ऐसी है कि उस उत्तम इच्छा का फल विपरीत होता है।' ऐसे ही 'इंग्लड के देवता' को 'सारसुधानिधि' ने भारत के लिए 'शनि देवता' कहा था जो प्रकृत्या पीड़क होते हैं। वर्ष २ अंक ३ में लार्ड लीटन के कर्तव्य का विचार करते हुए सम्पादक ने उन्हें सलाह दी थी कि शीघ्र ही पदत्याग कर दें। 'लार्ड लीटन साहिब बहादुर का कर्तव्य' शीर्षक सम्पादकीय की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—"हम इनको परामर्श देते हैं कि इनको शीघ्र ही पदत्याग करना चाहिये, इसका अवश्य कोई गुरुतर कारण है। प्रथम तो यह है कि पहिले जो सब गवर्नर जेनरल यहाँ आते थे उनको इंगलंड के राजनैतिक साम्प्रदायिक झगड़ों से कुछ प्रयोजन नहीं रहता था।···साहिब ने अपने अधिकार काल में उस भाव से काम नहीं किया। इनके किये कुछ कामों से स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है कि ये इंगलंड के लिवरल और कंसरवेटिव सम्प्रदाय के आभ्यन्तर झगड़ों में विशेष लिप्त रहे। क्योंकि इन्होंने अपने प्रभु प्रधान मंत्री विकंसफिल्ड की आज्ञा इस प्रकार प्रतिपालन किया कि ऐसा जान पड़ता है कि ये उनके दहने हाथ की कड़छी स्वरूप हैं, वे इनको उलटे सीधे जिस प्रकार चलाते हैं ये उसी प्रकार चलते हैं। काबुल युद्ध आदि विषयों में इनको जिस प्रकार आज्ञा हुई इन्होंने द्विरुक्तिमात्र भी नहीं करके झट उसको प्रतिपालन किया। भला यहाँ तक भी इनके पदस्थ रहने में कुछ बाधा नहीं थी। क्योंकि प्रभू की आज्ञा शिरोधार्य्य करना भृत्य का धर्म्म है। अब जो प्रभू होयंगे उनकी आज्ञा उसी प्रकार प्रतिपालन करेंगे इसमें क्या चिन्ता। परन्तु इन्होंने विशेष यह किया कि जिसमें कंसरवेटिव का भविष्यत् में दल पुष्ट होय। इस अभिप्राय से मैंचेष्टर वालों को गांठने के लिये भारतवर्ष की

बीस करोड़ प्रजा के शुभाशुभ पर ध्यान नहीं देकर भारतवर्ष की आमदनी सूती पदार्थों की परमिट घटा दियी, उस क्षति पूरण के लिये वरन इम्पीरियल लाईसेंस रक्खना पड़ा। इसके सिवाय लिवरलों के प्रश्नों का उत्तर इन्होंने कंसरवेटिव पक्ष अवलम्बन करके बड़े उग्र भाव से दिया कि दून चौगून तक पहुँच गये। अतएव जिस लिबरल सम्प्रदाय से ये कंसरवेटिव का पक्ष पुष्ट करने के लिये वाक्य युद्ध में प्रवृत्त हो चुके हैं, अब उसी लिबरल की विजय अवस्था में पराजित कंसरवेटिव सम्प्रदाय लिप्त होकर अकिंचिन कर वेतन लोभ से प्रतिद्वन्द्वी की अधीनता स्वीकार करना इनके योग्य नहीं है।"

प्रगतिशीलता

'सारसुधानिधि' सम्पादक की राजनीतिक चेतना पर्याप्त विकसित थी। लिवरल और कंसरवेटिव मनोभाव का अन्तर उस के सामने स्पष्ट था और स्वभावतः वह लिबरल पक्ष का समर्थक था। 'पार्लियामेण्ट और भारतवर्ष' शीर्षक सम्पादकीय लेख की अन्तिम पंक्तियां इस बात की पुष्टि करती हैं :

"पाठक देखिये विगत पाँच वरस में राजनीति की जो इतनी वक्रगति हुई जिस द्वारा भारतवर्ष दुर्दशा और क्षतिग्रस्त होना पड़ा उसका क्या कारण था? क्या उसका कारण—कंसरवेटिव की एकमात्र स्वार्थपरता नहीं है कि जिसके अनुरोध से काबुल की यह प्रचंड भयंकर अग्नि प्रज्वलित हुई है?

'सारसुधानिधि' आज अपनी ग्रहदशा उतरते ही भारतवर्ष की ग्रहदशा दूर होने का शुभ संवाद लेकर सहृदय पाठक महाशयों के समीप उपस्थित हुआ है। जिस कंसरवेटिव के अधीन हो भारतवर्ष की ऐसी दुर्दशा हुई थी उसका अधिकार ईश्वर की कृपा से जाता रहा। अब लिबरल का आधिपत्य हो गया, ऐसी आशा है कि अब शीघ्र ही सर्व अनर्थ का मूल काबुल युद्ध का शेष हो जायगा। जब इस विष वृक्ष का मूल ही विनष्ट हो जायेगा तो निःसन्देह उसके अंग प्रत्यंग शाखा पल्लवादि भी अवश्य नष्ट हो जायंगे, जो कि हमलोगों को विशेष पीड़ित कर रहे हैं। शांतिः शांतिः शांतिः।

सारसुधानिधि की उग्र राष्ट्रीयता का प्रमाण वर्ष २, अंक १४ के सम्पादकीय वक्तव्य 'भारतवर्ष में प्रतिनिधि-शासन प्रणाली की आवश्यकता' में है। प्रतिनिधि शासन प्रणाली की आवश्यकता पर जोर देते हुए सम्पादक ने कहा था, "अब जबतक शासन प्रणाली का मूल संशोधन नहीं होयगा कदापि सुशासन करने में गवर्नमेन्ट समर्थ नहीं होयगी।" इसी वक्तव्य में गवर्नर जेनरल की कौंसिल के भारतीय सदस्यों को 'साक्षी गोपाल' कहा है जिन्हें बैठा कर सरकार अपनी इच्छा अनुसार राज्य शासनी व्यवस्था विधिवद्ध कर लेती है। "जिस व्यवस्था द्वारा प्रजा का पूरा जनहित होता दिखाई देता है, साधारण समाचार पत्र, साधारण प्रजा उसके प्रतिवाद करने में

प्रवृत्त हो जाते हैं। तब गवर्नमेन्ट एक लम्बा चौड़ा मन्तव्य लिखके प्रकाश कर देती है कि यह व्यवस्था देश मान्यों के सुमत से विधिबद्ध हुई है। इसका प्रमाण देशी मुद्रा शासनी विधि और शस्त्रधारिणी व्यवस्था है। जिस दिन प्रेस एक्ट विधिबद्ध हुआ था उस दिन कौंसिल में महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर उपस्थित थे। परन्तु वह सिवाय साक्षी गोपाल के और क्या कर सकते थे।''"यदि विचार करके देखो तो इन नाम मात्रों के साक्षीगोपाल मेम्बरों से क्या कार्य्य सिद्ध हो सकता है। पक्षान्तर में हमारे शासनकर्ता सब इंगलैंडीय होने के कारण हमलोगों के आभ्यन्तर विषयों से सम्पूर्ण अनभिज्ञ और अपरिचित हैं इसलिये न तो उनका अभीष्ट सिद्ध होता है और न हमलोगों का हित साधन हो सकता है। अतएव अब भारतवर्ष में प्रतिनिधि शासन प्रणाली की अत्यंत—आवश्यकता है। बिना इसके न तो बृटिश गवर्नमेण्ट को सर्वांग सुन्दर यश प्राप्त हो सकता है और न कदाचित् भारतवर्ष की सर्वांगीन उन्नति हो सकती है। दूसरे वर्ष के ४५वें अंक 'लर्ड रिपन के प्रति प्रतिनिधि शासन प्रणाली विषयक स्मारक पत्र' प्रकाशित हुआ है।

लार्ड लीटन के प्रति दृष्टि

वर्ष २, अंक ३ में सारसुधानिधि-सम्पादक ने लार्ड लीटन को सलाह दी थी कि वे यथाशीघ्र अपना पद त्याग दें। अंक ४ के संपादकीय वक्तव्य का शीर्षक है, "राजप्रतिनिधि लर्ड लीटन साहब का वियोग दुःख" इस लेख में सम्पादक ने लार्ड लीटन के कुकृत्यों की खुलकर चर्चा की, "इन्होंने भारतवर्ष में आकर ऐसा कोई काम नहीं किया कि जिस द्वारा भारत प्रजा सुखी होती। क्योंकि दक्षिण का महादुर्भिक्ष इनके समय उपस्थित हुआ था। परन्तु महामान्य ने उसके प्रारम्भ ही में दिल्ली के महादर्बार का ऐसा आडम्बर किया कि उस कारण इस दुर्भिक्ष का बन्दोबस्त ऐसा नहीं हो सका कि उससे प्रजा का जीवन बचता। उस दुर्भिक्ष का स्मरण होने से शरीर कांप उठता है, जीवात्मा सूख जाता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हाय आज पर्य्यन्त उस दुर्भिक्ष के सताये भारतवासी दम नहीं ले सके हैं। अद्यावधि प्रजा निरलम्ब निराश्रय हो कोई प्रिय पुत्र का कोई परम बन्धु का कोई पूजनीय माता पिता का असहनीय वियोग दुःख सह रही है।''''''उस दुर्भिक्ष का प्रतिकार यदि समय रहते होता तो भारतवासियों की ऐसी दशा क्यों होती है ?"

लीटन के कुकृत्य से भारतीय जनता इतनी पीड़ित थी कि उनके हर गतिविधि से उसे अशुभ की आशंका होती थी। पदत्याग के बाद लीटन साहब का भारत में रहना सारसुधानिधि सम्पादक की दृष्टि से निरापद नहीं था। दूसरे वर्ष के सातवें अंक में सारसुधानिधि ने यह प्रश्न उठाया था कि—"लर्ड लीटन के रहने का क्या अभिप्राय है ?" बड़े स्पष्ट शब्दों में सम्पादक ने लिखा था, "महात्मा लर्ड लीटन को पदत्याग करके यहाँ रहना योग्य नहीं है। इनके रहने से हमलोगों को भय होता है कि

महामान्य राइपन से इनकी वहां की मित्रता है, और यह और भी उनसे घनिष्टता बढ़ाया चाहते हैं। क्योंकि ऐसा सुनने में आया है कि लर्ड लीटन साहिब लार्ड राइपन को नाच (बाल) देंगे। आश्चर्य का विषय है कि जो इनके साम्हने इनके सर्वोपरि समन प्राप्त होयंगे। ये उनके साम्हने अपनी खुशी प्रकाश करके उनकी दावत करेगें। जो होय इनकी इन बातों से हमको निश्चय होता है कि इनके रहने का यह अभिप्राय है कि प्रथम तो राजस्व विभाग में गोलमाल हुआ है उसको किसी प्रकार समर्थन कर लें। दूसरे स्वाधीनता और उच्च शिक्षा के विरोधी लर्ड लीटन साहिब को विश्वास हो गया होयगा कि लर्ड राइपन साहिब आते ही हम भारत प्रजा को फिर वही स्वाधीनता दे देंगे जिसको हमने छीना है। ऐसा जान पड़ता है कि इनको यह भी निश्चय हो गया है कि ये आते ही पुनः उच्च शिक्षा का द्वार खोल देंगे कि जिसके विरुद्ध में हमने दिल्ली कालिज को उठा दिया है और लाहौर में वक्तृता भी कियी थी। इनके रहने से यह भी प्रतिपन्न होता है कि इनकी इच्छा अभी और भी काबुल में रुधिर प्लावन की है। अतएव थोड़े दिन इनके पास रहकर जहां तक हो सके अभिनव शासन कर्ता लर्ड राइपन को इन सब सदनुष्ठानों से विरत रक्खे। इनके स्वभाव से साधारण को ऐसा अनुमान होना आश्चर्य नहीं। अतएव इनका पदच्युत होके रहना हम भारतवासियों के पक्ष में अच्छा नहीं। इनका रहना जो एक हम भारतवासियोंके ही पक्ष में अच्छा नहीं ऐसा नहीं इनके पक्ष में भी अच्छा नहीं है।.. ....
इससे महामान्य लर्ड लीटन साहिब बहादुर को हम सविनय सत् परामर्श देते हैं कि उनको यहाँ रहना योग्य नहीं है। महामान्य लार्ड राइपन के आते ही उनको राज्य-भार सौंप के उसी दिन यात्रा करना इनके योग्य है। जैसा इन्होंने इस्तिफा देके बुद्धिमानी का काम किया है वैसा शीघ्र चले जाना उचित है।"

भारतबन्धु से संघर्ष

इसी प्रश्न को लेकर सारसुधानिधि ने 'भारतबन्धु की अदूरदर्शिता' का उद्घाटन किया था। लार्ड लीटन के प्रेस एक्ट के बारे में भारतबन्धु ने लिखा था, कि "बहुत से लोग उक्त श्रीमान् को यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने प्रेस एक्ट जारी किया—हमारे निकट इससे भारतवर्ष की कुछ भी हानी नहीं हुई—यह हमारे शील के सुधारने की सहज में युक्ति निकल आई—हमारे स्वदेशी समाचारपत्रों में ऐसे ऐसे व्यग्र वचन लिखे जाते थे कि प्रदेशी महाशय हमारी विद्या और बुद्धिमानी पर आक्षेप करते थे।" इस पर सारसुधानिधि की टिप्पणी द्रष्टव्य है, "हाय रे अपूर्व खुशामद। हम उक्त सम्पादक से यह पूछते हैं कि आपने जो लिखा कि 'प्रेस एक्ट से तो हमारे निकट भारतवर्ष की कुछ भी हानी नहीं हुई।" यह क्या आपने सम्पूर्ण भारतवर्ष की ओर से कहा है या केवल अपने किसी मतलब से लिखा है? यदि कहें कि प्रेस ऐक्ट

का अनुमोदन हमने भारतवर्ष की ओर से किया है तब इनका अपराध कदापि मार्जनीय नहीं है। क्योंकि जिस प्रेस एक्ट के विधिबद्ध होने से हम सब साधारण भारतवासियों को अपनी भावी उन्नति के मार्ग में कांटे सूझने लगे। जिसके प्रतिवाद के लिये भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रधान और प्रसिद्ध स्थानों में प्रकाश्य साधारण सभा इकट्ठी हुई थी जिसका प्रतिवाद करने को हमलोगों ने महामान्य वर्तमान सर्वप्रधान राजमंत्री-ग्लाडस्टोन साहिब को वरण किया था। जिस पक्षपात दूषित आईन के विपक्ष में एक हम भारतवासी क्या वरन् इंगलैण्ड के लोगों तक का शोणित उष्ण हो गया था। हाय क्या ही परिताप का विषय है कि आज उसी प्रेस एक्ट की स्तुतिवाद करके 'भारतबंधु' हम सबको राजभक्ति शून्य बनाते हैं।"
संपादक के दायित्व की ओर संकेत करते हुए सारसुधानिधि-सम्पादक ने इसी वक्तव्य में कहा था कि "जब हम अपने देश के प्रतिनिधि स्वरूप हैं तो हमको केवल अपनी इच्छा के आधीन होना उचित नहीं है।..
इस गुरुतर कार्य्य में तो वही समर्थ हो सकता है कि जिसके मन को विवेक प्रतिक्षण सतर्क करता है। एक पर दया करके बीस करोड़ निरीह राजभक्त प्रजा पर निष्ठुर आचरण करना यह कौन सी दया कहलाती है? एक किसी के दोष से यदि संसार की क्षति होय तो क्या उस अपराधी पर दया प्रकाश करना यथार्थ न्याय परायण सहृदयता का काम है? कदापि नहीं। यथार्थ राजभक्त समाचार पत्र का मुख्य कर्तव्य है कि अपने राजा प्रजा दोनों के हित निमित्त यथार्थ न्यायपथ अवलम्बन करके जिस राजनियम द्वारा प्रजा की क्षति होय और अपने राज के अकलंकित यश में कलंक लगता होय तो उसके रहित करने का अनुरोध करना उचित है।"

'भारतबन्धु' ने एक और आपत्तिजनक बात कही थी कि "जब तक लर्ड लीटन राजपद पर रहे सब लोग कोरी चापलूसी में लीन रहे उनके जाने के समाचार सुनते ही निन्दाव्याजस्तुति करने लगे ऐसी बातों से हमारी प्रकृति-शील राजभक्ति में अन्तर आता है हमारी कृतज्ञता को वट्टा लगता है।" इतना ही नहीं लार्ड लीटन के कुकृत्यों की समालोचना को सनातन धर्म नीति के प्रतिकूल बताते हुए भारतबन्धु ने लिखा था कि 'यदि कोई हमारा स्वदेशी बंधु इस वियोग काल में श्रीमान लर्ड लीटन के कामों पर असन्तुष्टता प्रकट करने में प्रवृत्त हो तो हम यही कहेंगे कि वह हमारे सनातननीति धर्म्म के प्रतिकूल बरताव करता है।" इस पर सारसुधानिधि की टिप्पणी द्रष्टव्य है, "भारतबन्धु के इस लेख से क्या स्पष्ट सूचित नहीं होता कि इनको न तो प्राचीन इतिहास पुराणों में व्युत्पत्ती है और न इनको वर्तमान काल का ज्ञान है जो ये ऐसी असंगत बात करते हैं।..............इनको अभी यह विदित नहीं कि पूर्वकाल में राजा और प्रजावर्ग आपस में किस प्रकार का वर्ताव रखते थे। प्रजारंजक राजा का कर्तव्य था कि प्रजा की उन्नति करना उनकी सुख समृद्धी की वृद्धि करना जिसमे प्रजा सुखी होय सो करना—राजभक्त प्रजा का कर्त्तव्य उस समय यह था कि राजा

के यज्ञ की वृद्धी करना उसमें किसी प्रकार का दोष न होने देना। इसी रीति के अनुसार और किस की बात है स्वयं राजा रामचन्द्र जी के प्रति जब इस बात का दोष लक्षित होने लगा कि उन्होंने अयोनिसम्भवा जानकी जी को ग्रहण किया चाहे चाहे अपनी ओर से उन्होंने परीक्षा करके भी ग्रहण किया था तथापि मर्य्यादा लंघन का दोष होने लगा तब प्रजावर्गों ने उनसे निवेदन किया कि जब आप ही मर्य्यादा-लंघन करियेगा तब हमलोगों की क्या गति होयगी'। इस आवेदन के उत्तर में प्रजारंजक राम को सती सीता को उसी समय निकाल देना पड़ा था। जब हमारे सनातन नीति धर्म में राजभक्ति का यहाँ तक प्रमाण मिलता है तब यदि लर्ड लीटन साहिब के किये कार्य्यों का प्रतिवाद करें कि जिस द्वारा राजा प्रजा दोनों का अहित हुआ है और होने की सम्भावना है, तो क्या हमारी सनातन राजभक्ति नष्ट हो जायगी ? और वर्तमान इस उन्नीसवीं शताब्दी में क्या इस कार्य्य द्वारा हमारी राज-भक्ति विचलित हो गयी अथवा हो सकती है ? जो हो ये 'भारतबंधु' के भूत और वर्त-मान काल के ज्ञान का परिचय हुआ। अब उनकी भविष्यत् अभिज्ञता देखिये, इसी प्रस्ताव के स्थान में उन्होंने लिखा है कि "·········नवीन अधिकारियों के निकट भी हमारे तुच्छ बने जाने की सम्भावना है" वाह जी अनुमान, समझ होय तो ऐसी होय। यदि एक अधिकारी ने आकर अपनी स्वेच्छाचार क्षमता को हम सब निरीह भारत प्रजा पर चरितार्थ किया और हमलोग उस पर भी उस अधिकारी को वे सब सरियन दुखदायी नियमों का अनुमोदन करेंगे तो क्या उससे हमारी भावी अवस्था के लिए कभी उपकार हो सकता है ? अपनी उक्त टिप्पणी का उपसंहार करते हुए सारसुधानिधि-सम्पादक ने लिखा है, "हम उपसंहार काल में अपने अपूर्व सद्विवेचक 'भारतबंधु' सम्पादक से अनुरोध करते हैं कि कृपा करके आगे को ऐसे विषयों में हाथ न डाले। क्योंकि बिना समझे गुरुतर विषयों में सम्पादकीय मत प्रकाश होना बहुत ही अनिष्टजनक होता है। यह क्या सामान्य अनिष्ट की बात है कि जिस जघन्य नियम के रहित करने के लिये हमलोगों ने जो सब उद्योग और उपाय किये हैं, वे सब अब सफल हुआ चाहते हैं ऐसे समय एक अपने किसी स्वार्थ के लिए उसमें बाधा देना क्या भारतबंधु का काम है ? यह तो परम शत्रु का काम है। यह तो हम निश्चय और सत्य कहते हैं कि भारतबंधु ने जो प्रेस एक्ट का अनुमोदन किया है वा साधारण सम्मति के अवश्य विरुद्ध है। इसका यह कहना केवल अपने किसी स्वार्थ के लिये है। अतएव ऐसे स्वार्थवादियों के कहने पर विश्वास करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि 'अर्थी भद्रन्न पश्चयति।"

देशवासियों को सलाह

कदाचित् ऐसे ही स्वार्थरत देशवासियों को लक्ष्य कर सारसुधानिधि, वर्ष २, अंक २५ के सम्पादकीय वक्तव्य 'भारत के दुर्भाग्य' में सम्पादक ने कहा था, "यही

तो भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि जिस प्रकार प्रजा अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वार्थ में तत्पर हो ऐसे कार्य्य नहीं करती कि जिसमें बहुतों का एक ही स्वार्थ हो।

"हे प्रिय भारतवासियों। यह न समझो कि भारत के दुर्भाग्य हमको क्या हमारा तो एक प्रकार निर्वाह होता है। यह तो हम निश्चय करेंगे कि इस समझ से तो कदापि सुधरना नहीं है अतएव भारत के दुर्भाग्य को अपना दुर्भाग्य और भारत के सौभाग्य को अपना सौभाग्य समझो। नहीं तो भारत का दुर्भाग्य कदापि दूर नहीं होयगा।"

हम ने ऊपर कहा है कि सारसुधानिधि लिबरल पक्ष का समर्थक पत्र था। चूंकि इस पक्ष से उसे भारत-हित की आशा थी मात्र इसी लिए वह उस का समर्थक था। पीड़ित भारतवासियों के लिए पीड़ा-निरसन की थोड़ी सम्भावना भी एक बड़ी शक्ति थी। प्रथम वर्ष के २८ वें अंक में 'भारतवर्ष की ग्रहदशा' पर विचार करते हुए सारसुधानिधि सम्पादक ने अपने सम्पादकीय लेख का उपसंहार इस प्रकार किया है: "ग्रहदशा का एक यह भी नियम है कि उतरते हुए अत्यन्त दुःख देता है। और इधर भारतवर्ष की दुर्दशा की चरम सीमा भी उपस्थित हुयी है, इन सब कारणों से शायद इस मन्त्री महादशा का शेष निकटवर्ती होय तो क्या आश्चर्य है। हम ऐसी आशा करते हैं कि ग्लाडष्टोन, नर्थब्रुक, लरेन्स, हार्ट और फसट प्रभृति के कहने पर दयामयी महारानी भारत राजराजेश्वरी स्वयं ध्यान देंगी और हमलोगों का दुःख दूर करेंगी।" इस अशुभ ग्रहदशा के उतरने की सूचना दूसरे वर्ष के आरम्भ में ही 'पार्लियामेण्ट और भारतवर्ष शीर्षक सम्पादकीय लेख में प्रकाशित हुई और 'मन्त्री सम्प्रदाय परिवर्तन का शुभ समाचार' दूसरे वर्ष के चौथे अंक में प्रकाशित हुआ। ये अर्थात् लिबरल मन्त्री सम्प्रदाय के प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए सारसुधानिधि के अनुकूल सम्भावना की ओर भी संकेत किया था, "हम अतिशय प्रसन्नचित्त से प्रकाश करते हैं कि महात्मा ग्लाडष्टोन साहिब के मन्त्री होने से हमको पूरी आशा होती है कि जिन जिन विषयों में इन्होंने प्रकाश्य प्रतिवाद किया था उन विषयों के सुधारने की क्या बात है वे सब तो सुधरे ही पड़े हैं। वरन उनके आनुषंगिक पब्लिक वर्क प्रभृति भी शीघ्र ही उन्नत हो जायेंगे। शिविल सर्विस का नया नियम जो कि हम भारतवासियों का एक प्रधान सत्व का नष्टकर्ता है वह भी सुधर जायगा। और ऐसी आशा होती है कि सिविल सर्विस की परीक्षा का भी नियम शीघ्र ही परिवर्तित हो जायगा। क्योंकि महात्मा ग्लाडष्टोन साहिब ने जो मंत्री सम्प्रदाय संगठित किया है उसको देख निश्चय होता है कि भारतवर्ष का सुख सूर्य्य उदय हुआ।''''इनकी योग्यता का परिचय तो इतना ही बहुत है कि महारानी ने इनको सर्वप्रधान पद देने को कहा और इन्होंने न्याय के वशवर्ती होकर उसको ग्रहण नहीं किया। इससे इनकी केवल न्यायपरता ही नहीं, वरन् निस्वार्थभाव का विशेष परिचय होता है। ऐसे निस्वार्थवादी-न्यायपरायण के हाथ भारतवर्ष का कर्तृत्व होना अवश्य शुभ संवाद है।

हम ऐसी आशा करते हैं कि अब जैसे बानक बने हैं भारतवर्ष का मंगल तो अवश्य होयगा।"

लार्ड रिपन के प्रति एक आश्वास बोध

ऐसी ही आशा प्रकट की थी सारसुधानिधि-सम्पादक ने लार्ड रिपन के प्रति जब उन का गवर्नर जेनरल के रूप में भारत में पदार्पण हुआ था और जब बम्बई म्युनिसिपल कार्पोरेशन के सदस्यों के अभिनन्दन का उत्तर देते हुए उन्होंने भारतीय जनता को आश्वासन दिया था कि "...युद्ध समाप्त करके भारतवर्ष की आभ्यन्तर उन्नति और शान्ति के लिये हम सर्वान्तःकरण से यत्न करेंगे।....यदि हमारे शासन-काल में भारतवर्ष की कुछ भी आभ्यन्तर उन्नति शिल्प और कृषी की उन्नति, भारत-वासियों के सुख की उन्नति, सब जाति और सब साम्प्रदायिक साधारण भारत-वासियों की समृद्धि की उन्नति हम कर सकें, तो हम अपने राजनैतिक जीवन का प्रधानतम और उच्चतम गौरव लाभ हुआ, ऐसा जानेंगे। आप लोग हमारी इस बात पर निर्भर और विश्वास लाभ कर सकते हैं।"लार्ड रिपन की इस बात पर विश्वास प्रकट करते हुए सारसुधानिधि-सम्पादक ने वर्ष २ अंक ९ के 'लर्ड राइपन का 'शुभा-गमन' शीर्षक सम्पादकीय लेख के अन्त में लिखा था कि "....हमलोगों को पूरा विश्वास है कि आप निःसन्देह स्वाधीन भाव से अपने अवश्य कर्तव्य प्रजारंजन कार्य्य में समर्थ होईयेगा। जिस द्वारा धर्म्मतः आपके यश और गौरव की वृद्धी होयगी, और हमलोगों की चिर संचित शुष्कप्राय आशा लता पुनः स जीवित होय पुष्पित और सफल होयगी। एवमस्तु। किन्तु ऐसा नहीं हुआ।

निराशा

और जब लिबरलों द्वारा भी भारतीयों को साम्राज्यशाही जनित सांघातिक पीड़ा से त्राण पाने का कोई प्रत्यक्ष प्रयत्न नहीं दिखा जिसकी पूरी सम्भावना थी तो उन के जातीय मनोभाव पर एक गहरी चोट लगी। सारसुधानिधि के वर्ष २, अंक १७ में 'अभी भी क्या समय को प्रतीक्षा' शीर्षक से सम्पादक ने एक बड़ी तेज़ लेख लिखा। नये शासकों को सम्बोधित कर सम्पादक ने जिन के बारे में बड़ा ऊँची सम्भावना प्रकट की थी, अपनी सहज शैली में लिखा है, "धन्य हैं, आपको नमस्कार है। आपकी लीला अपरंपार है। आप जो कहते हैं सब सत्य है। आप लिबरल हैं, आपकी क्या बात है। आप यथार्थ परिवर्तन प्रिय हैं। आप कुछ टोरी थोड़े ही हैं जो नवीन सभ्यतानुसार कुछ नहीं किया चाहते। आप तो संसार के हित साधन के लिये पुरानी लीक को तुच्छ समझते हैं। टोरी मंत्रियों की स्वेच्छाचारिता दूषित राजनीति को आप ही ने सप्रमाण सिद्ध किया था। भारतवर्ष के सम्बन्ध में मुद्रण स्वाधीनतापहारी कुव्य-वस्था को और शास्त्रापहारी नियम को प्रधान और मुख्य अत्याचार घोषित कर

विचारे कंसरवेटिवों को अपदस्थ किया था। उनके परास्त करने की युक्ति सबसे प्रधान देशी समाचार पत्रों की स्वाधीनतापहारी कुव्यवस्था ही आपके हाथ लग गयी थी। जोकि यथार्थ में सम्पूर्ण उन्नतिशील सभ्यता के विरुद्ध है। जिस कुव्यवस्था के विधिबद्ध होने से आप ही ने बृटिश जाती को कलंकित घोषित किया था। जिसके विरुद्ध महासभा आप ही ने प्रतिवाद किया था। आपकी तत्सामयिक वक्तृता का शब्द यहाँ तक प्रतिध्वनित हुआ था, जिस द्वारा आशा पिशाची ने हमलोगों के साम्हने अपना अपूर्व सौन्दर्य दिखाके ऐसा मोहित किया था कि हम सब निरन्तर आपकी विजय अन्तःकरण से प्रार्थना करते थे।...... ईश्वर की कृपा से आप पदस्थ हुए क्रम से एक दिन दो दिन बीतने लगे और हम लोगों की उत्कंठा भी उसी क्रम से बढ़ने लगी। परन्तु 'हा हतोस्मि'। तीन महीने बाद आपके हार्टिंग्टन साहिब ने कहा अभी सहसा पुराने मंत्री के किये नियम को बिना उसके दोष गुण देखे रहित नहीं कर सकते हैं !! अभी समय प्रतीक्षा करो। क्या अभी भी समय-प्रतीक्षा !!!... ....अब हमको सूझने लगा कि इनके यहाँ का यह प्रवाद सत्य है कि 'हाकिम टले पर हुकुम नहीं टले' जो हो अब आपने कहा कि अभी भी समय की प्रतीक्षा करो तब अभी अवश्य विलम्ब है।.......ईश्वर जिसको पूर्वकृत पाप का फल दे गूंगा बनाता, परन्तु हाथ दे देता है जिस द्वारा वह हाथ के ईशारों से अथवा लिखके अपने मनोगत भाव और दुक्खों को प्रकाश कर सकता है। किन्तु लार्ड लीटन का प्रताप उनसे भी बढ़के दिखायी देता है। कि निरपराधी बीस करोड़ भारतवासी को एक विध अपराधी कर सभी को एक ही दंडाज्ञा-द्वारा गूंगा और लुंजा कर बैठाया। आश्चर्य है कि इनकी इस उग्र दंड विविध के अनुसार आप भी हमारी बृथा सुनने को परांगमुख हो अभी काल प्रतीक्षा की आज्ञा देते हैं।.......जब आपने इसी विषय को प्रधान आदर्श रक्खके इसी के दोष से पदस्थ बिकन्सफिल्ड को अपदस्थ किया था, और दृढ़ प्रतिज्ञा कियी थी कि निःसन्देह निरपराधियों का वाक्यावरोध करना जघन्य अपराध है। तब क्या आपने बिना जाने ही डिसरेली सम्प्रदाय को दोषी किया था ? ऐसा क्या किसी को स्वप्न में भी ध्यान हो सकता है कि ये सब बातें आपने केवल अपना पक्ष समर्थन करने के लिये झूठों ही विपक्षी पर दोषारोप करने को कहीं थी न यह क्या सम्मत है कि अभी इंगलैंड में इस जघन्य कुव्यवस्था के दोष गुण प्रकाश होने बाकी हैं। जो अभी भी समय प्रतीक्षा बाकी है।

"इसी से हम कहते हैं कि, आप जो कहते हैं सब सत्य है। हमारे पक्ष में तो आप जो कहते हैं सभी ठीक है, जब जो इच्छा आपकी कहिये, और जो इच्छा करिये, चाहे कहिये कुछ और करिये कुछ, आपका सब ठीक है।" कहना न होगा कि इन पंक्तियों में परवशता की एक गहरी पीड़ा है, आत्मोद्धार की प्रच्छन्न आकुल आकांक्षा है। इतनी निराशा का कारण यह है कि भारतीयों को लिबरलों पर सहज विश्वास था। स्पष्ट है कि 'सारसुधानिधि' की राजनीतिक दृष्टि शुद्ध जातीय थी और विदेशी शासन

व्यवस्था उसे उस सीमा तक सह्य थी जहाँ देशोद्धार की पूरी सम्भावना हो अथवा जहाँ देश-हित पूरी तरह सुरक्षित हो। उदारवादी अँगरेज़ उस की दृष्टि में इस लिए अच्छे थे क्योंकि उन में औचित्य-विचार था कंसरवेटिवों के कुकृत्य का उन्हें बोध था और भारतीयों के प्रति उन के हृदय में सहानुभूति थी। और जब उदारवादियों ने औचित्य का आधार छोड़ दिया, बल्कि कहना चाहिए कि अपने उदार वैशिष्ट्य से जब वे च्युत हो गये तो उन के प्रति सारसुधानिधि की दृष्टि बदल गयी। इसी प्रकार समाचार पत्रों की स्वाधीनता के औचित्य को वैचारिक प्रतिष्ठा देने वाले सारसुधानिधि ने 'विहारबन्धु' की स्वेच्छाचारिता का बड़े कड़े शब्दों में विरोध किया, उस की राजनीतिक अदूरदर्शिता को जातीय उन्नयन में एक बड़ी बाधा और अशुभ उपक्रम माना था। और विदेशी समाचार पत्रों ने जब भारत विरोधी प्रचार शुरू किया था तो सारसुधानिधि ने उस का प्रतिकार करते हुए कहा था, "भला पराये घर का बन्दोबस्त करने का आपको क्या अधिकार है ?······और आप जिस अनधिकार चरचा में प्रवृत्त हुए हैं वह क्या अंगरेज जाती का अनुमोदित है ? कभी नहीं ?" इस प्रकार सारसुधानिधि के समस्त राजनीतिक प्रयत्नों में जातीय प्रगतिशीलता का स्वर काफ़ी स्पष्ट है। सारसुधानिधि के सम्पादकीय लेखों को लक्ष्य कर डॉ० रामविलास शर्मा ने बहुत ठीक लिखा है कि "हिन्दी के लेखकों ने देश के जागरण में कौन-सा भाग लिया, यह जानने के लिए ऐसे लेखों को पढ़ना आवश्यक है।"

सारसुधानिधि की सामाजिक दृष्टि

सामाजिक प्रश्नों को भी सारसुधानिधि ने इसी तेजस्विता और प्रगतिशीलता से उठाया था। चाहे देवोत्तर संपत्ति का प्रश्न हो चाहे गोवध का, चाहे किसानों के दैन्य की बात हो अथवा साम्प्रदायिकता की—सारसुधानिधि ने प्रत्येक सामाजिक प्रश्न पर समान ध्यान दिया और भारतीय समाज के उत्कर्ष के लिए सतत प्रयत्नशील रहा। समाजसुधार के विषय में सारसुधानिधि उस समन्वय का आग्रही था जो भारतीय समाजनीति के अधिक अनुकूल है। स्मरणीय है कि हरिश्चन्द्र भी समन्वयात्मक दृष्टिकोण ले कर अवतरित हुए थे "इस दृष्टि से उन का दयानन्द सरस्वती से भी मतभेद था। वे देश के परम्परागत जीवन में ही देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आवश्यक परिवर्तन और सुधार उपस्थित करना चाहते थे। वेदों तथा वैदिक जीवन के प्रति जहाँ तक आदर और श्रद्धा से सम्बन्ध है, वे दयानन्द सरस्वती से किसी प्रकार पीछे नहीं थे। किन्तु यदि एक ओर वे देश को बिलकुल ही अतीतोन्मुख नहीं बनाना चाहते थे, तो दूसरी ओर अँगरेज़ों से देशभक्ति, समाज-सेवा, निज भाषा-ज्ञान आदि अनेक ऐसी अच्छी अच्छी बातें लेने के पक्षपाती थे जिन से देश अधोगति के गर्त से निकल कर उन्नति पथ की ओर गतिमान् हो सकता था और साथ ही जो बातें भारतीय चिन्ता-पद्धति और जीवन में खप सकती थीं। उन्होंने सब बातों का प्रतिपादन

भारतीयता के नाते भारतीय दृष्टिकोण से किया। यदि उन्हें अपना कूप-मण्डूक समाज पसन्द नहीं था, तो साथ ही अँगरेजी शिक्षितों की अभारतीय बातें भी पसन्द नहीं थीं। वे चाहते थे कि अति का परित्याग कर समन्वयात्मक बुद्धि ग्रहण करते और साथ ही भारतीयता को बनाये रखते हुए देश राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, औद्योगिक आदि समस्त क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करे। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि :

आधे पुराने पुरानहिं माने आधे भए क्रिरिस्तान हो दुइ-रंगी ॥
क्या तो गदहा को चना चढ़ावें कि होइ दयानन्द आर्य हो दुइ-रंगी ॥
क्या तो पढ़ै कैथी कोठिवलिये कि होइ बैरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी।
एही से भारत नास भया सब जहां तहां यही हाल हो दुइ-रंगी ॥[1]

सुधार आन्दोलन और सारसुधानिधि

सारसुधानिधि के समन्वयात्मक सामाजिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए ही इस लम्बे उद्धरण की यहाँ आवश्यकता समझी गयी। सारसुधानिधि सम्पादक का सामाजिक दृष्टिकोण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से बहुत मिलता-जुलता था। यहाँ वह स्मरणीय है कि सारसुधानिधि भारतीयता का अधिक आग्रही था इसलिए स्वभावतः परम्परा को अपसारित करके उस के स्थान पर सर्वथा नवीन व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने के पक्ष में वह नहीं था। इतना ही नहीं बल्कि उसके अनुसार बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तनों और सुधार सम्बन्धी नये निर्णयों को क्रियान्वित करने के पूर्व समाज में व्याधि के रूप में फैली हुई छोटी-छोटी कुरीतियों की ओर समाज संस्कारकों को ध्यान देना चाहिए। 'सामाजिक दशा और परिवर्तनप्रियता' शीर्षक सम्पादकीय लेख की निम्नांकित पंक्तियाँ सारसुधानिधि—सम्पादक के सामाजिक दृष्टिकोण को घोषित करती है : "प्रथम चालचलन आदि ऊपरी बातें जो बहुत दिनों से बिगड़ी हैं और जो बातें समाज में पहिले नहीं थीं, अब नवीन प्रवेश हुई हैं, वह कैसी हैं, इनका विचार करना चाहिये। परन्तु हम देखते हैं तो इस प्रकार का विचार कोई नहीं करता हैं। जिस समाज को देखो उसी में मद्यपानादिक, विगर्हित चाल और योरोपीय चलन का प्रवेश होता जाता है, परन्तु जो लोग समाज संस्कार को पीट रहे हैं, वे इन विगर्हित रीतियों की ओर नहीं देखते कि यह क्या विष घुल रहा है। इसका क्या परिणाम होयगा ? इसकी चिन्ता नहीं करके आजकल जिसको देखो वही स्त्री शिक्षा, बाल्य विवाह निषेध, विधवा विवाह प्रवर्तन और स्त्री स्वाधीनता दान यही चार विषयों के संस्कार में प्रवृत्त हैं।..."प्रिय पाठक ! विचारने का स्थान है, कि जिनको इन प्रत्यक्ष दूषित चाल चलन के दोष दिखायी नहीं देते हैं, उनको भला इन गुरुतर विषयों के दोष गुण कब सूझने लगे हैं। क्या हमारे प्राचीन आर्य्यों ने इसी विज्ञता

1. डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—उन्नीसवीं शताब्दी, पृ० १३८।

और विद्यावुद्धि से समाज परिचालित किया था ? कदापि नहीं, उनके जिस नियमों को देखिये कैसे महोपकारी प्रतिपन्न होते है, जिनकी दूरदर्शिता देखके शरीर आनन्द से पुलकित हो जाता है। जिनकी प्रगाढ चिन्ता, देशहितैहिषता, स्वजनप्रियता और समदर्शिता को देख आश्चर्य हो जाना पड़ता है। जिस भारतभूमि में इन महात्माओं ने जन्म ग्रहण किया था, जिस भारतीय समाज के ये लोग परिचालक थे। आक्षेप का विषय है कि आधुनिक स्वेच्छाचारी शिक्षितों के मुँह से उन्हीं दूरदर्शी तत्वज्ञ महात्माओं की निन्दा सुनायी देती है।"

सारसुधानिधि और स्वामी दयानन्द

भारतीयता के प्रति इतनी बड़ी आस्था और आग्रह के बावजूद सारसुधानिधि का स्वामी दयानन्द सरस्वती से प्रत्यक्ष विरोध था। दूसरे वर्ष के ४१वें अंक में प्रकाशित 'आर्य्य सन्मार्ग संदर्शनी सभा' शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य में सम्पादक ने अनेक सनातनधर्मावलम्वी पण्डितों के मतों को उद्धृत कर काफ़ी विस्तार से दयानन्द जी का विरोध किया था। अंक ४६ के सम्पादकोय लेख का शीर्षक है 'स्वामी दयानन्द सरस्वतो ने भी क्या ही धूम मचा रखी है' जिस की आरम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"जहाँ देखो उन्हीं की चरचा दिखायी देती है। इनकी इस चरचा का परिणाम सोचने से हमको एक प्रकार दुःख होता है कि कहाँ तो भारतवर्ष के भावी होनहार का सुलक्षण यह दिखायी देता है कि देशी सामयिक पत्रों की संख्या वृद्धि होती जाती है और क्रम से लोगों की रुचि स्वदेश के हित पर दिखायी देती है उसके साथ ही श्री महाराज स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने अपना एक नवीन मत का झगड़ा ऐसा फैला रक्खा है कि जो कुछ देशोपकार विषय में साधारण सम्मति भी होने लगी थी, वह इस विरुद्ध भाव से स्थायी होना असम्भव जान पड़ने लगी है। वरन दिन पर दिन और भी विरुद्ध वनके बढ़ने की सम्भावना दिखायी देती है। जिस शहर में देखिये दयानन्दी साम्प्रदायिक और प्रचलित अनेक साम्प्रदायिकों से विवाद होता दिखायी देता है। यह विवाद भी कैसा कि असभ्योक्तियों से खाली नहीं। वह उनको और वह उनको मनमानी गालियाँ देते हैं। वरन् यह झगड़ा ऐसा होता है कि अन्त को सिद्धान्त के बदले मूल विषय भी दोनों पक्ष के लोग भूल जाते हैं और द्वेषभाव उनका ऐसा प्रवल हो जाता है कि आपस में मरने कटने की उपस्थित हो जाते हैं। और कहाँ तक कि स्वयं स्वामी जी से कई स्थानों में हत्या पाई भी हो गयी है। स्वामी जी की हम इस विषय में विशेप प्रशंसा करते हैं कि अब उन्होंने इसी कारण साक्षात् सम्बन्ध में वादानुवाद करना छोड़ दिया है। अब इनका वादविवाद जो कुछ होता है वह पत्रों ही द्वारा होता है। किन्तु हम देखते हैं तो इस पत्रवाद में भी असभ्योक्ति ही विशेप रहती है। अभी उस दिन जो राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० से इनका विवाद हुआ था उसके उत्तर में स्वामी जी

ने जो वाक्य प्रयोग किये थे उनको देखने से हमको इस पत्रवाद में भी कुशल नहीं दिखायी देती है।" इस सम्बन्ध में दूसरे वर्ष के २९वें अंक में मथुरा से सम्पादक के नाम प्रेषित एक पत्र प्रकाशित हुआ था जिस का एक विशिष्ट अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :

"श्रीयुक्त सारसुधानिधि सम्पादकेषु

निवेदनम्।

महाशय !

इन दिनों आगरे में श्री दयानन्द सरस्वती पधारे हैं और लोगों के चित्तों में मूर्तिपूजन न करने के फिर भ्रम डालते हैं, अज्ञ लोग वाजे अपने सनातनधर्म्म को छोड़ अपने बाप दादों को पशुवत् समझ कर उनके कहने से मूर्तियों का तिरस्कार करने लगे हैं, और उनको अपना गुरु समझ कर बहुत से सज्जनों का मानापमान कर रहे हैं। जब कोई शिष्टजन दयानन्द जी के पास जा निकलता है, और प्रश्नोत्तर करता भी है तो असभ्यता से वो उसके प्रश्नों को नहीं सुनता, परन्तु अपने असभ्य साथियों समेत खूब चिल्लाकर हंसने लग जाता है। वाहरे पंडिताई जहां शरम और न्याय तो आने ही नहीं पाते। वेद को अवलंबन किये हुए धूर्तता की कमर बांधकर स्वामी जी बैकुण्ठ का रास्ता खोलने को लोगों को समझाते फिरते हैं। वेद भाष्य और भूमिका रची है तो ऐसी कि जिनमें अर्थ के अनर्थ, कहीं का मंत्र कहीं किया है, कहीं प्रतिमा के सिर बाट कहते हैं, कहीं मूर्ति का खंडन करते हैं, देखो जो मूर्ति होकर मूर्ति का खंडन करे तो उसकी क्या मूर्ति नहीं है, स्वामी जी की मूर्ति का भी स्वामी जी को खंडन यानी कुचल कर प्रवाह करना उचित है।" आगे स्वामी जी के नाम पत्र-लेखक ने दस प्रश्न रखे हैं।"

सारसुधानिधि और महाराष्ट्रीय महिला रमणी रमा

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'सारसुधानिधि' दयानन्द सरस्वती का विपक्षी पत्र था। 'सारसुधानिधि'–सम्पादक सनातन धर्मावलम्बी और समाज-सुधार के विषय में समन्वय का आग्रही था, इस लिए इस का विरोध उसे कदापि सह्य न था। उस की प्रगतिशीलता अतिवाद से बहुत दूर थी और स्वेच्छाचारिता को वह सामाजिक औचित्य के प्रतिकूल एक अशुभ उपक्रम मानता था। 'सारसुधानिधि' भाग २, अंक २८ की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—'रमणी रमा का स्वाधीन परिणय'। महाराष्ट्र के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न रमाबाई एक विदुषी महिला थीं। संस्कृत की वे पण्डिता थीं और अपनी वाक्शक्ति से उन्हों ने पूरे देश में अपना प्रभाव जमा लिया था। वे बालविधवा थीं। उन की प्रगतिशीलता और मेधा-शक्ति से उस युग के प्रचण्ड बुद्धिवादी दयानन्द सरस्वती भी प्रभावित थे और उन्हें वैदिक अर्थात् आर्यधर्म में दीक्षित करने को उत्सुक थे, किन्तु पण्डिता रमा देवी का झुकाव पश्चिमी आधुनिकता की ओर

था। महाराष्ट्र की इस ब्राह्मण-कन्या की ईसाई धर्म में अधिक रुचि थी। देश-विदेश की लम्बी यात्रा समाप्त कर रमाबाई ने 'शारदा सदन' नाम की एक संस्था स्थापित की थी जिस का विज्ञप्त उद्देश्य था नारी-उद्धार, अर्थात् स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वाधीनता के प्रति इस संस्था का विशेष आग्रह था। प्रच्छन्न रूप से रमाबाई इस संस्था के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहती थीं।[1] रमाबाई ने बंगाल के विपिन विहारी दास नामक शूद्र से विवाह कर लिया था। इस पर 'सारसुधानिधि' की प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है : "...सो आज ईश्वर की कृपा से अन्तःसलिला सरस्वती का गुप्त प्रवाह तीर्थराज को प्राप्त हो प्रकट हो गया। अतएव हम को भी सरस्वती वर्णना का

---

१. "शारदा-सदन उन्हों ने बालिकाओं की शिक्षा के लिए खोला था। किन्तु, उन के उग्र विचारों और आचरणों के कारण बहुत से लोग उन के खिलाफ़ हो गये। रानाडे और आगरकर मानते थे कि हिन्दू बालिकाएँ शारदा-सदन में पढ़ें। इस में कोई दोष नहीं है। किन्तु तिलक जी का कहना था यह संस्था हिन्दू बालिकाओं को ईसाइयत की राह पर ले जाने वाली है। अतएव इस का बहिष्कार होना चाहिए। आरम्भ में तो लोग तिलक जी की बातों को अनसुनी करते रहे। किन्तु जब तिलक जी ने अपने पक्ष के अनेक प्रमाण प्रकाशित कर दिये तब रानाडे और भण्डारकर ने भी शारदा सदन से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।"—रामधारी सिंह, 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४५६।

"प्रारम्भ से ही रमाबाई के मन में ईसाइयत की शिक्षा देने की भावना छिपी हुई थी, या इंग्लैण्ड तथा अमेरिका से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता ने उसे उद्‌बुद्ध कर दिया, यह कहना तो कठिन है, परन्तु कालान्तर में यह प्रसिद्ध हो गया कि शारदा-सदन में आश्रय पाने वाली अनेक स्त्रियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। प्रसिद्धि शायद अप्रामाणिक ही समझी जाती, यदि न्यूयॉर्क के 'क्रिश्चियन वीकली' नाम के पत्र ने यह बात प्रकट न कर दी होती कि 'शारदा-सदन' की दो नौजवान महिलाओं ने ईसाई धर्म की शरण में आने की इच्छा प्रकट की है। इस पर 'केसरी' में रमाबाई और 'शारदा-सदन' के विरुद्ध ज़ोरदार आन्दोलन जारी हो गया। जस्टिस रानाडे, डॉक्टर भण्डारकर आदि सुधारक लोग पण्डिता रमाबाई की ईसाइयत-प्रचार की नीति के समर्थक न होते हुए भी उन के स्त्री-जाति के उत्थान के प्रयत्नों के समर्थक थे। रमाबाई प्रकरण में वे लोग भी 'केसरी' की समालोचना के कुठाराघात के नीचे आ गये।

बाल-विवाह-निरोध-सम्बन्धी बिल का विरोध केवल समाचार-पत्र के पृष्ठों तक ही परिमित न रहा। उस के विरुद्ध पूना और बम्बई में सार्वजनिक सभाएँ भी हुईं, जिन में लोकमान्य तिलक ने प्रमुख भाग लिया। वह बिल-विरोधी-दल के नेता माने जा रहे थे।

आगरकर की सहानुभूति सुधारक दल के साथ थी और तिलक सुधारक दल के कट्टर विरोधी थे। स्वाभाविक ही था कि दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते थे। मतभेद की जो खाई शिक्षा के क्षेत्र में बननी आरम्भ हुई थी, वह समाज-सुधार के क्षेत्र में पहुँच कर बहुत चौड़ी हो गयी, जिस का परिणाम यह हुआ कि 'केसरी' और 'मराठा' दोनों का सर्वाधिकार तिलक को सौंप कर आगरकर अलग हो गये। वह मुख्य रूप से शिक्षा के कार्य में लग गये। इधर तिलक बन्धनों से मुक्त हो कर, सर्वात्मना महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में कूद पड़े।"
—इन्द्रविद्यावाचस्पति : लोकमान्य तिलक और उन का युग, पृ० ३६।

अवसर प्राप्त हुआ। हमें अत्यन्त प्रसन्न चित्त से प्रकाश करते हैं कि, इतने दिनों तक अनेक देश-देशान्तरों में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अपने उपयुक्त विद्याकुलशील रूपवान् पात्र को प्राप्त हो सुशीला स्वाधीन चेता रमा अपने अनेक दिनों का संचित काव्यकला परि-शोधित प्रेम समर्पण कर शृंगार-रसास्वादन में तत्पर हुईं। यह कुछ सामान्य दुःख का विषय नहीं था कि सर्वांग सुन्दरी असामान्य कविताशक्ति सम्पन्न हो कर भी आदि रस रसानभिज्ञा रहे!! यद्यपि पहले भी कतिपय सहृदय सुविज्ञ काव्यकला-कुशल युवकों ने रमा के पाणिग्रहण की इच्छा प्रकाश की थी, परन्तु उस समय बाई जी के बड़े भाई श्रीनिवास शास्त्री वर्तमान थे, क्या जाने किस अभिप्राय से और किस प्रतिबन्धक से चाहे जाति कुल शील के अनुरोध से होय अथवा और किसी कारण से होय इस शुभ अनुष्ठान के बाधक थे। अब भगवान् की इच्छा से उन का परलोक हो गया है, श्रीनिवास के बाद बाई जी यहाँ कई एक पाश्चात्य सभ्यता प्रिय तरुणों के तत्वावधान में रहीं।

रमा के इस आचरण से हम लोगों को हर्ष-विषाद दोनों युगपत् उपस्थित होते हैं। यद्यपि यह विषय सम्पूर्ण हर्ष ही का है, क्यों कि प्रथम तो श्रीनिवास के गत होने पर रमा सहाय-शून्य हो गयी थीं, अब सनाथा हुईं। दूसरे अपने स्वेच्छानुरूप पति प्राप्ति होने के कारण संसारसुख उपभोग कर सुखी होयँगी यह भी हर्ष का विषय है। तीसरे 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इत्यादि महार्घ वाक्यों की सार्थकता प्रत्यक्ष होने से स्त्री स्वाधीनता प्रिय तरुणों को एक सदृष्टान्त सदुपदेश प्राप्त हुआ, यह भी कुछ सामान्य आनन्द का विषय नहीं है। चौथे स्त्री-शिक्षा से जो कहाँ तक चरित्र शोधित और धर्मज्ञान होता है यह भी रमा की कृपा से साधारण सभी को ज्ञात हो गया। अतएव ऐसा हितोपदेशक अनुष्ठान अवश्य आदरणीय और आनन्ददायक है इत्यादि। हर्ष के विषय तो कई और भी हैं, परन्तु दुःख इतना ही है कि रमा के मनोनीत पति का नाम श्री विपिन विहारी दास है। जब इस नाम के साथ ही श्रीनिवास शास्त्री के स्वर्णित ब्राह्मण कुल का स्मरण होता है और उन के ब्रह्मण्य का ध्यान आता है तो स्वभावतः चित्त को उतना ही खेद होता है कि जितना रमा की सुशिक्षा और उपस्थित कविताशक्ति की प्रशंसा सुन के सुख होता था। क्यों कि जिस शास्त्रानुसार पूजनीय कुल को रमा सरस्वती के सहयोग से उज्ज्वल करती थी, हा! आज वही रमा दास जी के संयोग से उसी पितृकुल के अधःपतन करने में प्रवृत्त हुई।" 'सार-सुधानिधि' की यह प्रतिक्रिया उस के सामाजिक दृष्टिकोण को द्योतित करने के लिए यथेष्ट है। 'सारसुधानिधि' हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के सनातन वैशिष्ट्य के संरक्षण और संवर्द्धन की एकान्त कामना से प्रेरित और अनुप्राणित था। इस लिए उस सामाजिक क्रान्ति से उस का समझौता सम्भव नहीं था जो हिन्दुत्व के सनातन मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न लगाती हो। इसी लिए उस ने स्वामी दयानन्द का विरोध किया और रमणी रमा के स्वाधीन परिणय के औचित्य को सन्देह की दृष्टि से देखा, मुसलमानों

के साम्प्रदायिक अत्याचार पर उस की दृष्टि पड़ी और गोवध की समस्या उस की मुख्य विचारणा का अनेक वार विषय बनी। अपनी बात को अधिक साफ़ करने के लिए हम 'सारसुधानिधि' के कुछ अपेक्षित उद्धरण देना आवश्यक समझते हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टि

'सारसुधानिधि' के दूसरे वर्ष के २१वें अंक का एक सम्पादकीय लेख है, 'मुसलमानों का अत्याचार'। इस लेख के कुछ विशिष्ट स्थल यहाँ उद्‌धृत किये जाते हैं—

"सम्प्रति हैदरावाद के निज़ाम की अमलदारी में मुसलमानों ने वहाँ के हिन्दुओं पर ऐसा अत्याचार किया है कि जिस के सुन्ने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं, शरीर कांप उठता है, और मुसलमानों पर घृणा उत्पन्न होती है। यह तो सभी जानते हैं कि मुसलमान स्वाभाविक धर्मान्ध, क्रूर और अत्याचारी होते हैं, तिस पर अमलदारी मुसलमानी होने के कारण वहाँ के मुसलमान कुछ विशेष अत्याचार करते हैं।··· हम को पहले विश्वास था यदि हैदराबाद मुसलमान राज्य तो क्या हुआ सर सलारजंग बहुत उपयुक्त हैं उन के कुप्रबन्धों से मुसलमान अत्याचार नहीं कर सकते होयँगे। परन्तु विगत २५ अगष्ट के 'इण्डियन मिरर' के देखने से स्पष्ट प्रतीति हो गयी कि सर सलारजंग इतने शासन कुशल और कार्यदक्ष हो कर भी उद्‌धत मुसलमानों को सुशिक्षित नहीं कर सके। वरन् वहाँ के इस हाल से तो और भी दृढ़ हो गया कि और स्थानों के मुसलमान तो चाहे आइन के वशीभूत हो राज्य शासन का कुछ मान्य भी करते होयँ। परन्तु हैदराबाद के मुसलमान तो शासन प्रणाली का मान्य करना तो क्या, उन को यह भी नहीं ज्ञान है कि हम जिस के राज्य में रहते हैं, हमारे इस असीम अत्याचार से उस राजा और राज्य की क्या दशा होयगी और वह (निज़ाम) ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को इस का क्या जवाव देंगे।"

पाठक! इन का अकारण ही द्वेष और अत्याचार देखिए। हैदराबाद के निकट गलबर्गा नामक स्थान है वहाँ हिन्दू मुसलमान सभी रहते हैं। वहाँ हिन्दुओं के संन्यासियों को समाधि देने का बराबर से एक निर्दिष्ट स्थान है, परन्तु उसी के पास एक मसजिद भी है। वहाँ विगत १६ अगष्ट को थोड़े से हिन्दु किसी एक संन्यासी को समाधि देने गये, जब उन लोगों ने यथारीति मुरदे को गाड़ा तब निकटवर्ती मसजिद से मुसलमान आके अकारण ही हिन्दुओं से लड़ने लगे, इस में यहाँ तक हुआ कि एक मनुष्य जान से मारा गया। मुसलमान लोग ज्यादा थे इस लिए हिन्दु भाग गये। उन दुष्ट मुसलमानों ने समाधि से मुरदे को निकाल सड़क पर डाल दिया, और ईर्ष्या परवस हो उन दुष्टों ने वहाँ एक गोहत्या कर उस का रुधिर उस मृतक के शरीर में छिड़का और उसी समाधि में उस मृतक के बदले उसी गो को डाल दिया! त्राहि!!! इस पर भी उन दुष्टों की तृप्ती नहीं हुई। वहाँ से थोड़ी दूरी पर एक हनुमान जी का मन्दिर

था उस को जा तोड़ा और हनुमान जी को खण्डित कर बाहर फेंक दिया वहाँ भी हत्यारों ने एक गोवध कर उस का सिर मूर्ति के स्थान में रख दिया और उस का कंकाल दरवाज़े पर टांग दिया। श्री हरि! त्राहि !!! त्राहि !!!

अभी भी हिन्दुस्तान में ऐसे अत्याचार होते हैं, इन मुसलमानों को दमन करने वाला क्या कोई नहीं है? निज़ाम गवर्नमेण्ट के सुयोग्य मन्त्री सर सालारजंग ने क्या इतने दिनों में यही शासन किया? जिस की इतनी सुख्याति हो रही है। छी, छी, हम तो जानते थे कि सालारजंग हिन्दुस्तान में एक ही सुयोग्य मनुष्य है।...सम्प्रति जो अतीत दूषणीय उत्पात पशुवत् अतिजघन्य घृणाकर अत्याचार मुसलमानों ने किया है, इस का प्रतिफल यदि उन दुष्टों को नहीं मिलेगा तो भविष्यत् के लिए एक निज़ाम राज्य ही क्या वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष की असीम हानी होने की सम्भावना है।...यदि इस उपद्रव का सद्विचार न हुआ तो सर सालारजंग की नीतिकुशलता सब खुल जायगी। हम लोग इस विषय में इन की राजनीतिक प्रतीक्षा तब तक करते हैं कि जब तक इस का सद्विचार नहीं होता है।"

दूसरे वर्ष के ३८वें अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है 'मुसलमानों का अत्याचार और उद्धत शासकों की मदद।' "बकरीद के अवसर पर भागलपुर, मिरज़ापुर, जौनपुर और बनारस में मुसलमानों ने हिन्दुओं को सताने के लिए हांका ठोक के गोवध किया। पुलिस ने साधारण आज्ञा मैजिस्ट्रेट की आज्ञा के विरुद्ध यह पाप कर्म कराया। हाकिम ने अपराधियों को दण्ड तक नहीं दिया।" उक्त सम्पादकीय वक्तव्य का एक अंश द्रष्टव्य है—"हैदराबाद के मुसलमानों का अत्याचार जब हम ने सुना था तब यह ध्यान में आया था कि वह मुसलमानी अमलदारी है वहाँ हिन्दुओं की कौन सुनता है। किन्तु जब हमारी न्यायपरायण गवर्नमेण्ट के आधीन उस से भी बढ़ कर अत्याचार होने लगे तो बस हो चुका। जिस गवर्नमेण्ट के न्याय विचार की प्रशंसा ने पूर्व मुसलमान बादशाहों को और भी कलंकित किया हुआ है उसी गवर्नमेण्ट के आधीन ऐसा अत्याचार होय कि उन अत्याचारी मुसलमानों के समय से भी बढ़-चढ़ के। छिः, इस से बढ़ के हमारी उदार गवर्नमेण्ट के पक्ष में और क्या लज्जा और घृणा की बात है। तिस पर यह कि गवर्नमेण्ट के उद्धत कर्मचारियों की मदद से। विशेष आश्चर्य तो यह है कि हमारी गवर्नमेण्ट के अपने-अपने अपदस्थ कर्मचारियों का इतना पक्ष हो जाता है कि उस अन्याय पर और भी अन्याय होता जाता है। और कोई सुनता ही नहीं कि क्या हो रहा है। एही क्या ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का विचार है कि जिस विषय में एक जाति प्रजा के धर्म की हानी होय और दूसरे धर्म की हानी भी नहीं होय केवल उन की दुष्टता और हरमज़दगी होय तो भी उस काम को करा दे? इस में क्या गवर्नमेण्ट का दोष नहीं है?

हम देखते हैं तो उधर इन्द्रमणी के मामले से हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध में जो कुछ मामला उपस्थित हुआ उसी में हमारी न्याय परायण गवर्नमेण्ट के गुप्त शत्रु

विष कुम्भ पयोमुख कर्मचारियों ने मुसलमानों का पक्ष कर के गवर्नमेण्ट को दूषित और कलंकित किया। क्या आश्चर्य है कि गवर्नमेण्ट इन कर्मचारियों के कृत दुष्ट और दूषित पक्षपातपूरित जघन्य कार्यो को देख के भी नहीं देखती सुन के भी नहीं सुनती ? इस अवस्था में अब हम किस को अपने दुःख सुनावेंगे जब ऐसा होने लगा कि जो रक्षक वही भक्षक, तब हमारी रक्षा कौन करेगा और किस प्रकार होयगी।"

'सारसुधानिधि' के इस वक्तव्य को पूरे हिन्दू समाज की वाणी कहा जा सकता है। मुसलमानों के साम्प्रदायिक उपद्रव को जब सरकारी कर्मचारियों की उत्तेजना और सहयोग मिलने लगा तो हिन्दू जाति पर उस की गहरी प्रतिक्रिया हुई। स्मरणीय है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य जाति में एक नये जागरण की सृष्टि कर दी थी। वैदिक धर्म और आर्यजाति की सम्भावित विपत्तियों की ओर भी उन्हों ने संकेत कर दिया था। मुसलमानों के साम्प्रदायिक कुकृत्य को लोग गम्भीरता से अनुभव करने लगे थे और धार्मिक तथा जातीय संगठन के प्रति लोग सचेत हो गये थे और हिन्दुओं के उस भोले वर्ग को जगाने को आतुर थे जो अपनी नासमझी के कारण मुसलमानों के रंग में बह रहे थे। 'सारसुधानिधि', वर्ष २, अंक ३४ में चतुर्भुज मिश्र का एक पत्र छपा है जिसे यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है—

"श्रीयुत सारसुधानिधि सम्पादक

समीपेषु।

भाइयो, सावधान, देखियो भूलियो मत, यदि कार्तिक स्नान न भया तो क्या कुछ चिन्ता है, अक्षयनौमी एकादशी और बैकुंठ चतुर्दशी आदि व्रत नहीं भया तो भी कुछ बड़ी हानी नहीं है, क्योंकि यह तो अपना धर्म, इसके तो सौम्य देवता हैं, और सनातन से चले आते हैं इस कारण पुराने भी पड़ गये हैं, किया चाहे न किया क्या कोई हाथ पकड़ने वाला है ? रामनौमी, जन्माष्टमी आदि महोत्सव नहीं भया तो नहीं सही क्या आप आर्य्य जाति न कहलावेंगे ? पर दिखिये वार-वार चैतन्य किये देते हैं मुहर्रम खाली न जाने पावे, यह परदेशी देव हैं, इनका मान होना ही चाहिये, क्योंकि इनका रंगरूप कैसा विचित्र और लम्बा चौड़ा पन्नी अबरख से चमचमाता आकार, ऐसे भले देवता को तो पूजना ही चाहिये, वर्ष में केवल एक ही बार होता है, इसलिये थोड़ा बहुत उधार पैंचा करके यह उत्सव करना ही चाहिये, क्या जाने परसाल प्राण बचे की नहीं शरीर का कुछ भरोसा नहीं ? इस कारण दुःख सुख सहकार करना ही चाहिये इसकी सीमा कैसी होती है। आहा हाहा, जिस समय हजारों ज्वान हिन्दु मुसलमान बने हुसेनी बाना बाँधे अँकड़े धर्म्म-कर्म्म की छाती पै लाती दिये निकलते हैं, उस समय क्या कहना है, जो हैं सो आप ही हैं। और सुनिये जिस समय देशी विदेशी दोनों बन्धु बालवृन्द के सहित छाती पीट-पीट कर हाय १०८ पुकारने लगते हैं यह देखकर कौन विवेकी बिना धन्यवादि दिये रहता होगा, और जब एक आदमी हाथ उठाकर उच्चःस्वर से चिल्लाता

डाल सिर पर विपत्ति बुलाये, अभागे हिन्दू तो राजद्रोही प्रसिद्ध ही हैं, इन के रोके से क्या ? कहीं सैकड़ों वर्ष पुस्त दर पुस्त के राजभक्त मुसलमान लोग यदि बिगड़ खड़े हों, तो क्या होय ? बस हिन्दू लोग चिल्लाया करें इन की टें-टें कौन सुनता है।

हाय ईश्वर तुम भी सोते ही रहोगे। नेक तो दीनों पर दया करो।

नेकहू अब तो नहीं सहिजाय।
एकहि बार हरो नहीं प्राणन राखहु कत कलपाय ।।
एक विपत्ति सों छूटे नाहिन जुग सम द्योस विताय।
वज्रसरिस दूजी सिर ऊपर आवत जोर जनाय ।।
कछु बस नाहि रुचे सो कीजे पाथर हृदै बनाय।
जब लौं शक्ति वहत नैनन जल निकरत मुख सों हाय।

प्रयाग, पौष शुक्ल
सं० १९२७

मकरन्द।"

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि मुसलमानों की साम्प्रदायिकता से हिन्दू पीड़ित थे और उक्त पीड़ा से त्राण पाने के लिए एक ओर वे हिन्दू संगठन को आवश्यक मानते थे तो दूसरी ओर सरकार से भी अनुरोध करते थे। हिन्दुओं की दृष्टि इस विषय में बड़ी साफ़ थी। उन की दृढ़ प्रतीति थी कि साम्प्रदायिकता सरकारी अधिकारियों के प्रोत्साहन से बढ़ रही है और इस प्रकार साम्प्रदायिक अशान्ति का दायित्व सरकार पर है। ब्रिटिश सरकार के अन्याय की लम्बी कहानी 'सारसुधानिधि' के पृष्ठों पर अंकित है। साम्प्रदायिकता के प्रश्न को भी 'सारसुधानिधि' ने बड़े सन्तुलित ढंग से उठाया है, यद्यपि हिन्दू-समाज के शैथिल्य और छीजती शक्ति की ओर उस का पूरा ध्यान था और उसे जाग्रत् करने का सदैव प्रयत्न करता रहा किन्तु उस के प्रयत्न में संकीर्ण साम्प्रदायिकता का स्पर्श नहीं था। भाग १, अंक ६ में प्रकाशित 'हिन्दू समाज' शीर्षक एक सम्पादकीय लेख की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"ये क्या सामान्य दुःख का विषय है ? कि इस एक लाख इक्यासी हजार सात सौ पच्चीस वर्ग योजन विस्तीर्ण भारत महा-प्रदेश में प्रायः चौबीस करोड़ मनुष्यों की वसती में अन्दाज सोले करोड़ मनुष्य सनातन आर्य्य-धर्म्मावलम्बियों का एक प्रशंसा हिन्दू समाज, केवल एक मानसिक अपकृष्ट प्रवृत्ति के प्रभाव से पर मुखापेक्षित और पराधीनता स्वीकार कर के चिर प्रसिद्ध हिन्दू आर्य्यों का मान्य और गौरव के वदले हीनता का परिचय देता है। क्या आश्चर्य की वात है, कि हम लोग सामान्य साम्प्रदायिक समाज की उन्नति देख कर के भी उत्तेजित और उत्साहित नहीं होते। और वहुजनाकीर्ण समाज के पराक्रम और बल पर नज़र नहीं कर के प्रायः सभी विषय में शिथिलता और हीनता ही प्रकाश करते हैं। यद्यपि हम लोग अपनी उन्नति पर अध्यवसाय युक्त होके मानसिक उन्नति विधानपूर्वक दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं होंयगे तो निःसन्देह अतीव

उचित पश्चो प्राय हिन्दू समाज पतित हो कर छिन्न-भिन्न और चूर हो जायगा, अतएव अब हमलोगों को अपनी उन्नति के लिए अध्यवसाय और दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कमर बांधनी चाहिये, और सब एक मत होकर जगह जगह साधारण सभा स्थापन करके उसमें ये विषय होने चाहिये कि इन सभा से शिक्षा विभाग की उन्नति विधान होयगी, और इन सभा में उपयुक्त उपदेशा नियुक्त होकर शास्त्र व्याख्या करा करें और इन सभा से प्राचीन आर्य्य ऋषि प्रणीत मानसिक उन्नति विधायक शास्त्रों का हृदय और रक्षार्थ मरम सहज देश प्रचलित भाषा में अनुवाद होकर प्रचारित और प्रकाशित हुआ करे, और इसी प्रकार जगह जगह उन्नति विधायिनी सभा भी स्थापन होना चाहिए उस सभा से देश की सम्पूर्ण उन्नती अर्थात् बाह्यिक और आभ्यन्तरिक प्रकृति का उत्कर्ष साधन होय और वैषयिक उन्नति अर्थात् कृषि तथा वाणिज्य शिल्प प्रभृति सांसारिक सभी उन्नती होयगी।"

कहना न होगा कि हिन्दू संगठन की इस योजना में जातीय अर्थात् राष्ट्रीय संगठन का स्वर ही प्रमुख है। साम्प्रदायिक संघर्ष के वातावरण में इतनी सन्तुलित विचारणा अपने-आप में एक बड़ी बात है, जिसे हिन्दी-समाज की उपलब्धि के रूप में कहीं प्रस्तुत किया जा सकता है।

गोरक्षा का प्रश्न

गोरक्षा का प्रश्न आज का नहीं है, हिन्दू संस्कृति के साथ इस का सनातन का सम्बन्ध है। 'सारसुधानिधि', वर्ष २, अंक ४३ में 'गोरक्षा की आवश्यकता और उपाय विधि' पर विचार करते हुए सम्पादक ने सुझाव दिया है कि—

"गो जाति की उन्नति तभी होयगी कि जब हम सब भारतवासियों को भली-भांति यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि किस देश में कैसी गौ होती है उन सब देशों में गौवों की क्या अवस्था है उन को किस प्रकार आहम् प्राप्त होता है उन गौवों द्वारा कितना उपकार होता है कहां कहां के कृषीजात द्रव्य कैसे कैसे होते हैं। गो दुग्ध से क्या क्या पदार्थ उत्पन्न और बनते हैं, इत्यादि सब प्रत्यक्ष होने चाहियें। इस महत् कार्य्य में साधनार्थ प्रथमतः आर्य्य। हिन्दू मात्रों को उत्साही होना कर्तव्य है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि यह सब बातें किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकती हैं। यद्यपि यह कठिन है तथापि गोवंश की रक्षा और उन्नति के उद्देश्य से यह बहुत ही सहज में हो सकता है। इस का यह उपाय है कि प्रतिवर्ष गोवंश उन्नति साधक गोप्रदर्शनी मेला राजधानी कलकत्ते में हुआ करे उस में भारतवर्ष के हर प्रदेश और प्रान्तों की गौ, बैल और सांड एकत्रित होवें। उन सभों को यथायोग्य पुरस्कार दिया जावे। इसी के साथ ही तत्तद्देशीय कृषिजात शस्य दिखाये जावें और गो दुग्ध से क्या-क्या पदार्थ बनते हैं उन से कितना और कैसा बलाधान होता है इत्यादि व्याख्यान के सहित प्रत्यक्ष दिखाया जावे। इसी प्रकार प्रतिवर्ष यह मेला हुआ करे तो निश्चय क्रम से गोवंश की उन्नति साधन

की चेष्टा सब प्रदेशवासियों को होयगी। और गवर्नमेण्ट भी गोकृत उपकार प्रत्यक्ष देख के कृतज्ञ चित्त से उस की रक्षा और उन्नति में प्रवृत्त होयगी इस में सन्देह नहीं।"

इसी प्रकार दूसरे वर्ष के ५०वें अंक में सम्पादक ने लिखा है कि 'गोवंश की उन्नति करने का विशेष प्रयोजन हुआ है।' उक्त सम्पादकीय वक्तव्य में गो-जाति से होने वाले उपकार की विस्तृत चर्चा है और उस की रक्षा और सम्वर्द्धन के लिए देशवासियों से अनुरोध है। सम्पादक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "यद्यपि हम जानते हैं कि यों ऐसे-ऐसे धनी वणिक् और ज़मींदार हैं कि वह अकेले ही कर दिखा सकते हैं तथापि आदर्श के अनुरोध से हम चाहते हैं कि सब लोग मिल के इस कार्य में प्रवृत्त होयें।" स्पष्ट है कि 'सारसुधानिधि' सम्पादक की दृष्टि में गोरक्षा का प्रश्न किसी वर्ग अथवा जाति से आत्यन्तिक सम्बद्ध न हो कर शुद्ध राष्ट्रीय प्रश्न है।

वर्ष २ अंक ४३ में 'गोवध' शीर्षक श्री राधाचरण गोस्वामी का लेख प्रकाशित हुआ है जिस के अन्तिम अंश की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—"अस्तु इस विषय पर केवल जातीय पक्षपात का बहाना है, तो हम पूछते हैं कि योरोपियन और इण्डियन लोगों के बीच इस पक्षपात की दीवाल क्यों खड़ी है? गवर्नमेण्ट पहिले इस में अपने निर्लेपत्व दिखलावै तो इस की भी जड़ दृढ़ हो। विशेषतः जो मुंशी इन्द्रमणि के मुकद्दमा और मुख्यकर कई गोहत्या के मुकद्दमों में गवर्नमेण्ट कर्मचारियों ने स्पष्टतः मुसलमानों का पक्ष समर्थन किया है, तो इस के निमित्त गवर्नमेण्ट ने क्या उत्तर सोच रखा है? हमारी गवर्नमेण्ट को ऐसा न्याय नहीं करना चाहिये जैसा एक पिता के दो पुत्र थे, बड़ा पुत्र साधु सुशील और शान्त था, दूसरा छोटा बदमाश, पिता को गालि प्रदान करने वाला और भाई का द्वेषी था, एक दिन छोटे भाई ने बिना बात बड़े भाई का ऐश्वर्य देख उस से झगड़ा किया, और बहुत कुछ दुर्वाक्य कहा तो बड़े पुत्र ने निवेदन किया, पिता ने बड़े पुत्र से कहा, 'पुत्र! तुम सुशील और साधु हो, वह बदमाश है, उसकी बात पर मत जाओ क्षमा करो।"

गौ के मारने और बचाने के जो फल हैं वह भी गवर्नमेण्ट से छिपे नहीं हैं। खेतीबारी का मूल कारण गौ है, भारतवर्ष की निरीह आर्य्य प्रजा की बलवृद्धि करने वाली केवल गौ है। और क्या जहाँ तक गौ हत्या बढ़ेगी, तहाँ तक प्रजा का बल वृद्धि का ह्रास होगा।

इससे अधिक ऐसा गोहत्या जो आर्य्य धर्म्म के विरुद्ध प्रकाश्य स्थान और प्रकाश्य पर्व में एकमात्र आर्य्य लोगों के क्लेश देने को की जायगी। उसमें उत्तरोत्तर उपद्रव बढ़ेगा, और प्रायः गवर्नमेण्ट को भी इसमें कभी न कभी क्षतिग्रस्त होना पड़े तो आश्चर्य नहीं, क्यों कि दूरदृष्टि से विवेचना कीजिये तो यही प्रथम फल दीखता है। हा हन्त! क्या उत्तम न्याय है कि कोई मनुष्य किसी के घर में अग्नि लगा दे और आततायी को दण्ड न कर घर वालों को दण्ड दिया जाय कि 'बल तुम कैसा सुस्त है? तुम्हारे घर में किस तरह आग लगा दी गयी।"

उत्साह आदि की हानी और दुर्भिक्ष होता और गोरक्षण से सम्पूर्ण जगत् को बलादिक का महालाभ और अकाल नाश इस को युक्तिपूर्वक वर्णन किया जाता है।"

आगे की पंक्तियों में गोरक्षा के उपाय बताये गये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरक्षा के प्रश्न को ले कर देश में एक सार्वत्रिक जागृति उत्पन्न हो गयी थी और इसे राष्ट्रीय महत्त्व दिया गया था।

गोरक्षा के साथ ही किसानों की समस्या सम्पृक्त है जिस की गम्भीर विवेचना 'सारसुधानिधि' के सम्पादकीय स्तम्भों में दिखाई पड़ती है। इस विषय की चर्चा के पूर्व 'सारसुधानिधि' के माध्यम से देश-दशा की चर्चा आवश्यक जान पड़ती है।

सम्पादकीय गवाक्ष के अतिरिक्त 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित विविध संवादों से भी देश दशा का बड़ा यथार्थ द्योतन होता है। साहित्यिक रचनाओं में भी युगीन चेतना का सहज आनयन हुआ है।

देश-दशा का यथार्थ चित्र

'भारतवर्ष' की दुरवस्था की चर्चा करते हुए वर्ष २, अंक ४३ में सम्पादक ने लिखा है—

"इधर कई बरसों से ईश्वर भारतवर्ष पर कुछ विशेष अप्रसन्न जान पड़ते हैं। जिधर देखा दुःख ही दुःख दिखायी देता है। पहिले तो उधर तीन चार बरसों से चारों ओर दुर्भिक्ष फैला हुआ है। अधिकांश प्रजा को पेट भर के आहार नहीं मिलता जिस पर गवर्नमेण्ट का कोप यह कि चाहे जियो या मरो लाइसन्स देना ही होयगा। इधर अबकी बरस कुछ फसल अच्छी जान पड़ती है, परन्तु ईश्वर क्या जाने क्या करेगा, जब फसल तइयार हुई तो अब ऐसा ज्वर फैला है कि कोई काटने वाला ही नहीं है। पंजाब, अवध, पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बम्बई प्रदेश, बंगाल का पश्चिम भाग और राजपुताना इत्यादि प्रायः भारतवर्ष भर में ज्वर प्रचण्ड रूप धारण कर अपना एकाधिपत्य प्रकाश कर रहा है। ऐसा कोई घर नहीं है कि जो इस ज्वर के आक्रमण से बचा होय। घर की कौन पूछे आजकल तो एक घर में ही यदि १० प्राणी हैं तो वे दशों जूड़ी से काँप रहे हैं पत्थ पानी की क्या बात है कोई पूछने वाला भी नहीं दिखायी देता।···असहाय तो दो ही हैं। एक तो ईश्वर दूसरे गवर्नमेण्ट, परन्तु हम देखते हैं कि भारत प्रजा के पक्ष में दोनों ही वाम हो रहे हैं।···राजा भारतवर्ष पर सन्तुष्ट हुए दुर्भिक्ष निवारण का उपाय खोजने लगे भारत के आरब्ध से ऐसा उपाय यह लाइसन टेक्स निकसा कि सुधारने के बदले और भी दुर्भिक्ष ने भीषण मूर्ति धारण कर लिये। पहिले प्रजा स्वाधीन भाव से अपने दुःख संवाद राजा के कर्ण गोचर कर लेती थी अब गवर्नमेण्ट की कृपा से वह स्वाधीनता भी जाती रही। तीसरे यद्यपि इंग्लैण्ड जैसा स्वाधीन प्रिय है वैसा और कोई नहीं है तथापि हमारी वर्तमान गवर्नमेण्ट दूसरे की स्वाधीनता देख नहीं सकती, यदि विचारपूर्वक देखो

यात्री[1]।"

उस युग की साम्प्रदायिक दशा की बहुत-कुछ सूचना इन पंक्तियों से मिल जाती है। निःसन्देह उस युग की देश-दशा बहुत गिरी हुई थी। भारतवासी चाहे वे किसी वर्ग के क्यों न हों, पीड़ित थे। दूसरे वर्ष के १५ वें अंक में भारतीय किसानों की दुरवस्था पर विचार करते हुए सम्पादक ने लिखा है, "जिन कृपाणों को हम प्राणपोषक कहें तो अत्युक्ति नहीं हो सकती। उन्हीं कृपाणों की ऐसी दशा है कि पेट भर के आहार भी उन को नहीं मिलता। एक वस्त्र के सिवाय दूसरा वस्त्र नहीं है, यहां तक कि यदि कहीं वह भीज जाय तो शरीर ही पर सूख जाता है। इस पर भी ऋण सिर पर चढ़ा हुआ निरन्तर दग्ध करता रहता है। अबोध शिशु क्षुधा पीड़ित हो खुद ही अपने माता पिता के सन्मुख आहार माँग २ विकल होते हुए उन के वात्सल्य हृदय में सेल मारते हैं। इन कृपाणों की अवस्था देखने से निश्चय होता है कि संसार का दरिद्र इन्हीं कृपाणों के घर आ बसा है।"

वेकारी की समस्या

इसी प्रकार पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों की विपन्न दशा की विस्तृत चर्चा अंक ४५ की तीसरी सम्पादकीय टिप्पणी में सम्पादक ने की है। 'नौकरी की दुर्दशा' शीर्षक इस लेख की आरम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं: "आजकल लिखे पढ़े लोग वेकार इतने हैं कि उन की संख्या करना कठिन है। यदि किसी को एक आदमी का प्रयोजन होय तो उस काम के आकांक्षी दश उपस्थित होते हैं। उनमें जिस का भाग्य प्रसन्न होता है उस को नौकरी मिल जाती है नहीं तो इधर उधर टकराते फिरते हैं। हाय! इन की ऐसी दशा देखने से चित्त में ऐसी ग्लानी होती है कि भारतवर्ष की अब ऐसी दशा हो गयी कि मध्यवित् भारत सन्तान एक मुष्टि अन्न के लिए लालायित हो रहे हैं, और उन को उस के बदले लाल जूती और गाली प्राप्त होती हैं। फेर भी यहाँ वालों को चेतना नहीं होती कि कुछ व्यवसाय करें, क्या इन लोगों ने एक नौकरी ही को मुख्य पुरुषार्थ समझ रक्खा है? राम राम, जो लोग वेकार हैं उन की तो दुर्दशा की क्या बात है। जो लोग नौकरी करते हैं उन की यह दशा है कि यदि किंचित् भी त्रुटि हुई नहीं कि बस साहिब अग्निरूप धार कर लगे कटु वाक्यों की लुआर से दग्ध करने।

---

१. एक बात और ध्यान देने की है कि साम्प्रदायिक प्रश्नों की चर्चा करने के बावजूद 'सारसुधानिधि' में किसी प्रकार का साम्प्रदायिक दोष नहीं था। यही कारण है कि इस पत्र की प्रशंसा हिन्दुओं के अलावे मुसलमानों ने भी की है। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "सारसुधानिधि" का उस समय खूब प्रचार और आदर था, इस में सन्देह नहीं। एक मुसलमान सज्जन गुलाम हुसेन साहब वकील ने इस पत्र के लिए चन्दा भेजते हुए सम्पादक को हिन्दी में एक प्रशंसापूर्ण पत्र लिखा था, जिसे सम्पादकीय स्तम्भ में उद्धृत भी किया गया था।'
—भारतेन्दु युग, पृ० ३८।

यह तो स्वाभाविक सभी के भाग्य की बात है, इन लिये पढ़े नौकरों में ऐसे भी भाग्य-वर हैं जिन को कभी कभी सबूट चरणों की ठोकरें भी खानी पड़ती हैं।"

'सारसुधानिधि' में प्रकाशित देश-दशा को द्योतित करने वाले कुछ मुख्य संवाद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"राजा राम मोहन राय के स्मरण के निमित आगत ७ माघ श्रीयुत बाबू देवेन्द्रनाथ ठाकुर के मकान पर एक सभा होयगी।"

"पारिस नगर में एक कम्पनी हुई है जो लोग हिन्दुस्तान में विद्युत की रोशनी व्यापार करेंगे कम्पनी का मूलधन दश लाख रुपै है।"

"सुनने में आता है कि विद्यासागर का स्कूल कालेज में परिणत होयगा इस बरस तृतीय वार्षिक श्रेणी और उस के बाद थ्रिए क्लास भी खुलेगा।"

"लंडन में जो भारतवासी रहते हैं वो लोग पारलियामेंट में एक दरखास्त देंगे जिस में—अफगानिस्तान का युद्ध व्यय भारतवर्ष से न लिया जाय।" (प्रथम वर्ष अंक १, 'समाचारावली' मे)।

"कलकत्ते में सनातन धर्म संस्थापनी सभा। विगत शनिवार तीसरे पहर यहाँ सेनेट हाल में एक महती सभा बड़े समारोह से सम्पादित हुई थी। इस सभा का मूल उद्देश्य यह है कि सम्प्रति स्वामी दयानन्द सरस्वती जो आर्य्य धर्म के नाम से विरुद्ध धर्म्म प्रचार कर रहे हैं इस का प्रतिवाद कर के उन को इस असदाचरण से विरत कर अपने श्रुति स्मृति पुराणोक्त सनातन धर्म की रक्षा करना।" (वर्ष १, अंक ४०)

वर्ष २, अंक ३१ में 'पश्चिमोत्तर और अवध प्रदेश की शोचनीय अवस्था' की सूचना सम्पादक ने इस प्रकार दी है—

"इधर कई बरसों से इस प्रदेश पर ईश्वर की करोधी दिखायी देती है। कभी महामारी प्रकट होती है तो कभी दुर्भिक्ष अपना पराक्रम दिखाता है। विगत फसल की कुछ अवस्था अच्छी हुई थी तो महामारी ने अपना आधिपत्य ऐसा विस्तार किया कि एक तृतीयांश प्राणियों को विनष्ट कर डाला।'...उपसंहार में हम विशेष सतर्क किये देते हैं कि अबकी यहीं इतना देख सुन के भी अच्छा बन्दोबस्त नहीं हुआ तो गवर्नमेण्ट की कार्य्यदक्षता का सब को खुलासा प्रत्यक्ष परिचय हो जायगा। और राजपुरुषों को उपहसित और लज्जित होना पड़ेगा। इस से अभी भी समय है तन मन धन से राज कर्मचारियों को इस विषय में तत्पर होना चाहिये।"

वर्ष १ अंक ४७ की 'समाचारावली' के दो संवाद इस प्रकार हैं—

'भारतवर्ष के दुःखी प्रजा का दुःख निवेदन करने के लिए जिस प्रकार बाबू-लाल मोहन घोष यहाँ से इंगलण्ड गये थे और अँगरेजों की समाज में वक्तृता किया करते थे, उसी प्रकार लंका द्वीप का दुःख सुनाने के निमित्त लंका द्वीप निवासी एक उच्चवंशोद्भव मनुष्य गुरु गोविन्द नायक सम्प्रति लंडन नगर में उपस्थित हुए हैं।

ओएष्ठ—'मनिष्टर पालस नामक होटेल में उन्हों ने एक उत्तम वक्तृता करी थी। लंका द्वीप की व्यवस्थापक सभा में देशीय ६ मनुष्य रहा करते हैं। तामिल वंशोद्भव श्रीमत् कुमार स्वामी उस सभा के सभ्य थे। उन की मृत्यु के बाद गवर्नमेण्ट ने तामिल जाति के और किसी मनुष्य को उक्त सभा में सभ्य नहीं किया। लंका गवर्नमेण्ट की इस अत्याचार का विपय कहने के लिए गुरु गोविन्द विलायत गये हैं।"

"सम्प्रति पूना के कई एक गांव वालों से अंगरेजी पलटन के सिपाहियों से एक दंगा हुआ था। उस में सैनिकों को वहुत चोट आयी है। उन ग्रामों के निवासी पकड़े गये हैं। उस दंगे का कारण अभी कुछ प्रकाश नहीं हुआ कि किस लिये हुआ। ऐसा अनुमान होता है कि सैनिकों का अत्याचार ही उस का मुख्य कारण होयगा। कई वर्ष हुए पूना में और एक वेर भी सैनिकों से अधिवासियों से झगड़ा हो चुका है, उस दंगे में पहले सिपाहियों ने कृपाणों की स्त्रीयों का कुछ अपमान किया था इसी लिये कृपाणों ने सिपाहियों को मार पीट किया था। इसी निमित्त अनुमान होता है कि इस झगड़े में भी पहले कुछ अत्याचार किया होयगा क्यों कि सैनिकों का सुभाव भी विचित्र होता है, जो होय गवर्नमेन्ट की इस की तदारक अच्छी तरह करना उचित है।"

देश-दशा और सरकार का दायित्व

उपरोक्त उद्धरणों से देश-दशा का एक कारुणिक चित्र उभरता है जिस का दायित्व उस समय की ब्रिटिश सरकार पर है। 'सारसुधानिधि' वर्ष २, अंक ३६ में 'भारतवर्ष की सुदशा प्रवर्त्तन का उपाय' सम्पादक की चिन्ता का विषय है। 'सारसुधा-निधि'-सम्पादक ने बड़े साफ़ शब्दों में लिखा है कि 'यदि कहो कि हम अपनी सामाजिक उन्नति क्यों नहीं करते ? तो इसका भी मूल अनुसंधान करने से गवर्नमेन्ट का वही स्वजातीय पक्षपात हमारी सामाजिक उन्नति का भी बाधक दिखाई देता है।" और यह कि "जब गवर्नमेन्ट का स्वजातीय पक्षपात मिट गया, तब अब जो इंगलंड और भारतवर्ष की विभिन्नता दिखाई देती है, वह आप से आप जाती रहेगी। जब इंगलंड और भारतवर्ष की विभिन्नता मिट गयी तब भारतवर्ष भी वैसा इंगलंडवत् स्वाधीन हो गया। फेर भारतवर्ष की उन्नति उन्नति करके चित्कार नहीं करना पड़ेगा। "यह सामाजिक औचित्य की बात हुई किन्तु स्मरणीय है कि परमुखापेक्षिता पर 'सारसुधा-निधि' की आस्था बिलकुल नहीं थी इस लिए स्वाभाविक था कि देश-दशा के सुधार की जातीय भूमिका और स्वदेशी प्रयत्न की ओर भी 'सारसुधानिधि' संकेत करे। सेठ लक्ष्मणदास ने 'सारसुधानिधि' को दो सौ रुपये सहायता के रूप में दिये थे। इस के उत्तर में सेठ जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए दूसरे वर्ष के १८वें अंक में प्रकृत देश-हितैषिता की शिक्षा' शीर्षक लेख लिख कर सम्पादक ने देशवासियों को देश-हितैषिता का विशद अर्थ समझाया है। 'साठ साहूकारों के पक्ष में यह देश

हितैषिता है कि समाचार पत्रों को सहायता करें।'''इसके सिवाय वणिक साहूकारों का एक यह भी प्रधान कर्त्तव्य है कि आपस में एका करके ऐसे बड़े कारखाने खोलें कि जैसे योरोप और अमेरिका खण्ड के साहूकारों ने खोले हैं। यह कुछ सामान्य लज्जा का विषय नहीं है कि हमारे भारतवर्ष के इतने सेठ साहूकार रहते अंग्रेज साहूकार अपनी कम्पनी इकट्ठी कर सात समुद्र पार आके भारतवर्ष के रेलवे आदि काम सब करते हैं, और यहां के वणिक बैठे मक्खी मारा करते हैं।

'''जो लोग कार व्यवहार भी करते हैं उनको भी अपने देश की चिन्ता स्पर्श नहीं करती। किस प्रकार स्वदेश की श्रीवृद्धि होयगी इसको तो कौन सोचता है, अब जो क्या दुर्दशा है और होती जाती है यह भी बहुतों को ज्ञान नहीं है। इन को तो जब टिक्स देना पड़ा अथवा रुजगार में घाटा हुआ तभी जान पड़ा कि समय खोटा आ गया, नहीं तो अपने काम से काम है यों चाहे अपने किसी कार्य में जहां यथार्थ में एक मुद्रा व्यय करने का काम है वहां उदारता दिखाने को दश खर्च कर डालते हैं। परन्तु जिस द्वारा साक्षात सम्बन्ध में अपना कुछ हित साधित नहीं होता दिखाई देता है यद्यपि वह देशोपकारक कार्य्य निश्चयपरोक्ष में इन का भी हित प्रतिपादन करता है, तथापि उस विषय में दश के स्थान में एक भी नहीं व्यय कर सकते।" अन्त में उदार सेठों का उदाहरण देते हुए सम्पादक ने श्रीमन्तों से अनुरोध किया है कि "आप लोग वृथा धन नष्ट अथवा अनुचित व्यय न कर के यदि अपने देश के अभावों को दूर करने में प्रवृत्त होइये तो निःसन्देह भारतवर्ष अपनी पूर्व समृद्धि और सर्वोन्नति को निश्चय पहुँच जाय।"

किसानों की दुर्दशा का प्रश्न

देश की दुर्दशा का एक प्रमुख कारण किसानों का दैन्य है। किसानों की दशा में जब तक सुधार नहीं होता तब तक देश-दशा उन्नत नहीं हो सकती। 'भारतवासी कृषाणों की ऐसी दुरवस्था क्यों है?'—इस प्रश्न का उत्तर 'सारसुधानिधि' के वर्ष २ अंक १५ में सम्पादक ने काफ़ी विस्तार से दिया है। विभिन्न मतों की चर्चा करते हुए सम्पादक ने अपनी विचारणा इस प्रकार प्रस्तुत की है, "इन की इस हीन दशा का जिस को जो इच्छा बताये परन्तु मुख्य कारण एक चिरस्थायी बन्दोबस्त का न होना है।.........सिवाय चिरस्थायी बन्दोबस्त के कृषाणों की अवस्था सुधरने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतएव हम अपने नवीन गवर्नर जनरल साहिब से सविनय अनुरोध करते हैं कि आप को अवश्य इस ओर ध्यान देना चाहिये।" क्योंकि "सिवाय इस के और कोई दूसरा उपाय नहीं है कि कृषाणों की दुरवस्था दूर होय और राजा को भी सुभीता होय।"

इस उपाय के साथ ही किसानों की दशा सुधारने के लिए 'वैज्ञानिक कृषि की आवश्यकता' पर भी सम्पादक ने ज़ोर दिया है। इस सम्बन्ध में वर्ष २, अंक २६ के

सम्पादकीय वक्तव्य की अन्तिम पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

"उपसंहार में हम अपने परम हितैषी कर्तव्यनिष्ठ महामान्य राजप्रतिनिधि लॉर्ड रिपन साहिब से सविनय प्रार्थना पूर्वक निश्चय कहते हैं कि भारत वर्ष की दुर्दशा के कारणों में पृथिवी की निर्वीर्य्यता उपरोक्त वैज्ञानिक कृषि के अभाव से जो होती जाती है, यही प्रधान अन्यतम कारण है। जब तक यह अभाव दूर नहीं होयगा कदापि न तो भारत की दुर्दशा विदूरित होयगी और न कभी यह कलंक शान्तिप्रिय वृटिश गवर्नमेन्ट का दूर होयगा कि इन की नियत खोटी होने के कारण इन को वरक्करा जाती रही।..................बंगाल के लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर महामान्य इडन साहिब ने कृषि शिक्षा के लिए २ छात्र वृत्तियाँ स्थापित कर के इस का सूत्रपात किया है सही परन्तु जब तक यह विद्या यहाँ बहुल प्रचार नहीं होयगी तब तक यथार्थ फलोत्पन्न होने की सम्भावना नहीं है। अत एव इस विषय में तो सहल हिन्दी भाषा में छोटी छोटी पुस्तकें बना के प्रचार कर देना चाहिये। और हर कलक्टरों को इस विषय में विशेष ध्यान देना चाहिये कि जिस खेत में जो सार और खाद देना उचित है वह दिया गया या नहीं। खाद और सार संग्रह में गवर्नमेन्ट को अर्थ सहायता करनी चाहिये। क्यों कि आयाततः पृथ्वी की क्षति पूरण का उपाय करना सर्वथा उचित है।"

'सारसुधानिधि' की इस प्रगति-शीलता का ऐतिहासिक महत्त्व असन्दिग्ध है। पहले निवेदन किया गया है कि इस पत्र में राजनीतिक और सामाजिक विषयों की प्रधानता थी और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को इस पत्र से बड़ा स्नेह था। और जब हिन्दी के उस युग के सब से बड़े साहित्यकार को यह पत्र प्रिय था तो सहज ही मानना पड़ता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का युग-धर्म राजनीति और समाजनीति के बीच अवस्थित था और इस युग-धर्म के प्रति सचेत रहने वाला पत्र 'सारसुधानिधि' निर्विवाद रूप से हिन्दी का एक श्रेष्ठ पत्र था। साहित्यिक रचनाओं की बहुलता न होने से इस का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं था।

'सारसुधानिधि' में प्रकाशित साहित्य

हिन्दी साहित्य का यह भारतेन्दु युग था जिस का नेतृत्व भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र कर रहे थे और जिन के विषय में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "........बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया।....... हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"[1]

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४४९–४५०।

इस प्रकार जीवन और इतिहास के बीच की खाई को पाटने का जो महत् उपक्रम भारतेन्दु युग में हुआ उस का साहित्य पर यह प्रभाव पड़ा कि यथार्थ जीवन और जगत् के आग्रह ने साहित्य के कलापक्ष को एक प्रकार से छोड़ दिया या उस की उपेक्षा कर दी और सर्वथा अनलंकृत हो कर वह अपनी प्राणवत्ता का प्रदर्शन करने लगा। "भारतेन्दु युग के एक ओर मध्यकालीन दरबारी संस्कृति थी। तो दूसरी ओर आम जनता में एक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के लिए वातावरण तैयार करता था। साहित्य में देश के एक बढ़ते असन्तोष को प्रकट करना-भर न था—सदियों से चले आते समाज की हड्डियों में बसे हुए सामन्ती कुसंस्कारों से भी मोरचा लेना था।" कहना न होगा कि इतने बड़े दायित्व का निर्वाह धरती की सोंधी गन्ध से कतरा कर अप्सरा-लोक में विचरण करने वाले साहित्यकारों के बस का नहीं होता। भारतेन्दु कालीन साहित्य का पथ राज-पथ से दूर भारत का सामान्य पथ था जो अपनी विरूपताओं के बावजूद सहज था, जन-जीवन के निकट था। ध्यान रखने की बात है कि नितान्त यथार्थपरक और कलात्मक सुरुचि से रहित हो कर भी इस युग के साहित्य में गहरी साहित्यिक व्यंजना थी जो सहज थी इस लिए स्वभावतः अधिक प्राणवान् थी। इतना और कहूँ कि समाज के इन यथार्थ चित्रांकनों में चूँकि व्यंजना थी इस लिए वह साहित्य की वस्तु थी। 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित ऐसी साहित्य-सामग्री बहुत नहीं है; लेकिन जो है वह काफ़ी महत्त्वपूर्ण है और साहित्य-प्रवृत्ति की पूरी सूचना देती है।

'सारसुधानिधि' के प्रथम वर्ष के ८ वें अंक (अर्थात् ता० ३ मार्च सन् १८७९ ई० को) में 'मार्जार मूषक' शीर्षक एक व्यंग्य लेख प्रकाशित हुआ है। मार्जार और मूषक की वार्ता-द्वारा सामयिक राजनीति पर लेखक ने बड़ा तेज व्यंग्य किया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि सन् १८७९ के बदले यदि इस व्यंग्य-लेख पर सन् १९४२ लिख दिया जाय तो भी इस का सामयिक राजनीति से सम्बन्ध सहज ही समझ लिया जायेगा। इस लेख का अन्तिम अंश इस प्रकार है—"मूषक। प्रभो! आप चाहे मारो चाहे खा जाओ सच्ची बात तो यही है कि हमारी आप की प्रीति कैसी। आप के डर के मारे जो कहो सो हम हाँ कर दें।

मार्जार। (अत्यन्त क्रोध से) तो दुष्ट पाषंड क्यों हमारा सिर नाहक को खाली किया? देख अभी इस कृतघ्नता का फल तुझ को चखाता हूँ (दन्तावली विदारित मुख को खोल कर नेत्रों से स्फुलिंग निकालते हुए मूषक को भक्षण को दौड़ता है और मूषक पलायन करता है)

इसी अंक में एक और निबन्ध है—'जहाँ लखी वहाँ होरी'; जिस में होली के माध्यम से देश-काल दशा का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं—

"हिन्दुस्तान में आगे क्या था ? होली, वह आनन्द से चन्दन केशर कपूरों की बौछार पड़ा करती थी गाने बजाने का ठाट जुड़ता जमता था, जहाँ देखिये वहाँ आनन्द बरसता था, युद्धों के सहारे पूर्व पुरुषगण केसरिया सजे, हाथों में कंगन बाँधे, मतवाले झूमझूम कर बन्दूकों की पिचकारी और गोले के कुमकुमे चलाते थे और सब शत्रुओं को स्वाहा कर के कहते थे होली है ।

और भारतवर्ष नाश भी इसी से हुआ, लोगों में फूट हुई मुसलमान बुलाये गये जयचन्द्र के मुँह में चोआ चन्दन पोता गया होली है ।..............................
....और भला काबुल में क्या हो रहा है ? होली, रंग की नदी बहती है, बारूद की गुलाल उड़ती है, सरकारी सेना बेखटके घुसी चली जाती है । होली है ।

और भारतवर्ष की दशा क्या है ? होली । पतझार हो गई, लोगों के मुँह पर सरसों फूली है । खास आम सब बौराए हैं, काफिर हबशी इत्यादि गलियों की पुकार है, गुलाल के बदले धूल उड़ रही है, बसन्त बने हैं, लाज सब छोड़ दी है, धन बल विद्या सब होली में जला दिया है, बस धुरहड़ी और जमघण्ट मना रहे हैं, होली है ।

और भला भारतवर्ष की अब क्या दशा होगी ? होली । अब क्या आशा है जो कुछ होनी थी होली !"

बात भारती की सामान्य जनता से कहनी थी इस लिए ज़रूरी था उस भाषा और साहित्य विधा को अपनाना जो जनजीवन की अपनी हो । बिरहा, होली, चैती, कजली, ठुमरी, लावनी और जाँत के गीत की विधा को अपनाने का अनुरोध भारतेन्दु ने अपने सहधर्मियों से किया था जिस का अनुकूल प्रभाव पड़ा था ।

इसी अंक में दो होली-गीत भी छपे हैं । एक श्री राधाचरण गोस्वामी कृत और दूसरा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' से उद्धृत । 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' से उद्धृत होली-गीत लम्बा है जिस की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

होली ।
भारत में मची है होरी ॥
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी ।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुँहुँ ओरी ॥
दुंद सखि बहुत कठोरी ॥१॥
उठो उठो भैया क्यों हारो अपुनो रूप सुमिरो री ।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करोरी ॥
दीनता दूर धरोरी ॥७॥
कहाँ गये छत्री किन उनके पुरुषारथ हि हरोरी ।
चूड़ी पहिरी स्वांग बनि आए धिकधिक सबन कह्योरी ॥
भेस यह क्यों पकरोरी ॥८॥

धिक वह माता पिता जिन तुमसो कायर पुत्र जन्योरी।
धिक वह घरी जनम भयो जामे यह कलंक प्रगटोरी ॥
जनमतहि क्यों न मरोरी ॥९॥
खान पियन अरु लिखन पढ़न सों काम न कछू चलोरी।
आलस छोड़ि एक मत ह्वै के साँचि बुद्धि करोरी ॥
समय नहीं नेकु बचो री ॥१०॥
आलस में कुछ काम न चलि है सब कछु तो बिनसोरी।
छिन गयो धन बल राजपाट सब कोरो नाम बचोरी ॥
तऊ नहि सुरत करोरी ११॥

दूसरा गीत इस प्रकार है—

"होली।
है दुर्दशा न थोरी, कहा खेलें हम होरी ?
रह्यो न राज हमारो तिल भर करत चाकरी कोरी।
पराधीनता में सुख मानत, तानत लम्बी चोरी।
बात पुरखन की बोरी ॥१॥
छोड़ दई विद्या निज घर की ह्वै अँग्रेजी ओरी।
ताही को गति मति लै बरतत धरम धीर को छोरी।
मान मरजादा तोरी ॥२॥
इत अकाल उत टिकस लगायो कर सब पै बर जोरी।
तेज अनाज टीक कहुँ नाही परत प्रजा सब ठोरी।
भीख माँगत लै झोरी ॥३॥
फिर काबुल की कलह कठिन ह्वैगे भाइन की जोरी।
या दुख में सुख कैसे उपजै जियरा जात डडोरी।
विपद आई अति घोरी ॥४॥
या उपरन्त खरच को बोझा हमरे ही हाथ धरोरी।
दैहैं कहाँ ? कहाँ से लैहैं ? नाम हि नाम बचोरी।
न कछु सोचो समझोरी ॥५॥
हैं अभाग भारत सन्तति गन क्यों सबकी बुद्धि बोरी।
भूल काल वे दुख की बातें ये उनमादल गोरी।
कहा करिहैं कहनोरी ॥६॥
अब विद्या रंग रंगोचित में गुण गुलाल प्रबटोरी।
अकल अबीर कुरीति कुंकुमा देहु भूमि में फोरी।
निडरता डफ धुधुकोरी ॥७॥

कर उत्साह राह में आओ मैं भ्रम सब विसरोरी।
स्वाधीनता करो सम्पादन भारत जै उचरोरी।
राधिका चरन चहोरी ॥८॥

वृंदावन। श्री राधाचरण गोस्वामी कृत।"

ऊपर देश-दशा की चर्चा हम ने की है। इन होली गीतों में देश-दशा की बड़ी सहज और यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। इन रचनाओं से स्पष्ट है कि इस युग के साहित्यकार देश और अपने दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत थे।

राधाचरण गोस्वामी के निबन्ध

श्री राधाचरण गोस्वामी के दो श्रेष्ठ निबन्ध भी 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित हुए हैं। इन निबन्धों को पढ़ने से देश-दशा की अभिज्ञता तो होती ही है, साथ ही हास्य और व्यंग्य के माध्यम से बड़ी बात कहने की कला भी चमत्कृत कर देती है। प्रथम वर्ष के ३६ वें अंक में प्रकाशित 'तुम्हें क्या ?' शीर्षक लेख की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"हमने अपनी उन्नति का कुछ उपाय नहीं किया, केवल आलस्य के चरितार्थ करने में समय व्यतीत किया, अपना परम्परागत धन, धाम सब नष्ट कर दिया, अब हमारी बड़ी दुर्दशा है, यहाँ तक कि भोजनाच्छादन तक का संकोच है, पर तुम्हें क्या ? तुम से तो एक वरारिका नहीं माँगते, तुम्हारे तो एक चावल के प्रत्याशी नहीं।

हम हिन्दुस्तानी हैं, तुम्हारी अपेक्षा बुद्धि बल में बहुत कम हैं, तुम से अत्यन्त ही पराजित हैं, तुम हमारे ऊपर अन्याय करते हो, पर तुम्हें क्या ? क्या तुम्हारी इससे भद्र समाज में प्रतिष्ठा है ? क्या तुम्हें इस का प्रतिफल नहीं भोगना पड़ता ?

हम देशीय पत्र सम्पादक हैं, हमारा सत्य कहना तुम्हें बुरा लगा, हम से खुशामद कराने के लिये प्रेस ऐक्ट की घुड़की दिखलायी, हमारे ऊपर अपना आधिपत्य जतलाया, पर तुम्हें क्या ? हम झूठ तो नहीं बोलते, तुम्हारी वृथा खुशामद तो नहीं करते ? और अँगरेजी अखबार तो तुम्हें सीधी सुना ही देते हैं, वह तो तुम्हारी संकीर्ण राजनीति पर सन्तोष नहीं करते, फिर तुम्हें क्या ?"

हम गरीब हैं, हमारा सांसारिक व्यवहार बड़ी कठिनाई से चलता है। पर तुम्हें क्या ? वह लाभ हानि जनित घोर चिन्ता तो हमें नहीं घेरे रहती। हम अहर्निश द्रव्य की भावना में तो नहीं मग्न रहते 'यथा लाभ सन्तोष' इस नीति पर तो स्थित हैं।" अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं, "हमने यह प्रस्ताव लिखा, केवल 'तुम्हें क्या, तुम्हें क्या' की झड़ी बाँध दी, पर तुम्हें क्या ? वास्तव में तुम से तो कुछ नहीं कहते, तुम क्यों वृथा बुरा मानते हो ? जो ऐसे हैं : उन से कहते हैं, तुम्हें क्या ?"

इसी अंक में पहली किश्त है श्री राधाचरण गोस्वामी के प्रसिद्ध निबन्ध 'यमलोक की यात्रा' की। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "राधाचरण गोस्वामी

अपने युग के सब से उग्र विचारों के लेखक मालूम पड़ते हैं और अपने उग्र विचारों को प्रकट करने के लिए नये-नये ढंग खोज निकालने की प्रतिभा भी उन में खूब दिखाई देती है। 'यमलोक की यात्रा' जन-साहित्य का एक सुन्दर उदाहरण है।[1] कुछ स्थल यहाँ द्रष्टव्य हैं—

"खैर एक घण्टे भर ही यह दुर्दशा रही कि इतने ही में शीतज्वर के महाराजाधिराज महाकाल भी अपने दल बल के साथ आ पहुँचे। सीने तक काली दाढ़ी, घेरदार पाजामा, खाकी अम्यामा, लम्बी चपकन, काला वदन, चण्ड मुण्ड, शुम्भ, निशुम्भ का भाई, नादिरशाह की सूरत, गीदड़ पर सवार मानो शेर अली। देखते ही एक बार तो मुझे संज्ञा जाती रही, फिर जो तनक आँख खोल कर देखा तो उस के हाथ में अपना सिर पाया। मैं ने झुककर सलाम की, पर उस ने नहीं ली, वरन् मेरी गर्दन में जोर से उमेठा दिया। मैं ने तोतले स्वर से कहा, 'अजी मियाँ छाहव। खुदा के वास्ते माफ फरमाइये, बन्दा! बन्दा!' मुझे ज्वर की धुन में यह मालूम पड़ा कि हिन्दुस्तान में रूसी आ गये। या अफगान लोग यहाँ चढ़ आये, पर फिर जो देखा तो पैरों में बेड़ी, हाथ में हथकड़ी, सिर पर गठरी, सब शरीर खुला, एक चिथड़ा कटि से लिपटा। शायद काबुल के कैदियों में से अभी चले आते हैं। मैं ने कहा 'खूब! कपड़े भी गाँठ के गये, घर भी छूटा, कैदी भी बने, बोझ भी ढोया।' हक्का-बक्का-सा इधर-उधर देखने लगा। 'हाय! अभी मर गये! कुछ भी तो जिन्दगी का मजा न देखा। ऊनविंशति शताब्दी में केवल २५ वर्ष ही जिये! हाँ! न सारे हिन्दुस्तान में नागरी का दफ्तर और हिन्दी भाषा का प्रचार देखा। न विधवा विवाह प्रचलित हुआ। न विलायत जाने की रोक उठी। न जाति-पाति का झगड़ा मिटा! न सिविल सर्विस में भर्ती हो कर हिन्दुस्तानियों को उच्च पद मिले। न हमारे जीते प्रेस एक्ट उठा। न लाइसेन्स टेक्स का काला मूँ हुआ। न लिबरलों की दयादृष्टि देखी। और हाय! न काबुल की लड़ाई का शुभाशुभ परिणाम मालूम हुआ।"

कहना न होगा कि इन पंक्तियों में जाग्रत् हिन्दी समाज की आकुल आकांक्षा अभिव्यक्त हुई।

'सारसुधानिधि' की साहित्यिक सामग्री : एक मूल्यांकन

इसी निबन्ध को लक्ष्य कर डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'जो लोग समझते हैं कि प्रचार के लिए उच्चकोटि का साहित्य नहीं रचा जा सकता, या हिन्दी के लिए प्रगति की परम्परा अनोखी है, या हिन्दी वालों को प्रगतिशील साहित्य लिखने के लिए विदेश का मुँह ताकने के बदले अपने देश में कुछ है ही नहीं, वे एक बार 'यमलोक की यात्रा' पढ़ें तो उन की सभी शंकाएँ दूर हो जायेंगी[2]।' अत्यन्त विनम्रता-

---

१-२. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दुयुग, पृष्ठ ९६।

पूर्वक निवेदन करूँ कि जिस शंका की बात डॉक्टर साहब ने कही है उस का समाधान तब तक नहीं होता जब तक आज के प्रगतिवादी हिन्दी लेखक अपने कृतित्व और आचरण-द्वारा अपनी जातीय निष्ठा का परिचय नहीं देते, जैसा कि भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने दिया था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रगतिवादी लेखकों के सामने आज से बाईस वर्ष पूर्व जो प्रश्न रखे थे उन की सार्थकता आज भी ज्यों की त्यों है। वाजपेयी जी ने बड़ी साफ़ भाषा में पूछा था, "क्या ये प्रोफ़ेसर और डॉक्टर, मजदूर और किसान की दृष्टिसे दुनिया को देखते हैं : क्या ये अपने वर्गगत और जातिगत संस्कारों का परित्याग कर चुके हैं ? यदि नहीं तो कोरी विवेचना से क्या होगा ? एक नया पन्थ भले ही खुल जाये, राष्ट्र और साहित्य का कोई वास्तविक हित न हो सकेगा[1]।" भारतेन्दुकाल के हिन्दी साहित्यकारों के आचरण के प्रति किसी विचारक ने ऐसी शंका नहीं की थी और न तो उन के सामने ऐसे प्रश्न ही उपस्थित हुए थे क्यों कि उन के आचार और विचार अथवा उन के व्यक्तित्व और कृतित्व में किसी प्रकार की असंगति नहीं थी। उन का प्रचार-कार्य किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध न था और न तो किसी मतवाद से उन को मनोभूमि शासित थी। और यही कारण है कि उन की सहजता कहीं खण्डित नहीं हुई, जातीय स्वर मद्धिम नहीं पड़ा। भारतेन्दु-युगीन हिन्दी साहित्य के अधिकारी विद्वान् को यह समझाने की धृष्टता कौन करे कि भारतेन्दु युग का जातीय वैशिष्ट्य इतना पुष्ट और ठोस था कि उस पर किसी विदेशी सम्प्रदाय की मुहर नहीं लग सकती थी। इस वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में ऊपर हम ने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य उद्धृत किया है जिस में भारतेन्दु युग के लेखकों के बारे में शुक्ल जी ने कहा है कि—"उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्य्याय नहीं समझते थे, प्राचीन और नवीन के सन्धि-स्थल पर खड़े हो कर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन-प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु[2]।" डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के तेजस्वी समीक्षक हैं और 'ऊपर से लपेटी हुई वस्तु' की उन्हें पूरी परख है साथ ही वे खूब समझते हैं कि स्वतन्त्र भारत में 'पश्चिमी चाल-ढाल की ओर मुँह के बल गिरने वाले फ़ैशन के ग़ुलाम' बड़ी तेजी से बढ़ रहे हैं जिन पर भारतेन्दु युग ने बहुत पहले व्यंग्य-प्रहार किया था। राधाचरण गोस्वामी के व्यंग्य-प्रहार को लक्ष्य कर डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "अन्धे से अन्धा पाठक भी देख सकता है कि वार भरपूर बैठा है। उन के व्यंग्य और हास्य पर पाठक मुसकरा कर न रह जायगा, वह जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ेगा क्यों कि उस गुदगुदी से हँसी रोक लेना असम्भव है। हँसी से उन के आक्षेपों की कटुता कम नहीं हो जाती। नरक में गोरे-काले जीवों

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति; पृ० २५।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५३।

के लिए मेज, कुरसी और टूटी खाट का प्रबन्ध कर के इन्हों ने अपने दिल की आग को थोड़े से शब्दों में भली प्रकार प्रकट कर दिया है[1] ।"

इस युगके साहित्य के बारे में कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि चूँकि इस युग का साहित्य एक विशेष प्रयोजन से विशेष सामाजिक परिवेश में लिखा गया था, इस लिए उस परिवेश और प्रयोजन के साथ ही इस की सार्थकता भी शेष हो गयी। अर्थात् भारतेन्दु युग का साहित्य शाश्वत मानव मूल्यों से उदासीन हो कर युगधर्म के प्रति अधिक सचेत था इस लिए वह युग-विशेष का साहित्य हो कर रह गया, युग-युग को आलोक देने की शक्ति उस में न आ सकी। कहना न होगा कि यह धारणा उन कलावादियों की है जो शाश्वत मूल्य की चिन्ता में पड़ कर युग-धर्म से आँख मूँद लेते हैं। यह पलायन की भूमिका है। कालिदास किंवा तुलसीदास यदि अपनी युग-चेतना के प्रति सचेत न होते तो कदाचित् उन के साहित्य में आज हमें उतना रस न मिलता। बर्नार्ड शॉ ने बहुत ठीक लिखा है कि "जो व्यक्ति अपने और अपने समय के बारे में लिखता है, केवल वही सचमुच समस्त मनुष्यता और सभी प्रयुगों के लिए लिख सकता है।" यहाँ यह भी स्मरणीय है कि हर युग में 'मेघदूत' और 'रामचरितमानस' की रचना नहीं होती और न तो सभी युग में भारतेन्दु, प्रसाद, निराला और प्रेमचन्द पैदा होते हैं।

यहाँ मुझे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की उक्ति याद आ रही है, "परिश्रम के द्वारा कलापूर्ण और सुरुचिपूर्ण साहित्य का निर्माण हो सकता है, प्राणपूर्ण और जीवन-प्रद साहित्य का नहीं[2] ।" रीतिकाल का साहित्य निःसन्देह कलापूर्ण है क्यों कि उस की रचना आयासजनित है। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों को इतनी फ़ुरसत नहीं थी कि वे अपनी रचना के साज-शृंगार में परिश्रम करते; इस लिए वहाँ कला का अभाव है और इसी लिए वह प्राणपूर्ण और जीवनप्रद साहित्य है। इस प्राणपूर्ण साहित्य के निर्माण में पत्रिकाओं का कितना योगदान है यह भारतेन्दु युग की पत्रिकाओं की फ़ाइलों के अनुशीलन से देखा जा सकता है।

भाषा और भाषा का प्रश्न

साहित्य के साथ ही भाषा का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। ऊपर के अनेक उद्धरणों में 'सारसुधानिधि' की भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो गया है। संस्कृत शब्दावली का प्रयोग होते हुए भी भाषा सहज और वेगवती है। हरिश्चन्द्र-काल की भाषा-प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'उस काल में हिन्दी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा[3] ।" 'सारसुधा-

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, पृ० ६७।

२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ० ४।

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५२।

निधि' की भाषा पर भी यही बात लागू होती है। ऊपर 'सारसुधानिधि' के उद्धरणों से स्पष्ट है कि भाषा पर विशेषतः क्रियापदों में कहीं संस्कृत का पण्डिताऊ प्रभाव और कहीं पछाहीं प्रभाव है। तथापि भाषा कहीं लटपट नहीं हुई है और न तो कहीं सहजता टूटी है।

हिन्दी भाषा का आन्दोलन भी इस युग में चल रहा था और उसे राष्ट्रीय आन्दोलन की ही एक सम्पृक्त धारा के रूप में देखा जाता था। इस आन्दोलन में 'सारसुधानिधि' ने खुल कर भाग लिया क्यों कि उस ने आरम्भ में ही 'प्रतिज्ञा' की थी कि 'यथासाध्य देश प्रतिनिधि स्वरूप हो कर' कर्तव्य साधन में नियुक्त रहेगा और उस की निश्चित प्रतीति थी कि 'आर्य्यावर्त में हिन्दी भाषा का भी ऐसा कार्य्य-कारण सम्बन्ध है कि बिना मातृभाषा की उन्नति के साधारण देशोन्नति होना असम्भव है।' और वर्ष २, अंक ३५ के सम्पादकीय लेख 'विलायती वर्णमाला और देशी भाषा' में सम्पादक ने देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में बड़े साफ़ शब्दों में लिखा है कि "......आर्य्यावर्त के पक्ष में जैसी उपयुक्त देवनागरी वर्णमाला है ऐसी और कोई दूसरी वर्णमाला आज तक किसी सुसभ्य देश में नहीं थी और न बन सकती है। ऐसी सम्पन्न वर्णमाला को छोड़ के जो व्यर्थ कल्पना करता है, यह केवल वातुलता का काम है।"

हिन्दी शिक्षा

हिन्दी शिक्षा के प्रचार के लिए 'सारसुधानिधि' में कई टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। वर्ष २, अंक २२ के सम्पादकीय लेख 'कलकत्ते में हिन्दी शिक्षा की आवश्यकता' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"दुःख का विषय यह है कि मुसलमानों की अँगरेजी शिक्षा और अरबी फ़ारसी की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र एक बड़ी कालिज रहते भी मुसलमान और एक स्वतन्त्र कालिज स्थापना का प्रस्ताव कर रहे हैं और उस का आन्दोलन भी हो रहा है। परन्तु कलकत्ते में हिन्दी शिक्षा की जो इतनी आवश्यकता रहते भी इस विषय में कोई कुछ नहीं कहता है, यही दुःख और आश्चर्य का विषय है।"

उपसंहार की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"उपसंहार काल में हम अपनी उदार बंगाल गवर्नमेन्ट से तो यह प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार बिहार में नागरी प्रवर्तित कर के चिरकाल के लिए हम सब भारतवासी मात्र के कृतज्ञता और धन्यवाद के योग्य हो सर आसली ईडन चिरस्मरणीय हुए हैं। उसी प्रकार कलकत्ते में हिन्दी शिक्षा का प्रचार कर द्विगुणित श्रद्धास्पद होय यही हम लोगों की प्रार्थना है। दूसरे प्रकृत देश हितैषी धनाधिपतियों से यह प्रार्थना है कि आप लोग हिन्दी के परीक्षोत्तीर्ण छात्रों की छात्र वृत्तियों के लिए बंगाल गवर्नमेन्ट के निकट रुपये जमा कर धन की सार्थकता सम्पादन करें। जिस द्वारा गवर्नमेन्ट

भी स्वयं अनुरुद्ध हो कर इस महोपकारी प्रस्तावानुसार हिन्दी शिक्षा दान में स्वतः प्रवृत्त होय। हम को ऐसी आशा है कि सब से पहिले इस विषय में महाराजा दर्भंगा और महारानी स्वर्णमयी दृष्टान्त स्वरूप अपनी प्रकृत देश हितैषिता, और उदारता दिखा कर अन्यान्य धनी जिमींदारों का उत्साह बढ़ावेंगे।"

इस सम्बन्ध में वर्ष २, अंक १२ की सम्पादकीय टिप्पणी की अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"शिक्षा विभाग में हिन्दी भाषा का परिशुद्ध रूप से प्रचार होना बहुत आवश्यक है। दूसरे कलकत्ते में हमारा प्रस्तावित हिन्दी स्कूल होना भी बहुत ही आवश्यक है। जब फारसी के अनुरोध से यहाँ एक मदर्सा कालिज ही स्वतन्त्र है तो हिन्दुस्तान की प्रधान भाषा हिन्दी के लिए स्वतन्त्र विद्यालय क्यों नहीं होयगा ? अवश्य होना चाहिए।" यहाँ ध्यान देने की बात है कि 'सारसुधानिधि' का आग्रह हिन्दी के परिशुद्ध रूप के प्रति था और उपरोक्त टिप्पणी में मुख्य रूप से इसी प्रश्न पर विचार किया गया है। कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

"एक विशुद्ध साधु हिन्दी भाषा की सर्वत्र एक ही पुस्तक पढ़ायी जाना उचित है। किन्तु विशेष दुःख का विषय है कि जिस हिन्दी भाषा का अधिकार इतना बड़ा है कि भारतवर्ष के प्रायः आधे दूर तक परिव्याप्त है। उस भाषा के विषय में विश्व-विद्यालय की सिनेट सभा ऐसी उदासीन रहे कि उस ओर भ्रम से भी कभी न देखे !!! जहाँ के लिए स्थानीय शासनकर्ता की जैसी इच्छा वह वैसी ही इस को विकृत कर डाले जो इच्छा पाठ्य-पुस्तक स्थिर कर देवे। कोई पूछने वाला नहीं कि इस विषय में क्या होता है।........एक सिनेट सभा के उदासीन रहने के कारण हिन्दी भाषा का अभी तक एक स्वरूप ही स्थिर नहीं हो सका है। इस दशा में भाषा का सुधरना और उन्नत होना निःसन्देह असम्भव है। और यह तो निश्चय है कि जब तक हिन्दु-स्तान प्रधान हिन्दी भाषा विशुद्ध और साधु रूप धारण नहीं करेगी साधारण उन्नति कदापि नहीं हो सकेगी। अतएव हिन्दुस्तान की उन्नति का मूल जब यह ठहरा कि हिन्दुस्तान की प्रधान भाषा हिन्दी परिशुद्ध हो कर सर्वत्र एक ही रूप से प्रचार होय। तब अवश्य गवर्नमेन्ट की सहायता आवश्यक है। क्यों कि सम्प्रति भारतवासियों की सर्व प्रकार की शिक्षा एक मात्र गवर्नमेन्ट के आधीन है।"

हिन्दी भाषा

इन उद्धरणों से हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में 'सारसुधानिधि' का दृष्टिकोण काफी स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी-लेखकों की धारणा थी कि देशोन्नति के लिए देश में एक सामान्य भाषा की उन्नति होनी चाहिए और उस पद पर हिन्दी ही प्रतिष्ठित हो सकती है क्यों कि भारतवर्ष की यही प्रधान भाषा है। स्मरणीय है कि हिन्दी-लेखकों की यह धारणा पक्षपातपूर्ण नहीं थी। यह जातीय दृष्टि थी जिस का समर्थन उस युग

के अनेक समाज-सुधारकों ने किया था। हम ने समाज-सुधार-आन्दोलन की चर्चा करते हुए देखा है कि केशवचन्द्र सेन और दयानन्द सरस्वती अहिन्दी भाषी प्रदेश के हो कर भी हिन्दी के समर्थक थे। दयानन्द जी ने तो हिन्दी प्रचार के विविध प्रयत्न भी किये थे। अस्तु।

'हिन्दी भाषा' शीर्षक लेख 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित हुआ था, जिस की अन्तिम पंक्तियाँ वर्ष १, अंक १४ से यहाँ उद्धृत की जाती हैं--

"हम लोगों को मुनासब है कि जिसमें देश की उन्नति होय और निष्कपट और निर्दोष सभ्यता की वृद्धी होय, ऐसे उद्यम उपाय और यत्न करें। इस लिए जब हम सोचते हैं तो प्रथम दृष्टी हमारी भाषा पर पड़ती है, क्यों कि जब तक निस्कपट विशुद्ध भाषा की उन्नति नहीं होयगी तब तक निस्कपट सभ्यता और देश की उन्नति भी नहीं होयगी, इस से उचित है कि पहिले भारतवर्ष की प्रधान और प्रसिद्ध चांद वे गहन हिन्दी की उन्नति करें, और राजपुरुषों को दिखावें कि जिन्हों ने वे जाने पहिचाने उर्दू को अपने घर इतना अधिकार दे दिया है कि जिस कारण कपट आदि कितनि ही बातों की वृद्धि और प्रजा को विशेष क्षति और हानि होती है। और सुसभ्य जाति को तो सरलता ही अंगीकार करना उचित है, क्यों कि सीधी चाल-चलन, बोल-चाल और सीधा व्योहार सभ्यता का प्रधान लक्षण है इस लिए हम अपने पाठकों से अनुरोध और प्रार्थना करते हैं कि जो भाषा सरल-कोमल और प्रांजल भारत भूमि की चिर परिचिता है और जिस की सहचरी और सहेली ऊपर कही हुई बंगला आदि निष्कण्ट प्रचलित हैं उसी अपूर्व सुन्दरी हिन्दी चित्त से सहायता और उन्नति करे।"

उपलब्धि

हम ने ऊपर एक जगह लिखा है कि 'सारसुधानिधि' में जातीय उन्नयन के हर प्रयत्न का समर्थन दिखाई पड़ता है। ऊपर के उद्धरण हमारी बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं।

'सारसुधानिधि', वर्ष २, अंक १७ में आनन्दवन का हिन्दी भाषा के समाचार-पत्र-सम्पादकों की वर्तमान दशा शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। विषय-विवेचना के प्रसंग में लेखक ने एक जगह लिखा है, "समाचार-पत्रों के प्रचारित और विदित होने का प्रधान और मुख्य कारण यही है कि वह पिष्टपेषण के प्रकरण से स्थान पूर्ति करने की अपेक्षा देशोपकारक विषयों से भूषित किया जावे और गवर्नमेन्ट को न्यायान्याय विवेचना से वंचित न रक्खे और जो बात नीति विरुद्ध हो उसे गवर्नमेन्ट के सम्मुख उपस्थित कर देवे, जिस से अन्याय का संचार और बुराई का अंकुर न फैलने पावे।" यदि यही समाचार-पत्र का दायित्व है तो मानना पड़ेगा कि 'सारसुधानिधि' ने अपने दायित्व का पूर्ण पालन किया।

उचितवक्ता

हिन्दी पत्रकारिता के द्वितीय दौर के सन्दर्भ में कलकत्ते के विशिष्ट पत्रों की सामान्य चर्चा करते हुए हम ने निवेदन किया है कि 'उचितवक्ता' के नामानुसार ही इस का आदर्श और उद्देश्य था। उत्तर उन्नीसवीं शताब्दी का यह एक अत्यन्त तेजस्वी पत्र था जिस ने १२ मई १८८३ ई० को देशी पत्रकारों को सलाह दी थी, "देशीय सम्पादको ! सावधान !! कहीं जेल का नाम सुनकर कर्त्तव्य विमूढ़ मत हो जाना, यदि धर्म की रक्षा करते हुए यदि गवर्नमेण्ट को सत्परामर्श देते हुए जेल जाना पड़े तो क्या चिन्ता है। इससे मान हानि नहीं होती है। हाकिमों के जिन अन्याय आचरणों से गवर्मेण्ट पर सर्वसाधारण की अश्रद्धा हो सकती है उनका यथार्थ प्रतिवाद करनेमें जेल तो क्या यदि द्वीपांतरित भी होना पड़े तो क्या बड़ी बात है ? क्या इस सामान्य विभीषिकासे हमलोग अपना कर्तव्य छोड़ बैठें ?"

'उचितवक्ता' का संगठन पक्ष

इस पत्र का आदर्श-वाक्य था, 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र का यह साप्ताहिक पत्र सरस्वती प्रेस में छपता था। दुर्गापूजा के अवसर पर प्रेस बन्द हो जाता था इस लिए तीन सप्ताह के लिए 'उचित वक्ता' का प्रकाशन भी स्थगित हो जाता था। इस की सूचना पाठकों को पहले दे दी जाती थी। वर्ष १, अंक ९ की सम्पादकीय टिप्पणी के नीचे यह सूचना पहली बार प्रकाशित हुई थी जो इस प्रकार है—

सूचना !

विदित हो कि इस बंगदेश में सबसे बड़ा उत्सव दुर्गापूजा का होता है इस समय सभी मनुष्य छुट्टी लेकर अपने अपने घर बालबच्चों में जा मिलते हैं, इसलिये सरस्वती यंत्रके कर्म्मचारी समूह भी छुट्टी लेकर अपने अपने मकानों में जायँगे इससे 'उचितवक्ता' तीन सप्ताह तक प्रकाशित नहीं होगा। आशा है कि प्रिय पाठकों से तीन सप्ताह के बाद पुनः सम्भाषण करेंगे।

इसका वार्षिक मूल्य १॥) वार्षिक और डाक व्यय सहित २=) था[1]। मूल्य कम होने के कारण ग्राहक-संख्या बड़ी थी तथापि आर्थिक कठिनाई से मुक्ति नहीं

१. 'उचितवक्ता' के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक के अन्त में 'सूचना' शीर्षक से एक व्यवस्थापकीय सूचना प्रकाशित हुई जिसे अविकल उद्धृत किया जाता है :

थी वल्कि कहना चाहिए कि अर्थ-संकट इस के मार्ग में एक बड़ा अवरोध था। आर्थिक संकट का मुख्य कारण था ग्राहकों की दायित्वहीनता और उदासीनता। ग्राहक बन कर भी समय से मूल्य चुकाना वे आवश्यक नहीं समझते थे। हिन्दी पत्रकारिता की यह एक सार्वत्रिक व्याधि थी जिस का पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र को बड़ा कटु अनुभव था। 'उचितवक्ता' के १३ वें वर्ष के प्रथम अंक यानी २६ मई १८९४ ई० को पं० दुर्गाप्रसाद जी ने लिखा था कि, "जिस समय मैंने 'भारतमित्र' को जन्म दिया था, जिस समय 'सारसुधानिधि' का अनुष्ठान पत्र प्रचार किया था और जन्म देने का उद्योग किया था तथा अंशीदार बनकर रुपये घाटे दिये थे, उस समय हिन्दी को इस राजधानी में बड़ी ही आवश्यकता थी।" इसी वक्तव्य की पहली पंक्ति इस प्रकार है—"कई वर्षों तक प्रथम 'उचितवक्ता' सुनियम और सुदृढ़ता से चलता रहा, यद्यपि ग्राहकोंकी नादेहन्दी आरम्भ ही से बनी रही तथापि उद्योग और अध्यवसाय के बल से चलाया गया।" इस प्रकार पाठकों की उदासीनता और शिथिलता से खीझ कर १३ जनवरी १८८३ई० की सम्पादकीय टिप्पणी लिखी गयी थी जिस का शीर्षक है—'कौन कहता है कि भारतवासियों में एका नहीं है ?' इस सम्पादकीय वक्तव्य का एक स्थल द्रष्टव्य है—

"पाठको ! हमारी इस बात से आपलोग आश्चर्य में न आ जाइयेगा ? शायद आपलोगों को इस बात का अनुभव न हो तो न हों परन्तु हिन्दी पत्रों के सम्पादक (केवल हिन्दी ही के नहीं वरन् देशीय समस्त भाषा के) सम्पादक तो इस बात को खूब अच्छी रीति से जानते हैं। वे लोग मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर लेंगे कि संवाद पत्रों के दाम न देने में भारतवासियों का ऐसा एका है कि दूसरे २ देशों में ढूँढ़ने पर न मिले पर कसर इतनी ही रह जाती है कि थोड़े से ओछी बुद्धि के मनुष्य सम्पादकों को यथा समय पर दाम भेजकर अपनी नालायकी जाहिर कर बैठते हैं और उनके एके को सर्वांगसुन्दर नहीं होने देते। और भारत की भावी उन्नति के रास्ते में काँटे बोते हैं। नहीं तो आजतक क्या उन्नति करने में अपनी ओर से ये लोग कुछ कसर करते ? निस्सन्देह अबतक तो ये ऐसी उन्नति दिखाते कि देशहितैषी सम्पादकों की आँखें पथरा जातीं और मुँह हाथ और कलम का चलना बन्द हो जाता। पर क्या हुआ अभी भी इनमें जैसी चेष्टा और अध्यवसाय है यदि कुछ दिनों तक इनमें

"सूचना।
विदित हो कि 'उचितवक्ता' का मूल्य आगामि वार्षिक १॥) और डाकव्यय सहित २=) है पश्चात् मूल्य का नियम नहीं है और हमलोग अग्रिम दाम बिना पाये पत्र कहीं नहीं भेजेंगे जिन महाशयों को इस पत्र के ग्राहक होना होवे कृपाकर चिट्ठी पत्री मनीआर्डर आदि कार्य्याध्यक्ष कालीप्रसाद मिश्र के नाम से बड़ा बाजार सूतापट्टी नं० ६० इस पते पर भेजें। बेयरिंग पत्रादि गृहीत नहीं होंगे।"
इस सूचना के नीचे यानी एकदम अन्त में है—"सरस्वती यंत्र में छपकर कलकत्ता बड़ा बाजार सूतापट्टी नं० ६० से दुर्गाप्रसाद मिश्र द्वारा प्रति शनिवार को प्रकाशित होगा।

ऐसी ही दृढ़ता रही तो देश दशा के परिवर्तन में जरा भी सन्देह नहीं रहेगा।" निस्सन्देह यह एक जले हृदय की उद्भावना है जो उस समय के हिन्दी पाठकों की दशा को द्योतित करती है। अस्तु।

'उचितवक्ता' का जब कलेवर बढ़ा तो ११ अक्टूबर १८८४ ई० को "उचित-वक्ता' के कलेवर बढ़ाने का क्या कारण है?" शीर्षक सम्पादकीय स्पष्टीकरण प्रकाशित हुआ था जिस से 'उचितवक्ता' के संगठन-पक्ष और नीति पर प्रकाश पड़ता है। उक्त वक्तव्य के कुछ स्वल्प-उद्धरण सहृदय-क्षम्य होगा। "आज हमारे समस्त सहयोगी पत्र-सम्पादक पाठक तथा ग्राहक अकस्मात् 'उचितवक्ता' का दूना कलेवर देख चौंक पड़ेंगे और इस सोच में आ जावेंगे कि, आज सहसा इस के आकार की ऐसी वृद्धि किस प्रकार से हुई? कोई महाशय समझेंगे कि, इस का कलेवर अन्य किसी सहयोगी के मुकाबिले में ईर्षावश बढ़ाया गया है, कोई समझेंगे कि, ग्राहक बढ़ाने के आशय से और अर्थ की लालच से इस का कलेवर बढ़ाया है। कोई-कोई कुटिल हृदय ऐसा भी सिद्धान्त करेंगे कि, किसी सहयोगी विशेष को क्षतिग्रस्त करने के लिए इसे उन्नत कलेवर किया है। परन्तु ऐसा समझना सम्पूर्ण भ्रम का कार्य है!......प्रथम यह पत्र दो फर्मों पर प्रकाशित होता रहा जब इसे कई तरह का सुबीता प्राप्त होने लगा तब इस का मूल्य स्कूल और लाइब्रेरियों के लिए आधा कर दिया गया और जब इस से भी बढ़ कर सुबीता हुआ तब सर्वसाधारण के लिए वार्षिक ।॥) कर दिया गया और अब विशेष सुबीता हुआ विज्ञापन की विशेष आमदनी के सहित ग्राहकों की भी संख्या आशातिरिक्त बढ़ गयी। इसी से आज इस का दूना कलेवर पाठकों के समीप उपस्थित है। हम लोगों ने कभी भी कोई ऐसे प्रवंचना सूचक वाक्य नहीं लिखे कि, 'जो नफा होता है वह अच्छे कामों में लगा दिया जाता है, मालिकों से कुछ सरोकार नहीं'। हम लोग ऐसे ठगपने की बातों के प्रकाश करने में आन्तरिक घृणा रखते हैं। हम लोग कभी इस की उन्नति के लिए द्वार-द्वार पर हाथ में ठीकरा लिये 'भवतु भिक्षां देहि' कहते नहीं भटकते फिरे और न कभी चन्दा संग्रह करते समय यही कहा कि, 'अजी साहब हमारी इज्जत को देखिए और इस दो रुपये महीने 'डोनेसन को देखिए' और न कभी हम लोगों ने इस की उन्नति के लिए कोठड़ी में बन्द हो आँखें मीच परम पिता परमेश्वर के समीप रोना-पीटना और सिर धुन कर झीखना मचाया, इस पर भी 'उचितवक्ता' अपने सच्चे सहायकों की सहायता और उत्साह से उन्नत होने लगा और इसी से आज इस का कलेवर बढ़ गया और दाम न बढ़ा।" इस वक्तव्य के अन्त में कृतज्ञता ज्ञापित की गयी है 'उचितवक्ता' के सक्रिय सहयोगियों के प्रति, जिनमें 'हमारे परम प्रिय श्रीमान् पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र विशेष धन्यवादार्ह हैं, जिनों ने सम्पादक के अनुपस्थिति और अस्वस्थ शरीर होने पर इस पत्र के सम्पादन में यत्परोनास्ति सहायता की और सम्पादक को समय-समय पर सुपरामर्श दे कर्तव्य सूचित कराया, सच्च तो ये है कि, ये इस की उन्नति के प्रधान कारण हैं, आरम्भ से

आज पर्यन्त हम-लोगों का जैसा यत्न और स्नेह उचितवक्ता पर है, इस का भी हम लोगों से किसी प्रकार कम नहीं है।" इस के आगे पं० अम्बिकाप्रसाद व्यास, बाबू राधाकृष्णदास, सदानन्द मिश्र, शम्भूनाथ मिश्र, प्रतापनारायण मिश्र, छोटूलाल मिश्र पं० हरमुकुन्द शास्त्री इत्यादि के नाम हैं, जिन के प्रति सम्पादक ने कृतज्ञता ज्ञापित की है।

संचालक-सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र

पं० दुर्गाप्रसाद जी बहुधन्धी व्यक्ति थे। राजकीय कार्य में भी इन की विशेष रुचि थी। कश्मीर-नरेश का इन्हें स्नेह प्राप्त था। मूलतः ये कश्मीर के ही थे। कश्मीराधिपति महाराज सर प्रताप सिंह जी के सिंहासनारोहण महोत्सव के अवसर पर आमन्त्रित हो कर पं० दुर्गाप्रसाद जी को कश्मीर जाना पड़ा था। समारोह के बाद महाराज ने मिश्र जी को कश्मीर राज-सेवा में रहने का अनुरोध किया और उन्हें विद्या विभाग के परिदर्शक (इन्स्पेक्टर) के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।[1] और उन की अनुपस्थिति के कारण 'उचितवक्ता' बन्द हो गया। (द्रष्टव्य—२६ मई १८९४ ई० की सम्पादकीय टिप्पणी)। डोंगरे भाई तथा अन्य मित्रों के पुनः-पुनः अनुरोध करने पर भी पं० दुर्गाप्रसाद जी 'उचितवक्ता' के पुनः प्रकाशन की ओर प्रवृत्त नहीं हो रहे थे क्यों कि पत्रकारिता के कटु अनुभव से उन की इच्छा-शक्ति शिथिल हो गयी थी। परन्तु हिन्दी के सौभाग्य से हिन्दी के परम हितैषी महाराजकुमार रामदीन सिंह ३० अप्रैल १८९४ को कलकत्ता पधारे और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र को 'उचितवक्ता' निकालने के लिए उत्साहित किया। अपनी कलकत्ता-यात्रा का उद्देश्य बताते हुए उन्हों ने कहा था कि 'उचितवक्ता' का पुनः प्रकाश कराना अन्यतम उद्देश्य है। दुर्गाप्रसाद जी को सम्बोधित कर उन्हों ने कहा था, "आप कुछ नहीं लिखते, आलसी हो गये हैं।" मिश्र जी ने विवशता प्रकट करते हुए कहा था कि "पत्र निकालने से पुनः हजारों का घाटा लगेगा।" इस पर बाबूसाहब ने वचन दिया था कि, "कुछ चिन्ता नहीं, आप निकालिए। पत्र निकलता रहेगा तो इस के अनुरोध से आप बहुत-कुछ लिखते रहेंगे, अन्यथा आप अब बहुत कम लिखते हैं। आप सरीखे सुलेखकों को आलस्य में कालक्षय नहीं करना चाहिए। रुपयों का जो कुछ घाटा होगा, उस के सब उपाय मैं करूँगा।" बाबूसाहब ने कार्यारम्भ के लिए दो सौ रुपये दिये और साथ ही यह आश्वास-बोध भी दिया कि "मैं कदापि बन्द न होने दूँगा।" इस प्रकार बाबूसाहब की सहृदयता से उत्साहित हो मिश्र जी ने २६ मई १८९४ ई० को पुनः

---

१. पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र की अनुपस्थिति के कारण 'उचितवक्ता' के प्रकाशन में बड़ी कठिनाई आ गयी थी जिस का उल्लेख १ जनवरी १८८७ ई० के अंक में 'विशेष प्रयोजनीय सूचना' शीर्षक से किया गया है।

'उचितवक्ता' का प्रकाशन आरम्भ किया। १८९५ ई० तक की फ़ाइल मुझे उपलब्ध हुई है। इस के आगे का इतिहास मेरे लिए अज्ञात है।

असल में मिश्र जी, सामाजिक कार्यों में अतिरिक्त रुचि लेने के कारण, सर्वदा व्यस्त और अस्थिर रहते थे, साथ ही पारिवारिक संकटों की मार भी उन्हें बर्दाश्त करनी पड़ती थी। माता, पितातुल्य अग्रज तथा परमप्रिय भतीजे की अकाल मृत्यु का गहरा आघात उन्हें लगा था। उक्त मानसिक आघात के साथ ही बंगाल की रुग्ण जलवायु ने मिश्र जी को शारीरिक रूप से अस्वस्थ बना दिया, उन की पाचन-शक्ति क्षीण हो गयी और विवश हो कर उन्हें कलकत्ता छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार 'उचित-वक्ता' का प्रकाशन बन्द हो गया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में समाचार-पत्रों का इतिहास लिखते हुए 'उचितवक्ता' की चर्चा की है और उस के बन्द होने के मुख्य कारण का उल्लेख करते हुए उन्हों ने लिखा है—

"....पण्डित दुर्गाप्रसाद जी ने लिखने-पढ़ने से एकदम हाथ खेंच लिया। कुछ दिन बाद प्रेस भी बेच दिया। इस के बाद उन पर विपद का समय आया। उन के कुटुम्ब के कितने ही अच्छे-अच्छे लोगों का देहान्त हो गया।.......इस देश में अखबार खास-खास आदमियों के शौक पर चलते हैं जब उन का शौक कम हो जाता है या वह नहीं रहते तो अखबार भी लीला संवरण कर जाते हैं। विलायत आदि में ऐसा नहीं है। वहाँ के अखबार किसी व्यक्ति विशेष के भरोसे नहीं हैं। वरंच उन का मजबूत स्टाफ होता है, पूरा प्रबन्ध होता है, किसी एडीटर या मैनेजर के न रहने से वह बन्द नहीं हो सकते, भारतवर्ष में अभी इस बात के होने का दिन दूर है।[1]" गुप्त जी की ये पंक्तियाँ 'उचितवक्ता' के साथ ही प्राचीन पत्रकारिता के एक बहुत बड़े तथ्य की ओर संकेत करती हैं।

मुद्रण की दृष्टि से 'उचितवक्ता' बहुत दिनों तक परावलम्बी था और सरस्वती प्रेस में छपा करता था। जब प्रेस बन्द रहता था तो 'उचितवक्ता' का प्रकाशन भी बन्द हो जाता था। ऊपर एक ऐसी सूचना उद्धृत की गयी है जो 'उचितवक्ता' में उस समय प्रकाशित हुई थी जब पूजा की छुट्टी के उपलक्ष में प्रेस के बन्द रहने के कारण उस का प्रकाशन भी तीन सप्ताह के लिए अवरुद्ध होने वाला था। वर्ष ४, अंक १, के मुख्य पृष्ठ पर अन्य विज्ञापनों के साथ 'उचितवक्ता' यन्त्र का भी विज्ञापन है। हिन्दी, संस्कृत, अँगरेज़ी और बंगला की छपाई हो सकती है, ऐसी विज्ञप्ति है। इस विज्ञापन के नीचे 'यन्त्राध्यक्ष' के रूप में दुर्गाप्रसाद मिश्र का नाम विज्ञप्त है। इसी अंक से पत्र का अपेक्षाकृत आकार बढ़ा दिया गया है।

विषय-वस्तु

'उचितवक्ता' में पाठकों के और देश-हितैषी लेखकों के पत्र प्रायः प्रकाशित

---

१. बाबू बालमुकुन्द गुप्त : 'गुप्तनिबन्धावली', पृष्ठ, ३३५-३३६।

होते थे। पत्रों का कभी-कभी उत्तर दिया जाता था और कभी-कभी उसे प्रकाशित न करने के कारण भी विज्ञप्त किये जाते थे। उदाहरणार्थ—

१६ एप्रैल सन् १८८१ ई०

उचितवक्ता

" 'भवदीय हिताभिलाषी' आपका यह प्रस्ताव नहीं छप सकता क्योंकि, ऐसे-ऐसे प्रबन्धों हो के लिये सरकार ने 'प्रेसएक्ट' बनाया है। इस के छापने से हित के बदले अहित हो जायेगा।"

" 'एक क० व० सु० का पाठक' आप का पत्र बहुत देरी में आने के कारण नहीं छप सका, आप तुलसीदास जी के इस महावाक्य पर ध्यान दीजिये,

" 'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले विरंचि सम'।"

" 'आप का दास इलाहाबाद' यह प्रस्ताव कई बेर हिन्दी पत्रों में छप चुका है कोई नयी बात इस में नहीं पायी गयी सुतरां चर्वित-चर्वण करना अच्छा नहीं परन्तु आप की भाषा अच्छी है कोई और लेख लिखिये।"

" 'एक ब्रास' आप लोगों का यह झगड़ा कदापि मिटने का नहीं चाहे जितना तर्क कीजिए क्योंकि, यह झगड़ा ईर्षावस है। इस झगड़े के वास्ते 'उचितवक्ता' में स्थान नहीं है।"

वर्ष ३, अंक १ में 'विशेष नियम' शीर्षक एक सम्पादकीय सूचना छपी है जो इस प्रकार है—"प्राप्त और प्रेरित स्तम्भों के मतामत के निमित्त सम्पादक उत्तरदाता नहीं।" सम्पादकीय दायित्व और औचित्य का सम्पादक को बड़ा ध्यान रहता था। १० फ़रवरी १८८३ ई० के अंक में—पत्र प्रेरकों के प्रति—स्तम्भ के अन्तर्गत एक पत्र का सम्पादकीय उत्तर प्रकाशित हुआ है जो द्रष्टव्य है: "एक दीनजन, जम्मू (काश्मीर) आपने बाबू महेशचन्द्र विश्वास और बाबू योगेन्द्रचन्द्र विश्वास के विषय में बहुत कुछ निन्दा स्तुति पुनश्च लिख भेजी है परन्तु इस का पूरा पता लगाये बिना हम लोग इसे नहीं छाप सकते।" इसी सम्पादकीय विवेक के चलते 'उचितवक्ता'—सम्पादक ने 'उचितवक्ता' के क्रोड़-पत्र में 'भारतमित्र' को खूब खरी-खोटी सुनायी थी और 'भारतमित्र'—सम्पादक को सम्पादकीय धर्म और नैतिकता समझायी थी। १५ जुलाई १८८१ के 'भारतमित्र' में एक पत्र प्रकाशित हुआ था जिस में 'स्वच्छ वेद निन्दा' थी। इस पर 'उचितवक्ता' का क्रोड़पत्र निकला जिस में एक ही लेख था—'भारतमित्र की नीचता'। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"......'भारतमित्र' के सम्पादक को ऐसा छापने का ही क्या अधिकार है? क्या पत्र सम्पादक का यही कर्तव्य है कि जो आवे सो छापना वाह जी वाह! सम्पादक क्या ठहरे मानो सिन्धूरिया पट्टी की सुरैतिन है कि जो चाहे चला आवे सब की समायी हो जाती है। हिन्दु मुसलमान यिहूदी पारसी नास्तिक डोम चण्डाल बौद्ध जैनी जिस का

कहीं ठिकाना न लगा वह अन्त को भारतमित्र का पल्ला पकड़ कर पार हो जाता है।···हम उन से यह पूछते हैं कि आप क्या सब का भेजा पत्र छाप सकते हैं यदि कोई किसी व्यक्ति विशेष को अथवा आप ही की निन्दा लिख कर भेज दें वा उन को वृथा गालियां दे अपमान सूचक वाक्य लिख भेजे तो छाप देंगे ? हमारी समझ में तो कभी-कभी भी आप से यह काम न होयगा क्यों कि आप ऐसे पत्रों को तो क्या लिख छापोगे जिन में निन्दा वा गालियों का लेश भी नहीं रहता है समय-समय पर आप उन को भी नहीं छापते और साफ़ जवाब दे देते हैं। तो फेर ऐसी अवस्था में आप ने इस वेद निन्दामूलक मोचानय सारहीन पत्र को छाप कर क्यों अपनी नीचता प्रकाश की है इस का कोई कारण हमको नहीं दिखता। क्या कुछ लोभवश हो कर ऐसे नीच कर्म में प्रवृत्त हो गये हैं सम्पादक जी ज़रा होश में आ जाओ और इन नीच प्रवृत्तियों को चित्त से विदूरित कर डालो नहीं तो किसी दिन सम्पादकी का पूरा मज़ा चक्खोगे।"

वर्ष १, अंक ५ के आरम्भिक दो पृष्ठों पर विज्ञापन है। इस पत्र में विज्ञापन की बहुलता रहती थी। हिन्दी समाचार पत्रों का भी विज्ञापन इस पत्र में प्रायः छपता रहता था। प्रथम वर्ष के पांचवें अंक के दूसरे पृष्ठ पर मित्रविलास, भारतबन्धु, भारतसुधानिधि, और जयपुर गेज़ट का विज्ञापन है। विद्यार्थी, बिहारबन्धु, कविवचन सुधा, हिन्दी प्रदीप, क्षत्रिय पत्रिका, सज्जनकीर्ति सुधाकर और भारतमित्र का भी विज्ञापन है।[1]

---

[1] यहाँ कुछ विज्ञापन उद्धृत किये जाते हैं—

मित्र विलास।

नामक शुद्ध हिन्दी भाषा का साप्ताहिक पत्र जिस में नित्यमेव उत्कृष्टोत्कृष्ट व्याख्यान नूतन २ उपन्यास, सुशिक्षक और हितकारी वार्तायें उत्तमोत्तम ग्रन्थों का 'मातृभाषा' में अनुवाद देश हितैषिक इतिहास और विचित्र संचित जगत् वृत्तान्त प्रकाशित होते रहते हैं, वार्षिक मूल्य डाक, व्यय सहित ३॥

जिन्हें लेना हो इस पते पर पत्र भेजें। श्री पण्डित मुकुन्द राम

'मित्र विलास' कार्य्यालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर

भारतबन्धु।

यह साप्ताहिक पत्र प्रति शुक्रवार को उत्तमोत्तम प्रबन्धों से पूर्ण प्रकाशित होता है जिन्हें इसके ग्राहक होना हो निम्नलिखित महाशय को लिखें—

बाबू तोताराम

वकील हाईकोर्ट, अलीगढ़

भारतसुधानिधि।

नामक हिन्दी नागभाषा का साप्ताहिक सामयिक पत्र श्रेष्ठ विषयों से पूर्ण कलकत्ता बड़ा-बाजार मुक्ताराम बाबू के स्ट्रीट नं० ५२ से प्रति चन्द्रवार को प्रकाशित होता है दाम अगामि वार्षिक डाक-व्यय सहित ३। है जिन्हें ग्राहक होना होवे निम्नलिखित महाशय को लिखें।

शम्भूनाथ मिश्र

समाचार

इस पत्र में लेख, पत्र और टिप्पणी के साथ ही देशी-विदेशी समाचार भी छपता था। 'समाचारावली' एक स्थायी स्तम्भ था जिस के अन्तर्गत समाचार प्रत्येक अंक में प्रकाशित होता था। स्मरणीय है कि कुछ समाचार के साथ एकाध वाक्यों में सम्पादकीय टिप्पणी भी रहती थी। समाचारावली के अन्तर्गत प्रकाशित समाचार से देश-दशा का बड़ा जीवन्त चित्र उभरता है। यहाँ कुछ समाचार उद्धृत करना प्रासंगिक जान पड़ता है—

वर्ष १, अंक १—

भारतीय अँग्रेजी सेनाओं के स्वास्थ्य रक्षा का प्रकृष्ट उपाय विषयक प्रस्ताव लिखकर १८८१ साल के ३१ मार्च के पहिले गवर्नमेन्ट के सामरिक विभाग के सेक्रेटरी के पास आदर्श भेजने से यदि स्वीकृत होगा तो लेखक को हजार १००० रुपये पुरस्कार मिलेंगे उक्त ग्रन्थ सरल और सहज अँगरेजी भाषा में लिखित होना चाहिये। सचराचर जिन कारणों से अँगरेजी सेनाओं का स्वास्थ्य भंग होता है उस का स्वरूप और जिन उपायों के अवलम्बन करने से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा ये बातें उत्तम रीति से लिखनी होंगी।

'पशुप्रति अत्याचार निवारिणी' सभा में एक देशीय मनुष्य को ६० रुपये महीने पर नौकर रक्खा है, ग्वाले गौओं को फूँका देकर दूध न लिया करें ये इस विषय का अनुसन्धान किया करेंगे।

शिक्षा विभाग के कर्मचारी होने से गवर्नमेन्ट विना मूल्य औषधि देती थी। डाक्तार पेइन साहिब के आपत्ति करने से गवर्नमेन्ट अब औषधि नहीं देगी।

व्यभिचारिणियों को व्यभिचार दोष से निवृत्त कर सत्पथ में प्रवृत्त कराने के

जयपुर गेजट।
यह अखबार हर शनिवार और बुधवार को : राजपूताना : जयपुर में अँगरेजी और हिन्दी जुबानों में छपता है जिन साहिबों को जरूरत हो मैनेजर को लिखें। कीमत बरस की मुशगी मैडाक महसूल १५। है।

हिन्दी प्रदीप।
यह सर्वोत्कृष्ट मासिक पत्र प्रति अँग्रेजी मास की पहिली तारीख को प्रकाशित होता है मूल्य आगामी वार्षिक डाकव्यय सहित ३= जिन्हें इसके ग्राहक होना हो इस पते पर पत्र लिखें।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट
अहियापुर इलाहाबाद

भारतमित्र।
नामक साप्ताहिक सरल हिन्दी भाषा का पत्र उपयुक्त विषयों से पूर्ण प्रति गुरुवार को कलकत्ता बड़ा बाजार सूता पट्टी नं० ६० से प्रकाशित होता है दाम बरस की पेशगी डाक महसूल समेत ३= जिन्हें इस के ग्राहक होना हो निम्नलिखित को लिखें—

छोटूलाल मिश्र।

लिए विलायत में एक चरित्र शोधक गृह प्रतिष्ठित है। इस बरस ८८५ व्यभिचारिणी स्त्रियों में से ७५२ स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति त्यागकर अपने अपने घर फिर आयी हैं, अवशिष्ट १३३ आज तक अपने घर नहीं आने पायीं। १८५७ साल से आजतक १०२५२ स्त्रियाँ शुद्ध चारित्र हुई हैं।

ग्लेडष्टोन पीड़ित थे पर अब कुछ अच्छे होते जाते हैं।

बिहार प्रान्त में उर्दू और नागरी का झगड़ा अभी तक नहीं निपटा बहुत से आदमियों ने मिलकर नागरी प्रचलित न होने पावे इस विषय का आवेदन किया परन्तु हम लोगों की समझ में गवर्नमेन्ट कदाचित् इस अन्याय युक्ति विरुद्ध दरख्वास्त पर ध्यान न देगी और हिन्दी प्रचलित होने के बद्ध परिकर रहेगी।

१ जनवरी से ३१ जुलाई तक कलकत्ते से १८४२ मन चा विलायत चलान हुई।

वर्ष १, अंक २ —

नैनीताल के हत्या-सम्बन्ध में एक पत्र प्रेरक ने लिखा है कि 'जो स्त्री हत हुई वह पार्वत्य जाति की थी। हत्याकारी गोरे ने उस के सतीत्व नष्ट की चेष्टा की थी पर उस का यत्न किसी तरह सिद्ध नहीं हुआ। वह स्त्री किसी प्रकार से राजी नहीं हुई, इसी अपराध से गोरे ने उसे मार डाला। उस स्त्री के साथ और एक रमणी थी। गोरे को देखकर वह जंगल में जा छिपी, और वहाँ से उसने हत्या करते देखा इसी के द्वारा यह हत्या प्रकाश हुई है।

काबुल युद्ध में जो सब देशीय सैनिक पुरुष हत हुए हैं उन के साहाय्यार्थ देशीय राजाओं ने तीन लाख रुपये चन्दा इकट्ठा किया है।

चीन की आमय नगरस्थ अमेरिकान कौन्सिल ने कहा है कि आमय में, विलायती कपड़े का प्रचलन करना मैनचेष्टर का कर्त्तव्य है। परन्तु उस नगर के २० हजार निवासियों ने यह आपत्ति की है कि विलायती कपड़े से देशी मजबूत और गरम होता है। यह हिन्दुस्तान नहीं है कि खाली सस्ता देख भूल जाय।

वर्ष १, अंक ४—

इंग्लिसमैन का एक पत्र प्रेरक लिखता है कि, हिन्दुस्तानी लोग अँग्रेजों के प्रति आन्तरिक अश्रद्धा प्रकाश करते हैं। जब कभी अँग्रेजों का अनिष्ट होता है तो उन के आनन्द की सीमा नहीं रहती। गत कन्दहार की दुर्घटना की बात सुन कर अधिकांश लोगों ने हर्ष प्रकाश किया है धन्य हैं सच्चे पत्र प्रेरक।

वर्ष १, अंक ५ —

हजारीबाग में एक चाकर साहब किसी की दुकान पर बैठा था इस समय गवर्नमेन्ट अँग्रेजी स्कूल के द्वितीय शिक्षक जूता पहिने हुए दुकान में चले आये इस लिए साहब ने उन्हें खूब मारा शिक्षक महाशय ने डिपुटी मैजिस्ट्रेट के पास नालिश की है।

वर्ष १, अंक ६ —

ट्रुथ समाचार पत्र लिखता है कि "यदि लोर्ड लिटन और सर जोष्ट्ची साहब चीन या टर्की के होते तो अब तक उन का सिर धड़ से अलग कर दिया गया होता, यदि रशिया के होते तो उन को बहुत सा समय साइबीरिया की खानों में काटना पड़ता, अगर जर्मनी के होते तो किले में बन्द कर दिये जाते, पर हम लोग तो सब काम दूसरी वज़ह से करते हैं।"

वर्ष १, अंक ७ —

१८८१ साल के १ जनवरी से पश्चिमोत्तर प्रदेश की अदालतों में नागरी जारी करने का संकल्प हो रहा है।

३ सितम्बर १८८१ —

बंगाल गवर्नमेण्ट के असिस्टेण्ट सेक्रेटरी बाबू राजेन्द्रनाथ मित्र के छुट्टी लेने पर बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय नियुक्त हुए अगर इस काम में यही नियुक्त रहें तो अच्छा है।

उन दिनों काबुल में युद्ध चल रहा था। उस का समाचार उस समय के प्रायः सभी पत्रों में छपता था। 'समाचारावली' के नीचे 'काबुल' शीर्षक के अन्तर्गत यह समाचार छपता था। पहले वर्ष के पहले अंक में प्रकाशित काबुल का समाचार यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है—

काबुल।

बम्बई ३ अगष्ट। कर्नेल सेण्ट जौन सेनापति बरोज और नटाल को साथ लेकर कन्दहार में उपस्थित हैं। २७ जुलाई को जो युद्ध हुआ था वह ९॥ से ३ बजे तक होता रहा इस में १२२१ मनुष्य मरे। इन में नं० ६६ रेजिमेण्ट के ४००, ग्रिनोडियर के ३५७, जेकब राइफल विभाग के ३५०, गोलन्दाज ४००, खनक : सफरमैना : २१, अश्वारोही ६० और १९ मनुष्यों का पता नहीं लगता है।

क्वेटा २ अगष्ट। कन्दहार से समाचार आया है कि सेनापति बरोज के २० नायक और १२०० सैनिक योद्धा हत हुए हैं, तोबा और खोराब जाति के पार्वतीय लोग अँग्रेजी से विपक्षताचरण का उद्योग कर रहे हैं।

सिमला ४ अगष्ट जेनरल स्टट बहुत सी सेना लेकर कन्दहार जाते हैं। अमीर अब्दुल रहमान के नाम का सिक्का टकशाल में बनाया जाता है। ऐसा सुनायी दिया है कि १ ही लड़ाई जीतने में आयूब खाँ के इतने आदमी मारे गये कि वह ढीला हो गया है और अभी तक उसने आगे बढ़ने या पीछे हटने का कोई विचार नहीं किया है। महाराणी भारतेश्वरी ने इस हार पर लाट साहिब से बहुत दुःख प्रकाश किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी की जातीय चेतना और 'उचितवक्ता' का सम्पादकीय-स्वर—

'उचितवक्ता' की सब से बड़ी उपलब्धि उस की सम्पादकीय टिप्पणियाँ हैं। यह एक अत्यन्त तेजस्वी पत्र था जिस ने जातीय प्रश्न को बड़ी निर्भीकता से उठाया था। विदेशी शोषण के परिणामस्वरूप देश-दशा रोज़-रोज़ दुर्बल होती जा रही थी। इस प्रश्न पर प्रथम वर्ष के १५वें अंक में सम्पादकीय टिप्पणी है—'भारत दिनोंदिन क्यों दरिद्र हुआ जाता है।' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बड़ी निर्भीकतापूर्वक सम्पादक ने लिखा है, "चाहे जिस तरह देखिये प्रजा की अपेक्षा राजा भारत की दुर्दशा के विषय कहीं ज्यादा दोषी है। एकमात्र स्वार्थ की विभिन्नता ही गवर्नमेन्ट को दोषी बनाये हुई है और इसी विभिन्नता ने भारत का रुधिर शोषण करना प्रारम्भ कर दिया है इसी से नो 'आइन शस्त्र' सम्बन्धीय आइन इम्पीरियल आदि लहू पीने वाले टैक्स और समस्त दुःखदायी कर्मों की उत्पत्ति है अतएव जब तक राजा और प्रजा के स्वार्थ का अन्तर नहीं जायेगा तब तक राजा प्रजा सब कामों में एक न होयेंगे जब तक राजा को प्रजा का विश्वास न होयगा और श्वेत कृष्ण का अन्तर तिरोहित न होयगा तब तक भारत के सुख समृद्धि और धन की वृद्धि होना सम्पूर्ण असम्भव है।

स्मरणीय है, राष्ट्रीयता के विकास की पृष्ठिका-चर्चा करते हुए हम ने देखा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की राष्ट्रीय चेतना बहुत कुछ वही थी जो 'उचित-वक्ता' की उपरोक्त पंक्तियों में अभिव्यक्त हुई है। केशवचन्द्र सेन से ले कर दादाभाई नौरोजी तक ने अँगरेजी सरकार को भारत के दारिद्र्य का उत्तरदायी ठहराया है। केशवचन्द्र सेन अँगरेजी के हिमायती और अँगरेजों के अच्छे मित्र थे, किन्तु अँगरेजों की ज्यादती और अन्याय उन से भी बर्दाश्त न हो सका। इंग्लैण्ड की एक सभा में ही उन्हों ने कहा था कि भारत का शोषण उन अँगरेज व्यवसायियों के सुख के लिए होता है जो शोषण करने अथवा ऋतु-परिवर्तन के लिए भारत जाते हैं और इस लिए इस देश के विकास के लिए कभी सक्रिय रुचि नहीं लेते।[१] उक्त अरुचि के कारण अँगरेज गवर्नमेण्ट भारतीयों के साथ न्याय नहीं कर पाती थी, बल्कि यह कहें कि अपनी स्वाभाविक उदासीनता के कारण अँगरेज सरकार भारतीयों के दुःख-दर्द को भी सही रूप में नहीं समझ पाती थी और न तो युरोपीय शासन प्रणाली की त्रुटियाँ ही उन के सामने स्पष्ट हो पाती थीं। इस का एकमात्र समाधान था स्वदेशी शासन अथवा शासन विभाग में स्वदेशी व्यक्तियों का प्रवेश। इस प्रश्न की चर्चा 'उचितवक्ता' के २५ फ़रवरी १८८२ की सम्पादकीय टिप्पणी में की गयी है। उक्त सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है: 'अँगरेजी शासन की अपेक्षा देशीय राजाओं के शासन में प्रजाओं की अवस्था उत्तम होने का क्या कारण है?' इस प्रश्न की विस्तृत विवेचना के बाद

---

१. द्रष्टव्य : Studies in the Bengal Remissance, Page 88–89.

सम्पादक ने लिखा है, "देशियों को उच्चतर राजकार्य्य में नियुक्त करने से, उन लोग पर गुरुतर शासन कार्य का भार अर्पित होने से वे लोग गवर्नमेण्ट को सब विषयों में योरोपीय प्रणालियों के वरताव की अनुपयोगिता हृदयंगम करा देते। योरोपीय प्रणालि इस देश के निमित्त कहाँ तक उपयोगी है यह भली-भाँति बिना विचारे अथवा अनभिज्ञतावशत: उन के फलाफल न समझने के कारण ही शासन कार्य्य में इतने द्वेष हो गये हैं। देशियों के हाथ में शासन भार न्यस्त रहने से इन सब दोषों के होने की सम्भावना नहीं थी।"

११ सितम्बर १८८० के अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है 'भारतवर्ष से इंग्लैण्ड को लाभ होता है या नहीं।' अँगरेजी शासन-प्रणाली की कुरीतियों की आलोचना बड़ी तेज भाषा में सम्पादक ने की है और देश की दयनीय दशा का एकमात्र कारण सरकारी शोषण बताया है: "भारतवर्ष को अँग्रेज राजपुरुषों ने शोषण कर लिया है। इसे ऐसा दुहा है कि, यह अब अस्थिचर्म्म विशिष्ट हो गयी है इसके शरीर में रक्त मांस का लेशमात्र भी नहीं रहा वस्तुत: भारतवर्ष की न्यायीं दीन देश आजकल पृथिवी में अति विरल है। परन्तु भारतवर्ष को इस प्रकार दुर्दशापन्न कर अँग्रेज महाशय लोग महा शंकट में पड़ गए हैं। अँग्रेजों को अब ऐसी आशंका हो गयी है कि भविष्य में भारतवर्ष से किसी प्रकार का लाभ तो दूर रहा, वरन् इसे घर से रुपये देकर पोषण करना होगा।"

विदेशी सरकार का खुला विरोध

"अँग्रेज लोग जिस प्रणाली से भारतवर्ष शासन करते हैं यदि और पचास वरस यही प्रणाली प्रचलित रही तो यथार्थ भारतवर्ष के साथ-ही-साथ इंग्लैण्ड की अति दुरवस्था होगी। इंग्लैण्ड में जितनी जमीदारी हैं भारतवर्ष के न्याय लाभजनक एक भी नहीं। परन्तु राजपुरुषों की अतिरिक्त अर्थ पिपासा और नवावी चाल चलने के कारण ऐसी सुन्दर जमीदारी भी कछु सहाय नहीं हो सकती वाणिज्य, व्यापार, पर टिकस पर टिकस और मोटी मोटी वेतन ग्रहण करके राजपुरुषगण यहाँ के सब रुपये देश देशान्तर ले गये हैं, यहाँ इतना अर्थ नहीं है कि देश के सामान्य कार्यों का खरच सम्हाल सकें, इस पर भी भारतवर्ष शासन करने में अँग्रेज लोग जितने रुपये व्यय करते हैं ऐसा कहीं नहीं देख पड़ता। इंग्लैण्ड के राजमंत्री जो वेतन पाते हैं, हमलोगों के गवर्नर जेनरल उस की अपेक्षा प्राय पाँचगुनी अधिक वेतन लेते हैं। वस्तुत: इंग्लैण्ड यदि भारतीय राज शासन का परिवर्तन नहीं करेंगे तो उन्हें यह परित्याग करना होगा। यदि भारतवर्ष प्रकृत कामधेनु होती तो अँग्रेज लोग अपनी इच्छानुसार भारतवर्ष के रुपये अपव्यय कर सकते थे, परन्तु भारतवर्ष तो कामधेनु नहीं है, यह अब अँग्रेजों ने जान लिया होगा। प्रति पाँचों वरस भारतवर्ष में दुर्भिक्ष होता है। पहले बारह वरस वर्षा न होने से भी अकाल नहीं होता था पर अब एक वरस वर्षा न होने

से त्राहि ! त्राहि !! होने लगती है। इस की अपेक्षा और देश की क्या दुर्दशा हो सकती है ?"[1]

इस जातीय समस्या का समाधान देते हुए इसी टिप्पणी में सम्पादक ने लिखा है : "भारतवर्ष की वर्तमान शोचनीय अवस्था विमोचन करने की एकमात्र औषधि मितव्ययिता है। राज पुरुषगण यदि अभी भी मितव्ययी हों और भारतवर्ष का अर्थ यहीं ही व्यय करें तो भारतवर्ष फिर से धनधान्य से पूर्ण हो सकता है।"

अँगरेजों के भारत में आगमन के साथ ही देश में दरिद्रता व्याप्त हो गयी। श्री जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑव इण्डिया' में लिखा है कि भारतवर्ष के जिन-जिन अंचलों में अँगरेजों का प्रभुत्व स्थापित हुआ उन सब स्थानों में क्रमशः दरिद्रता छाती गयी।[2] इस तथ्य की ओर 'उचितवक्ता' के चौथे वर्ष के प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी 'एक अत्याचार का विचार' में समुचित संकेत है। बड़ी निर्भीकतापूर्वक सम्पादक ने लिखा है कि "जब से भारतवर्ष में अँगरेजों का अधिकार हुआ, जब से यहाँ विदेशीय श्वेतांग महापुरुषों ने पदार्पण करना आरम्भ किया, जब से इन लोगों ने अपना आधिपत्य यहाँ विस्तार किया तभी से इन लोगों के अत्याचार का स्रोत क्रमशः प्रवाहित होना आरम्भ हो गया।....जब हम ब्रिटिश शासन में अनेकानेक छोटे-छोटे सिराजुद्दौलाओं को देखते हैं तो यही प्रतिपन्न होता है कि, मुसलमानों में जितने अत्याचारी मनुष्य होते थे उन की अपेक्षा सहस्रगुण अत्याचारी मनुष्य ब्रिटिश सिंह के कल्यान से भारतवर्ष में वर्तमान हैं।"

'उचितवक्ता' ने यह आवाज़ उठायी थी कि विलायत में भारतीय प्रतिनिधि का रहना नितान्त आवश्यक है। अनेक जातीय समस्याएँ खटाई में पड़ी रह जाती हैं क्यों कि पार्लमिण्ट का ध्यान उन की ओर आकृष्ट करने वाला कोई भारतीय प्रतिनिधि विलायत में नहीं है। २ जून १८८३ ई० के सम्पादकीय लेख—'अब भारतवासियों का सर्वप्रथम प्रधान कर्त्तव्य क्या है ?' का एक स्थल द्रष्टव्य है—"विलायत में हमलोगों की ओर से प्रतिनिधि न रहने के कारण जो कितनी क्षति हो रही है उसके समझाने की कुछ आवश्यकता नहीं है, देखिए आज यदि हमारी ओर से विलायत में कोई प्रतिनिधि होता तो क्या सुरेन्द्र बाबू को अन्याय विचार के द्वारा आज तक जेल में पड़े सड़ना पड़ता ? कदापि नहीं। यहाँ से प्रतिनिधि के पास टेलीग्राफ़ के पहुँचते ही हमारा प्रतिनिधि अपील करता और अपील के मंजूर होते ही सुरेन्द्र बाबू कारामुक्त हो जाते, आज हमारा प्रतिनिधि विलायत में नहीं है, इसी से हम भारतवासी अंध एवं पंगु की न्यायीं बैठे मुँह निहार रहे हैं और कुछ बस नहीं चलता, पिंजरे के पंछी की तरह फड़फड़ा रहे हैं।"

---

१. Poverty and un—British Rule in India, by Dadabhai Naoroji. P. 209.

२. Discovery of India, by Jawaharlal Nehru.

नाना प्रकार के सरकारी टैक्स से प्रजा पीड़ित थी जिस का उल्लेख इतिहास-कारों ने किया है। इन टैक्सों की कड़ी आलोचना 'उचितवक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणियों में होती थी। १७ जून, १८८२ ई० की सम्पादकीय टिप्पणी 'लाइसेन्स टैक्स' में बड़ी व्यथा के साथ सम्पादक ने लिखा था—"इस दुःखद टैक्स से गवर्मेण्ट को सामान्य ही आमदनी है, परन्तु बेचारी प्रजा को जितने अत्याचार सहने पड़ते हैं हम लिख नहीं सकते।"

स्वदेशी के प्रति आग्रह

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक जातीय प्रश्न के प्रति 'उचितवक्ता' सचेत था। भारतेन्दु युग की चर्चा करते हुए हम ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के 'तदीय समाज' का उल्लेख किया है जो स्वदेशी का प्रेरणा केन्द्र था। 'उचितवक्ता' भी स्वदेशी का आग्रही था। २५ जून १८८१ ई० के सम्पादकीय वक्तव्य का शीर्षक है—'देशी वस्तु क्यों नहीं प्रसन्न आती ?' उक्त सम्पादकीय टिप्पणी में देशी राजा-महाराजा और बिगड़े रईसों की विदेशी वस्तु-प्रियता की कटु आलोचना और निन्दा की गयी है साथ ही स्वदेशी को ग्रहण करने और उसे अपेक्षित प्रवर्द्धन देने का उन से अनुरोध किया गया है। उक्त लेख का एक स्थल इस प्रकार है, "........किसी को भी भारतखण्ड की बनी कोई वस्तु नहीं प्रसन्न आती, किन्तु विलायती वस्तु ऐसी प्रसन्न आती है कि मानो श्री श्री जगदीश्वर ने अपने निजधाम से बना कर भेजी हो, आज-कल कौन-सा राजा व मनुष्य सभ्य कहा जाता है वा वह अपने को आप सभ्य समझता है, जो अपनी स्वदेशी रीति और चाल-ढाल छोड़ विलायती ग्रहण करे—क्यों न हो जो बुद्धि के चो बच्चे का पापड़ा न फुट गया है ? सर्वसाधारण को कौन कहे बड़े-बड़े महाशय जिन से आर्य देश की उन्नति की आशा करने में आती है, उन्हीं को राजभोग ने ग्रस रक्खा है, कितने को इस राजभोग ने ऐसा अपने रंग से रँग दिया है कि जैसे पीलिये का रोग अपने गुण से मनुष्य को सर्वांग पीला कर देता है, तात्पर्य यह कि इन महाशयों को कोट बूट पतलून और भी अँग्रेजी हैट आदि पहिरना और क्षत्री हो कर चुटिया नदारद इत्यादि आचरण करने से गवरनमेण्ट ऑफ इण्डिया जी० सी० आदि की टाइटिल न देगी, और विद्वान् अँग्रेज लोग भी कभी प्रशंसा न करेंगे, परन्तु इस आचरण को देख कर निन्दा करते हैं और करेंगे, ब्रिटिश सरकार ने जो हम को सभ्यता की प्रणाली दिखाई है वह अच्छी बातों के उपार्जन करने के लिए ही प्रदर्शन की है, न कि दूसरे की नकल करने और अन्य व्यवहार ग्रहण करने को।..............................गरीब विचारे तो इस विषय पर कुछ ध्यान देते हैं और प्रतिदिन कुछ न कुछ हाथ पैर हिलाते हैं, परन्तु इन धनाढ्यों ने तो धोती खोल दी है—ये इसी में प्रसन्न होते हुए अपने देश सहित कुए में गिरते हैं, क्यों कि इन बड़ों को देख कर फिर गरीब भी उन के पीछे गिरते हैं।" देश की दरिद्रता के कारणों पर भी 'उचितवक्ता' ने काफ़ी

गम्भीर विचार किया था और बड़े विश्वासपूर्वक उचितवक्ता-सम्पादक ने १९ जनवरी १८९५ ई० को लिखा था : "......देशी वस्तुओं का देश में आदर की आवश्यकता है। यदि देशवासी विशेष कर बाबू लोग देशी वस्तुओं का समाकार करने लग जायें और विलायती कल की बनी सस्ती वस्तु की प्रतियोगिता में देशी हाथ की बनी वस्तुओं को बर्ताव में लाने लग जाये तो अनायास देश की हीन दशा का परिवर्तन हो सकता है। विदेशी वस्तुओं के बर्ताव से देशों के शिल्पी (कारीगर) लोग निकम्मे होते जाते है और विलायती वस्तुओं के पलटे में देश का धन विदेश ढोया जाता है और भारतवर्ष की दरिद्रता का मूल कारण यही है।"

स्वदेशी के साथ ही 'देशीय एकता' पर भी 'उचितवक्ता' जोर देता था। अँगरेजों का हवाला देते हुए २३ जुलाई सन् १८८१ ई० के सम्पादकीय लेख में सम्पादक ने लिखा था, "'एकता' जिस के अभाव से यह अगण्य भारतवासी मुष्टिप्रमाण लोगों के पददलित हो रहे हैं और जिन से वे यथेच्छा बरत रहे हैं।"

उचितवक्ता की जातीय दृष्टि

"आज कल जो अँगरेज लोग भारतवर्षीयों पर यथेच्छाचार बरत रहे हैं और सभ्यता का अभिमान कर सेखी भी मारते हैं इस का क्या कारण है वही 'एकता' पर कुछ हम यह नहीं कहते कि इंग्लैण्ड में एक दूसरे का शत्रु नहीं है और उन में आपस में मार-पीट दंगा-फिसाद नहीं होता। इस में तो वे हम से भी एक काँटे बढ़कर हैं। तो उन के बीच में क्या है? 'जातीय एकता', इंग्लैण्ड का कोई साधारण शत्रु के उपस्थित होने से भारतवासियों की न्याई उन्होंने संकीर्ण हृदय के परिचय नहीं दिये हैं। इनके बीच एक दल शत्रु के पक्ष में दूसरा दल विपक्ष में नहीं खड़े होते। उस समय वे लोग इंग्लैण्ड के शत्रु को साधारण शत्रु जान क्या शत्रु, क्या मित्र सभी एकत्र बद्धपरिकर हो इंग्लैण्ड के साधारण शत्रु के विरुद्ध में हस्तोत्तलन करते हैं और शेष में कृतकार्य भी होते हैं।" हमारी स्थिति इस से सर्वथा विपरीत है। कहना न होगा कि इसी जातीय एकता के अभाव में प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम में हम पराजित हो गये। और आज भी हमारे राष्ट्रीय संकट का एकमात्र कारण जातीय एकता का अभाव ही है। आज जब हमारी धरती पर एक ऐसे देश ने हमला किया जिस से हम ने मित्रता की सन्धि भगवान् बुद्ध के वचन के साक्ष्य के साथ की थी, तो क्षण-भर को हम आश्चर्य में पड़ गये और फिर उस के प्रतिकार के लिए उद्यत हो गये। इस सन्दर्भ में यह एक अविस्मरणीय प्रसंग था कि हमारे ही बीच एक ऐसा वर्ग था जो इस आक्रमण के औचित्य का प्रचार करता था और प्रच्छन्न रूप से वह आक्रमणकारी के साथ था क्यों कि वह राष्ट्रीय सीमा से अपने को ऊपर मानता है। विडम्बना यह है कि राष्ट्रीय सीमा से ऊपर उठ कर भी उन के सारे राष्ट्रद्रोही उपक्रम राष्ट्रीय परिवेश के भीतर ही होते हैं। यह सब कुछ हमारी आँखों के सामने होता है और हम उस का खुल कर

विरोध इस लिए नहीं कर पाते कि लोग कहीं प्रतिगामी न समझें। राष्ट्रीयता का नाम लेने में हम इस लिए डरते हैं कि हमें संकीर्ण और साम्प्रदायिक घोषित कर दिया जायेगा। प्रगतिशीलता की इतनी विकृत भूख पुराने लोगों में नहीं थी। पराधीन भारत में, हम सब जानते हैं, एक ऐसा वर्ग था जो अपनी सुख-सुविधा के लिए सरकारी अनुकूलता आवश्यक समझता था, इस लिए सरकार को बहुविध प्रयत्नों-द्वारा प्रीत रखना ही उन का एक मात्र उद्देश्य था। इस वर्ग में अधिकांश राजे-महराजे और बिगड़े रईस ही थे जिन्हें सरकारी साहाय्य उपलब्ध था और ऊँची-ऊँची सरकारी खिताबें भी सहज ही प्राप्त होती थीं। किन्तु इन से देश-हित में बड़ी बाधा पड़ती थी क्यों कि ये प्रत्येक जातीय उपक्रम का विरोध करते थे। इन देश-द्रोहियों से लड़ने वाला वर्ग बहुत पुष्ट था और अपनी सीमित शक्ति के ही बल पर यह वर्ग उन राजभक्तों का कड़ा विरोध करता था। राजा शिवप्रसाद अँगरेजी सरकार के चाटुकारों में अग्रणी थे और 'उचितवक्ता' चाटुकारवर्ग के विरोधियों का सशक्त माध्यम था। राजा साहब ने 'सरकार की चाटुकारिता' के नशे में भारतवासियों को बहुत कुछ भला-बुरा कह दिया था। १७ मार्च सन् १८८३ के 'उचित वक्ता' के सम्पादकीय वक्तव्य का शीर्षक है, '*अपरिणामदर्शी भेंड़ प्रतिनिधि राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० की चाटुतापूर्ण* अनूठी उपजें।' राजा साहब ने भारतवासियों को भेंड़ तक कह डाला था। उक्त सम्पादकीय वक्तव्य में उन की राजभक्ति की खुल कर निन्दा की गयी है: "खुशामद ने हमारे राजा साहब को भी बहुत दिनों से अपना चेला बना रक्खा है और उसी खुसामद के प्रसाद से आज राजा साहब का ऐसा सम्मान है और अँगरेजी वर्णमाला के कतिपय अक्षरों (सी० एस० आई०) का पुछल्ला नाम के पीछे फहरा रहा है इस में सन्देह नहीं और आज राजा जी भेंड़ प्रतिनिधि होने में समर्थ हुए हैं और आज समग्र भारतवासियों को भेंड़ बना कर आप उन में श्रेष्ठ बन गालियों की बौछाड़ प्रकाश्य काउन्सिल में करते हैं। आप ने इलबर्ट बिल के विषय में बहुत सी बातें बे सिर पैर की कहीं और चिर अभ्यस्त खुशामद की गढ़इया में पड़ इनो ने इतने गोते खाये कि इन का कहना कुछ समझ नहीं आया और इनो ने क्या कहा? और उस का अर्थ क्या है? कुछ समझ नहीं आता। आप खुशामद के अनुरोध से बहुत कुछ उलट-पुलट बक गये। पाठक इन की खुशामदपूर्ण बकवादों को प्रकाश करने का स्थान इस उचित वक्ता में नहीं है नहीं तो भेंड़ प्रतिनिधि महाशय की सम्पूर्ण वक्तृता-विद्या का परिचय हम आज अपने पाठकों को देते और खुशामद के प्रबल प्रवाह का आदर्श दिखलाते।······

राजा साहब ने राजभक्ति का पक्ष लेकर राजा को हम ईश्वर मानते हैं यह कह एक उदाहरण दिखलाया कि, हमलोगों की राजभक्ति कैसी अटल है और हम

१. सिक्ख और गुरखों ने सरकार का साथ दिया था। देशी रजवाड़ों ने या तो अँगरेजों का साथ दिया था या फिर तटस्थ थे। —जवाहरलाल नेहरू: हिन्दुस्तान की कहानी, पृष्ठ ४४१।

कैसे राजभक्त हैं इसके विषय में आपने कहा कि जगत सेठ महतावराय जो कि, इन तीन के पुरुखों में थे और उन तीनों में एक वह भी थे जिनो ने क्लाइव को मुर्शिदाबाद में आह्वान किया था, और बंग देश में ब्रिटिश शासन स्थापन किया था। भला राजासाहब से हम यह पूछते हैं कि, आप सोच विचार कर यह तो बतलाइये कि, यह आपने अपनी पुस्तैनी राजभक्ति के लक्षण दिखलाये अथवा आपने अपने पुरखों की उत्कृष्ट विश्वासघातकता का वर्णन किया ? भला पहला राजा यहाँ का कौन था और उसको आपके पुरखों ने कैसे राज च्युत करा कर अँगरेजों को बुलाया वाह ! वाह !! क्या अच्छी राजभक्ति दिखलायी !! पाठक राजभक्ति किसे कहते हैं राजाजी से सीखो, यह औसर आप लोगों के चूकने का नहीं है !!!"

उक्त सम्पादकीय वक्तव्य का उपसंहार करते हुए सम्पादक ने सर्वसाधारण से प्रार्थना की है कि राजा साहब के स्थान पर किसी और को अपना प्रतिनिधि चुने अन्यथा बड़ी क्षति की आशंका है—"हम सर्वसाधारण से यह प्रार्थना करते हैं कि इनके स्थानापन्न करने के निमित्त एक प्रतिनिधि निर्वाचन करें और इण्डिया गवर्नमेण्ट से प्रार्थना करके इनकी बदली करा दें नहीं तो किसी दिन इनके द्वारा बड़ी क्षति होगी। कुशल तो इतनी हुई कि, ये महापुरुष रिपन के समय काउन्सिल के सभ्य हुए यदि कहीं लिटन के समय होते तो सोना सुगन्ध हो जाता और अभी कौन कह सकता है कि, रिपन के बाद एक महालिटन नहीं आ सकते हैं यदि ये काउन्सिल के मेम्बर रहे और कोई लिटन सदृश अप्रशस्त हृदय शासनकर्ता आ गया तो इनो ने खुशामद के वशवर्ती हो भलीभाँति मनमानता चौका लिपवा देना है, इसमें सन्देह नहीं। अतएव इनको पदच्युत कर शीघ्र ही कोई प्रजा प्रतिनिधि नियोग करना चाहिये जिससे कि प्रवृत्त पक्ष में उपकार होगा और नहीं तो ऐसे खुशामदी मनुष्यों से जो हमलोगों का कुछ उपकार होगा उसका नमूना हम लोगों को राजा साहब हर हाथ दिखलाते आये हैं अतएव शीघ्र ही इसका आन्दोलन करके उपयुक्त प्रतिनिधि नियुक्त करना चाहिये। कविवचन सुधा सम्पादक। भारतवासी मात्र आपके राजा जी का कैसा यश गा रहे हैं ? क्या आप इस समय राजाजी के प्रसन्न करने को कोई स्तुति पाठ न करेंगे ? भला ऐसा क्या ?"

इसी प्रकार २४ मार्च १८८३ ई० के अंक में भी सम्पादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत राजा शिवप्रसाद की आलोचना की गयी है। राजा शिवप्रसाद की वह अँगरेजी वक्तृता भी उद्‌धृत की गयी है जिस में उन्हों ने भारतवासियों को भेंड़ और अँगरेजों को सिंह कहा था।[१] टिप्पणी के अन्त में सम्पादक ने आशा प्रकट की है—"हम ऐसी

---

१. "...my countrymen will call me a traitor to my country, the native newspapers will vilify me; but if the Hon'ble Law member is not afraid of the British lion, wagging his tail and roaring, why I am to care for the hellow wings of a few Indian sheep"? उचितवक्ता, २४ मार्च, १८८३ ई० से उद्‌धृत।

आशा करते हैं कि, बाबू हरिश्चन्द्र वा लाला श्रीनिवासदास इन में से किसी महाशय को राजा साहब के स्थानापन्न करने के निमित्त सर्वसाधारण समाज महामान्य रिपन महोदय से प्रार्थना करेंगी।"

इलबर्ट बिल, जिस की चर्चा पिछले अध्याय में की गयी है, के प्रश्न पर सारे देश के राजनीतिक वातावरण में एक नयी लहर दौड़ गयी थी। राजा शिवप्रसाद ने अँगरेज़ों का पक्ष-समर्थन किया था। 'उचितवक्ता' के २८ अप्रैल सन् १८८३ की एक सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है, 'इलबर्ट बिल के आन्दोलन से कौन से लाभ हुए ?' उक्त टिप्पणी के शेषांश की कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "राजा शिवप्रसाद का भँड़ेरियापन और नीचता प्रकट हुई। इन की खुशामदप्रियता जो जघन्य रूप में परिणत है उस की उत्तम प्रकार परीक्षा हुई। हम लोग यह जानते थे कि, ये केवल खुशामद के वशवर्ती हैं परन्तु जब इनोने लॉर्ड रिपन सरीखे महाशय व्यक्ति के समीप ऐसी उल्टी-सीधी बातें कहीं तो यह मालूम हुआ कि, ये केवल खुशामदी नहीं हैं वल्कि प्रधान देश के वैरी और नीचनामी हैं।" ऐसे देश-द्रोहियों पर 'उचितवक्ता' की कड़ी निगाह रहती थी। औचित्य का पक्ष-समर्थन और देशोन्नति की सतत चिन्ता ही 'उचितवक्ता' का एकमात्र लक्ष्य था। देशोन्नति के प्रश्न पर उचितवक्ता-सम्पादक ने काफ़ी गहराई से विचार किया था। प्रथम वर्ष के सातवें अंक की सम्पादकीय टिप्पणी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"प्रधानतः तीन तरह से देश की उन्नति हो सकती है। पहिला कृपिकार्य, दूसरा वाणिज्य, तीसरा राजनैतिक क्षमता, भला हो या बुरा हो हम लोग कृपिकार्य एक प्रकार जानते हैं। दूसरा (वाणिज्य) अच्छी तरह नहीं जानते।..........हम लोगों के वाणिज्य व्यवसाय सीखने से अँग्रेज जाति का अनिष्ट हो सकता है, ये सब सोच विचार कर इडेन साहब का इस विषय में साहाय्य करना असम्भव है। हम लोगों के राजनैतिक उन्नति के विषय में इडेन जो कभी भी किसी प्रकार की सहायता करेंगे, हम लोगों को ऐसी आशा नहीं होती। कलकत्ते की म्युनिसिपालिटी को टेम्पल साहब थोड़ी सी क्षमता दे गये हैं इस कष्ट से इडेन साहब को नींद नहीं आती। देशीय अखबारों के सम्पादकों को स्वाधीनता थी, इस देश में पाँव धरते ही इडेन साहब ने उस का नाश किया, हम लोगों के लिए राजनैतिक विषय में उन्नति का होना ही असम्भव है। सुतरां इडेन साहब ने जो किया है, उस से उपकार न होगा, वरना अपकार हो सकता है।"

अँगरेज़ी सरकार की स्वार्थपरता और पक्षपातपूर्ण व्यवहार के चलते जातीय उन्नयन में अनेक अवरोध उपस्थित हो गये थे। साम्प्रदायिक संघर्ष ज़ोर पकड़ रहा था। सरकार इस ओर से एक हद तक उदासीन थी और कभी मुसलमानों का पक्ष ले कर हिन्दुओं के प्रति होने वाले साम्प्रदायिक अन्याय-अत्याचार को प्रश्रय देती थी। दूसरे वर्ष के २१ वें (२१ मे १८८१) अंक के सम्पादकीय वक्तव्य का शीर्षक है— 'फेर वही हिन्दु मुसलमान का रगड़ा। वा पक्षपात का दूसरा नमूना ॥' मुसलमानों के

अत्याचार से हिन्दू परेशान हो गये थे और सरकार इस ओर ध्यान नहीं दे रही थी। हिन्दुओं के मनोभाव का जरा भी खयाल न कर हिन्दुओं के मुहल्ले में गो-मांस की बिक्री होती थी। उक्त सम्पादकीय वक्तव्य में सरकार से इस अनौचित्य को बन्द करने का अनुरोध किया गया है। उक्त लेख की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"कोई भी अपने मत के विपरीत काम नहीं देख सकता है। यदि कोई हिन्दु अँगरेजों के गिरजे के बगल में देवमूर्ति स्थापन कर के उस की पूजा के हेतु शंख, घण्टा, घड़ियाल, नगारा आदि वाद्योद्यम करे, तो क्या ख्रिष्ट धर्मोपासकगण कभी भी यह सह सकते हैं? और क्या वे ऐसा करने दे सकते हैं? कदापि नहीं। और क्या मुसलमान लोग उसी प्रकार से हमारी देवमूर्ति नव प्रतिष्ठित देख अथवा उन के धर्म विरुद्ध शूकर मांस को विक्रय होते देख कभी भी चुपचाप रह सकते हैं? वे भी इस काम को देख इस के बन्द करने की चेष्टा नहीं करेंगे ऐसा तो हमको नहीं जान पड़ता। अतएव हिन्दू लोग अपने महल्ले के बीच अपने मत के विपरीत काम देख कर दुःखित हो हो कर वह मांस विक्रय-निषेध करने की चेष्टा करे, यह कुछ अन्याय नहीं जान पड़ता।''' ऐसे स्थल राजपुरुषगण ऐसे हमारे धर्मविरुद्ध काम के बन्द करने की चेष्टा जो नहीं करते यह शोक का विषय है, अतएव हे राजपुरुषगण आप पक्षपात-शून्य हो जरा धर्म को चेत शीघ्र इस काम का निबटारा करिये।"

इस साम्प्रदायिक विषय के सम्बन्ध में वर्ष १, अंक ४ की 'समाचारावली' में एक समाचार प्रकाशित हुआ है जिस से उस समय की साम्प्रदायिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। समाचार इस प्रकार है—"हैदराबाद में हिन्दु और मुसलमानों का आपस में विवाद हो गया है। गुलबर्गा से टाइम्स आफ इण्डिया को एक पत्र प्रेरक ने लिखा है कि दो हजार मुसलमानों ने मिल कर हिन्दुओं का एक मन्दिर और मूर्तियों को तोड़ डाला, एक सन्यासी जो एक महीना पहिले मरने के बाद गाड़ दिया गया था उस का शव समाधि से निकाल कर रस्ते में फेंक दिया और कई एक गौवों को मार डाला। पुलिस वाले दंगा रोकने गये कुछ न कर सके। इस का विचार करने के लिये कमिशन बैठा था पर कुछ विचार न हो सका। हिन्दू सब अपनी दूकानें बन्द कर के भाग गये हैं। ये लोग कहते हैं कि उन का कुछ विचार नहीं होता, और मुसलमान कारिन्दे पक्षपात करते हैं।"

इसी प्रकार अन्य धार्मिक प्रश्नों को ले कर भी 'उचितवक्ता' में लेख प्रकाशित होते थे। गोवध पर भी टिप्पणियाँ हैं और आर्यसमाज और सनातन धर्म के बारे में भी लेख हैं। २४ सितम्बर १८८१ के सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत शारदाचरण पाण्डे का 'धर्म' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार २ जुलाई १८८१ के अंक में गोवध पर पत्र-शैली में एक लम्बा लेख प्रकाशित हुआ था। काश्मीर विषयक लेखों से यह पत्र भरा रहता है। सम्पादक काश्मीरी थे और काश्मीर की धरती के साथ ही वहाँ की राजनीति में भी उन की रुचि थी। व्यापारिक समाचार यानी धरबोती और

बाज़ार भाव भी 'उचितवक्ता' में छपता था। पुस्तकों की समीक्षा भी छपती थी। चौथे वर्ष के प्रथम अंक में श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' की समीक्षा छपी थी।

उस समय के दूसरे-दूसरे पत्रों से भी 'उचितवक्ता' में लेख और कविताएँ उद्धृत की जाती थीं। मुख्य रूप से हिन्दी प्रदीप और कविवचन सुधा से। वर्ष २, अंक २ में 'कविवचन सुधा' से 'सभ्यता' शीर्षक लेख उद्धृत किया गया है। इस लेख की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं, "यह यदि है तो कम्बल में भी है, न कि निरे दुशाले में और यदि यह है तो कुरूप में भी है न कि सुरूप ही में हो, और यदि यह है तो न निरी अँगरेजी और फारसी में, वरन् हिन्दी संस्कृत में भी है, क्यों कि यह स्वभाव प्रकृति चाल-चलन रीति और व्यवहार ही में सभ्यता रहती है तो इस के निकट धनी और दरिद्री दोनों समान हैं, ठीक इसी से समदर्शित्व ही इस का एक महान् गुण है और स्वदेशी विदेशी का अन्तर इस की दृष्टि में रहता ही नहीं इससे जिसमें यह हो उसी का आज बड़ा पुण्य है। क० व० सु०"

इसी प्रकार १८ दिसम्बर १८८० के सम्पादकीय वक्तव्य के नीचे—नयी-नयी लव्जों के नये-नये माने शीर्षक लेख हिन्दी प्रदीप से उद्धृत किया गया है। एक स्थल द्रष्टव्य है—

"प्रत्यक्ष लक्ष्मी० महाराणी विक्टोरिया। लायक होने की पहचान० गोरा चमड़ा।

लायक० सभ्यता के आगार बड़े ईमानदार अँगरेज़ ओहदेदार।

नालायक० हम सब, इस लिये कि हिन्दुस्तानी हैं।

सभ्यता का निचोड़० खड़े हो कर मूतना।

शाइस्तगी की नाक० हमारे यहाँ के दलाल, या तरकारी बाजार के कुंजड़े।

बड़े सच्चे ईमानदार० मियाँ भाई, न मानो इन्द्रमणि के मुकद्दमें में जज साहब का फैसला मिल सके तो मँगा कर देख लो उस में अभी इस बात की मक्खन सी हीर और ताज़ी छान की गई है।

बुद्धिमान० अँगरेज या काले कोइला से केरानी या युरेशियन।

बेवकूफ करम के फूटे० हिन्दू, हिन्दुओं में भी ब्राह्मण।

खूसट सुकाल के शत्रु सदा मँहगी मनाने वाले अन्न के रोजगारी या बनिए।

पतिव्रता० इमानदारी, दियानतदारी, अर्थशौच, तथा च मनु "सर्वेक्षामेव शौचनामर्थशौचं परं स्मृतिम्। योऽर्थे शुचि हिंसशुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।"

शिष्ट० जो बड़ा मुँहजोर कल्लेदराज़ ज़ाहिरदारी में अच्छी तरह कुशल हो।

गाउदी० सब कुछ पढ़ा लिखा पर दुनियासाजी जिस ने न सीखा।"

'उचितवक्ता' में पत्र भी बहुत छपते थे। कुछ तो पत्र रूप में लेख छपते थे और कुछ पाठकों के पत्र होते थे जिन में एक न एक समस्या रहती थी। वर्ष १, अंक ४ में सम्पादक के नाम प्रकाशित एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

प्रेरित पत्र

मान्यवर श्रीयुत उचितवक्ता सम्पादक महाशय समीपेषु निवेदनम् ।

महाशय ?

विगत १६ अगष्ट के सारसुधानिधि में अपूर्व विद्या का प्रभाव देखने में आया, सम्पादक महाशय 'सारसुधानिधि' के एक पत्र प्रेरक ने अमरकोष का ये श्लोक लिखा है के, "आचण्डलासु संकीर्णा विम्वष्टा कर्णादयाः" ये महा अशुद्ध है इस श्लोक का पाठ इस प्रकार से है—"आचण्डलात्तु संकीर्णा अम्बष्ठ करणाद् यः।" महाशय प्रथमतः विम्वष्टा, द्वितीयतः वर्णा, तृतीयतः आदयाः ये तीनों शब्द महा अशुद्ध हैं ।

एक शोधक ।

इसी प्रकार २५ सितम्बर १८८० ई० में एक लम्बा पत्र प्रकाशित हुआ है जो तत्कालीन कई तथ्यों पर प्रकाश डालता है इस लिए उसे अविकल उद्धृत किया जाता है—

प्रेरित पत्र ।

उचितवक्ता सम्पादक !

बिना तर्क के किसी बात का निश्चय नहीं होता, बिना दोनों तरफ का प्रमाण सुने कोई बात स्थिर नहीं हो सकती । इसीलिये सुसभ्य गवर्नमेण्टों में विचार करने के समय तर्क-वितर्क करने की रीति प्रचलित है, जिस से हर एक आदमी अपनी बात का प्रमाण अच्छी तरह दे सकता है । हमारे हिन्दी अखबारों में भी कुछ तर्क-वितर्क छेड़ छोड़ होने लगी है । परन्तु दुःख का विषय है कि, अधिकांश लेखक प्रतिवादी का उत्तर देने में असमर्थ हो के मूल विषय को छोड़ देते हैं और गाली या झूठी निन्दा की सहायता से दूसरी उपज लेने लग जाते हैं । हाल में 'सारसुधानिधि' सम्पादक और भारतमित्र के एक पत्र प्रेरक का जो झगड़ा चला आता है उस की भी शेष में वही अवस्था हुई है । 'सारसुधानिधि' सम्पादक तो शुरु ही से जामे से बाहर हो गये और लगे हाथ पैर पटकने परन्तु जब देखा कि अब तो कलई खुलने लगी चट वह प्रसंग छोड़ दिया और 'भारतमित्र' सम्पादक को लगे आक्रमण करने । पत्र प्रेरक के लिये एक कृत्रिम परसराम खड़ा कर दिया और उस (परसराम) के मुँह से स्वीकार करा दिया कि भाई हमने बँगला से अनुवाद किया तो क्या हुआ ? और जहाँ से तर्जुमा किया उस का नाम न दिया तो इसी में क्या दोष हुआ ? अब देखिये इसी पर सब झगड़ा मौकूफ है । हम परसराम जी से यह पूछते हैं कि क्या कालिदासादि महाकवि ऐसे अकृतज्ञ थे कि जिन ग्रन्थों में से प्रसंग लेते थे उन का नाम न देते थे ? यह लिखने कि पहले उन को रघुवंश का वह श्लोक तो पढ़ लेना चाहिए था जिस में ग्रन्थारम्भ में कालिदास ने वाल्मीकि आदि महाऋषियों से कृतज्ञता स्वीकार की है । परन्तु सम्पादक यह न करेंगे, वे तो दूसरे के सिक्के पर अपनी कलई चढ़ा के उस को अपने स्वाधीन चित्त का नमूना बतावेंगे जब आप को लिखने की सामर्थ्य नहीं थी तो क्यों

वृथा पत्र निकाला और फिर जब निकाला और बँगला पत्रों का उच्छिष्ट ग्रहण किया तब क्यों न पाठकों को जना दिया कि यह प्रस्ताव अमुक पत्र का उलथा मात्र है....
....................जब बँगला सम्पादक और ग्रन्थकर्ताओं को मालूम दे जायगा तो क्या वे यह न समझेंगे कि हिन्दी के सब लेखक ऐसे ही अकृतज्ञ हैं। और इस से क्या आप सब सम्पादकों को कलंक न लगेगा। इसी तरह उसी पत्र में एक महाशय ने वंगदर्शन से चोरी कर के अपना नाम दे दिया है, परंतु वाह चोरी क्या सीनेजोरी है कबूल भी करते जायँ और फिर सच्चे भी बने रहें। परसराम जी से इतना ही कहना बहुत है कि आप लिखने पढ़ने के विषय में बिना समझे फर्सा चलाने के बदले लकड़ियों पर हाथ सफाई कीजिये क्यों कि इस में दखल दे के यह अपने पक्ष को आप ही कमजोर किये डालते हैं।—रा० रा० मिश्र।

इसी प्रकार १८ मई के 'बिहार बन्धु' में 'पंजाबियों की बद अख्लाकी' शीर्षक एक पत्र छपा था, जिस पर 'उचितवक्ता' के २४ जून १८८२ के अंक में लाहौर से प्रेषित एक प्रतिवाद पत्र छपा है।

विभिन्न हिन्दी पत्रों से 'उचितवक्ता' का वाद-विवाद

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में 'उचितवक्ता' की चर्चा करते हुए लिखा था, "उस समय के नामी लेखक इस में बराबर लेख लिखा करते थे। स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र भी कभी-कभी लिखा करते थे। फिर पण्डित दुर्गाप्रसाद जी स्वयं एक तेज सम्पादक और ज़बरदस्त लेखक थे। उन के धुंआधार लेख कभी-कभी गजब किया करते थे। दिल्लगी की फुलझड़ियाँ और छेड़छाड़ के पटाके छोड़ने में वह किसी उत्सव या पर्व का ख्याल न रखते थे। 'भारत जीवन' से 'उचितवक्ता' की वैसा ही छेड़ छाड़ चली थी जैसी लखनऊ के उर्दू अखबार अवध पंच से मेरठ के तूतिये हिन्द की। मीठी मीठी छेड़ करने, व्यंग विद्रूप करने—मुँह चिढ़ाने में उचितवक्ता पंच का काम करता था। किस किस से उस की न छिड़ी? भारतमित्र से चली, सारसुधानिधि से खटपट हुई। कितने ही अखबारों से जब तक चख चख चली।" असल में औचित्य का आग्रही होने के कारण 'उचितवक्ता' बिना किसी दुविधा के उचित बात कह देता था और चूंकि उचित बात सुनने और सहने का सब अभ्यास नहीं होता इस लिए सद्यः विवाद और झगड़ा खड़ा हो जाता था। प्रथम वर्ष के पांचवें अंक की दूसरी सम्पादकीय टिप्पणी—'प्रिय सम्पादक मित्र विलास के प्रति' उक्त टिप्पणी की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

प्रिय सम्पादक—मित्र विलास के प्रति
समालोचना में सम्पादक ने बहुत से मनमानते उपदेश दिये हैं। इस स्थल में सम्पादक महाशय से दो एक बातें जिज्ञास्य हैं, प्रथम तो यह कि समाचार-पत्रों का आपस में 'द्वेष' क्या? समाचारपत्रों में जब विवाद होगा तभी साधारण विषय के

आन्दोलन पर ही तर्क होगा, इस से देश का उपकार होता है या अपकार? दूसरे आपस में 'उन्नत करने में यत्न करें' यह आप ने किस तरह जाना कि उन्नत करने में यत्न नहीं करते? तीसरे 'एक दूसरे को देख के जलें' इस का क्या मतलब है? कृपा कर समझा दीजिये।''' अनुग्रह कर वह कौन सी बात (उचितवक्ता में) है जिसे त्याग करने से आप का आनन्द वर्द्धित हो? परन्तु आक्षेप का विषय है कि मित्रविलास सम्पादक यह नहीं समझे कि समाचारपत्र किसकी सम्पत्ति है। साधारण या सम्पादक की, परन्तु आप की बातों से यह मालूम होता है कि समाचारपत्र सम्पादक की सम्पत्ति है, नहीं तो कदाचित आप ऐसी असपृक्त समालोचना नहीं लिखते।''''''' कृपा कर उस बात को बता दें जिस पर आप को आनन्द नहीं हुआ, हम आप के आनन्द वर्द्धनार्थ अवश्य चेष्टा करेंगे आप दुःखी नहीं होइये पर उस बात को आप बताइये शीघ्र ही आप के दुःख दूर करने का उपाय किया जावे।

इसी प्रकार १९ मार्च, सन् १८८१ के अंक में 'कवि वचन सुधा' की आलोचना का 'सम्पादकीय प्रतिवाद' छपा है। 'उचितवक्ता' का एक 'क्रोड़पत्र' निकला था जिस में मात्र 'भारतमित्र की नीचता' की निन्दा है। १५ जुलाई १८८१ के 'भारतमित्र' के अंक में एक पत्र छपा था जिस में कोरी वेद-निन्दा थी। 'उचितवक्ता' की दृष्टि से यह सर्वथा अनुचित था, जिस के प्रतिकार के लिए 'उचितवक्ता' का क्रोड़पत्र प्रकाशित हुआ था। 'उचितवक्ता' के क्रोड़पत्र का जवाब 'भारतमित्र' ने २१ जुलाई को प्रकाशित किया था। इस का उत्तर 'उचितवक्ता' में ३० जुलाई १८८१ के अंक में 'भारतमित्र की नासमझी' शीर्षक से छपा था। और फिर १३ अगस्त १८८१ के 'उचितवक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—'भारतमित्र सम्पादक की जिद्'। सम्पादकीय लेख का अन्तिम अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"भारतमित्र के सम्पादक जी सम्पादकों का कर्तव्य नहीं जानते इस विषयको प्रत्यक्ष दिखाने में हम को कोई दूसरा प्रमाण नहीं देना होयगा यह तो जिसने उनके पत्र में 'सम्पादकों का कर्तव्य' शीर्षक प्रबन्ध पढ़ा होगा उसको आपसे आप प्रत्यक्ष हो गया होयगा। उस के एक स्थान में आप कहते हैं कि राजनीति के विरुद्ध मत विशिष्ट लेख सों सम्पादक की सब कलई खुल गयी। जिस राजनीति के आन्दोलन के निमित्त सम्वादपत्रों का जन्म है जिस राजनीति की समालोचना करना सम्पादकों का मुख्य कर्त्तव्य है जिस के विषय में समालोचना कर यथार्थ मत प्रकाश न करने से देश भर का अमंगल होता है प्रजा मात्र को दुःख भोगना पड़ता है उस राजनीति के विषय में उदारबुद्धि भारतमित्र सम्पादक ने क्या ही उत्तम मत प्रकाश किया है। भारतमित्र सम्पादक क्या उस समय आपने प्रेम में आँखें बन्द कर ली थीं अथवा चश्मा खो गया था? कि जिस समय भारतवर्ष भर के समाचारपत्रों ने 'प्रेस एक्ट' और 'आर्म्स एक्ट' के विरुद्ध मत प्रकाश किया था और उस समय ऐसा कौन सा देशहित-चिन्तक पत्र प्रेरक था जिसने इस संकीर्ण राजनीतिक विषयों के विरुद्ध न लिखा हो और ऐसा

कौन-सा समाचार पत्र था जिसमें ऐसे पत्र मुद्रित न हुए होयं ? जब आपको इतना देखने पर भी न सूझा और अब तक आपका भ्रम दूर न हुआ तो अब क्या होता है ....भारतमित्र के सम्पादक भी जब निरुत्तर हो गये तो कहने लगे कि " 'हिन्दी प्रदीप' आदि भी तो लिखते हैं हमने ही लिखा तो क्या हुआ ?" वाह ! वाह !! वाह !!! क्या ही उपयुक्त उत्तर दिया है बुद्धिमानी इस को कहते हैं। अन्त को हम भारतमित्र के सम्पादक को यही परामर्श देते हैं कि अब आप अपनी इस अपूर्व विद्या का अधिक प्रकाश न कीजिये और जैसी जिद् आप को इस उजड्ड लेखों के प्रकाश करने में है वैसी जिद् ज्ञानोपार्जन में कीजिये। हम को आशा है कि हमारे सहयोगी आगे ऐसी मूर्खता न प्रकाश करेंगे और कुछ सोच विचार कर लिखेंगे।[1]"

राजा शिवप्रसाद की राजभक्ति और चाटुकारिता को लक्ष्य कर 'उचितवक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणी में बहुत कड़ी बातें कही गयी थीं जिसे पहले उद्धृत किया गया है। काशी के पत्र 'कविवचन सुधा' ने राजा साहब का पक्ष ले कर 'उचितवक्ता' पर आक्रमण किया था जिस का जवाब 'उचितवक्ता' ने २४ मार्च १८८३ ई० को दिया था। उक्त सम्पादकीय वक्तव्य के कुछ विशिष्ट स्थल द्रष्टव्य हैं—

'जो कविवचन सुधा सदैव देशहितैषियों का परम सहायक था आज वही एक प्रधान देश विरोधी अप्रशस्त हृदय अनुदार का पक्ष अवलम्बन कर समस्त समाचार पत्रों को बेवकूफ बनाता है। जिस राजा शिवप्रसाद के वाक्यों के प्रतिवाद भारतीय सब समाचार पत्रों ने किये आज उन ही की स्तुति पाठ करने में कवि सम्पादक बद्ध परिकर देख पड़ते हैं उक्त सम्पादक ने राजा साहब के कथनों को इलबर्ट बिल के पक्ष में ठहराया है और अपनी अगाध विद्या का पूर्ण परिचय दिया है।' अन्तिम दो स्थल इस प्रकार हैं, 'आप ने कहा 'भेंड़' शब्द से लोग बहुत अप्रसन्न हो गये हैं, इस स्थल में हम आपसे यही कहते हैं कि, क्या आप प्रसन्न हुए हैं ? अच्छा यों सही, यदि आपको लोग श्रीयुत पंडित चिंतामणि राव बालकृष्ण धड़कते 'भेंड़' कविवचन सुधा

---

१. उचितवक्ता के १० सितम्बर के अंक में 'भारतमित्र' के खिलाफ दो पत्र प्रकाशित हुए हैं। एक पत्र का अन्तिम अंश इस प्रकार है : "मित्रवर—भारतमित्र सम्पादक महाशय : आपने अपने सविख्यात पत्र को देशोन्नति एवं स्वदेशजन हितसाधन के निमित्त जन्म दान दिया है तो आपको उचित है कि अपने उद्देश्य पर स्थित रहें। और सम्पादक आपको गम्भीर और धीर होना चाहिए बिना विचारे किसी विषय में द्वेषवश मतामत न प्रकाश करना चाहिये, क्योंकि आप तो भारतमित्र ठहरे, जब आप भारत के मित्र हैं तो फिर आपका शत्रु कौन रह गया। आपको उचित है कि लोगों के हितावह कार्य को करें, वैमनस्य छोड़ दें, और आग्रह को अपने हृदय में वास न दें। यदि आप मेरी इस विनती को स्वीकार करेंगे तो मैं आपका सदा के लिए चिर बाधित रहूँगा।

काशी १ से० १८८१
आप का
समझ जाइए।"

सम्पादक लिखा करें तो आप बुरा तो नहीं मानिये ? संपादक, क्या कहते हैं ? कहिये, 'लोग अप्रसन्न हैं' आप तो प्रसन्न हैं लीजिये यों ही सही आज से आपको ऐसे ही पुकारा करेंगे। 'शुद्धाशुद्ध' के विषय में जो लिखा सो हम तो यह कहते हैं कि उसे तो पीछे छपवायियेगा पहिले आप ने यह 'कविवचन सुधा' की पूर्ति में जो चौंका लीपा है इसे सम्हालिये और हम आप से कुछ नहीं कहा चाहते आप अच्छे समझदार हैं, और यह आप की समझ की खूबी है। हम को तो बाबू हरिश्चन्द्र पर आक्षेप है कि, जिनों ने 'कविवचन सुधा' की आज यह दशा करवायी कि जो 'कविवचन सुधा' अन्याय व्यवहारों को प्रतिवाद करता था आज वही चाटुता की बातें कर वेहया की भाँति निज खुशामद प्रियता का उत्कृष्ट उदाहरण दिखला हरिश्चन्द्र तथा समस्त हिन्दी पत्र संपादकों को नीचा दिखला रहा है। अतएव सुयोग्य हरिश्चन्द्र आदि काशी के प्रधान-प्रधान मनुष्यों को उचित है कि 'कविवचन सुधा' का संपादकत्व किसी उपयुक्त मनुष्य के सिर सौंप दे जिससे कि भविष्यत् में भारतवासी मात्र को लज्जित न होना पड़े।"

१२ मैं सन् १८८३ ई० को एक सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है, " 'कविवचनसुधा', सम्पादक की नीचता।" उक्त टिप्पणी की आरम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं— 'हाय ! हाय !! कैसे आक्षेप का विषय है कि, संपादक प्रवर बार बार अपनी अयोग्यता का परिचय देते हैं। आप लोगों ने पहिले कहा था कि इस अक्षम नीचमना मनुष्य को शीघ्र ही पदच्युत करना चाहिये, परन्तु आक्षेप है कि, काशी निवासी मनुष्यों ने इनका कुछ बन्दोवस्त नहीं किया।" अपने सात 'मैं' के पत्र में फिर अपनी अपूर्व विद्या का परिचय दिया है और लिखते हैं कि—"जिन कृपालु अंगरेजों ने हम लोगों को योग्य बनाया अब हम कृतघ्न होकर बिना कारण कटु वचन कहें। क्या इस गुरुदक्षिणा से भावी मंगल की आशा हो सकती है ?" इत्यादि बहुत सी बातें कहकर अपनी नीचता की उच्चतम पराकाष्ठा दिखलायी है.......हम आप से एक और भी प्रार्थना करते हैं कि, यदि एकान्त आपने जी में यही ठान रक्खा है कि, 'चाहे संसार के लोग हमारे नीच कर्मों के लिये कितनी ही निन्दा करें हमें सम्पादकीय पद को नहीं त्यागेंगे' तो हम लोग हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि आप अपने पत्र को चौबे जी का बैगन बना डालिये और कमर बाँध कर भारत के अहित साधन में तत्पर होयिये नहीं तो वृथा क्यों ऐसे सुन्दर नाम को कलंकित करते हैं।"

स्मरणीय है कि उस समय विभिन्न पत्रों में प्रायः कहा-सुनी होती रहती थी। यद्यपि पत्रों की यह लड़ाई नयी नहीं थी, हम ने हिन्दी के पहले पत्र 'उदन्त-मार्तण्ड' की वैशिष्ट्य-चर्चा करते हुए लिखा है कि बंगला पत्र से उस का विवाद हुआ था, किन्तु द्वितीय दौर के हिन्दी पत्रों में यह विवाद और एक-दूसरे पर प्रहार करने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ गयी थी। इस सम्बन्ध में 'उचितवक्ता' के २४ सितम्बर १८८१ के अंक में 'संवाद पत्रों का परस्पर विरोध' शीर्षक एक लम्बा पत्र प्रकाशित हुआ था। उक्त

पत्र का अन्तिम अंश युगीन हिन्दी पत्रकारिता के एक बड़े तथ्य पर प्रकाश डालता है इस लिये उसे यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक जान पड़ता है : "प्रिय मित्र—मैं देखता हूँ कि इधर दो वर्ष से जितनी ही समाचारपत्रों की वृद्धि होती गई है उतना ही परस्पर वैमनस्य होता गया है। देखिये विगतवर्ष के पूर्ववर्ष प्रथम मित्रविलास क० व० सुधा और विहारवन्धु में कहासुनी हुई, तदनन्तर भारतमित्र का सारसुधानिधि और कविवचनसुधा के झगड़ा हुआ और इधर आपसे और भारतमित्र से खटपट हो गई और अब जो देखता हूँ, तो विहारवन्धु और क्षत्री पत्रिका में तुमुल वाद विसंवाद मच रहा है, और इन लोगों का द्वेष यहां लौं बढ़ चला कि इनके लेख से प्रतीत होता है कि वे लोग एक दूसरे को नहीं देख सकते शोचिए तो यह कितना बड़ा दोष है कि जिससे सब लोग हंसते हैं, यह वह दोष है कि जिसके कारण समाचारपत्र तिरस्कृत और रद्दी समझे जाते हैं। निःसन्देह समाचारपत्र से केवल इतना ही लाभ है कि बुद्धि की तीव्रता, देशोन्नति के उपाय, परस्पर की प्रीतिवर्द्धन होती रहे, एक दूसरे को सहायता करते रहें। भाषा की वृद्धि हो न कि परस्पर में विरोध के प्रचार का आधिक्य अभिप्रेत है। और जब इसके अतिरिक्त समाचारपत्र के पृष्ठ के पृष्ठ आपस ही के विरोध से रंगा करेंगे तो फिर कोई निष्प्रयोजन पत्रों को लेकर क्या करेगा क्यों कि जिस हेतु से लोग लेते हैं वह सो उससे सिद्ध होता ही नहीं है तो व्यर्थ मूल्य कौन फेंकेगा। अतएव यदि समाचारपत्र सम्पादक लोग अपने पत्र में सदा उत्तमोत्तम विषयोंकी मीमांसा करते रहें और परस्पर के द्वेष को छोड़ मित्रतापूर्वक वर्ताव करें तो निश्चय है कि उनको यश और हमलोगों का अनन्त उपकार हो। आशा तो है कि आप लोग मुझ दीन की इस विनती पर ध्यान देकर इससे पूर्ण मनोरथता को पहुँचावेंगे। यदि आप अपने अनुपम पत्र में इस कृत्रिम लेख का अनुमोदन करेंगे तो मैं कृतकृत्य हुँगा। विहार वन्धु सम्पादक से भी यही प्रार्थना है कि वह नम्रता ग्रहण करें, क्योंकि वह अभी अत्यल्प कन्या और क्षत्रीयों की पत्रिका ठहरी इससे ताल ठोककर कभी नहीं जीत सकते। क्षत्री पत्रिका सम्पादक से भी प्रार्थी होता हूँ कि ये परोपकारार्थ सम्बद्ध हुए हैं तो उपकार छोड़ अपकार न करें, और विहारवन्धु पत्र में जो उनके विरुद्ध छपा हो उस पर दृष्टि न करें क्योंकि—"अपमानं पुरस्कृत्येत्यादि' से यह बात सूचित होती है कि विद्वान् वही है जो अपने कार्य्य साधन में न चूके मानापमान पर ध्यान न दें किन्तु अपने काम से काम रक्खें।

इतिशम्

आपका ऐक्याभिलाषी, वही, समझ जाइए।

काशी १४। ९।८१।"

पत्रकार की निष्ठा और 'उचितवक्ता' की दृष्टि

हिन्दी पत्रों के आपसी कहा-सुनी और वादविवाद में सक्रिय रुचि लेने के

बावजूद 'उचितवक्ता' को देशीय पत्रों और पत्र-सम्पादकों की सही स्थिति का ज्ञान था। उचित बात कहने के लिए जब 'बंगाली' के सम्पादक सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को दो महीने की जेल की सजा मिली तो 'उचितवक्ता' ने खुल कर इस का विरोध किया था। १२ मई १८८३ ई० को 'उचितवक्ता' सम्पादक ने लिखा था, "........कर्तव्य के अनुरोध से धर्म के भय से एवं अत्याचार प्रपीड़ित हो सत्यवार्ता के प्रकाश करने में बाध्य होना ही पड़ता है। इसी सत्य वार्ता के प्रकाश करने में हमारे सहयोगी सुरेन्द्र बाबू ऐसे विपदापन्न हो रहे हैं। इन का दोष केवल इतना ही है कि, अदालत में विष्णु प्रतिमा के उपस्थित कराने से हिन्दु समाज जैसी क्षुब्ध अपमानित और मर्माहत हुई थी इसी को सुरेन्द्र बाबु ने गवर्नमेण्ट की शुभ चिन्ता कर अपने पत्र में प्रकाश कर दिया है। इसी को कहते हैं कि 'हवन करते हाथ जले'।[1] देशी सम्पादकों को सलाह देते हुए सम्पादक ने इसी टिप्पणी में लिखा था, 'और सुरेन्द्र बाबू की ऐसी दशा देख कर किसी को भी लेखनी शिथिल नहीं करनी चाहिये। इस समय यदि हम लोग किसी विषय में ढीले हो जायेंगे, तो हम से फिर कभी कुछ नहीं बन पड़ेगा।' सर्वसाधारण को भी सम्पादक ने जागृत किया था, "उपसंहार काल में हम सर्वसाधारण से यही कहते हैं कि, भारतवासी तुम लोग यदि प्राचीन आर्य धर्म का अभिमान करते हो, यदि वास्तव में अपने धर्म में रत हो और धर्म का झूठा घमण्ड नहीं करते हो, तो जो सुरेन्द्र तुम्हारी धर्म रक्षा के निमित्त आज जेल-यंत्रना सह कर रहा है उस के उद्धार निमित्त न्यायशील प्रजावत्सल लार्ड रिपन से प्रार्थना करो और

१. "In 1883 a contempt case was instituted against Surendranath. On 2 April 1883 a leaderette had been published in the Bengalee. Strongly criticising the action of justice Noeris who forced a Saligram to be brought to the court thus wounding deeply the feeling of the orthodox Hindus. Surendranath was sentenced to two months imprisonment. An upheaval of feeling swept through Bengal. Big demonstrations were held in Calcutta. *Hartal* was observed. The students went into mourning." Studies in the Bengal Renaissance, P. 432.
'उचितवक्ता' में ५ मई सन् १८८३ ई० के सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत 'शोक' शीर्षक से यह समाचार छपा था। १९ मई १८८३ को सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—'बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर सहानुभूति प्रकट करने के निमित्त कलकत्ते की विराट सभा।' एक स्थल द्रष्टव्य है—"गत बुधवार को और एक महती सभा विडनष्ट्रीट में हुयी थी प्रायः बीस पचीस हजार मनुष्य एकत्र थे बंग देश के राजा महाराजा जमींदार, बड़े बड़े रईस और सरदार लोग सभा में उपस्थित थे। भारतवर्ष में ऐसी कोई जाति नहीं है जिस को, हम लोगों ने इस सभा में समवेदना प्रकाश करते न देखा हो।" सम्पूर्ण देश से संवाद-तार आये थे। उचितवक्ता में इस प्रश्न को ले कर कई वक्तव्य लिखे गये थे।

जो व्यक्ति सदा से तुम्हारा यथार्थ शुभचिन्तक है उसे अन्याय विचार के हस्त से बचाओ और अपनी सहृदयता का परिचय देओ नहीं तो यही समझने में आवेगा कि तुम्हारी धमनी में आर्य रक्त एक विन्दु मात्र भी नहीं है और तुम केवल निर्वीर्य और निकम्मे हो और अपने यथार्थ मित्र को धोखा देने वाले लम्पट तथा झूठे सिट्टू हो और अपने मुँह से केवल मिया मिट्ठू बनने में बड़े निपुण और सुचतुर हो।" देशी पत्रकारों को जो यन्त्रणा झेलनी पड़ती थी उस का 'उचितवक्ता'—सम्पादक को यथार्थ ज्ञान था। १८ नवम्बर १८८२ ई० की एक सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—'देशीय पत्रों के सम्पादक क्या पूर्व जन्म के पापी नहीं हैं?' उक्त टिप्पणी की कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—भारतवर्ष में जितने देशीय समाचार पत्र प्रकाशित होते हैं उन के सम्पादक कौन हैं और कैसे हैं तो हम केवल यही उत्तर देंगे कि पूर्व जन्म में जिनों ने महापातक किये हैं समग्र पृथ्वी का जिनों ने अनिष्ट साधन किया है और मारे पाप के जिने इस संसार भर में कहीं ठिकाना नहीं लगा उनी दीन जनों ने चिर पराधीन अति मलीन सुख विहीन भारत भूमि में जन्म ले कर अत्यन्त जघन्य नीच तथा पामर का कार्य देशीय सम्पादकत्व का भार उठाया है। ये हजारों दुर्दशायें झेलते हैं तो भी श्वेतांश राजपुरुषों की निन्दा करने से बाज नहीं आते सैकड़ों षडयन्त्र में झोंके जाते हैं तो भी राजपुरुषों के प्रकृत रहस्य प्रगट करने में परांमुख नहीं होते सैकड़ों विपदें पड़ती हैं तो भी ये इस दुष्कर्म से मुँह नहीं मोड़ते। सैकड़ों बेर राजपुरुषों की तीव्र दृष्टि में पड़ते हैं तो भी इस नीच कर्म को परित्याग नहीं किया चाहते और छोड़े भी क्यों कर? इन के सिर तो पूर्व जन्म का पाप सवार है कि जिस की कृपा से ये देशीय पत्र के सम्पादक तथा स्वयं आप भी देशी भये उसी पाप के प्रवल प्रताप से ये लोग इस काम से विमुख नहीं होते और न समाचार पत्र का सम्पादकत्व ही इन का पीछा छोड़ता है।" इसी प्रकार 'उचितवक्ता' के २३ दिसम्बर १८८२ ई० के अंक में 'सम्पादक समाज की आवश्यकता' पर विचार किया गया है: "हम भारतीय पत्र सम्पादकों की जैसी हीन और मलीन दशा है वह किसी को अविदित नहीं है। ये लोग सदा अपने देश की भलाई के लिये उद्यत रहते हैं इसी से सदैव गवर्मेण्ट के समीप राजभक्तिविहीन और अधम गिने जाते हैं, क्षुद्र हाकिमों से लगा कर उच्चतर विचारपतियों तक का इन पर आक्रोश बना रहता है। ये लोग क्षुद्र हाकिमों के गुप्त रहस्य प्रगट करने के कारण अधिकांश हजूरों के चक्षुःशूल हो जाते हैं और औसर पाने पर इन को हजूर लोग भी भलीभाँति धर चपेटते हैं।" समाचार पत्रों के प्रति देशवासियों की सामान्य दृष्टि का उल्लेख करते हुए इसी टिप्पणी में आगे सम्पादक ने लिखा है—हमारे देशवासी मनुष्यों की ऐसी रुचि नहीं है कि समाचार पत्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध रक्खें वा उस के सहायक हों और उस की विपद में सहानुभूति प्रगट करें। यहाँ के धनी सम्प्रदाय रंग राग ही से छुट्टी नहीं पाते फिर करें क्या?" आगे सम्पादकों के कर्त्तव्य की ओर संकेत किया गया है, "अब हम लोगों

का प्रधान कर्त्तव्य यह है कि सब समाचार पत्र के सम्पादक एक उत्तम सभा स्थापन करें जिस में कि सब पत्रों के सम्पादक सभ्य नियुक्त रहें और अपनी अपनी अवस्थानुसार मासिक चांदा दिया करें जब किसी देशीय पत्र के सम्पादक पर किसी हाकिम महाशय का अनर्थक क्रोध होय तो उस के निवारणार्थ वह संचित द्रव्य व्यय हुआ करे और सम्पादक समाज उस की सब प्रकार से सहायता में तत्पर रहे।" स्मरणीय है, १८८२ ई० में 'उचितवक्ता'-सम्पादक ने सम्पादक-समाज की स्थापना का प्रस्ताव रखा था। कहना न होगा कि मौलिक योजना का कोई महत्त्व नहीं होता जब तक उसे ठोस क्रियान्विति नहीं मिलती। 'उचितवक्ता'-सम्पादक पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने सम्पादक-समाज की स्थापना भी की थी, केवल प्रस्ताव रख कर ही चुप नहीं लगा गये थे। वे ही सम्पादक-समाज के संचालक थे।

प्रेस ऐक्ट और 'उचितवक्ता'

'सारसुधानिधि' की विवेचना करते हुए हम ने 'प्रेस ऐक्ट' के सम्बन्ध में हिन्दी-पत्रों की दृष्टि का उल्लेख किया है। 'उचितवक्ता' ने भी इस प्रश्न को उठाया था। ३ सितम्बर १८८१ ई० के अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—'मुद्रा यंत्र आइन'। उक्त टिप्पणी का अन्तिम अंश उद्धृत किया जाता है, "मुद्रा यंत्र आइन जो सम्पूर्ण न्याय विरुद्ध है यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं है, आज दिन जिन महात्माओं के निकट हम अपना दुःख जना रहे हैं यह वही हैं कि जिन्होंने यह दूषनीय आइन के होती समय अनुदारचरित शासन-कलाओं की बहुत सी निन्दा की थी, और बहुत से दोष दिखाये थे, आज ब्राइट वो ग्लाडष्टोन धर्ता कर्ता ही ठहरे, अतएव उन्हीं से हमको कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है, अब हमारी लॉर्ड रीपन हार्टिंटन ग्लाडष्टोन प्रभृति महात्मायों के निकट यही प्रार्थना है कि आप लोग यह निन्दनीय आईन को शीघ्रता से उठा कर अपने निर्मल यश से यह कलंक का टीका निकाल हमारी वह निर्म्मूल आशा को सजीव करे।"[1] २८ जनवरी सन् १८८२

१. "The English are justly and gloriously, the greatest champions of liberty of speech. what a falling off must have taken place in their character when, after granting this boon to India, they should have even thought of withdrawing it ? This act, together with that of disarming the people, is a clear confession by the rulers to the world that they have no hold yet upon the affection and loyalty of the people, though in the same breath they make every profession of their belief in the loyalty of the people. Now, which is the truth ? And are gagging and disarming the outcome of a long benign rule ?"—Dadabhai Naoroji : The poverty and Un-British Rule in India', p. 217.

ई० (अर्थात् वर्ष ३ अंक ४) के सम्पादकीय वक्तव्य 'प्रेस ऐक्ट के मुँह में धूर' की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"१९ जनवरी वृहस्पतिवार के दिवस ११ बजे 'भारतीय व्यवस्थापक सभा' का एक विशेष अधिवेशन हुआ था जिस में लौर्ड रीपन ने सभापति का आसन ग्रहण किया था, असली इडेन, जेनरल ष्टुअर्ट, व्यवस्थासचिव हुइटलीष्टोक्स, भावी वंगेश्वर रिमार्सटोमसन ९ आइन के संहारकर्त्ता माननीय जिवस, राजस्वसचिव मेजर वेयरिंग, समर सचिव मेजनर जेनरल विलसन, माननीय रेन लुइस, महाराजा ज्योतिन्द्र मोहन, माननीय फवर्स, एर्मास, फ्रांसथोएट, इंग्लिस राजा शिवप्रसाद, माननीय प्लाइडेन, माननीय हण्टर, सैयद अहमद खाँ बहादुर और दुर्गाचरण ला आदि महाशयगण चारों ओर वैठे हैं। आज दुरन्त ९ आइन की अन्त्येष्टि क्रिया और भारतवासिओं के उत्सव का दिन है। इसी से देशीय समाचार पत्रों के परममित्र वंगवन्धु अकलंक-वंशधर चुपचाप वैठे हैं, कुछ वस नहीं चलता। प्यारी मुद्रन विधि को इतने दिनों के वाद समाधि होगी। इस से वे मुख मलिन अति दीन भाव से पुराने लगघड़ की न्यायी टक लगाये मुह विचकाये देख रहे हैं।" इसी सन्दर्भ में ४ फ़रवरी १८८२ के सम्पादकीय स्तंभ के अन्तर्गत एक विज्ञप्ति है जिसे यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है, 'प्रेस ऐक्ट' उठ जाने का आनन्द। 'प्रेस ऐक्ट' के उठ जाने से देशीय सम्पादकों को जो कितना आनन्द हुआ वह अकथनीय है इस से आज हम सव लौर्ड रिपन महोदय को आह्लाद के सहित धन्यवाद देते हुए 'उचित-वक्ता' का एक नया नियम करते हैं कि स्कूल और लाइब्रेरी समूहों से आधा दाम लिया करेंगे, अर्थात् डाक व्यय सहित वार्षिक १॥ डेढ़ ही रुपये लिये जायेंगे।"

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'उचितवक्ता' पत्रकारिता सम्बन्धी दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत था। विभिन्न पत्रों से वाद-विवाद करते हुए, देशीय पत्र और पत्रकारों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए, पत्रों के प्रति देशवासियों की सामान्य दृष्टि यानी उदा-सीनता का रोना रोते हुए और सरकारी नीति की आलोचना करते हुए 'उचितवक्ता' अपने दायित्व का ही पालन कर रहा था।

हिन्दी आन्दोलन और 'उचितवक्ता'

उस समय हिन्दी आन्दोलन भी उत्तरी भारत में जोर पकड़ रहा था। इस जातीय आन्दोलन को 'उचितवक्ता' ने काफ़ी प्रवर्द्धन किया था। १ जुलाई १८८२ ई०की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—'पंजाव में हिन्दी'। आरम्भिक स्थल द्रष्टव्य है—"पंजाव में साधारण शिक्षा कौन-सी भाषा में प्रचलित होनी चाहिये आजकल इस विषय का आन्दोलन हो रहा है। समस्त हिन्दी पत्र तथा अन्यान्य पत्रों का यही मत है कि, हिन्दी भाषा ही प्रचलित होनी चाहिये, इस विषय का आज कल वंगदेश में भी आन्दोलन हो रहा है, यहाँ के वंगला पत्रों का भी यही मत है कि, हिन्दी भाषा ही प्रचलित होनी चाहिये। इस से उर्दू के पक्षपातियों को समझना चाहिए कि केवल

हम हिन्दी पत्र वाले ही नहीं वरन् जो कोई क्षण भर पक्षपात रहित होकर इस विषय की चिन्ता करेगा वही कहेगा कि यदि भाषा प्रचलित हो तो हिन्दी हो और यदि किसी समय में हिन्दुस्तान भर की एक भाषा होगी तो हिन्दी ही होगी।" आगे बंगला दैनिक पत्र 'प्रभाती' का (हिन्दी के सम्बन्ध में) लेख उद्धृत किया गया है। 'प्रभाती' के उक्त लेख का एक स्थल द्रष्टव्य है—"भारत में बंगला, उड़िया, हिन्दी, उर्दू, महाराष्ट्रीय, सिन्धी, प्रभृति बहुत सी भाषाएँ प्रचलित हैं। परन्तु सभों के आभ्यन्तर में कौन सी भाषा का प्राधान्य परिदृष्ट होता है, वही जो अवलम्बनीय है, यह कौन नहीं स्वीकार करेगा ? इन सब भाषाओं के बीच हिन्दी का प्राधान्य विशेष रूप से दिव्यदृष्टि से परिलक्षित होता है। ऐसी अवस्था में हिन्दी जो भारत की प्रधान भाषा है यह कोई अस्वीकार नहीं करेगा, अतएव हिन्दी ही जब भारत की प्रधान भाषा प्रतिपन्न हुई, तो इसकी अधिक चर्चा जो समग्र देश की मंगलकर होगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। पंजाब के शिक्षा संक्रान्त कर्तृपक्ष यदि यह बूझ सकें तो, उनको वर्तमान प्रश्न की मीमांसा के लिये बहुत आयास स्वीकार नहीं करना पड़ेगा। पंजाब के प्रधान प्रधान मुसलमान लोग उर्दू प्रिय हैं, साधारण शिक्षा उर्दू में दी जाय इस लिए गवर्मेण्ट से अनुरोध कर रहे हैं, परन्तु जिस के द्वारा समग्र देश का मंगल साधित होगा, कतिपय मुसलमानों के अनुरोध से उस भाषा का परित्याग करना कदापि उचित नहीं है। उर्दू में शिक्षोपयोगी पुस्तकें नहीं हैं, पुस्तकों का अनुवाद जिस प्रकार हिन्दी में अनायास हो सकता वैसा उर्दू में नहीं हो सकता। अतएव इस निमित्त भी हमलोग हिन्दी का आश्रय ग्रहण करना श्रेयकल्प समझते हैं। हम लोग आशा करते हैं कि, पंजाब के शिक्षा संक्रान्त कर्तृपक्षगण इन सब बातों को मनोयोग के सहित विचार करके वर्तमान प्रश्न की मीमांसा करेंगे। अन्यथा यदि वे लोग सम्प्रदाय विशेष के प्राधान्य से पक्षपाती होकर कार्य करेंगे तो महा अनिष्ट की सम्भावना है।"

हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में एक हिन्दी-भाषी पत्र का यह दृष्टिकोण १८८२ ई० में प्रकट किया गया था जिस की अर्थवत्ता साम्प्रतिक युग में भी अक्षुण्ण है। विडम्बना यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के जिस बंगाल ने हिन्दी के माहात्म्य को समझ कर जिस उदारता से इस का पक्ष-समर्थन किया वही बंगाल आज हिन्दी-विरोधियों में अग्रणी है। बंगालियों की हिन्दी-हित-कामना और हिन्दी-सेवा की चर्चा अन्यत्र की गयी है, साथ ही हम ने सांकेतिक ढंग से उन बंगीय पण्डितों का भी उल्लेख किया है जो गिरगिटधर्मी हैं और हर क्षण रंग-रूप बदलते रहते हैं यानी कल जो हिन्दी के सब से बड़े समर्थक थे आज वे ही सब से बड़े विरोधी हैं। राजनीतिक परिवेश के साथ ही जिन की वैचारिक भूमिका बदलती रहती है और सत्य को जो स्वार्थ की दृष्टि से देखने के अभ्यासी हैं उन से देश, राष्ट्र और कहना चाहिए पूरी जातीय मनीषा को खतरा है। वस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक पूर्वग्रह-मुक्त हो कर किसी बड़े प्रश्न पर

विचार करते थे, क्यों कि वे सत्य और औचित्य के आग्रही थे और इसी लिए वे सत्य का खुल कर पक्ष-समर्थन करते थे। 'उचितवक्ता' के ७ अप्रैल सन् १८८३ ई० के अंक में सम्पादक ने एक ऐसे ही महापुरुष की चर्चा की है। ये हैं 'औनरेब्ल श्रीयुत वाबू भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई०', जो बिहार में शिक्षा-विभाग के एक ऊँचे सरकारी अधिकारी थे और जिन्हों ने हिन्दी-प्रचार के लिए महत् प्रयत्न किया था। इन के द्वारा निर्मित हिन्दी पुस्तकें बिहार में पढ़ायी जाने लगी थीं और इन्हीं के प्रयत्न के परिणामस्वरूप हिन्दी को अदालत तक में प्रवेश मिला था। 'उचितवक्ता' सम्पादक ने बड़े विश्वास पूर्वक लिखा है कि "हम निश्चय कह सकते हैं कि, ये महाशय बिहार प्रान्त में न आते तो कदापि हिन्दी का ऐसा प्रचार नहीं होता अब उक्त महाशय अपना पद स्वेच्छा प्रवृत्त हो त्यागा चाहते हैं इससे जितनी हानि बिहार की होगी इतनी किसी स्थान भी न होगी क्योंकि, अभी थोड़े ही दिनों से यहां हिन्दी का प्रचार हुआ है अर्थात् अभी हिन्दी की शैशवावस्था है।" आगे भूदेव बाबू से सम्पादक ने अनुरोध किया है, "यदि माननीय भूदेव बाबू और थोड़े दिन के बाद कार्य्य त्याग करते तो अच्छा था क्योंकि, आप ने जिस हिन्दी वृक्ष को आरोपण किया है और जिसकी अब शैशवावस्था है, अपनी आँखों उसकी पुष्ट अवस्था देख लेनी चाहिये और जब तक ये (हिन्दी) सबल न होले तक इनको अवश्य रक्षणावेक्षण करना चाहिये नहीं तो न मालूम इस हिन्दी वृक्ष की दशा दूसरे के हाथ जाने से कैसी हो जायगी। हम तो भूदेव बाबू से यही प्रार्थना करते हैं कि, जिस प्रकार आप ने हिन्दी को जीवन दान दिया है, उसी प्रकार उसको स्थायी करने के निमित्त भी यत्नवान रहिये नहीं तो अभी आपके पद त्यागने पर इसकी अधूरी दशा किसी से भी न सुधरेगी वरन् किसी अनाड़ी के हाथ में पड़ जायगी तो अधूरी से पूरी होने के बदले सम्पूर्ण नष्ट होने की आशंका है अतएव हम भूदेव बाबू से यही प्रार्थना करते हैं कि, यहां आपने इतने दिनों इसको जीवित करने के लिए इतना यत्न किया है तो इसे पुष्ट करने के लिए भी कुछ दिनों तक और अपेक्षा कीजिये नहीं तो हमलोगों के चित्त में यह आशंका है कि कहीं बिहार की हिन्दी शैशवावस्था ही में कालकवलित न हो जाय।' एक भिन्न भाषी व्यक्ति पर इतना बड़ा भरोसा इस बात का प्रमाण है कि वह हिन्दी का परम हितैषी और महान् उन्नायक था। १२ अगस्त सन् १८८२ ई० के 'उचितवक्ता' में एक सम्पादकीय है जो इस प्रकार है—

"ऑनरेबूल श्रीयुत बाबू भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई०। हम अतीव आनन्द के सहित प्रगट करते हैं कि, डायरेक्टर क्रॉफ्ट साहब के अनुपस्थित काल तक उपरोक्त महोदय को गवर्मेण्ट ने उन के स्थानापन्न किया है यह पद देशीय मनुष्य को प्रथम दिया गया है। निस्सन्देह उक्त महात्मा की योग्यता ऐसी ही है जितने स्थान विद्या विभाग के उक्त महाशय के अधीन हैं सभी स्थानों की इन के यत्न परिश्रम और अध्यवसाय से आशातीत उन्नति हुई है उक्त महोदय जिस प्रकार अपने

कर्त्तव्य में दत्तचित रहते हैं ऐसी सावधानता के कोई योरोपीय कर्मचारी नहीं रहता होगा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-हितैषियों और हिन्दी सम्बन्धी होने वाले कार्यों पर 'उचितवक्ता' का सदैव ध्यान रहता था।

२९ जनवरी १८८१ के 'उचितवक्ता' में अम्बिकादत्त व्यास का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिस की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। लेख का शीर्षक है 'अब कहिए क्या कहा जाय ?' इस के बीच का एक स्थल उद्धृत किया जाता है—

"संस्कृत तो जहाँ तहाँ हिन्दी की यह दशा है कि सहस्रों में कोई ऐसा मिले तो मिले कि हिन्दी में भाषण और लेख कर सकें। और यदि शुद्ध हिन्दी के प्रचार के लिये कुछ प्रयत्न किया जाय तो हमी लोगों में से बड़ी बड़ी पदवीवाले महाशय कहने लगते हैं कि चुनानचे अगर उर्दू ही के लफ़्ज इस जबान में आते रहें तो क्या हर्ज़ है" इनों से अब कहिये क्या कहा जाय ?'

"भला टूटी, फूटी, सड़ी, बूड़ी बिगड़ी बासी जैसी कुछ हिन्दी भाषा है दो चार वृत्तान्त पत्रों को तो चलाये हैं परन्तु हा ! बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि हम लोगों की इस भाषा को भी स्वतन्त्रता नहीं है कि इंगलिश की भाँति निर्भय लेख में तत्पर हो, अब कहिये क्या कहा जाय ?"

अम्बिकादत्त व्यास की ये पंक्तियाँ हिन्दी की तत्कालीन स्थिति के साथ ही भारतवासियों की पराधीनता जनित विवशता और व्यथा की ओर भी संकेत करती हैं। विदेशी सरकार का साहाय्य हिन्दी को दुर्लभ था। पराधीन देश की भाषा की यही नियति थी जिसे हिन्दी को झेलना था। विडम्बना यह है कि हिन्दी की ओर से देशी रजवाड़े भी उदासीन थे। १० नवम्बर १८८३ ई० के 'उचितवक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणी है—"देशी रजवाड़े हिन्दी का प्रचार क्यों नहीं करते ?" इस का अन्तिम अंश इस प्रकार है—"परन्तु हाय ! देशी रजवाड़ों को देखो तो उन के राज्य और राज्यों के चीजों को देखो सभी विदेशी जान पड़ती हैं। वर्तमान समय में उदयपुर आदि दो एक राज्यों को छोड़ कर जहाँ देखो वहाँ ही महा-अनिष्टकारी पार्सी अक्षरों का प्रचार और विदेशीय वस्तुओं का व्यवहार अधिकाई से देख पड़ता है, जिससे भारतवासी मात्र को महती लज्जा प्राप्त होती है और सिर नीचा करना पड़ता है,.........देशी रजवाड़ों से सानुनय विनय पूर्वक यही प्रार्थना करते हैं कि आप लोग शीघ्र ही अपने अपने राज्यों से उर्दू राक्षसी को विदूरित कर हिन्दी देवी को स्थान दें और कलंक राशि को धो कर विमल यश राशि संचय करें।"

भाषा सम्बन्धी आदर्श—

इस प्रकार हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए 'उचितवक्ता' सदैव सचेत और सक्रिय रहता था। इतना ही नहीं हिन्दी भाषा के स्वरूप पर भी उस का ध्यान था। हिन्दी

साहित्य में भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों की शिथिलता उसे सह्य न थी। 'हिन्दी साहित्य' पर विचार करते हुए १२ जनवरी सन् १८९५ ई० को 'उचितवक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणी में सम्पादक ने लिखा था कि, "आज कल हिन्दी साहित्य की विचित्र दशा वर्तमान है। इस की कुछ स्थिरता ही नहीं देख पड़ती। विविध प्रकार के रंग-बिरंगे लेख प्रकाशित होते हैं। कोई तो आज संस्कृत शब्दों पर झुक रहे हैं और ज्यों ही किसी ने कह दिया कि, आप की भाषा कठिन होती है, कुछ सरल कीजिये कि, चट पलट कर उर्दू की खिचड़ी पकाने लग गये, फिर ज्यों ही किसी ने कह दिया कि, केवल संस्कृत के शब्दों के मिलाने से वा उर्दू शब्दों के प्रयोग से भाषा पुष्ट न होगी, बस चट बदल गये और दोनों प्रकार के शब्दों को मिलाने में उतारू हो गये। सारांश यह कि ग्राहकों की खोज में भाषा को भी भटकाते रहते हैं और लेख प्रणाली को स्थिर नहीं रख सकते। हिन्दी के वर्तमान लेखकों में यही दोष वर्तमान है।'......... अधिकांश लेखनदास लोग घर से सतुआ बाँध कर हिन्दी लिखने का व्यापार करने को निकले हैं। ये लेखक क्या हैं, मानो बहुरूपी स्वांग है। इन को जब,जैसा मालिक मिल जाय और जिस प्रकार लिखने से पैसा प्राप्त हो, ये लोग वैसा ही लिखने में उद्यत हो जाते हैं। सुतरां ऐसे लेखकों के लेखों से भी हिन्दी की यथेष्ट हानि हो रही है।" स्पष्ट है कि यह पत्र सहज भाषा का आग्रही था। सहज भाषा यानी ऐसी भाषा जिस पर विजातीय भार न हो और जो वेगवती हो इतनी कि पाठक के हृदय को छू कर निकल जाय। १३ जनवरी १८८३ ई० के 'उचितवक्ता' में 'हिन्दी पत्र-सम्पादक और उन की भाषा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। 'भारत मित्र' के भाषा-दोष की चर्चा करते हुए सम्पादकों की भाषा सम्बन्धी एक सामान्य आदर्श का उल्लेख किया, "भाषा के विषय में सम्पादक का उद्देश्य यह दिखता है कि जिस में सब लोगों की समझ में आया करे ऐसी सहज शैली पर भाषा लिखना योग्य है......निस्सन्देह प्रचलित शब्दों में हिन्दी का यथार्थ सौन्दर्य रक्ख कर सहज रीति से अपने मन की बातों का प्रकाश करना ही समस्त सम्पादकों को उचित है।"

'उचितवक्ता' की भाषा

'उचितवक्ता' की उपरोक्त वैशिष्ट्य-चर्चा में आये उद्धरणों से उस की भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो गया है और बिना दुविधा के यह कहा जा सकता है कि 'उचितवक्ता' ने भाषा के सम्बन्ध में उसी आदर्श का पालन किया जिस की ऊपर की पंक्तियों में चर्चा की गयी है अर्थात् इस की भाषा नितान्त सहज थी। विजातीय भाषा-भार से इस की भाषा मुक्त थी और १२ जनवरी १८९५ के 'उचितवक्ता' में सम्पादक ने हिन्दी लेखकों की भाषा-विषयक जिन त्रुटियों का उल्लेख किया था उन से भी इस पत्र की भाषा रहित थी। "पण्डित दुर्गाप्रसाद जी एक तेज सम्पादक और जबरदस्त लेखक थे।" उन की लेखन-शक्ति और भाषा की प्रशंसा सब ने की है। इन के सामने

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का भाषा-सम्बन्धी आदर्श था। जब हिन्दी लेखकों और सम्पादकों की भाषा बिगड़ने लगी तो 'उचितवक्ता'-सम्पादक ने भारतेन्दु को बड़े दर्द के साथ स्मरण किया था, "जब से हम लोगों के परम प्रिय हिन्दी-हृदय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का स्वर्गवास हो गया है, तब से हिन्दी की उन्नति तो नहीं वरन् यथेष्ट अवनति हो रही है। भारतेन्दु जी के समय में सब कोई एक ढर्रे की हिन्दी लिखने में प्रवृत्त हो गये थे और भारतेन्दु जी के अभीष्टानुसार हिन्दी लिखी जाती थी। परन्तु जब से इन का गोलोकवास हो गया है, तब से सारे के सारे लेखक एक प्रकार नियम बन्धन विहीन और स्वतन्त्र हो गये हैं जो लोग वास्तव में हिन्दी की उन्नति के अभिप्राय से लेखनी परिचालन करते थे, वे तो अब भी उसी सदुद्देश्य से लेखनी परिचालित करते हैं। परन्तु अधिकांश लेखक स्वार्थ की ओर ध्यान देते और जीविका निर्वाह के लिए हिन्दी लिखते हैं। इन लोगों के द्वारा ही हिन्दी रसातल को धसती जाती है। भारतेन्दु जी सच्चे चित्त से तन मन धन अर्पण कर हिन्दी की उन्नति करने के प्रयासी थे, सुतरां हिन्दी की यथाक्रम उन्नति होती जाती थी।" भारतेन्दु की हिन्दी-सेवा की चर्चा 'उचितवक्ता'—सम्पादक ने बड़े सम्मान के साथ की है। भारतेन्दु बाबू के व्यक्तित्व के प्रति भी उन के मन में बड़ा सम्मान था।[1]

सामाजिक विषयों के प्रति 'उचितवक्ता' की दृष्टि—

'उचितवक्ता' में सामाजिक विषयों की भी चर्चा रहती थी। 'उचितवक्ता' की इस सम्बन्ध में स्पष्ट दृष्टि यह थी कि सामाजिक विषयों में सरकार को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और न तो हम उसे इस विषय में दखल देने के लिए आमन्त्रित ही करें।

---

१. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का सम्मान पूरे हिन्दी प्रदेश में था। ६ नवम्बर १८८० के 'उचितवक्ता' में एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित हुई थी जिसे अविकल उद्धृत किया जाता है—

बाबू हरिश्चन्द्र।

"आजकल उक्त महाशय को गवर्मेण्ट से सम्मानसूचक उपाधि प्राप्त होने के लिये कई एक हिन्दी के पत्रों ने सम्मति प्रकाश की है। हम लोगों को भी तीन चार योग्य महाशयों के प्रेरित पत्र आये हैं, जिन को स्थानाभाव से छाप नहीं सके, उन पत्रों का आशय भी यही है कि उक्त बाबू साहब को गवर्नमेण्ट से योग्य उपाधि मिलनी चाहिये।

हम लोग भी इस बात को सम्पूर्ण रूप से अनुमोदन करते हैं, और आशा करते हैं कि गवर्नमेण्ट इस विषय में शीघ्र ध्यान देगी इस समय सभी हिन्दी के पत्र सम्पादकों को उचित है कि इस विषय को गवर्नमेण्ट के निकट सूचित करें कि जिस से शीघ्र ही यह सत्कार्य्य सम्पन्न हो।"

इसी प्रकार राजा शिवप्रसाद के स्थानापन्न के रूप में भारतेन्दु बाबू को अपना प्रतिनिधि बनाने का अनुरोध 'उचितवक्ता'-सम्पादक ने २४ मार्च १८८३ ई० को किया था, "हम ऐसी आशा करते हैं कि, बाबू हरिश्चन्द्र वा लाला श्री निवासदास इन में से किसी महाशय को राजा साहब के स्थानापन्न करने के निमित्त सर्वसाधारण समाज महामान्य रिपन महोदय से प्रार्थना करेंगी।"

२८ जुलाई १८८३ ई० की सम्पादकीय टिप्पणी इसी विषय को ले कर लिखी गयी है। 'ऐसा होना उचित नहीं है'—शीर्षक उक्त सम्पादकीय टिप्पणी यहाँ अविकल उद्धृत है—"हम लोग यह देख अतीव दुखी हुए कि, कई समाचार पत्रों में लोग गवर्मेण्ट से यह प्रार्थना कर रहे हैं कि, गवर्मेंट को सामाजिक विषय में हस्तक्षेप पूर्वक विधवा विवाह की प्रथा को प्रवर्तित करने के लिए यत्नवान होना चाहिये, उन महाशयों से प्रार्थना करते हैं कि कदापि गवर्मेंट को किसी सामाजिक विषय में हस्तक्षेप करने के लिए अनुरोध नहीं करना चाहिये, जब गवर्मेंट को हम एक सामाजिक भार आप सौंप देंगे तो उस के बल से अन्य सामाजिक विषय में हस्तक्षेप करने का अधिकार हो जायेगा। विधवा विवाह करो वा मत करो इस विषय में कुछ नहीं कहा चाहते जिस की जैसी रुची हो वह वैसा करो परन्तु समग्र भारत की विधवाओं पर तरस खा कर गवर्मेंट को सामाजिक विषय में हस्तक्षेप करने के लिये कहना परम मूढ़ता है और इस का परिणाम अच्छा नहीं है। यह सामाजिक विषय है इस का बन्दोबस्त समाज ही को करना चाहिये गवर्मेंट से क्या सरोकार ?" इस वक्तव्य का आशय यह नहीं कि 'उचितवक्ता' विधवा विवाह का विरोधी था किंवा सामाजिक प्रश्नों पर पुरातन विचार रखता था। २५ जून सन् १८८१ के 'उचितवक्ता' में रामकृष्ण वर्मा का एक लम्बा पत्र प्रकाशित हुआ था जिसमें विधवा और बाल-विवाह के प्रश्न की गम्भीर विवेचना की गयी थी। भारतीय विधवाओं के प्रति संवेदना प्रकट करते हुए लेखक ने लिखा था, "एक दिन यह विधवाओं की आह आपत्ति लावेगी और फिर लावेगी क्या वो आही चुकी, देखिये कौन सी दशा इस भारत की हुई है यह इन्हीं विधवाओं के शाप का प्रतिफल है।" बालविधवा का कारण बेमेल और बाल-विवाह है जो एक अभिशाप है। 'भारतमित्र' कार्यालय, कलकत्ता में उन दिनों इस विषय पर एक विचार-बैठक भी हुई थी और यह निश्चय किया गया था कि इसी प्रश्न को ले कर एक पत्र का प्रकाशन हो जिस में बाल-विवाह की हानि दिखाई जावे और लोगों से अनुरोध किया जाये कि यह सामाजिक नियम बना दिया जाये कि कोई अपने लड़के और लड़कियों का विवाह उन की बाल्यावस्था में न करे। अस्तु। ऊपर चर्चा की गयी है कि 'उचितवक्ता' में गो-रक्षा आदि सामाजिक विषयों पर भी टिप्पणियाँ और लेख प्रकाशित होते थे।

राजभक्ति और उस का स्वरूप

द्वितीय दौर की हिन्दी पत्रकारिता की विवेचना करते हुए हम ने निवेदन किया था कि इस युग की पत्रकारिता का मूल स्वर राष्ट्रीय था किन्तु उस में किसी-न-किसी रूप में राजभक्ति का पुट अवश्य रहता था। 'उचितवक्ता' में भी राजभक्ति का स्वर काफ़ी स्पष्ट है। २५ जून १८८१ ई० की सम्पादकीय टिप्पणी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, "......... हम भले प्रकार से यह निश्चय कर कहते हैं कि अंग्रेज़ सरकार हम लोगों को सर्व प्रकार से सभ्य करने चाहती है और जो जो परम सभ्यता की

बातें अन्य विलायतों में हैं वह सिखाया चाहती हैं। परन्तु हम न सीखें और अन्धकार के भीतर ही पड़े व्यर्थ बड़बड़ाते रहें तो इस का वे क्या करें ? हम लोगों की दशा ऊँठ की सी है कि लदते जायँ और बड़बड़ाते जायँ, परन्तु पुरुषार्थ के काम कुछ भी न करें, दूसरों के दोष निकालें। अपने पर कुछ ध्यान न दें, अनार्यों का तो समय सिर पक्ष करें परन्तु आर्य को कुए में धक्का दे देवें इत्यादि, हम लोग आर्मस ऐक्ट और आईन ९ के लिये गवरमेण्ट को व्यर्थ दोष देते हैं, यदि हम देसी ही कपड़ा पहिरे और शनैः शनैः कोई भी अन्य देश की वस्तु अपने उपभोग में न लावें, एवं आर्यबन्धओं में सर्वसाधारण बन्धुत्व जिस प्रकार से बने उस प्रकार से उत्पन्न करें तो कौन रोकता है ?" स्पष्ट है कि "यह राजभक्ति राय बहादुरों वाली न थी कि सब देश सुखी है और ब्रिटिश राज में भारतवर्ष बस नरक से स्वर्ग हो गया है।"[1] सरकारी अन्याय-अत्याचार और पक्षपात से 'उचितवक्ता' परिचित था और इस के विरुद्ध उस ने आवाज़ उठायी थी। १३ नवम्बर १८८० ई० के सम्पादकीय लेख का शीर्षक है—'गवर्नमेण्ट के पक्षपतित्व का एक उत्कृष्ट उदाहरण।' सरकारी पक्षपातपूर्ण व्यवहार के अनौचित्य की विस्तृत चर्चा कर के सम्पादक ने अन्त में लिखा है—

"हम लोगों की इच्छा है कि गवर्नमेण्ट ने सिविलिअनों के लिये जैसा सुबीता कर दिया है, अचिह्नित कर्मचारियों के लिये भी वैसा ही सुबीता कर दें। हम लोग इतना ही कहते हैं कि सिविलिअनों के निमित्त जो सब अधिकार हैं, उन में से अचिह्नित कर्म्मचारियों को एक बार ही वंचित करना योग्य नहीं, किंचित परिमाण भी उन लोगों को ये अधिकार देने उचित है।" इस औचित्य की ओर सरकार का तनिक ध्यान नहीं था और वह निरन्तर भारतवासियों के प्रति अन्याय-अत्याचार कर रही थी। भारतीयों के लिए न्यायालय निरर्थक थे क्यों कि न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारी अँगरेज़ थे जो न्यायपति हो कर भी न्याय का साथ नहीं देते थे हमेशा भारतीयों के विरुद्ध निर्णय होता था। 'उचितवक्ता' के प्रथम वर्ष के नौवें अंक में अँगरेज़ सरकार, अँगरेज़ न्यायपति तथा जूरी को सम्बोधित कर सम्पादक ने बड़ी साफ़ भाषा में कहा था, "ब्रिटिश जाति के प्रति हिन्दुस्तानिओं की अगर आप लोग भक्ति चाहते हैं, तो विचार काल में वर्ण, जाति, धर्म्म पर दृष्टि न रखियेगा। आप लोग सदा यह ध्यान रखियेगा कि, ब्रिटिश राज्य में जितनी प्रजाएँ बसती हैं विचार काल में विचार पति के साम्हने सभी बराबर हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उचितवक्ता' ने आरम्भ में औचित्य के पक्ष-समर्थन का जो संकल्प किया था उस का विधिवत् पालन किया।

१. डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृष्ठ १३।

हिन्दी वंगवासी

हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार पं० अमृतलाल चक्रवर्ती की प्रेरणा से इस पत्र का प्रकाशन १८९० ई० में हुआ था। इस का सम्पादन दस वर्षों तक स्वयं चक्रवर्ती जी ने ही किया।[1] इस के सम्बन्ध में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है, "हिन्दी वंगवासी एक दम नये ढंग का अखबार निकला। हिन्दी में उस से पहले वैसा अखबार कभी न निकला था। वह डबल रायल आकार के दो बड़े-बड़े पन्नों पर निकला। दो रुपये साल उस की कीमत हुई। प्रति सप्ताह कम से कम एक चित्र उस में प्रकाशित होने लगा। खबरें ताजा ताजा निकलने लगी। लेख भी अच्छे होते थे। एक-आध लेख हँसी-दिल्लगी का भी होता था। जिन के चित्र छपते थे, उन के चरित्र भी बहुधा निकला करते थे। बहुत-सी ऐसी बातें उन में छपने लगीं, जो किसी और हिन्दी अखबार में न होती थीं। केवल एक ही दोष उस में था कि उस की भाषा बंगला ढंग की होती थी। इस का कारण यही था कि उस का सम्पादक बंगाली था, उस समय वह बहुत साफ हिन्दी नहीं लिख सकता था और हिन्दी के अदब कायदे भी कम जानता था।·· थोड़े ही दिनों में उस की ग्राहक संख्या दो हजार तक हो गयी। इतने ग्राहक कभी किसी पत्र के न हुए थे। 'उचितवक्ता' के उस के पहले एक बार पन्द्रह सौ तक ग्राहक हुए थे।[2]"

'हिन्दी वंगवासी' के परवर्ती सम्पादक पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने इस का वस्तु-विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"हिन्दी वंगवासी में पहले दो कालम टिप्पणियाँ रहती थीं। बाद को कम से कम दो लेख वंगवासी से भाषान्तरित कर के दिये जाते थे। इस के उपरान्त किसी प्रख्यात पुरुष का चित्र वा चरित्र रहता था। कभी-कभी युद्ध हुआ तो युद्ध के समाचार दिये जाते थे अथवा वंगवासी में युद्ध पर कोई लेख हुआ तो उस का उल्था रख दिया जाता था। तीसरे पृष्ठ पर समाचार कलकत्ता और मुफस्सिल आदि शीर्षक दे कर फुटकर सामग्री छापी जाती थी। कलकत्ता शीर्षक के नीचे पहला समाचार होता था 'कम्पनी कागज। गत वृहस्पति-वार को ३॥ टकिया कम्पनी कागज भाव ९७॥ (या ऐसा ही कुछ) रहा।'···· 'समाचार' शीर्षक के नीचे देश विदेश के समाचार रहते थे। पर कोई विरला ही समा-

---

१. पं० बनारसीदास चतुर्वेदी : रेखाचित्र, पृ० ३२४।

२. बाबू बालमुकुन्द गुप्त : गुप्त-निबन्धावली, पृ० ३६३-६४।

चार १० पंक्तियों का होता था। नियम था कि पाँच-छह पंक्तियों में समाप्त कर दिया जाये। इस के बाद 'मुफस्सिल' शीर्षक के नीचे मुफस्सिल से आयी चिट्ठियों के समाचार सम्पादित कर छाप दिये जाते थे। जब चिट्ठियाँ कम आती थीं, तब मुफस्सिल शीर्षक के नीचे छापने को समाचार हिन्दी बंगवासी ऑफ़िस में ही गढ़ लिये जाते थे। यह इस लिए किया जाता था कि गाँव वाले अपने गाँव के समाचार पढ़ कर पत्र से अनुराग करने लगें। जो पत्र बाहर से आते थे, उन के अन्त में लेखक का नाम भी छाप दिया जाता था, जिस से वह अपना नाम छपा देख प्रसन्न ही नहीं होता था, गाँव वालों को दिखाता फिरता था, जिस से 'हिन्दी बंगवासी' में अपना नाम छपाने की लालसा अन्य लोगों में बढ़ती थी और इस प्रकार पत्र का प्रचार भी बढ़ता था। यह ढंग किसी अन्य पत्र में नहीं अपनाया था। अवश्य ही पत्रप्रेरक अधिकतर मूर्ख ही होते थे, जो 'समय साधारण है' अवश्य लिखते थे। इस के बाद चाहे सर्वनाश का ही समाचार क्यों न लिख दें।[1]"

'हिन्दी बंगवासी के निकलने से दो ही साल के अन्दर कई एक हिन्दी अखबार बन्द हो गये, कई एक की कमर टूट गयी। जब २ रुपये साल में एक बड़ा और अच्छा अखबार मिलने लगा तो छोटे-छोटे अधिक दामों के अखबार कौन लेता? यही कारण दूसरे हिन्दी अखबारों के बन्द हो जाने या दब जाने का हुआ। हिन्दी अखबार वालों में इस बात का किसी को ध्यान भी न था कि २ रुपये साल में एक बहुत बड़ा अखबार चल सकता है। हिन्दी वाले क्या बंगला वाले भी कई साल पहले नहीं जानते थे कि इतने थोड़े दाम में एक इतना बड़ा अखबार चल सकता है। केवल बंगवासी वालों को ही इस बात का अनुभव था।[2]"

इन विशेषताओं के अलावे 'हिन्दी बंगवासी' का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के तीसरे दौर के सभी श्रेष्ठ पत्रकारों ने पहले इसी में सम्पादन-कार्य किया था। पं० अमृतलाल चक्रवर्ती के अलावे बालमुकुन्द गुप्त, बाबूराव विष्णु पराड़कर, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी तथा लक्ष्मण नारायण गर्दे ने 'भारतमित्र' के पहले 'बंगवासी' में ही सम्पादकीय-कार्य किया था। यद्यपि पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "हिन्दी बंगवासी में पत्रकारी का विशेष ज्ञान कोई प्राप्त नहीं कर सकता था, क्यों कि जो प्रधान सम्पादक थे, उन्हीं को विशेष ज्ञान न था। 'स्वयं असिद्धः कथं परान् साधयते समर्थः।' वाली बात थी। फिर भी पत्रकारी का वह प्राथमिक विद्यालय अवश्य था।"[3] यह भी एक ऐतिहासिक महत्त्व की बात है।

---

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० २१७।
२. बालमुकुन्द गुप्त : गुप्त-निबन्धावली, पृ० ३६५।
३. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० २१५।

'हिन्दी वंगवासी' दीर्घजीवी पत्र था। मुझे इस के कुछ दैनिक अंक स्व० पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री के संग्रहालय में भी मिले हैं जिस से दो वातों की सूचना मिलती है—१. कि इस का दैनिक संस्करण भी निकलता था और २. यह कि सन् १९३३ ई० में भी यह निकलता रहा। २५ सितम्वर सन् १९३३ ई० के अंक में दुर्गा-पूजा के लिए दो सप्ताह की छुट्टी की विज्ञप्ति है। हिन्दी वंगवासी के कार्याध्यक्ष महेन्द्रकुमार वसु ने यह विज्ञप्ति दी है। इसी अंक में स्वामी सहजानन्द जी का 'दुर्गापूजा की विशेषता' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। पं० भवानीदत्त पन्त शास्त्री महाशय के लेख का शीर्षक है, 'सुधारवादियों का दुराग्रह तथा शूद्र भाइयों की चेतावनी'। इस लेख में सुधारवादियों का विरोध और कट्टर सनातनधर्मियों की नीति का समर्थन किया गया है। इस अंक में सम्पादक के नाम प्रकाशित पत्रों की भी यही ध्वनि है। स्मरणीय है कि 'हिन्दी वंगवासी' की नीति आरम्भ से ही प्रतिक्रियावादी रही है। वावू बालमुकुन्द गुप्त इसीलिए इस से अलग हुए थे। पराड़कर जी और अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी-जैसे उग्र राष्ट्रवादी और प्रगतिशील पत्रकारों को इसी लिए उस पत्र में अनुकूलता नहीं मिली थी।

जिस दैनिक अंक की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की गयी है, उस में कई व्यंग्य-चित्र हैं। इस के साथ ही श्री श्रीदुर्गा, स्वामी सहजानन्द जी के अलावा पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस और 'प्रेसिडेण्ट पटेल' का भी चित्र प्रकाशित हुआ है। देशी-विदेशी समाचार के साथ ही लेख भी कई हैं। कुछ ही ऊपर चर्चा की गयी है। 'प्रगतिशील वावू' शीर्षक श्री युत वावू गुरुगोविन्दलाल श्रीवास्तव की कहानी है। इस में प्रगतिशीलता पर व्यंग्य है।

अस्तु, अपने युग का यह चर्चित पत्र था जिस से हिन्दी-समाज के एक विशेष प्रयोजन की पूर्ति हुई। इतना ही नहीं कलकत्ते के अनेक तेजस्वी पत्रकारों को लेखनी मांजने का इस ने अवसर दिया था। यह भी इस का एक ऐतिहासिक अवदान है।

"ऊपर जिन पत्रों का उल्लेख किया गया है, वे प्रायः सव के सव एक-न-एक विशेषता ले कर अवतरित हुए थे और सव ने पत्रकार-कला की एक-न-एक दिशा को उन्नत किया। पत्रों की आजकल जो दशा है उस को लाने में इन समाचारपत्रों का वड़ा हाथ था, और चूँ कि ये समाचारपत्र कलकत्ते से प्रकाशित हुए थे, इस लिए कलकत्ता इस बात का वास्तविक गर्व कर सकता है कि हिन्दी में पत्रकार-कला को उन्नत करने में उस का सव से वड़ा हाथ है।[1]"

भारतेन्दु युग की पत्रकारिता अर्थात् हिन्दी के दूसरे दौर की पत्रकारिता की विवेचना करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "पत्र साहित्य की परम्परा न होते हुए भी उस ने थोड़े ही वर्षों में जो उन्नति की, उस का एकमात्र कारण लेखकों की

१. पं० विष्णुदत्त शुक्ल : कलकत्ते के प्राचीन हिन्दी पत्र, माधुरी, वर्ष ११, खण्ड २, संख्या २।

धुन थी। परिस्थितियाँ कठोर थीं परन्तु उन्हों ने अपने-आप को दृढ़तर सिद्ध किया।.... यदि उस युग के साहित्यिकों ने यह लगन और फक्कड़पन न प्रकट किया होता तो निश्चय ही वह परिस्थितियों के नीचे कुचल दिये गये होते।...."[1]

कलकत्ते के व्यापारी वातावरण में पत्र निकलना ऐसा सुकर न था। इस लिए जिन लोगों ने वहाँ कार्य किया वे और भी सराहनीय हैं।[2]

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, पृ० ३०।
२. वही, पृ० २३।

तृतीय खण्ड

वीसवीं शताब्दी का आरम्भ और हिन्दी पत्रकारिता का तीसरा दौर

देश-दशा और वर्तानवी शासन

राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास की विस्तृत चर्चा पिछले अध्याय में की गयी है। हम ने देखा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश हर दृष्टि से जागृत हो गया था। स्वदेशी के प्रति आग्रह बढ़ रहा था, स्वराज्य का अर्थ प्रगतिशील राष्ट्रीय नेताओं के सामने स्पष्टतर होता जा रहा था और जातीय उन्नयन के बहुविध प्रयत्न आरम्भ हो गये थे। बंगाल नेतृत्व कर रहा था और विदेशी शासन के प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा था।[1]

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्ष लॉर्ड कर्जन के कुकृत्यों के लिए काफ़ी प्रसिद्ध हैं। भारतीय जातीय शक्ति को विघटित करने के लिए कर्जन ने नाना प्रकार के कुकृत्यों का आश्रय लिया। कर्जन के दमनपूर्ण शासन की चर्चा करते हुए डॉ०

---

१. वर्तानिया शासन के प्रति भारतीय असन्तोष के कारणों की चर्चा करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था—

(a) "We are dissatisfied with the fiscal and economic conditions of British rule in India, with the foreign exploitation of the country, the continual bleeding of its resources, the chronic famine and rapid impoverishment which result. ......"

(b) "We are dissatisfied with the conditions under which education is imparted in this country, calculated poverty and insufficiency, its subordination to the Government......"

(c) "We are dissatisfied with the administration of justice, the ruinous costliness of the civil side, the brutal rigour of its criminal penalities and procedure, ...its frequent subordination to political objects."

(d) "We disapprove of the executive administration, its arbitrariness, its meddling and inquisitorial character, its thoroughness of repression, its misuse of police for the repression instead of the protection of the people." —'The Newspaper in India' by Hemendra Prasad Ghose, p. 83-84.

पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि "बीसवीं सदी के पहले पाँच साल लार्ड कर्जन के दमनपूर्ण शासन के थे। कलकत्ता-कॉरपोरेशन के अधिकारों में कमी सरकारी गुप्त समितियों का क़ानून, विश्वविद्यालयों को सरकारी नियन्त्रण में लाना जिस से शिक्षा मँहगी हो गयी, भारतीयों के चरित्र को असत्यमय बताना, बारह सुधारों का दरद, तिब्बत-आक्रमण (जिसे पीछे तिब्बत मिशन का नाम दिया गया) और अन्त में बंग-विच्छेद—सब लॉर्ड कर्जन के ऐसे कार्य थे, जिन से राजभक्त भारत की कमर टूट गयी और सारे देश में एक नयी स्पिरिट पैदा हो गयी।[1]"

बंगाल की शक्ति का उसे सही ज्ञान था और बर्तानिया साम्राज्य-रक्षा का उस पर दायित्व था; उसे इस की चिन्ता थी। इस लिए जरूरी था बंगाल की शक्ति को विच्छिन्न करना और इसी उद्देश्य से अर्थात् बंगाल की राष्ट्रीय शक्ति को तोड़ने के लिए उस ने बंगाल को ही तोड़ दिया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की यह सब से बड़ी राजनीतिक दुर्घटना थी जिस पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य तिलक ने लिखा था कि "लॉर्ड कर्जन बंगालियों की संघ शक्ति को कुचलना चाहता है क्यों कि उसे डर है कि कहीं वे अँगरेज़ी सरकार पर हावी न हो जायें।" स्मरणीय है कि बंगीय जातीय चेतना इतनी बलवती और उग्र थी कि उस से कर्जन आतंकित हो गया था, किन्तु इस आतंक से त्राण पाने के लिए उस ने जिस मार्ग का अवलम्बन किया वह उस के उद्देश्य के प्रतिकूल पड़ा। "सरकार की उत्तरोत्तर उग्र और नग्न रूप धारण करने वाली दमन नीति के कारण नवजाग्रत् चेतना भी सचमुच व्यापक, विस्तृत और गहरी होती गयी। देश के एक कोने में जो घटना होती थी वह सारे देश में फैल जाती थी। सरकार का प्रत्येक दमन-कार्य देश में उलटा-असर करता था। सम्पूर्ण भारत ने बंगाल के प्रश्न के साथ अपनी समस्याओं को और जोड़ कर आन्दोलन को ज्यादा गहरा रंग दे दिया।[2]"

बंग-भंग की प्रतिक्रिया और राष्ट्रीय आन्दोलन का नया नेतृत्व

बंग-भंग की प्रतिक्रिया गहरी और देशव्यापी हुई क्यों कि लॉर्ड कर्जन के कुकृत्यों की यह पराकाष्ठा थी। पूरे देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गयी। पिछले अध्याय में विकसित और विकासशील जातीय चेतना की चर्चा की गयी है। उस की पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है। जापान की विजय ने पूरे एशिया में एक नयी आशा और उत्साह की सृष्टि कर दी थी। भारत और विशेष रूप से बंगाल ने जापान की शक्ति से प्रेरणा ग्रहण की। एशिया की महान् शक्ति का उद्घाटन करने के लिए जापान के कला-मर्मज्ञ और साहित्यिक राजकुमार ने एक पुस्तक भी लिखी।

---

१. डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : काँग्रेस का इतिहास, पहला खण्ड, पृ० ६४।
२. वही, पृ० ६४–६५।

वंगाल के नेतृत्व का दायित्व उन नयी पीढ़ी के हाथों में आ गया जिन की शिक्षा और राजनीतिक संस्कार पण्डित शिवनाथ शास्त्री और राजनारायण बोस के निर्देशन में हुआ था और जिन की आस्था भाषण में कम और कार्य में अधिक थी। स्वावलम्बन इन का मन्त्र था और पूर्ण स्वराज्य इन का एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में उस नयी राष्ट्रीय चिन्तना को क्रियान्विति मिली जिस का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था।

स्वदेशी-आन्दोलन

स्वदेशी आन्दोलन कोरी राजनीतिक प्रतिक्रिया नहीं बल्कि विकसित राष्ट्रीयता की सहज परिणति था। इसी प्रकार विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और सत्याग्रह (पैसिव रेजिस्टेंस) के सिद्धान्त की क्रियान्विति कोई आकस्मिक घटना नहीं थी बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन का एक नया चरण था।

स्वदेशी आन्दोलन की गति निरन्तर तेज़ होती गयी। स्थान-स्थान पर सभाएँ होने लगीं। स्वदेशी वस्तु और वस्त्र-भण्डार खुलने लगे। अपने भतीजे बालेन्द्रनाथ टैगोर के सहयोग से रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी कलकत्ता में एक स्वदेशी कपड़े की दुकान खोली थी। रवीन्द्रनाथ ने अँगरेज़ी शिक्षा-पद्धति का भी खुल कर विरोध किया था और कालान्तर में जातीय शिक्षा-संस्थान के रूप में 'विश्वभारती' की स्थापना की थी। ब्रह्म बान्धव उपाध्याय ने भी कलकत्ते में एक स्वदेशी विद्यालय की स्थापना की थी। "राजनैतिक सभाओं व प्रदर्शनों में विद्यार्थियों को सम्मिलित होने से रोकने के फल-स्वरूप स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन शुरू हुआ। केवल पूर्वी बंगाल में २४ राष्ट्रीय हाईस्कूल खुल गये और भूतपूर्व जस्टिस सर गुरुदास बनर्जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार के लिए 'वंग जातीय विद्या परिषद्' की स्थापना की गयी। बाबू विपिनचन्द्र पाल सम्पूर्ण देश में घूम-घूम कर राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय शिक्षा और नवचैतन्य का ज़ोर-शोर से प्रचार करने लगे। १९०७ ई० में आन्ध्र देश में उन का दौरा बहुत ही शानदार और सफल रहा। राज महेन्द्री के निवासियों ने उन के आने पर एक राष्ट्रीय हाईस्कूल खोलने का निश्चय किया। ट्रेनिंग कॉलेज के विद्यार्थियों ने कॉलेज से उन्हें मान-पत्र दिया था इस कारण कुछ विद्यार्थियों को सरकारी अधिकारियों ने कॉलेज से निकाल दिया था। वे विद्यार्थी राष्ट्रीय-संग्राम के सिपाही हो गये। इस तरह की बेरोक दमन-नीति ने देश-भक्तों और वीर सिपाहियों को पैदा किया।[1]" बारिस्टर पी० मित्र की 'अनुशीलन समिति ने स्वास्थ्य-शिक्षा और व्यक्तिगत बौद्धिक विकास के लिए अनेक नवयुवकों को आकृष्ट

---

१. डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : कॉंग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० ६५।

किया जिन में प्रमुख थे यतीन्द्रनाथ बनर्जी और बारीन्द्रकुमार घोष।[1] वीर भाव की संवर्द्धना में सरला देवी ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। गणपति और शिवाजी महोत्सव से प्रभावित हो कर बहुत-कुछ इसी प्रकार उन्हों ने बंगाल में प्रतापादित्य और उदयादित्य उत्सव का प्रचार किया। इतना ही नहीं सरला देवी ने दुर्गापूजा महाष्टमी व्रत को वीराष्टमी व्रत नाम से नयी प्रस्तुति दी।[2] स्वदेशी आन्दोलन की व्याप्ति सार्वत्रिक थी। अश्विनीकुमार दत्त की जन्मभूमि बारीशाल श्री अरविन्द के शब्दों में 'जातीय चेतना का पवित्र पीठ-स्थान बन गया था।'

स्वदेशी आन्दोलन और 'वन्दे मातरम्'

७ अगस्त १९०५ ई० को कलकत्ते के टाउनहाल में ऐतिहासिक सभा हुई थी[3] जिस में हज़ारों व्यक्तियों ने विदेशी बहिष्कार और स्वदेशी-प्रचार की शपथ ली थी और 'वन्दे मातरम्' का मन्त्रवत् उच्चारण किया था। उक्त सभा की चर्चा करते हुए डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "७ अगस्त, १९०५ की बड़ी सभा में, जिस में विदेशी वस्तुओं का बॉयकाट और स्वदेशी के प्रचार का निश्चय हुआ, मैं शरीक था। उस में बहुत उत्साह था। लोगों ने व्रत लिया कि स्वदेशी का ही वे व्यवहार करेंगे। मेरे लिए इस में कोई कठिनाई थी नहीं, क्यों कि मैं बहुत पहले ही से स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार किया करता था। आन्दोलन खूब ज़ोरों से चला। प्रायः प्रतिदिन कहीं-न-कहीं सार्वजनिक सभाएँ होतीं। हम सब जाते। कहीं सुरेन्द्र बाबू, कहीं बिपिनचन्द्र पाल, कहीं ए० चौधरी, कहीं अरविन्द घोष के भाषण होते⋯बड़ों की तो मुझे खबर नहीं, पर विद्यार्थियों में नया जोश और नया उत्साह पैदा हो गया।"[4]

---

१. "कुछ दिनों बाद मेरा सम्बन्ध बंगाल और महाराष्ट्र के कुछ केन्द्रों से हो गया जहाँ लोगों को शारीरिक शिक्षा दी जाती थी। बंगाल के केन्द्र प्रधानतया पी० मित्र की 'अनुशीलन समिति' की उपसमितियाँ थे। इस समिति में जो शिक्षा दी जाती थी वह बहुत ही उच्चकोटि की थी और किसी समय इस समिति में भाग लेने वाले युवकों की संख्या बहुत बड़ी थी। पी० मित्र ने कभी यह दावा नहीं किया कि वह अरविन्द बाबू के अधीन नहीं हैं, पर मैं यह साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि अनुशीलन समिति के युवकों तथा बारीन के नेतृत्व में काम करने वाले युवकों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष और प्रतियोगिता की भावना थी और ये दोनों दल अपने को अनुशीलन और युगान्तर दल कहा करते थे।⋯आगे चल कर इन दलों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण बंगाल के राजनीतिक कार्य को बहुत अधिक धक्का पहुँचा था।⋯वास्तव में अरविन्द बाबू के समय में और बाद में चित्तरंजन के समय में इन्हों ने कोई हानि नहीं पहुँचायी।"
—श्री चारुचन्द्र दत्त : 'अर्चना', पाँचवीं पुस्तक, प्रथम भाग, पृ० १२६।

२. स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेसाँ (काँग्रेस इन बंगाल : जगदीशचन्द्र बैजल), पृ० १७५।

३. Jogesh Chandra Bagal: 'Studies in the Bengal Renaissance,' p-176.

४. डॉ० राजेन्द्रप्रसाद : आत्मकथा, पृ० ५३।

स्वदेशी आन्दोलन की भावात्मक पीठिका

स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों का 'वन्दे मातरम्' युद्ध-नाद बन गया। देश-भक्ति की नयी धारणा मूर्त्त हुई—"स्वदेश माता है, स्वदेश भगवान् है, यही वेदान्त शिक्षान्तर्गत महती शिक्षा जातीय अभ्युत्थान का बीज है। जैसे जीव भगवान् का अंश है, उस की शक्ति भगवान् की शक्ति का अंश है, वैसे ही यह सात कोटि वंग-वासियों का, तीस कोटि भारतवासियों का समुदाय सर्वव्यापी वासुदेव का अंश है, इन तीस कोटि मनुष्यों की आश्रयदायिनी, शक्तिस्वरूपिणी, बहुभुजान्विता, बहुबल-धारिणी भारतजननी भगवान् की एक शक्ति है, माता, देवी-जगज्जननी काली की देह विशेष है।[1] उक्त धारणा को ज़रा और स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने अपनी पत्नी के नाम लिखे पत्र में कहा था कि "अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी भर समझते हैं, मैं स्वदेश को माँ मानता हूँ, उस की छाती पर बैठ कर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिए उद्यत हो तो लड़का क्या करता है? निश्चित हो कर भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिए बैठ जाता है या माँ का उद्धार करने के लिए दौड़ पड़ता है? मैं जानता हूँ कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है, शारीरिक बल नहीं, तलवार या बन्दूक़ ले कर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूँ, ज्ञान का बल है। क्षात्र तेज एकमात्र तेज नहीं है, ब्रह्मतेज भी है, वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है।[2]" स्वदेशी आन्दोलन की यह भावात्मक पृष्ठिका है।

स्वदेशी आन्दोलन की वैचारिक भूमिका

उक्त आन्दोलन को वैचारिक अवलम्ब देने वालों में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नेतृत्व क़ायम ही था। विपिनचन्द्र, अरविन्द और रवीन्द्र की वृहत्त्रयी मात्र राजनीतिक स्वातन्त्र्य आन्दोलन के पक्ष में नहीं थी बल्कि इसका महत् उद्देश्य था—राष्ट्र का आध्यात्मिक पुनर्जागरण। इन के सक्रिय सहयोगियों में—बंगाल में ब्रह्म बान्धव उपाध्याय, अश्विनी कुमार दत्त, मनोरंजन गुहा थाउर्ता और भगिनी निवेदिता प्रमुख थीं। अन्य बंगाली समर्थकों में आशुतोष चौधरी, अब्दुल रसूल, हीरेन्द्रनाथ दत्त और चित्तरंजन दास थे।[3]

स्वदेशी आन्दोलन के आदर्श की चर्चा करते हुए "न्यू इण्डिया" में विपिनचन्द्र-पाल ने २५ फ़रवरी १९०५ ई० को लिखा था—हमारा आदर्श, जिसे हम स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं, क्रान्तिकारी हो सकता है और है भी, किन्तु इसे हम न तो

१. श्री अरविन्द : धर्म और जातीयता, पृ० ८४।
२. वही, श्री अरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम), पृ० १२।
३. स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० ५६६-५६७।

क्रान्तिकारी तरीकों से पा सकते हैं और न तो इस आदर्श को प्राप्त करने की आशा ही कर सकते हैं। हमारी देशभक्ति केवल इसी अर्थ में राजभक्ति के निकट है कि हम विधि-पालक हैं, हमारे साथ राजभक्ति का दूसरा कोई आधार नहीं।[1] 'वन्दे मातरम्' के माध्यम से १९०६ में विपिनचन्द्र पाल ने घोषणा की थी कि अब समय आ गया है जब नागरिकता सम्बन्धी उन्नति तथा सत्य और व्यक्ति—स्वातन्त्र्य की दृष्टि से हम अपने अँगरेज़ मित्रों को बता दें कि उन के उपकार के प्रति हम आभारी हैं किन्तु अब हम अपनी राजनीतिक प्रगति और मुक्ति के प्रयत्न में उन के निर्देशन से और अधिक पीड़ित होना नहीं चाहते। उन के और हमारे दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है, वे ब्रिटिश सरकार को क़ायम रखकर यश प्राप्त करना चाहते हैं। हम भारत को ब्रिटिश पराधीनता से पूर्ण स्वतन्त्र करना चाहते हैं।[2]

स्वदेशी आन्दोलन के सन्दर्भ में सत्याग्रह

पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति के लिए स्वदेशी आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं ने सत्याग्रह (पैसिव रैसिस्टैन्स) के मार्ग को अपनाया। इस शब्द की व्याख्या करते हुए मद्रास की एक सभा में विपिनचन्द्र पाल ने कहा था, इस का अर्थ निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं बल्कि अनाक्रामक और अहिंसात्मक प्रतिरोध है। सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं बल्कि अनाक्रामक प्रतिरोध है। इसी सभा में विपिनचन्द्र पाल ने कहा था कि देश-भक्ति की भावना मानवता प्रेम की अभिवृद्धि के साथ संवर्द्धित होनी चाहिए।[3]

श्री अरविन्द और प्रच्छन्न हिंसापरक राजनीतिक संगठन

और विदेशी-बहिष्कार के आचार पक्ष की चर्चा करते हुए श्री अरविन्द ने बड़े साफ़ शब्दों में कहा था कि विदेशियों के प्रति घृणा नहीं बल्कि विदेशी शोषण के कुकृत्य के प्रति सहज विरोध ही बहिष्कार की मूल भित्ति है। इसी लेख में श्री अरविन्द ने राजनीतिक घृणा और प्रेम के प्रश्न पर अपना विचार प्रकट किया जिस से विपिनचन्द्र पाल और इन के विचारों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। राजनीति में प्रेम का स्थान स्वीकारते हुए श्री अरविन्द ने उसे समष्टि मानव-प्रेम की भूमिका से पृथक् देखा है। राजनीति में प्रेम और मैत्री का अर्थ है एक देश का देशवासियों के प्रति प्रेम अथवा देश-भक्ति का देशके प्रति प्रेम, अपनी जातीय परम्परा और अपनी धरती के प्रति प्रेम। इस से भिन्न प्रकार का प्रेम राजनीति की प्रकृति के लिए विजातीय होता है। राष्ट्र और राष्ट्र के बीच न्याय, कार्यावधि पक्षपात, वीरत्व, सीमा शुल्क होता है, प्रेम नहीं होता""एक जाति का किसी दूसरी जाति के लिए प्रेम अप्राकृतिक है। इस लिए जब,

---

१. वही, पृ० २१७।

२. स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० २१८।

३. वही, पृ० २१६।

अँगरेजों के प्रति भारतीयों-द्वारा संचालित विदेशी वहिष्कार आन्दोलन की निन्दा प्रेम के लिए की जाती है, तो यह दोषारोपण एक निकृष्ट मनोवृत्ति और गन्दी नीति है। प्रतिकूल जातीय हितों का संघर्ष है, और वस्तुत: घृणा जाति के प्रति नहीं वल्कि प्रतिकूल स्वत्व के प्रति है। यदि ब्रिटिश शोषण कल से वन्द हो जाये तो क्षण-भर में अँगरेजों के प्रति घृणा समाप्त हो जायेगी।[1] तामस से राष्ट्र को उबारने के लिए राजशक्ति (राजस) की आवश्यकता पड़ती है और राजस का सब से सशक्त रूप घृणा है। राजस के द्वारा हमें सत्त्वस्थ होना है।[2] इतना ही नहीं अरविन्द ने यहाँ तक कहा कि न्याय और औचित्य की रक्षा के लिए योद्धा की तलवार उतनी ही आवश्यक है जितनी सन्त की पवित्रता। शिवा जी के विना रामदास अपूर्ण थे। न्याय को क़ायम रखने के लिए तथा शक्तिशाली से दुर्बल को रक्षा करने के लिए क्षत्रियों का निर्माण हुआ है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरविन्द का झुकाव क्षात्र धर्म की ओर भी कम न था और शक्ति की उपासना में उन को अधिक आस्था थी। प्रत्यक्ष राजनीतिक गतिविधियों के साथ ही प्रच्छन्न हिंसापरक राजनीतिक संगठनों में भी उन की रुचि थी[4]। श्री चारुचन्द्र दत्त ने स्वाधीनता-संग्राम के सन्दर्भ में श्री अरविन्द के संस्मरण लिखे हैं जिन से अरविन्द के गुप्त कार्यों पर किंचित् प्रकाश पड़ता है : "कर्जन इंग्लैण्ड वापस जा रहे थे। उन की स्पेशल ट्रेन वम्बई में 'रिवर्सिंग स्टेशन' नामक स्थान में ठहरने वाली थी। इसी समय कोई साहसी मनुष्य सहज ही उन के सैलून तक जा कर उन्हें दो गोली मार सकता था। एक वंगाली युवक ने इस कार्य का भार लिया। मैं ने अपनी छोटी रायफल पर उसे दो-एक दिन गोली चलाने की शिक्षा दी और उस के लिए वैंगनी रंग का लाइनमैन का युनिफ़ॉर्म वनवा दिया। युवक उत्साही मालूम हुआ और मुझे सफलता में कोई सन्देह नहीं था। परन्तु न जाने क्यों, मेरा मन कुछ हिच-किचा रहा था। अतएव मैं ने उसे वड़ोदा श्री अरविन्द (उन दिनों अरविन्द वावू) के पास भेज दिया कि वह भी उसे देख लें और अपनी राय दें। परन्तु वह युवक उस के बाद कभी मेरे पास वापस नहीं आया। दो-एक दिन वाद अरविन्द वावू का पत्र आया—तुम्हारा युवक विश्वास योग्य नहीं है। अतएव अन्य वहुतेरे अँगरेज़ों की तरह लॉर्ड कर्जल भी राजी-खुशी स्वदेश वापस चले गये।"

---

१. श्री अरविन्द : 'द डॉक्टरिन ऑव पैसिव रेसिस्टेन्स,' पृ० ८४।

२. वही, पृ० ८५।

३. वही, पृ० ८८।

४. We should have the bow of the Kshatriya ready for use, though in the background. Politics is specially the business of the Kshatriya, and without Kshatriya strength at its bach, all political struggle is unavailing." —The Doctrine of Passive Resistance, p. 78

बड़ौदा-प्रवास के एक दूसरे प्रसंग की चर्चा श्री चारुचन्द्र दत्त ने इस प्रकार की है—

"श्री अरविन्द ने मुझे बिलकुल स्पष्ट शब्दों में बतला दिया था कि वह भारत की पूर्ण स्वाधीनता के ही पक्ष में हैं और उन्हें इस बात का कोई आग्रह नहीं कि इस की प्राप्ति के लिए किसी एक पथ को ही अपनाना होगा। परन्तु कुछ समय के लिए उन की इच्छा यही थी कि मैं भवानी मन्दिर योजना के तथा स्वदेशी आन्दोलन के अन्दर कार्य करूँ।.........उन की आज्ञा से बारीन ने उस समय बंगाल में चलने वाले कार्य की अवस्था का वर्णन किया और बतलाया कि किस प्रकार अद्भुत ढंग से वंग-भंग-विरोधी आन्दोलन ने उस प्रान्त में क्रान्तिकारी कार्य को आगे बढ़ाने में सहायता की है। श्री अरविन्द ने निश्चित रूप में ही यह घोषणा की कि पूर्ण स्वाधीनता ही उन का और उन के साथ काम करने वाले लोगों का लक्ष्य है और इस से मुझे बहुत सन्तोष हुआ क्यों कि उस समय शायद मैं अपने महान् लक्ष्य को तनिक भी क्षुण्ण होने देना स्वीकार न करता। एक लड़कपन-जैसी बात अभी भी मुझे याद है। मैं उत्तेजित हो कर चिल्ला पड़ा, 'परन्तु रक्तहीन क्रान्ति करने की चेष्टा मत कीजिएगा।' चीफ़ ने मुसकराते हुए कहा—'ओ! तुम सब रक्त के भूखे हो।' बारीन का चेहरा चमचमा उठा और उन्हों ने कहा—'बस यही हम चाहते हैं।'

जब से अरविन्द बाबू ने बड़ौदा छोड़ा और गुप्त कार्य का भार ग्रहण किया, तब से बराबर ही उन्हों ने अपना काम अपने ढंग से ही किया, पर अन्य प्रान्तीय नेताओं का बराबर ही उन्हें सहयोग मिलता रहा। पर एक बात सब से अधिक महत्त्व की थी जो इन नेताओं से भिन्न हमारे 'चीफ़' की विशेषता सूचित करती थी। यद्यपि उस समय के अरविन्द बाबू कोई महान् धार्मिक नेता नहीं माने जाते थे, फिर भी उन की राजनीतिक शिक्षा का सारा आधार ही आध्यात्मिक था और इस बात का सबूत हमें उस समय के सभी पत्रों में प्रकाशित उन के लेखों में मिलता है—चाहे उन के जेल जाने से पहले के लेख 'वन्दे मातरम्' और 'युगान्तर' में देखिए अथवा जेल से मुक्त होने के बाद के लेख 'कर्म योगिन' और 'धर्म' में देखिए। उन्हों ने अपने मित्र देव पाण्डे के साथ मिल कर नर्मदा के तीर पर गंगानाथ आश्रम में जो एक छोटा-सा स्कूल खोला था, उस में तथा कलकत्ते के पास के उन के प्रसिद्ध बगीचे में बालकों को अन्य चीजों के साथ-साथ योग की भी शिक्षा दी जाती थी[1]।'

कालान्तर में इसी बिन्दु पर श्री अरविन्द से विपिनचन्द्र पाल का मतभेद हुआ। परिणामतः विपिन चन्द्र पाल ने 'वन्दे मातरम्' के सम्पादन से अपने को पृथक् कर लिया।[2]

---

१. श्री चारुचन्द्र दत्त : अर्चना, पाँचवीं पुस्तक, प्रथम भाग।
२. 'Bande Mataram and Indian Nationalism'—by Haridas Mukherjee and Uma Mukherjee.

स्वदेशी आन्दोलन का रचनात्मक पक्ष और रवीन्द्रनाथ का जातीय अवदान

हम ने ऊपर चर्चा की है कि स्वदेशी आन्दोलन के साथ एक रचनात्मक जातीय योजना भी थी। विदेशी बहिष्कार के अन्तर्गत विदेशी शिक्षा-पद्धति का प्रतिरोध भी सम्मिलित था। ११ मार्च १९०६ ई० को राष्ट्रीय शिक्षा-समिति की स्थापना हुई। उसी वर्ष कलकत्ते में 'बंगाल नेशनल कॉलेज और स्कूल' की स्थापना हुई जिस के प्रधानाचार्य श्री अरविन्द बने।[1] श्री अरविन्द और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने राष्ट्रीय शिक्षा-विषयक बहुत साहित्य लिखा।

रवीन्द्रनाथ विश्वविख्यात साहित्यिक थे। राजनीति उन का विषय नहीं था; तथापि स्वदेशी आन्दोलन में उन्हों ने सक्रिय भाग लिया था। अपने भतीजे के सहयोग से उन्हों ने एक स्वदेशी वस्त्र-भण्डार तो खोला ही था; और विज्ञप्त तथ्य है कि राष्ट्रीय शिक्षा को प्रायोगिक रूप देने के लिए वे सतत प्रयत्न करते रहे।[2] याचना-वृत्ति को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे और स्वदेशी आन्दोलन के संचालकों के प्रति उन के मन में सम्मान की भावना थी क्यों कि वे अपने पुरुषार्थ और कठोर तपस्या-द्वारा पूर्ण स्वराज्य की कामना रखते थे। रवीन्द्रनाथ ने श्री अरविन्द के व्यक्तित्व को नमस्य मान कर उन के प्रति एक लम्बी कविता[3] लिखी थी। अनावश्यक राजनीतिक भार से जब स्वदेशी

---

१. स्टडीज इन द बंगाल, रिनेसाँ, पृ० ४२१।

२. द्रष्टव्य—Bandemataram and Indian Nationalism, P. 15.

३. रवीन्द्रनाथ की उक्त कविता की कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"अरविन्द, रविन्द्रेर लहो नमस्कार।
हे बन्धु, हे देशबन्धु, स्वदेश आत्मार
वाणी-मूर्ति तुमि। तोमा लागि नहे मान,
न हे धन, न हे सुख, कोनो क्षुद्र दान
चाहो नाई, कोनो क्षुद्र कृपा, भिक्षा लागि'
बाड़ाओनि आतुर अंजलि! आछो जागि
परिपूर्णतार तरे सर्व बाधाहीन,
जार लागि नर-देव चिर रात्रि दिन
तपोमग्न, जार लागि कवि वज्ररवे
गेयेछेन महागीत, महावीर सबे
गियेछेन संकट यात्रा, जार काछे
आराम लज्जित शिर नत करियाछे,
मृत्यु भूलियाछे भय, सेइ विधातार
श्रेष्ठ दान—आपनार पूर्ण अधिकार—
चेयेछो देशेर हाये अंकुट आशाय
सत्येर गौरव दृप्त प्रदीप्त भाषाय,

आन्दोलन की रचनात्मक शक्ति क्षीण होने लगी तो रवीन्द्र नाथ ने उस से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। अपनी पुस्तक 'द डिस्कवरी ऑव इण्डिया' में श्री जवाहरलाल नेहरू ने रवीन्द्रनाथ के जातीय अवदान की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'वह राजनीतिज्ञ नहीं थे, लेकिन वह हिन्दुस्तानी जनता की आज़ादी के प्रति इतने सचेत और इतने आसक्त थे कि वह हमेशा ही अपने काव्य और संगीत के ऐन्द्रजालिक सौन्दर्य में नहीं रह सकते थे। राजनीतिक घटना चक्रों से उन्मथित हो कर उन्हों ने प्रायः भारतीयों और ब्रिटिश सरकार को देवदूत-जैसी भाषा में चेतावनी दी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में बंगाल में जो स्वदेशी आन्दोलन चला उस में उन्हों ने भाग लिया।"

पिछले अध्याय में हम ने चर्चा की है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जातीय चेतना पुष्ट हो गयी थी। और यह विश्व का महान् स्वच्छन्दतावादी कवि कल्पना-लोक से वितृष्ण हो अपनी धरती के प्रति अनुरक्त हो गया था। धरती के अभाव और दारिद्रय से पीड़ित हो कर (६ मार्च १८९४ को) उस ने आह्वान किया था :

"कवि, तब उठे एसो—यदि थाके प्राण
तबे ताइ लहो साथे, तबे ताइ करो आजि दान।
बड़ो दुःख, बड़ो व्यथा—सम्मुखेते कष्टे र संसार
बड़ोइ दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र, बद्ध, अन्धकार।
अन्न चाइ, प्राण चाइ, आलो चाइ, चाइ मुक्त वायु
चाइ बल, चाइ स्वास्थ्य, आनन्द-उज्ज्वल परमायु,
साहस विस्तृत वक्षपट। ए दैन्य माझारे कवि,
एक बार निये एसो स्वर्ग हते विश्वासेर छवि॥
ए बार फिराओ मोरे, लये याओ संसारेर तीरे
हे कल्पने, रंगमयी ! दुलायो ना समीरे समीरे
तरंगे तरंगे आर, भुलायोना मोहिनी मायाय।"

× × ×

एइ—सब मूढ़ म्लान मूक मुखे
दिते हबे भाषा, एइ-सब श्रान्त शुष्क भग्न बुके
ध्वनिया तुलिते हबे आशा, डाकिया बलिते हबे—
"मुहूर्त तुलिया शिर एकत्र दाँड़ाओ देखि सबे,
जार भये तुमि भीत से अन्याय भीरु तो मा-चेये,

अखण्ड विश्वासे।"
(सम्पूर्ण कविता द्रष्टव्य, अर्चना, तीसरी पुस्तक; १५ अगस्त, १९४९।)

जखनि जानिबे तुमि तखनि से पलाइबे धेये ।
जखनि दाँड़ाइबे तुमि सम्मुखे ताहार तखनि से
पथकुक्कुरेर मतो संकोचे संत्रासे जाबे मिशे ।
देवता विमुख तारे, केह नाहि सहाय ताहार,
मुखे करे आस्फालन, जाने से हीनता आप नार
मने मने ।"

और १९०१ में रवीन्द्रनाथ ने 'त्राण' शीर्षक कविता लिखी थी—

"ए दुर्भाग्य देश हते हे मंगलमय,
दूर करे दा ओ तुमि सर्व तुच्छ भय—
लोक भय, राजभय, मृत्युभय आर ।
दीन प्राण दुर्बलेर ए पाषाण भार,
एइ चिरपेषण यन्त्रणा, धूलितले
एइ नित्य अवनति, दण्डे पले पले
एइ आत्म-अवमान, अन्तरे बाहिरे
एइ दासत्वेर रज्जु, त्रस्त नतशिरे
सहस्रेर पदप्रान्ततले बारम्बार
मनुष्य मार्यादा गर्व चिरपरिहार—
ए बृहत् लज्जाराशि चरण-आघाते
चूर्ण करि दूर करो ।"

वंगभंग की उन पर गहरी प्रतिक्रिया हुई थी, स्वदेशी आन्दोलन के समय उन का जातीय स्वर और ओजस्वी हो गया था और उन के राष्ट्रीय गान ने पूरे बंगाल में नयी जागृति उत्पन्न कर दी थी[1] ।

इस युग के बंगाली पत्र और उन का मुख्य स्वर

इस युग के बंगीय पत्रों में 'युगान्तर', 'सन्ध्या' और 'वन्दे मातरम्' तेजस्वी पत्र थे जो युगचेतना के अधिक समीप थे । 'वन्दे मातरम्' अरविन्द घोष और विपिनचन्द्र पाल के सम्पादकत्व में प्रकाशित होता था । इस का विश्वास (किंवा आदर्श) था कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वेच्छया विकास करने और क़ायम रहने का अधिकार है और यह कि जनराज्य अथवा राजशक्ति का अभिग्रहण भारतीय पुनर्जागरण के लिए पहली शर्त है और इस लिए समग्र जातीय चेतना को इस आदर्श की ओर केन्द्रित करने का वन्दे मातरम् आग्रह करता था[2] ।

---

१. स्टडीज़ इन द बंगाल रिनेसाँ, पृ० १३३ ।
२. प्रो० हरिदास मुखर्जी और प्रो० उमा मुखर्जी : 'वन्दे मातरम् ऐण्ड इण्डियन नेशनलिज़्म', पृ० २१ ।

यही भारतीय जातीय परिवेश या बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों का जिस ने हिन्दी पत्रकारिता को बहुत प्रभावित किया, या यों कहना चाहिए कि हिन्दी पत्रकारिता इस जातीय आन्दोलन के प्रति पूरी सचेत रही और अपने दायित्व का उस ने पूर्ण पालन किया।

हिन्दी पत्रकारिता का तीसरा दौर और उस की मुख्य विशेषताएँ

इस युग के पत्रों की गणना इतिहासकारों ने हिन्दी पत्रकारिता के तीसरे दौर के अन्तर्गत की है और इस तीसरे दौर के कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले हिन्दी पत्रों में सब से तेजस्वी पत्र था 'भारत-मित्र' जिस के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त थे। वैसे तृतीय दौर के पत्रों में 'हिन्दी बंगवासी' की भी गणना की जाती है जो १८९० ई० में प्रकाशित हुआ था।

तीसरे दौर की हिन्दी पत्रकारिता दूसरे दौर की पत्रकारिता से कई बिन्दुओं पर आगे थी। कदाचित् इसी लिए उस की चर्चा प्रगति के अगले चरण के साथ की गयी। "बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उस में बहुत-कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। वास्तव में विकास-शृंखला कुछ आगे बढ़ी है और पत्रकारिता की अनेक दिशाएँ अधिक स्पष्ट हो गयी हैं। १९वीं शती के पत्रकारों को भाषा-शैली के क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था। उन्हें एक ओर अँगरेज़ी, दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी वस्तु रखनी थी। अभी हिन्दी में रुचि रखने वाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और हम हिन्दी पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं। इस शताब्दी में धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलन कुछ पीछे पड़ गये और जातीय चेतना ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र साहित्य और राजनीति को ही ले कर चले।..........उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता के 'भारतमित्र', 'बंगवासी', 'सार सुधानिधि' और 'उचितवक्ता' ही हिन्दी प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इन में कदाचित् 'भारतमित्र' ही सब से स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक-जागृति के केन्द्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रान्त अग्रणी थे। हिन्दी-प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रान्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उन का स्वतन्त्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका[१]।"

द्वितीय दौर के पत्रों में जातीय चेतना मुखर हो गयी थी और हम ने 'सार सुधानिधि' की विवेचना करते हुए देखा है कि भारतेन्दु युग की हिन्दी पत्रकारिता का धरातल कितना ऊँचा उठ गया था और राजनीतिक चेतना कितनी विकसित हो गयी

१. डॉ० रामरतन भटनागर : आलोचना, इतिहास विशेषांक, पृ० ३४-३५।

थी। जातीय उन्नयन के लिए ब्रिटिश सरकार के अनौचित्य पर पत्रों ने प्रहार शुरू कर दिया था, किन्तु स्मरणीय है कि सारे प्रतिरोधी उपक्रम के बावजूद इस युग के पत्रकारों को अपनी राजभक्ति को प्रमाणित करने की चेष्टा करनी पड़ती थी। इस विषय में वे पूरे सतर्क रहते थे। वे अपनी स्थिति निरापद बनाये रखना चाहते थे क्यों कि उन के सामने एक महत् आदर्श था जिसे प्राप्त करने की उन में आतुरता थी। यह प्रतीति भी सच जान पड़ती है कि जनता में नवचेतना फैलाने के लिए ही राजभक्ति की आड़ ली गयी थी।[1] एक और बात थी, सरकार के मिथ्या आश्वासनों पर भी लोगों को कुछ समय के लिए भरोसा हो जाता था और सही स्थिति का ज्ञान होने पर किंचित् झुंझलाहट और निराशा होती थी। अस्तु, द्वितीय दौर की पत्रकारिता के सम्बन्ध में यह प्रामाणिक तथ्य है कि राष्ट्रीय चेतना के बीच में राजभक्ति का पुट देना आवश्यक समझा जाता था। निःसन्देह, "वह राजभक्ति रायबहादुरों वाली न थी कि सब देश सुखी है और ब्रिटिश राज में भारतवर्ष बस नरक से स्वर्ग हो गया है।[2]"

तृतीय दौर की हिन्दी पत्रकारिता अपनी राजभक्ति के विज्ञापन तक से पूर्णतया विरत हो गयी। इस युग के तेजस्वी राजनीतिज्ञ विपिनचन्द्र पाल के वक्तव्य का एक अंश ऊपर उद्धृत किया गया है जिस में उन्हों ने साफ़ शब्दों में घोषणा की है कि हमारी राजभक्ति मात्र इतनी ही है कि हम विधि-पालक हैं, वैसे हमारा उद्देश्य है भारत को ब्रिटिश पराधीनता से पूर्ण स्वतन्त्र करना। भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने भी १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में पहले-पहल 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया था। कलकत्ता कांग्रेस (१९०६) के सभापति श्री दादाभाई नौरोजी ने 'औपनिवेशिक शासन' के स्थान पर 'स्वराज्य' शब्द की घोषणा की थी। वंगभंग ने पूरे राजनीतिक परिवेश को बदल दिया था जिस की चर्चा ऊपर की गयी है और जिस ने हिन्दी पत्रकारिता को नयी गति और नया स्वर दिया था।

हिन्दी साहित्यका यह द्विवेदी युग था जो अपनी साहित्यिक आदर्शवादिता के लिए प्रसिद्ध हुआ। इस युग की सब से बड़ी विशेषता है, 'कट्टर प्रादेशिक राष्ट्रीयता (नेशनलिज्म)।' इस युग का नेतृत्व आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कर रहे थे। "द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मूलतः सुधारक और प्रवर्तक का व्यक्तित्व था। उन्हों ने समस्त प्राचीन को ताख पर रख कर नवीन अभ्यास और नये अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परम्परा के वे क़ायल न थे। संस्कृत से उन का प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही जितना नवीन हिन्दी के स्वरूप देने के लिए आवश्यक था। इसी लिए द्विवेदी जी की शैली में सम्पूर्ण नवीनता के दर्शन होते हैं, उतनी नवीनता जितनी उन के पीछे आने वाले रामचन्द्र शुक्ल-जैसे प्रशस्त लेखकों में

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, पृ० १४।
२. वही, पृ० १३।

भी नहीं दिखाई देती। नवीन निर्माण का नेतृत्व करने वाले द्विवेदी जी के उपयुक्त ही यह था। नव-निर्माण का कार्य हाथ में ले कर उन्हों ने भाषा और व्याकरण की नींव मजबूत की। इस कार्य को उन्हों ने स्वतः किया और अपनी 'स्कीम' के अनुसार उन्हों ने दूसरों के हाथ दूसरे काम दिये।" आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने "हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी" की भूमिका में लिखा है कि "द्विवेदी युग के साहित्य को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऊँचे से ऊँचे आदर्श भी महान् काव्य के निर्माण में सब समय सहायक नहीं होते। यह बात साहित्य के अन्य अंगों के सम्बन्ध में उतनी चरितार्थ चाहे न हो, पर काव्य के सम्बन्ध में पूरी तरह लागू होती है। द्विवेदी युग की बौद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनात्मक मन के समस्त द्वारों का उद्घाटन न कर सकी, काव्य-विकास के बहुत से कपाट अवरुद्ध ही रहे। एक कपाट खोलने का उपक्रम श्री श्रीधर पाठक के प्राकृतिक वर्णनों और उन के अँगरेजी के अनुवादों ने किया। दूसरा कपाट प्रसाद जी के प्रयत्नों-द्वारा खुला।"[1]

हम ने पिछले अध्याय में चर्चा की है कि स्वदेशी आन्दोलन शुरू होने के बहुत पहले 'तदीय समाज' तथा अपने अन्य कृतित्व के माध्यम से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने स्वदेशी का प्रचार आरम्भ कर दिया था। अपने देशवासियों से उन्हों ने कहा था, "जिस में तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो, परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रक्खो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।" कहना न होगा कि भारतेन्दु बाबू की इस प्रगतिशीलता और राष्ट्रीयता को स्वीकारने के लिए न तो देश की राजनीतिक भूमि तैयार थी और न तो राजनीतिक चेतना ही इतनी विकसित थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशी बहिष्कार और स्वदेशी-प्रचार के आन्दोलन को हिन्दी पत्रकारिता के तृतीय दौर ने अनुकूल भूमिका दी।

नयी चेतना के साथ भाषा में भी एक नया परिष्कार दिखाई पड़ा। डॉ० रामविलास शर्मा ने बिलकुल ठीक लिखा है कि, "बालमुकुन्द गुप्त स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी के समसामयिक थे हो परन्तु उन की निबन्ध-रचना की शैली भारतेन्दु युग की है। भाषा में पहले से अब परिष्कार हो चुका है। वाक्य-विन्यास एकदम सधा हुआ है, गति और यति का वैसे ही ध्यान रखा गया है जैसे मुक्त छन्द में।"[2]

कलकत्ते की पत्रकारिता और बाबू बालमुकुन्द गुप्त

कलकत्ते के तीसरे दौर की हिन्दी पत्रकारिता का नेतृत्व बालमुकुन्द गुप्त के ही हाथों में था जिन्हें अपनी जातीय निष्ठा और उग्र राष्ट्रीयता के कारण कालाकाँकर के

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, ६, ८, ९।
२. डा० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, पृ० ११२-१३।

राजा रामपाल सिंह के 'हिन्दोस्थान' पत्र की नौकरी से हाथ धोना पड़ा था। हिन्दोस्थान पत्र के गुप्त जी के सहयोगी मित्र रामलाल मिश्र के २ फ़रवरी १८९१ ई० के पत्र की ये पंक्तियाँ उक्त घटना पर प्रकाश डालती हैं—

"........कल्ह तिथि १ के मध्यान काल में राजा साहब ने आज्ञापत्र मँगा के लिख दिया कि आज मुं० जी को आना चाहिये था सो अपने नियत समय पर नहीं आये इसलिये और हमारे चले जाने पर हिन्दोस्थान में उन का लेख जाने योग्य न होगा, कारण गवर्नमेण्ट विरुद्ध बहुत कड़ा लिखते हैं, अतएव इस स्थान के योग्य नहीं हैं, च्युत कर दिये जायँ।" इस पर टिप्पणी करते हुए पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि "हिन्दी पत्रकार-कला के इतिहास में यह शायद पहला ही मौका था जब कि गवर्नमेण्ट के विरुद्ध बहुत कड़ा लेख लिखने के कारण किसी पत्रकार को च्युत किया गया हो।[1]"

"हिन्दी बंगवासी से अलग होने के लिए जिस स्थिति ने बालमुकुन्द गुप्त को विवश कर दिया उस की चर्चा उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है: ३१ अगस्त १८९८ ई० को व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु जी शर्मा कलकत्ता पधारे थे और तीन महीने तक यहाँ ठहरे थे। वक्तृतायें आप की होती रहीं। पांच-पांच हज़ार आदमी एकत्र होते थे। बड़ा प्रभाव पड़ा। सात बजे (शाम) से १० बजे तक बड़ा बाज़ार के कामकाजी लोग काम छोड़ कर व्याख्यान सुनने जाते थे। धर्मोत्साह जाग उठा। एक दिन सर्वसाधारण के चन्दे से १५ हज़ार रुपये एकत्र हो गये। अब तक यह चन्दा मारवाड़ियों के यहाँ ही जमा था। उन दिनों स्थानीय 'बंगवासी' धर्म-भवन के लिए दान माँग रहा था। उस चन्दे से वह ऐसा चिढ़ा कि वर्षों से प्रशंसा करते-करते यकायक पण्डित दीनदयालु जी को गालियाँ देने लगा।" गुप्त जी ने पत्र के प्रधान सम्पादक श्री अमृतलाल चक्रवर्ती को समझाया कि "आप आठ वर्ष से जिस का पक्ष करते आये आज उसका विरोध न करें। क्यों कि ऐसा करने में आप की निन्दा है। लोग आप को साफ़ स्वार्थी कहेंगे।" किन्तु चक्रवर्ती जी मालिक की नीति से लाचार थे। गुप्त जी ने पदत्याग कर अपनी तेजस्विता का परिचय दिया जिस की चर्चा करते हुए श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने लिखा है, "गुप्तजी की तेजस्विता के कार्य का दूसरा परिचय उन के 'हिन्दी बंगवासी' से अलग होने में है। उन दिनों सुप्रसिद्ध हिन्दी वक्ताशिरोमणि पण्डित दीनदयालु जी से कुछ अनबन हो जाने से 'हिन्दी बंगवासी' में उन का विरोध करना निश्चय हुआ था, उस समय बाबू बालमुकुन्द गुप्त को 'हिन्दी बंगवासी' से जो आर्थिक सहायता दी जाती थी, वह हिन्दी पत्रों की उस प्रारम्भिक दशा में अल्प ही हिन्दी लेखकों को मिलती होगी। बाबू बालमुकुन्द के परिवार पालन के लिए उस धन की बड़ी भारी आवश्यकता रहने पर भी उन्हों ने उस की कुछ भी परवा नहीं

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० २२६।

की ओर स्पष्टतया कह दिया कि पण्डित जी से मेरी मित्रता बड़ी बनी है, 'हिन्दी बंगवासी' में उन की विरुद्धता होने से मुझे उस की सेवा से अलग होना पड़ेगा। इस तेजस्वी पुरुष ने ऐसा ही किया। 'हिन्दी बंगवासी' में पण्डित जी के विरोध में लेख लिखे जाने के दिन ही 'बंगवासी' के कार्यकर्ताओं को चकित कर के 'हिन्दी बंगवासी' के कार्य से वे अलग हो गये।"[1]

'भारतमित्र' में बालमुकुन्द गुप्त ने राजभक्तों पर एक गहरा व्यंग्य लिखा था। 'पंजाब में लायल्टी' शीर्षक कविता में पंजाब के राजभक्तों के माध्यम से राजभक्ति पर करारा व्यंग्य किया गया है[2], जिसे गुप्त जी ने अपने जीवन के अन्तिम काल में लिखी थी। अँगरेज के पिट्ठू पंजाबियों को लक्ष्य कर यह कविता लिखी गयी जो अपनी राजभक्ति का प्रमाण देने के लिए बड़े गन्दे स्तर पर उतर गये थे। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> "सब के सब पंजाबी अब हैं, लायल्टी में चकनाचूर,
> सारा ही पंजाब देश बन जाने को है लायलपुर।
> लायल हैं सब सिक्ख, अरोड़े, खतरी भी सब लायल हैं,
> भेद रहित ये, बनिये, धुनिये, लायल्टी के कायल हैं
>
> × × ×
>
> लायल सब वकील बारिस्टर जमींदार और लाला हैं,
> म्युनिसिपालिटी वाले तो लायल्टी का परनाला हैं।
> खान बहादुर, राय बहादुर, कितने ही सरदार नवाब,
> सब मिल जुल कर लूट रहे हैं लायल्टी का खूब शबाब।
> ऐरा गैरा नत्थू खैरा सब पर इन की मस्ती है,
> लायल्टी लाहौर में अब भूसे से भी सस्ती है।
> केवल दो डिसलायल थे वां, एक लाजपत एक अजीत
> दोनों गये निकाले उन से नहीं किसी को है कुछ प्रीत।
>
> × × ×
>
> सुनते हैं पंजाब देश सीधा सुरपुर को जावेगा,
> डिस-लायल भारत में रह कर इज्जत नहीं गँवायेगा।"

गुप्त जी का 'भारतमित्र' में प्रवेश—

१६ जनवरी सन् १८९९ ई० को गुप्त जी ने 'भारतमित्र' का सम्पादन भार सम्हाला। इस के संचालन का दायित्व भी इन्हीं पर था। इस लिए पत्र को इन्हों ने अपने अनुसार एक नयी व्यवस्था दी। आकार बढ़ा दिया गया और वार्षिक मूल्य

---

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० २७६-२७७।
२. वही, पृ० २२६।

३ रु० के स्थान पर २ रु० निर्धारित किया गया। गुप्त जी चूंकि युग-चेतना के प्रति सचेत थे और उन की जातीय निष्ठा बलवती थी इस लिए स्वाभाविक था कि उग्र राष्ट्रीयता ही पत्र की नीति बने। दुर्भाग्यवश उस समय के भारतमित्र के अंक उपलब्ध न हो सके इस लिए उस की समग्र और व्यवस्थित विवेचना सम्भव नहीं है। इस लिए गुप्तजी के कृतित्व के आधार पर ही उस पत्र के जातीय स्वर की चर्चा करेंगे।

'भारतमित्र' के सम्बन्ध में गुप्त जी का मत

'भारतमित्र' में 'हिन्दी अखबार' का इतिहास लिखते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भारतमित्र के सम्बन्ध में लिखा था,'भारतमित्र' राजनीतिक पत्र है। आदि से इस की यही पालिसी है। हिन्दी का प्रचार और राजनीतिक चर्चा इस के प्रधान उद्देश्य हैं। धर्म का आन्दोलन करना इस की पालिसी नहीं है। पर जरूरत पड़ने पर उसी में शरीक होना वह अपना कर्तव्य समझता है। सदा से पुरानी चाल के हिन्दू इस के परिचालक हैं, इस से उन के धर्म की इसे काम पड़ने पर तरफदारी करना पड़ती है। यही चाल इस की आरम्भ से अबतक है। केवल बीच में एक दो आर्य्यसमाज के सम्पादकों ने इस की चाल बिगाड़ी थी। उन से इस को बड़ी हानि भी पहुँची। जिस की जो चाल है, उसी पर चलने से उस की उन्नति होती है। उस के बिगड़ने से बहुत भारी हानि होती है। यह एक अटल सिद्धान्त है। पर दुःख है कि हिन्दुओं में कुछ लोग इस सिद्धान्त से विचलित हो कर अपने को कमजोर बना रहे हैं। क्या मुसलमान, क्या कृस्तान, सब अपनी-अपनी चाल पर चलते हैं, अपने-अपने धर्म का आदर करते हैं, अपनी-अपनी धर्म-सम्बन्धी बातों पर दृढ़ हैं। केवल हिन्दू ही भटकते हैं, यह कैसे दुःख की बात है।" गुप्त जी के पूरे कार्य-काल में यह जातीय पीड़ा उन के साथ लगी रही कदाचित् यही कारण है कि वे सदैव जाग्रत रहे।

लॉर्ड कर्जन के कुकृत्य और शिवशम्भु के चिट्ठे की पहली किश्त – समाहृत

शुरू में ही हम ने चर्चा की है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्ष लॉर्ड कर्जन के दिल्ली दरबार में अँगरेजी समाचार पत्र-सम्पादकों के साथ भारतमित्र-सम्पादक बाबू बाल मुकुन्द गुप्त भी सम्मलित हुए थे। ११ अप्रैल १९०३ ई० के 'भारत मित्र' में शिवशम्भु के चिट्ठे और खत की पहली किश्त (बनाम लार्ड कर्जन (?)) प्रकाशित हुई। सम्पादक श्री गुप्त जी ने मानो लॉर्ड कर्जन को ललकारते हुए बड़ी साफ़ भाषा में उन के कुकृत्यों का उद्घाटन किया, "आपने माई लार्ड। जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है ? खाली अपना खयाल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिये भी कुछ कर्तव्य पालन किया। एक बार यह बातें बड़ी धीरता से मन में विचारिये। आपकी भारत

में स्थिति की अवधि के पाँच वर्ष पूरे हो गये। अब यदि आप कुछ दिन रहेंगे तो सूद में, मूलधन समाप्त हो चुका। हिसाब कीजिये नुमायशी कामों के सिवा काम की बात आप कौन सी कर चले हैं और भड़कबाजी के सिवा ड्यूटी और कर्तव्य की ओर आपका इस देश में आकर कब ध्यान रहा है? इस बार के बजट की वक्तृता ही आपके कर्तव्य काल की अन्तिम वक्तृता थी। जरा उसे पढ़ तो जाइये फिर उसमें आपकी पांच साल की किस अच्छी करतूत का वर्णन है? आप बारम्बार अपने दो अति तुमतराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मिमोरियल हाल और दूसरा दिल्ली-दरबार। पर जरा विचारिये तो यह दोनों काम 'शो' हुए या 'ड्यूटी'? विक्टोरिया मिमोरियल हाल चन्द पेट भरे अमीरों के एक दो बार देख आने की चीज होगा। उससे दरिद्रों का कुछ दुःख घट जावेगा या भारतीय प्रजा की कुछ दशा उन्नत हो जावेगी, ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।

"अब दरबार की बात सुनिये कि क्या था? आपके खयाल से वह बहुत बड़ी चीज था। पर भारतवासियों की दृष्टि में वह बुलबुलों के स्वप्न से बढ़ कर कुछ न था। जहां जहां से वह जुलूस के हाथी आये, वहीं वहीं सब लौट गये। जिस हाथी पर आप सुनहरी झूले और सोने का हौदा लगवा कर छत्र-धारण-पूर्वक सवार हुए थे, वह अपने कीमती असबाब सहित जिसका था, उसके पास चला गया। आप भी जानते थे कि वह आपका नहीं और दर्शक भी जानते थे कि आपका नहीं। दरबार में जिस सुनहरी सिंहासन पर विराजमान होकर आपने भारत के सब राजा महाराजाओं की सलामी ली थी वह भी वहीं तक था और आप स्वयं भलीभांति जानते हैं कि वह आपका न था।............यह सब चीजें खाली नुमायशी थीं।" आगे इसी लेख में गुप्त जी ने लार्ड कर्जन को उन के कर्तव्य का ज्ञान कराते हुए कहा है कि "जिस पद पर आप आरूढ़ हुए, वह आपका मौरूसी नहीं—नदी नाव संयोग की भांति है। आगे भी कुछ आशा नहीं कि इस बार छोड़ने के बाद आपका इससे कुछ सम्बन्ध रहे। किन्तु जितने दिन आपके हाथ में शक्ति है, उतने दिन कुछ करने की शक्ति भी है। जो कुछ आपने दिल्ली आदि में कर दिखाया उसमें आपका कुछ भी न था, पर वह सब कर दिखाने की शक्ति आप में थी। इसी प्रकार जाने से पहले, इस देश के लिये कोई असली काम कर जाने की शक्ति आप में है। इस देश की प्रजा के हृदय में कोई स्मृति-मन्दिर बना जाने की शक्ति आप में है। पर यह सब तब हो सकता है कि वैसी स्मृति की कुछ कदर आपके हृदय में भी हो। स्मरण रहे धातु की मूर्तियों के स्मृति चिह्न से एक दिन किले का मैदान भर जायगा। महारानी का स्मृति मन्दिर मैदान की हवा रोकता या थान रोकता था, पर दूसरों की मूर्तियां इतनी हो जावेंगी कि पचास पचास हाथ पर हवा को टकरा कर चलना पड़ेगा। जिस देश में लार्ड लैंसडौन की मूर्ति बन सकती है उसमें और किस किसकी मूर्ति नहीं बन सकती। माई लार्ड! क्या आप भी चाहते हैं कि उसके आसपास आपकी

एक वैसी ही मूर्ति खड़ी हो ?

"यह मूर्तियां किस प्रकार की स्मृति चिह्न हैं ? इस दरिद्र देश के बहुत से धन की एक ढेरी है, जो किसी काम नहीं आ सकती।·······

"खुलासा बात यह है कि एक बार 'शो' और ड्यूटी का मुकाबिला कीजिये। 'शो' को 'शो' समझिये। 'शो' ड्यूटी नहीं है। माई लार्ड। आपके दिल्ली दरबार की याद कुछ दिन बाद उतनी ही रह जावेगी जितनी शिव शम्भु शर्मा के सिर में बालकपन के उस सुख स्वप्न की है।"

लार्ड कर्जन के दूसरी बार भारत के गवर्नर जेनरल हो कर आने पर भारत मित्र द्वारा उन का स्वागत

लार्ड कर्जन जब दूसरी बार गवर्नर जेनरल बन कर भारत आये तो उन के स्वागत में भारत मित्र ने २६ नवम्बर १९०४ ई० को 'श्रीमान् का स्वागत' शीर्षक सम्पादकीय लेख प्रकाशित किया था। कर्जन के पुनः आगमन पर भारतवासियों की जो प्रतिक्रिया हुई उस को भारतमित्र ने यों प्रस्तुत किया, "इस समय भारतवासी यह सोच रहे हैं कि आप क्यों आते हैं और आप यह जानते भी हैं कि आप क्यों आते हैं। यदि भारतवासियों का वश चलता तो आप को न आने देते और आप का वश चलता तो और भी कई सप्ताह पहले आ विराजते। पर दोनों ओर की बाग किसी और ही के हाथ में है। निरे नवश भारतवासियों का कुछ वश नहीं है और बहुत बातों पर वश रखने वाले लार्ड कर्जन को भी बहुत बातों में बेबश होना पड़ता है।" इस टिप्पणी का उपसंहार करते हुए सम्पादक ने लिखा है कि "हिन्दुस्थान को श्रीमान् स्वयं ही समझते हैं। विलायत वाले समझते तो क्या समझते विलायत में उतना बड़ा हाथी कहाँ जिस पर वह चंवर छत्र लगा कर चढ़े थे ? फिर कैसे समझा सकते कि वह किस उच्च श्रेणी के शासक हैं ?" इस क्रम में 'शिव शम्भु के चिट्ठे और खत' की तीसरी किश्त 'भारत मित्र' के १७ सितम्बर १९०४ के अंक में वैसराय के कर्तव्य शीर्षक से प्रकाशित हुई। वैसराय कर्जन के कार्यो और कर्त्तव्यों का विवेचन करते हुए सम्पादक ने बड़ी स्पष्ट भाषा में लिखा था, "यहाँ की अधिक प्रजा ऐसी है जो अब तक भी नहीं जानती कि आप यहाँ के वैसराय और राज प्रतिनिधि हैं और आप एक बार विलायत जा कर फिर से भारत में आये हैं। आप ने गरीब प्रजा की ओर न कभी दृष्टि खोल कर देखा न गरीबों ने आप को जाना। अब भी आप की बातों से आप की वह चेष्टा नहीं पायी जाती। इस से स्मरण रहे कि जब अपने पद को त्याग कर आप फिर स्वदेश में जावेंगे तो चाहे आप को अपने कितने ही गुण कीर्तन करने का अवसर मिले, यह तो कभी न कह सकेंगे कि कभी भारत की प्रजा का मन भी अपने हाथ में किया था।"

भारत के चारित्र्य पर कर्जन का आरोप और 'भारतमित्र' द्वारा उस का उत्तर

कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के अपने भाषण में पूर्व के लोगों को मिथ्यावादी तथा सत्य का अनादर करने वाला कहा था। यह भारत की नैतिकता पर प्रहार था जिस का 'शिव शम्भु के चिट्ठे और खत' के माध्यम से 'भारतमित्र' ने उत्तर दिया था, "जो सत्यप्रियता इस देश को सृष्टि के आदि से मिली है, जिस देश का ईश्वर "सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' है, वहां के लोगों को सभा में बुला के ज्ञानी और विद्वान का चोला पहन कर उन के मुंह पर झूठा और मक्कार कहने लगे। विचारिये तो यह कैसे अवःपतन की बात है? जिस स्वदेश को श्रीमान् ने आदर्श सत्य का देश कहा और वहां के लोगों को सत्यवादी कहा है, उस का आला नमूना क्या श्रीमान् ही हैं? यदि सचमुच विलायत वैसा ही देश हो, जैसा आप फरमाते हैं और भारत भी आप के कथनानुसार मिथ्यावादी और धूर्त देश हो, तो भी तो क्या कोई इस प्रकार कहता है?..........अपनी सत्यवादिता प्रकाश करने के लिये दूसरे को मिथ्यावादी कहना ही क्या सत्यवादिता का सबूत है?

"माई लार्ड। जब आपने अपने शासक होने के विचार को भूल कर इस देश की प्रजा के हृदय में चोट पहुंचायी है तो दो एक बातें पूछ लेने में शायद कुछ गुस्ताखी न होगी।.........यह देश भी यदि विलायत की भांति स्वाधीन होता और यहां के लोग ही यहां के राजा होते तब यदि अपने देश के लोगों को यहां के लोगों से अधिक सच्चा साबित कर सकते तो आप की अवश्य कुछ बहादुरी होती। स्मरण रखिये, उन दिनों को कि जब अंगरेजों के देश पर विदेशियों का अधिकार था। उस समय आप के स्वदेशियों की नैतिक दशा कैसी थी, उस का विचार तो कीजिये। यह वह देश है कि हजार साल पराये पांव के नीचे रह कर भी एकदम सत्यता से च्युत नहीं हुआ है। यदि आप का युरोप या इंगलैण्ड दस साल भी पराधीन हो जाते तो आप को मालूम पड़े कि श्रीमान् के स्वदेशीय कैसे सत्यवादी और नीति-परायण हैं।..........भारत आप के लिये भोग्य भूमि है। किन्तु इस देश के लाखों आदमी, इसी देश में पैदा हो कर आवारा कुत्तों की भांति भटक-भटक कर मरते हैं। उन को दो हाथ भूमि बैठने को नहीं, पेट भर कर खाने को नहीं, मैले चिथड़े पहन कर उमरें बिता देते हैं और एक दिन कहीं पड़ कर चुप-चाप प्राण दे देते हैं।.... ...."कभी इस देश में आ कर आप ने गरीबों की ओर ध्यान नहीं दिया। कभी यहां की दीन भूखी प्रजा की दशा का विचार न किया। कभी दस मीठे शब्द सुना कर यहां के लोगों को उत्साहित नहीं किया—फिर विचारिये तो गालियां यहां के लोगों को आप ने किस कृपा के बदले में दीं? पराधीनता की सब के जी में बड़ी भारी चोट होती है।...... ....माई लार्ड। इस देश की प्रजा को आप नहीं चाहते

और वह प्रजा आप को नहीं चाहती, फिर भी आप इस देश के शासक हैं और एक बार नहीं दूसरी बार शासक हुए हैं, यही विचार कर इस अधबूढ़े भंगड़ ब्राह्मण का नशा किरा किरा हो-हो जाता है।"

'भारतमित्र'-सम्पादक का आदर्श

साम्राज्यशाही के विरुद्ध इतनी कड़ी बात केवल वही कह सकता है जो देश के लिए, देशोत्थान के लिए प्राणोत्सर्ग करने को हर क्षण उद्यत रहता हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस युग के हिन्दी पत्रकार जो कुछ लिखते थे वह सुविचारित होता था अर्थात् उन्हें उस का परिणाम ज्ञात रहता था और देश के लिए भारी से भारी यन्त्रणा झेलने-सहने की सदैव उन की मानसिक तैयारी थी। उन की कथनी और करनी में कहीं खाई नहीं थी। जिन दरिद्र भारतीय जनता का गुप्त जी ने ऊपर उल्लेख किया है उन के दुःख-दर्द में गुप्त जी सक्रिय रुचि लेते थे। पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय ने एक ऐसे प्रसंग की चर्चा की है जिस से इस बात की पुष्टि हो जाती है। पाण्डेय जी के लेख, 'भारत के सच्चे मित्र गुप्त जी' के उपसंहार की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"उन के सम्पादन काल में 'भारतमित्र' का प्रचार मध्यप्रदेश जैसे सुदूर प्रान्त के ग्रामों में भी था। इस का कारण था ग्रामीण जनता के दुःख-दर्द, अभाव-अभियोग के समाचार गुप्त जी बड़ी सहानुभूतिपूर्वक प्रकाशित करते थे। एक घटना सुन लीजिए—रायगढ़ नामक छोटी-सी रियासत में 'टपरदा' नामक एक गांव दक्षिणी सीमा पर है। वहाँ मेरे फुफेरे भाई एवं सहाध्यायी पं० दक्षिणधर वड़ँगेया मालगुजार थे। एक बार गर्मी के दिनों में ग्राम के तालाब सूख गये और पीने, नहाने तथा ढोरों के लिये जल का दुर्भिक्ष पड़ गया। टपरदा से तीन मील पर महानदी तथा ढाई मील पर 'मान्द' नदी की शरण ग्रामवासियों को लेनी पड़ी थी।

"जलाभाव एवं ग्रीष्म की भीषणता से बीमारी की भी शंका थी। देहात के गाँवों में इधर उस समय कुएँ कहीं नहीं थे। सर्वत्र तालाब, पोखर तथा नदी या नाले के पानी से लोगों का निर्वाह हुआ करता था। जल-कष्ट का समाचार पं० दक्षिणधर ने 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ भेजा था। वे 'भारतमित्र' के ग्राहक थे। देहात से आये हुए समाचारों पर गुप्त जी विशेष ध्यान रखा करते थे। समाचार छप कर आया तो उस के साथ-साथ सम्पादक द्वारा लिखित एक टिप्पणी भी छपी हुई देखने में आयी। टिप्पणी में सम्पादक ने लिखा था कि रियासती सरकार ऐसे गाँवों में कुआं खुदवा कर जलकष्ट निवारण क्यों नहीं करती? कहने का अभिप्राय यह कि वे भारत के नगरों और ग्रामों के सुधार एवं उत्थान के हेतु एक सच्चे मित्र की भाँति अपने कर्त्तव्य-पालन में निरन्तर तत्पर रहा करते थे[1]।"

---

१. बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० ३४८-४६।

लार्ड कर्जन के इस आरोप का जवाब देने के लिए भारतमित्र में गुप्त जी ने 'सच्चाई' शीर्षक एक कविता भी लिखी थी। कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"औरों को झूठा बतलाना, अपने सच की डींग उड़ाना।
ये ही पक्का सच्चापन है, सच कहना तो कच्चापन है।
बोले और, करें कुछ और, यही सभ्य सच्चे के तौर।
मन में कुछ मुँह पे कुछ और, यही सत्य है कर लो गौर।
झूठ को सच कर दिखलावे, सो ही सच्चा साधु कहावे।
मुँह जिस का हो सके न बन्द, समझो उसे सच्चिदानन्द॥"

भारतमित्र और लार्ड कर्जन की विदाई

अपने कार्यकाल की अवधि समाप्त कर लार्ड कर्जन जब इंगलैण्ड लौटने की तैयारी कर रहे थे तभी २ सितम्बर १९०५ के भारतमित्र में सम्पादक श्री गुप्त जी ने अपना 'विदाई सम्भाषण' छापा था। लार्ड कर्जन के कुकृत्यों का स्मरण दिलाते हुए सम्पादक ने बड़े साहसपूर्वक पूछा था, "क्या आँख बन्द कर के मनमाने हुक्म चलाना और किसी की कुछ न सुनने का नाम ही शासन है? क्या प्रजा की बात पर कभी कान न देना और उस को दबा कर उस की मर्जी के विरुद्ध जिद्द से सब काम किये चले जाना ही शासन कहलाता है? एक काम तो ऐसा बताइये जिस में आप ने जिद्द छोड़ कर प्रजा की बात पर ध्यान दिया हो। कैसर और जार भी घेरने-घोटने से प्रजा की बात सुन लेते हैं, पर आप एक मौका तो ऐसा बताइये जिस में किसी अनुरोध या प्रार्थना सुनने के लिये प्रजा के लोगों को आप ने अपने निकट फटकने दिया हो और उन की बात सुनी हो। नादिरशाह ने जब दिल्ली में कत्ले आम किया तो आसिफजाह के तलवार गले में डाल कर प्रार्थना करने पर उस ने कत्लेआम उसी दम रोक दिया। पर आठ करोड़ प्रजा के गिड़गिड़ाकर बंगविच्छेद न करने की प्रार्थना पर आप ने जरा भी ध्यान नहीं दिया। इस समय आप की शासन अवधि पूरी हो गई है, तथापि बंगविच्छेद किये बिना घर जाना आप को पसन्द नहीं है। नादिर से भी बढ़ कर आप की जिद्द है।" और इस जिद्द के चलते १६ अक्टूबर १९०५ ई० को बंगविच्छेद हो कर रहा जिस की देशव्यापी गहरी प्रतिक्रिया हुई और भारतीय राजनीति ने एक नया मोड़ लिया जिस की चर्चा इस अध्याय के आरम्भ में ही की गयी है।

बंग-भंग और भारतमित्र

२१ अक्टूबर १९०५ को 'भारतमित्र' में 'बंगविच्छेद' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। "आप के शासन-काल में बंगविच्छेद इस देश के लिये अन्तिम विषाद और आप के लिए अन्तिम हर्ष है।.........."यह बंगविच्छेद बंग का विच्छेद

नहीं। वंग निवासी इससे विच्छिन्न नहीं हुए, वरंच और युक्त हो गये। जिन्हों ने गत १६ अक्टूबर का दृश्य देखा है, वह समझ सकते हैं कि वंग देश या भारतवर्ष में नहीं, पृथिवी भर में वह अपूर्व दृश्य था। आर्य सन्तान उस दिन अपने प्राचीन देश में विचरण करती थी। वंगभूमि ऋषि-मुनियों के समय की आर्यभूमि बनी हुई थी। किसी अपूर्व शक्ति ने उसको उस दिन एक राखी से बान्ध दिया था। बहुत काल के पश्चात् भारत सन्तान को होश हुआ कि भारत की मट्टी वन्दना के योग्य है। इसी से वह एक स्वर से 'वन्देमातरम्' कहकर चिल्ला उठे। वंगाल के टुकड़े नहीं हुए, वरंच भारत के अन्यान्य टुकड़े भी वंग देश से आकर चिमटे जाते हैं।" इस टिप्पणी का उपसंहार करते हुए सम्पादक ने घोषणा की थी कि "भारतवासियों के जी में यह बात जम गई कि अंग्रेजों से भक्तिभाव करना वृथा है, प्रार्थना करना वृथा है और उनके आगे रोना गाना वृथा है। दुर्बल की वह नहीं सुनते।"

अपने दौर्बल्य-निरसन के लिए भारतवासियों ने शक्ति की उपासना शुरू की। उग्र जातीय चेतना की चर्चा शुरू में की गयी है जिस से आतंकित होकर पूर्वी वंगाल के लेफ़्टिनैण्ट गवर्नर सर वैम्फ़ील्ड फुलर ने विशिष्ट नागरिकों को धमकी दी थी कि "सम्भव है खून-खराबी करनी पड़े।" सरकार की दमन नीति की प्रतिक्रिया कितनी गहरी होती थी और जातीय जागृति को उस से कैसे नया संचार मिल जाता था, इस का उल्लेख इसी अध्याय के आरम्भ में किया गया है। फुलर साहब की धमकी का जवाब देने के लिए बालमुकुन्द गुप्त ने 'शाइस्ता खां का खत—कुंवर साहब के नाम' लिखा था, "गर्जे के मैंने खूब गौर करके देखा वंगाले में या हिन्दुस्तान में नवाबी जमाना फिर होने की कुछ जरूरत नहीं है। इन दो सौ साल में कितनी ही बातें मैंने जान ली है, जमाने के कितने ही उलट-पलट देखे और समझे, उसकी चाल पर खूब निगाह जमाकर देखा, मगर कहीं नवाबी को खड़ा होने की गुंजाइश न पाई। लेकिन देखा जाता है कि तुम्हारे जी में नवाबी की ख्वाहिश है। तुम वंगाल के हिन्दुओं को धमकाते हो कि उनके लिये फिर शाइस्ता खां का जमाना ला दिया जायगा। सई वल्लह! मैंने जब से यह खबर अपने दोस्त नवाब अब्दुल्लतीफ खां से सुनी है तब से हंसते-हंसते मेरे पेट में बल पड़-पड़ जाते हैं। अकेला मैं ही नहीं हंसा, बल्कि जितने मुझसे पहले और पीछे के नवाब यहां बहिश्त में मौजूद हैं सब एक बार हंसे, यहां तक कि हमारे सिका सूरत बादशाह औरंगजेब भी जो उस दुनिया में कभी न हंसे थे इस वक्त अपनी हंसी को रोक न सके। हंसी इस बात की थी कि वे समझे ही तुमने मेरे जमाने का नाम लिया है। मालूम होता है कि तुम्हें इल्म तवारीख से बहुत कम मस है।..........भाई फुलर जंग! कितने ही इलजाम चाहे मुझ पर हों, एक बार मैं ने इस मुल्क की रैयत को जरूर खुश किया था। मगर तुमने हुकूमत की बाग हाथमें लेते ही गुरखों को अपने वहदे पर मुकर्रर किया है। बच्चों के मुँह से 'वन्दये मातरम्' सुन कर तुम जामे से बाहर होते हो, इतने पर भी तुम मेरी या किसी

दूसरे नवाब की हुकूमत से अपनी हुकूमत को अच्छा समझते हो ! तुम्हें आफरी है ।" और आखिर में फुलर को एक दोस्ताना सलाह देते हुए सम्पादक ने लिखा था "रैयत के दिल में इन्साफ का सिक्का बैठता है, जुल्म का नहीं। जुल्म के लिये हम लोग बदनाम हो चुके, तुम क्यों बदनाम होते हो, जुल्म का नतीजा हम भोग चुके हैं, पर तुम्हें उससे खबरदार करते हैं। अपने कामों से साबित कर दो कि तुम इन्सान हो, खुदातर्स हो, यहाँ की रैयत को पालने आये हो, लोगों को गिरी हालत से उठाने आये हो। लोग यह न समझें कि मतलबी हो, ना खुदातर्स हो, अपने मतलब के लिये इस मुल्क के लड़कों को 'बन्देमातरम्' कहने से भी बन्द करते हो।"

स्वदेशी आन्दोलन पर सरकारी कुदृष्टि और भारतमित्र की टिप्पणी

शाइस्ता खाँ का मत—फुलर साहब के नाम की दूसरी किश्त १८ अगस्त १९०६ को भारतमित्र में प्रकाशित हुई थी जिस के कुछ स्थल यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। स्वदेशी आन्दोलन को दबाने के लिए फुलर ने बड़ी सख्ती दिखाई थी किन्तु परिणाम उल्टा ही हुआ था। उस की चर्चा इस 'खत' में इस प्रकार है, "अपनी जबरदस्ती से तुमने उस जोश को रोकना चाहा, जो अपने मुल्क की बनी चीजों के रोकने के लिये बंगाले में बड़ी तेजी से फैल रहा था। तुम ने इस बात पर खयाल न किया कि जो जोश तुम्हारे अफसरे आला की सख्ती से पैदा हुआ है, वह सख्ती और जबरदस्ती से कैसे दब सकता है.........तुम्हारे आला अफसर ने यह ओहदा तुम्हारी बेहतरी के लिये तुम्हें नहीं दिया था, बल्कि अपनी जिद पूरी कराने या अपना उल्लू सीधा कराने के लिये।...... ...तुम सब जानो तुम्हारे ओहदे पर बैठने के लिये तुम से बढ़ कर लायक और हकदार लोग कई मौजूद थे। मगर वह लोग थे अपनी अक्ल से काम लेते और इस बात पर खूब गौर करते कि सख्ती करके जब हमारे आला अफसर ने शकस्त खाई है तो हमें उसमें फतह कैसे हासिल होगी।" किन्तु फुलर ने इस ओर जरा भी ध्यान न दिया और अपनी सख्ती और दमननीति से भारतीय जनता और जनचेतना को रौंद डालने की निरन्तर असफल और अविचारित चेष्टा करते रहे और इसी में उन के शासन-काल का अन्त हो गया। इसे लक्ष्य कर इसी 'खत' (लेख) में भारतमित्र-सम्पादक श्री गुप्त जी ने लिखा था, "रिआया और मदरसे के तुलबा से लड़ते लड़ते तुम ने नवाबी खत्म की। लोगों को आम जलसे करने और कौमी नारे मारने से रोका। लड़कों को अपने मुल्की माल की तरफ मुतवज्जह देख कर तुम ने उनको जेल में भिजवाया, स्कूलों से निकलवाया और पिटवाया। तुम्हारे इलाके बारीसाल में तुम्हारे मातहतों ने इस मुल्क की रिआया के सब से आला इज्जतदार और तालीमयाफ्ता अशखास की बेइज्जत करने की निहायत खफीक हरकत की। तुमने अपने मातहतों का इसमें साथ दिया। नतीजा यह हुआ कि हाईकोर्टसे तुम्हारे कामों की मलामत हुयी।.........तुम्हारी होशियारी और

लियाकत का इसी से पता लगता है कि तुम्हारे अफसर का हुक्म पहुँचने के पहले तुम्हारे सूबे में एक बन्दये खुदा को बेवक्त फाँसी हो गई।" इस 'खत' की आखिरी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं, "तुम चले, अब कहने से ही क्या है? पर जो तुम्हारे जानशीन होते हैं, वह सुन रखें कि जमाने के बहते दरया को लाठी मार के कोई नहीं रोक सकता। दूसरे को तंग कर के कोई खुश रह नहीं सकता। अपने मुल्क को जाओ और खुदा तौफीक दे तो हिन्दुस्तान के लोगों को कभी-कभी दुआये खैर से याद करना।"

भारतमित्र के टेसू

भारतमित्र में प्रकाशित शिवशम्भु के चिट्ठे और शाइस्ता खाँ के खत-जैसी ही चर्चा गुप्त जी द्वारा लिखित और भारतमित्र में प्रकाशित 'टेसू' की भी होती थी। ऊपर की पंक्तियों में जिस प्रसंग की चर्चा की गयी है उसे ही लक्ष्य कर गुप्त जी ने 'कर्जन-फुलर' शीर्षक टेसू लिखा था जो इस प्रकार है :—

"नानी बोली टेसू लाल। कहती हूँ तुझ से सब हाल।
मास नवम्बर कर्जन लाट। उलट चले शासन का ठाट।
फुलरजंग को गद्दी दे कर। चल दिये अपना सा मुंह ले कर।
लड़कों से की खूब लड़ाई। गुरखों की पलटन बुलवाई।
किया मातरम् बन्दे बन्द। और सभायें रोकी चन्द।
जोर स्वदेशी का दबवाया। जगह जगह पर लठ चलवाया।
बरीसाल में की वह करनी। जिस की महिमा जाय न बरनी।
अन्त तलक लड़कों से लड़े। आखिर को उल्टे मुँह पड़े।
पकड़ा पूरा एक न साल। आप गये रह गया अकाल।
खूब वचन गुरुवर का पाला। पर आखिर को हुआ दिवाला।"

इसी तरह 'पोलिटिकल होली' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"करते फुलर विदेशी वर्जन। सब गोरे करते हैं गर्जन।
जैसे मिण्टो जैसे कर्जन। होली है भई होली है।
बराडरिक ने हुक्म चलाया। कर्जन ने दो टूक कराया।
मर्ली ने अफसोस सुनाया। होली है भई होली है।"

जब लॉर्ड कर्जन दूसरी बार भारत के गवर्नर जेनरल बन कर आये तो उस समय बालमुकुन्द गुप्त ने शिवशम्भु के चिट्ठे के साथ ही भारतमित्र में टेसू भी लिखा था। 'बड़े लाट कर्जन' शीर्षक टेसू की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

"बार दूसरी कर्जन आये, सनद साल दो की फिर लाये।
आप बम्बई में यों बोले, कौन बुद्धि मेरी को तोले।
... ...

भारत की रग मैं ने पाई, तुम क्या समझोगे मेरे भाई।
देखो मेरे ये दो साल, कैसा सब को करूं निहाल।
मेरे पीछे जो कोई आवे, बैठे सोवे मौज उड़ावे।
करना पड़े न कुछ भी काम, बैठे बैठे मिले सलाम॥"

इसी प्रकार गुप्त जी के 'कर्जनाना' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्‌धृत की जाती हैं :—

"झांझ झमाझम ढोल धमाधम कौन बजाता आया,
सब कुछ उलट पलट कर डाला सब संसार कंपाया ?
'वह मैं ही हूं' झट से यों श्री कर्जन ने फरमाया,
'आलीशान पुरुष हूं मुझसा कोई कभी न आया।'
....

किस ने वंग-भूमि को दो टुकड़े कर के दिखलाया,
किस ने बेरहमी से भाई-भाई को विछड़ाया ?
बोले कर्जन 'इस का कर्त्ता हूँ बस मैं ही अकेला,
हाथ हैं मेरे लोहे के, दिल है पत्थर का ढेला।'
... ...

किस ने देशी चीजों में फिर संचय प्राण कराया,
किस ने सब तूफान बखेड़ों को यहां से भगवाया।
किस ने सब बाबू लोगों का नेशन एक बनाया ?
'किया तो है पर इच्छा से नहिं'–कर्जन ने फरमाया॥"

वंग-भंग ने स्वदेशी आन्दोलन को उत्थित किया और सरकार की दमन-नीति ने उस के विकास का अनुकूल वातावरण तैयार किया। स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से समग्र जातीय चेतना को अभिव्यक्ति मिली। भारतमित्र में 'स्वदेशी आन्दोलन' शीर्षक कविता प्रकाशित हुई थी जो इस प्रकार है :—

"देख देश को अपने ख्वार, वंगनिवासी उठे पुकार।
आंगन में दीवार बनाई, अलग किये भाई से भाई।
भाई से किये भाई दूर, बिना विचारे बिना कुसूर।
आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
चाहे वंग होय सौ भाग, पर न छुटे अपना अनुराग।
भोग विलास सभी को छोड़, बाबूपन से मुंह लो मोड़।
छोड़ो सभी विदेशी माल, अपने घर का करो खयाल।
अपनी चीज़ें आप बनाओ, उन से अपना अंग सजाओ।
भजो वंग माता का नाम, जिस से भला होय अंजाम।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतमित्र युग-धर्म और जातीय चेतना के प्रति पूर्ण सचेत था। कहना न होगा कि राजनीति ही उस समय का युग-धर्म था और हिन्दी

समाज का राजनीतिक संस्कार उन्नत करने में भारतमित्र ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतमित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त के जातीय अवदान की चर्चा करते हुए पण्डित श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि "लार्ड कर्जन के नाम जो चिट्ठे लिखे हैं, उन का स्थान पत्र-लेखन कला और राजनीतिक पत्रों में बहुत ऊँचा है। हिन्दी पत्रकारिता उन से गौरवान्वित होती है। कितनों में साहस था उन दिनों, जो लार्ड कर्जन की आलोचना उस प्रकार कर सकते ?"

भारतमित्र का जातीय अवदान

निःसन्देह 'भारतमित्र' राजनीति-प्रधान पत्र था, किन्तु गुप्त जी ने उसे एकांगिता से बचाया और स्वयं भाषा, साहित्य, व्याकरण, साहित्यिक संस्मरण, धर्म इत्यादि विषयों पर लेख लिख कर भारतमित्र में प्रकाशित किया और उसे एक पूर्णता दी। एक बार 'आर्यावर्त' ने भारतमित्र के नाम और उद्देश्य में असंगति दिखलाते हुए ग़लत आरोप लगाया था जिस के उत्तर में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने एक लम्बी कैफ़ियत दी थी—"भारतमित्र भारतवर्ष का कागज है। भारतवर्ष हिन्दुओं का देश है हिन्दुओं की इस में प्रधानता है। हिन्दुओं ने ही भारतमित्र को जन्म दिया है जिन लोगों ने इसे चलाया है, वह हिन्दू हैं और जो इस को लिखते हैं, वह भी हिन्दू हैं, इसी से भारतमित्र हिन्दुओं का तरफदार है और वह तरफदारी किसी मजहब वाले से लड़ाई कर के नहीं, दूसरे मजहब को अपने मजहब में मिलाने के लिए नहीं, केवल हिन्दुओं की मुल्की, माली और राजनीतिक तरफदारी है।..........हिन्दुस्तान में ही 'पायनीयर' और 'इंगलिशमैन' आदि पत्रों को देखिये—वह अंगरेज जाति के किस प्रकार तरफदार हैं। पोलिटिकल रीति से जो कुछ तरफदारी स्वजाति की करनी चाहिये सो वह करते हैं। कहिये हम उन को किस बात में क्या दोष दे सकते हैं ? स्वजाति प्रेम, स्वदेशानुराग मनुष्य का धर्म है। हम एक बात अपने सहयोगी 'आर्यावर्त' से कहते हैं। वह यह है कि यदि आप के भी कोई धर्म हो और उस धर्म में कुछ भी श्रद्धा भक्ति की बात हो तो उस का पालन कीजिये, उस की तरफदारी कीजिये हम उस की प्रशंसा करेंगे और हमारे लिये भी आशीर्वाद कीजिये कि हम अपने धर्म में सदा पक्के रहें।" इस तरह की लिखा-पढ़ी और कहा-सुनी प्रायः भारतमित्र के माध्यम से होती रही। इसी पत्र के माध्यम से 'अनस्थिरता' शब्द को ले कर व्याकरण सम्बन्धी विवाद हुआ था जिस में एक ओर थे आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और दूसरी ओर भारतमित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त। भारतमित्र ने लिपि के प्रश्न को भी बड़े वैचारिक ढंग से उठाया था, और भारतवर्ष की सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी लिपि की प्रतिष्ठा के आकांक्षी और उद्योगी जस्टिस सारदाचरण मित्र के महत् उपक्रम की बालमुकुन्द गुप्त ने प्रशंसा की थी। इस सम्बन्ध में गुप्त जी ने अलग से भी हिन्दुस्तान में 'एक रस्मुलखत' शीर्षक से 'जमाना' के अप्रिल-मई १९०७ ई० के अंक में एक

बड़ा लेख लिखा था। दिवंगत साहित्यकारों का श्राद्ध-अनुष्ठान भी भारतमित्र के ही माध्यम से सम्पन्न हुआ था। अपने समकालीन अनेक देशी विदेशी हिन्दी के उन्नायकों और हिन्दी-हित-चिन्तकों के बारे में भारतमित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लेख लिखे थे जो 'बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली' में संकलित हैं। ये निबन्ध इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्दी का उन्नायक पत्रकार अपने दायित्व के प्रति कितना सचेत था। भारतमित्र में सन् १९०५ में उर्दू अखबारों का इतिहास और १९०६ ई० में हिन्दी संवादपत्रों का इतिहास प्रकाशित हुआ था। दोनों के लेखक भारतमित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ही थे जो हिन्दी के साथ ही उर्दू के भी पत्रकार रह चुके थे और जिन का उर्दू और हिन्दी भाषा पर समान अधिकार था। वस्तुतः संवादपत्रों का इतिहास-प्रकाशन 'भारतमित्र' का एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक अवदान है।

इसी प्रकार 'भारतमित्र' के माध्यम से भाषा और व्याकरण सम्बन्धी जो विवाद शुरू हुआ था उस का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि इस वाद-विवाद में व्यक्तिगत आक्रोश भी दिखाई पड़ता है और एक दूसरे ने एक दूसरे के व्यक्तित्व पर भी आक्रमण किये, किन्तु इस संघर्ष की सब से बड़ी उपलब्धि यह है कि व्याकरण-व्यवस्था को नया आयाम मिला जो समृद्धिसूचक है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और भारतमित्र-सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त का व्याकरण सम्बन्धी संघर्ष

'अनस्थिरता' शब्द को ले कर द्विवेदी जी और गुप्त जी में जो वादविवाद हुआ वह हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक वादविवाद है जिस की शुरुआत द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक उस लेख से हुई जो सरस्वती के ११ नवम्बर १९०५ ई० के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-मण्डल के अनेक लेखकों की भाषा की अशुद्धियां दिखायीं। द्विवेदी जी का यह उपक्रम कुछ लोगों को बिलकुल पसन्द नहीं आया। बालमुकुन्द गुप्त ने आत्माराम के नाम से भारतमित्र में कई लेख लिख कर द्विवेदी जी का विरोध किया। गुप्त जी के इस विरोध ने ही इस वादविवाद को जन्म दिया। भाषा सम्बन्धी जो शंका और प्रश्न गुप्त जी ने उठाये उस से द्विवेदी जी और द्विवेदी जी के भक्त चिढ़ गये। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक निबन्ध हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित कराये और गुप्त जी के वर्ण-वंश तक पर आक्रमण कर दिया। द्विवेदी जी हिन्दी बंगवासी की टिप्पणी से अत्यन्त प्रीत हुए थे और स्वयं उसी अन्दाज में 'कल्लू अल्हइत' के नाम से 'सरगौ नरक ठिकानो नाहिं' शीर्षक आल्हा सरस्वती में प्रकाशित किया था जिस में द्विवेदी जी का क्षोभ मुखर है। द्विवेदी जी के मत से "उत्तर समालोचनाओं का दिया जाता है, प्रलापों का नहीं। जिसे जुबांदानी, कवायददानी और जुबांदानी की सोहबत से मिले हुए ज्ञानीपन का त्रिदोष ज्वर चढ़ा हुआ है, उस की कल्पनाओं का उत्तर ही क्या ? कुत्ता-

पूर्ण-निस्सार वर्णने का भी क्या कोई उत्तर होता है।" गुप्त जी के समर्थकों में कई पण्डित थे जिन में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० माधवप्रसाद मिश्र तथा पं० जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी प्रमुख हैं। द्विवेदी जी के जवाब में चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि "यदि कोई दूसरा विद्वान् आप के निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करता हुआ आप के लेख की और प्रसंगतः प्राचीन आलंकारिकों की उक्तियों की समालोचना करे, तो आप को चिढ़ जाना उचित नहीं है।" पं० माधवप्रसाद मिश्र ने लिखा था कि "सत्य को स्वीकार करने में जिन्हें इतना संकोच हो, न्याय के लिए दुहाई देना उन का काम नहीं है।" पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने गुप्त जी का पक्ष-समर्थन करते हुए द्विवेदी जी को लक्ष्य कर लिखा था—"अनस्थिरता आदि के कोलाहल से यह निश्चित हो चुका है कि हिन्दी साहित्य में आप के 'जी हजूर', 'जो आज्ञा' वाले भक्तों की कमी नहीं है। उन के समाज में आप जो फरमावें, वह बावन तोला पावरत्ती ही माना जायगा। जिस की चाहें प्रतिष्ठा और जिसकी चाहें अप्रतिष्ठा आप के ही हाथ में तो रह गया है।" अस्तु! इस वाद-विवाद में भाग लेने वाले पत्रों में सरस्वती, भारतमित्र, हिन्दी बंगवासी, समालोचक और वैश्योपकारक प्रमुख थे। इस वाद-विवाद से भाषा और व्याकरण को तो एक नयी व्यवस्था मिली ही साथ ही यह संघर्ष उस युग की साहित्यिक जागृति और तेजस्वी पत्रकारिता को भी द्योतित करता है। उस युग के पत्रकार औचित्य के आग्रही थे और उन्हें अपने दायित्व का ज्ञान था, इस के प्रति वे सदैव सचेत रहते थे। भाषा और व्याकरण का विवाद जब व्यक्तिगत भूमिका पर पहुँचा और एक-दूसरे के जाति-वर्ण पर आक्षेप करने लगे तो उस समय के प्रायः सभी मान्य विद्वानों ने इस का विरोध किया था। वे सभी विद्वान् प्रायः पत्रकार थे या फिर पत्रों के माध्यम से ही उन्हों ने अपनी बात कही थी। स्मरणीय है कि उन में पूर्वग्रह और पक्षपात का रोग नहीं था। गुप्त जी के विरोध का उत्तर देते हुए पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने गुप्त जी के जाति-कुल-शील तक का स्मरण किया था। इस अनौचित्य का उत्तर देने वाले पण्डितों में अधिकांश ब्राह्मण थे और जिन के मन में आचार्य श्री द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के प्रति भी अपेक्षित श्रद्धा और स्नेह था। स्पष्ट है कि यह व्यक्तिगत और जातिगत लड़ाई नहीं थी, भाषा और व्याकरण का विवाद था जो उस युग के पत्रों के माध्यम से सम्पन्न हुआ था और जिस का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस तरह के अनेक ऐतिहासिक महत्त्व के कार्यों का श्रेय 'भारतमित्र' को है।

पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "पहले सम्पादक अध्ययनशील होते थे और अपने पाठकों को अधिक से अधिक जानकारी देने का यत्न करते थे। भाषा शुद्ध और मुहावरेदार लिखते थे। १९१० ई० तक भाषाविषयक विवाद भी पत्रों में दिखने लगे। इन विवादों से पाठकों की संख्या भी बढ़ती थी और पाठकों की जानकारी भी।"

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों के अन्य हिन्दी पत्र

हितवार्ता सन् १९०३ ई० में प्रकाशित हुई थी जिस की चर्चा करते हुए अपने इतिहास में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि इस वर्ष की पत्र-पत्रिकाओं में हितवार्ता नामी हुई। यह पत्रिका बंगला के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'हितवार्ता' के सम्पादक पं० कालीप्रसन्न काव्य-विशारद ने हिन्दी में निकाली थी। इस के आदि सम्पादक डॉ० प्राणतोष दत्त थे अथवा पं० रुद्रदत्त शर्मा थे यह अनिर्णीत है, पर इस में सन्देह नहीं कि रुद्रदत्त जी इस के सम्पादक थे। इस के बाद कुछ समय तक श्री पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी रहे। सन् १९०७ ई० में हितवादी के सम्पादक सखाराम गणेश देउस्कर के कारण पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर हितवार्ता के सम्पादक हुए।[1] पं० उमापति शर्मा और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी भी इस पत्र में लिखा करते थे। दुर्भाग्यवश इस पत्र के अंक उपलब्ध नहीं हैं, इस लिए सम्यक् विवेचना सम्भव नहीं है। प्रामाणिक सूचनाओं के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि यह पत्र राजनीतिक था।

सारस्वत सर्वस्व

सन् १९०३ ई० में ही पं० गोविन्दनारायण मिश्र के सम्पादकत्व में सारस्वत सर्वस्व नाम का मासिक पत्र प्रकाशित हुआ था। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना इस लिए कठिन है क्यों कि न तो कोई सूचना है और न तो इस का कोई अंक ही उपलब्ध है। इसी नाम की एक पुस्तक भी मिश्र जी ने लिखी थी जिस में सारस्वत ब्राह्मणों के गोत्र-वंश का विवरण है। यह पुस्तक कलकत्ता के बड़ा बाजार पुस्तकालय में है जिसे लेखक ने पं० केशवप्रसाद मिश्र की स्मृति में पुस्तकालय को भेंट की थी।

वैश्योपकारक

सन् १९०४ ई० में शिवचन्द्र जी भरतिया के सम्पादकत्व में कलकत्ते के राम प्रेस की ओर से मासिक वैश्योपकारक प्रकाशित हुआ था जिस के संचालक थे राम-

---

लाल नेमाणी। इस पत्र के प्रथम अंक में प्रकाशित 'आत्म-परिचय' शीर्षक लेख में 'वैश्योपकारक' का पूरा परिचय दिया गया है। इस के आविर्भाव की चर्चा इस प्रकार है: "अजमेर में जब अग्रवाल सभा का जन्म हुआ तो उस के उद्योग से 'अग्रवाल उपकारक' नाम के एक मासिक पत्र ने भी जन्म लिया था। आरम्भ में वह हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में निकलता रहा, परन्तु पीछे खाली हिन्दी की ही उस ने शरण ली। इधर 'वैश्यहितकारी' के नाम से एक उर्दू पत्र भी महासभा की ओर से मेरठ से निकला। इस ने तो कुछ उन्नति भी की परन्तु अपने आयु के १६ वर्ष व्यतीत कर देने पर भी 'उपकारक' की यथेष्ट उन्नति नहीं हुई। जान पड़ता है यह मातृभाषा 'हिन्दी' में पत्र प्रकाश करने का महाप्रसाद है। न तो उस को कुछ ग्राहक संख्या ही बढ़ी और न जाति-हितैषियों का उस की ओर कुछ विशेष लक्ष्य ही हुआ। हमारे अजमेर जाने पर उक्त पत्र के सुयोग्य सम्पादक लाला रामचन्द्र जी से इस विषय की चर्चा चली तो कहा कि इस पत्र का नाम और स्थान परिवर्तन कर इसे नये ढंग से सम्पादित किया जाय तो कैसा? उत्तर मिला कि बहुत उत्तम। इधर कलकत्ता आने पर राम प्रेस के स्वामी श्रीयुक्त बाबू रामलाल जी नेमाणी से वैश्य जाति के लिए एक सर्वांग सुन्दर मासिक पत्र निकालने के लिये कहा गया तो उन्हों ने सहर्ष स्वीकार किया तब निश्चय हुआ कि अजमेर का 'अग्रवाल उपकारक' भी इस पत्र में मिला दिया जाय। लाला रामचन्द्र जी को लिखा गया तो उन्हों ने सभा की ओर से उस का सब स्वत्व इस 'वैश्योपकारक' को दे दिया जिस के लिए हम कृतज्ञतापूर्वक उक्त महोदय को धन्यवाद करते हैं। अब यह 'वैश्योपकारक' अपने बड़े भाई के साथ—(साथ नहीं उस की स्नेह-भरी गोद में बैठ कर) प्रति मास आया करेगा।"

उद्देश्य

इसी वक्तव्य में 'वैश्योपकारक' के उद्देश्य की भी चर्चा की गयी है, "वैश्य जाति का उचित महत्त्व दिखलाना, वैश्यों के कर्तव्य का प्रकाश कर उन की भलाई करना, यह तो इस की आन्तरिक इच्छा है ही, परन्तु सामान्यतः अन्य सभी वर्णों की यथासमय सेवा करने से यह पीछे भी न हटेगा। इस में धर्म्म, नीति, समाज आदि सब विषयों पर लेख लिखे जायँगे परन्तु सम्प्रदाय विशेष और व्यक्ति विशेष पर अनुचित कटाक्ष न होगा। अपने वैश्य बन्धुओं का सहायक और उन्नायक होने पर भी यह पत्र उन के दुराचारों का पक्षपाती न होगा। इस का मुख्य उद्देश्य समाज का सुधार करना है जिस के लिये यह प्राणपण से चेष्टा करेगा।

"वेद प्रसिद्ध वैश्य जाति कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य रूप अपने शास्त्रोक्त एवं युक्तियुक्त धर्म्म को छोड़ कर इधर-उधर मन ललचाती है। वह धनाढ्य होने पर भी कुछ ऐसे लक्षण दिखा रही है जो उस के भविष्य को चिन्तायुक्त कर रहे हैं। पुराने उत्तम गुणों का विसर्जन हो रहा है और नये दुर्गुणों का उन की जगह

अधिकार हो रहा है। यह 'वैश्योपकारक' इस बात की चेष्टा करेगा जिस में ऐसा न हो सके।"

'वैश्योपकारक' के संकल्प को भी इसी लेख में इस प्रकार विज्ञप्ति दी गयी है—"चाहे जैसा हो, धनाढ्य लोग हमारी ओर घृणा ही से क्यों न देखें, पर हम उनके हित की ही कहेंगे। किसी धनाढ्य सेठ की झूठी खुशामद कर आकार बढ़ाने की अपेक्षा, हम इसी स्वरूप में रहना उचित समझेंगे। अपने वंश इष्टदेव 'गो ब्राह्मण' की सेवा के लिये सर्वदा सन्नद्ध रहेंगे। इसके लिये किसी भी टेढ़ी भ्रकुटी का वा नयी शिक्षा की परवाह न होगी।

"इसकी भाषा सरल हिन्दी रहेगी परन्तु कुछ पन्ने मारवाड़ी भाषा के भी दिये जावेंगे कारण अभी मारवाड़ी समाज बिल्कुल विद्या-विमुख है, और विशुद्ध भाषा की पुस्तकें बाँचने सुनने में निरुत्साह है, अतः उसके लिये इसकी आवश्यकता समझी गयी है।"

ऊपर के सम्पादकीय उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'वैश्योपकारक' का एकान्त उद्देश्य था वैश्य जाति में व्याप्त कुरीति और कलुष का प्रक्षालन। पुराने मानव-मूल्यों में इस की आस्था थी और पुरातन जातीय वैशिष्ट्य का आग्रह इतना प्रबल था कि ब्राह्मण और गौ के प्रति अकुण्ठित भक्ति थी। कदाचित् इसी पुरातन-प्रियता के कारण यह पत्र, कम से कम इस के आरम्भिक अंक, नयी रोशनी से कुछ दूर प्रतीत होते हैं। नये सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकारने की बात तो दूर रहे उस के प्रति एक हद तक यह असहिष्णु भी था। प्रथम वर्ष के तीसरे अंक के 'मासिक समाचार' के अन्तर्गत एक समाचार प्रकाशित हुआ था जो इस प्रकार है :

"हम अपने एक प्रतिष्ठित मित्र से यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए हैं कि वैश्य महासभा के जनरल सेक्रेटरी राय बहादुर लाला बैजनाथ साहब ने विधवा विवाह का पक्ष परित्याग कर दिया है। हमारे विचार में उन्होंने ऐसा करके योग्यता ही का परिचय दिया है। जो पुरुष अपने समाज का अग्रसर हो उसको ऐसे कार्य्य में कदापि हाथ न डालना चाहिये जिससे समाज की क्षति हो और धार्मिक हिन्दु भाइयों के चित्त को वेदना पहुँचे।"

विधवा विवाह के विरोध का एकमात्र कारण धार्मिक आग्रह ही नहीं है बल्कि इस से सम्पादक की अविकसित चेतना की भी विज्ञप्ति मिलती है। यह एक असंगत बात है कि जिस का उद्देश्य हो सामाजिक कुरीतियों का परिमार्जन करना हो वह विधवा विवाह में सामाजिक अनौचित्य देखे। अस्तु, पत्रकार का बहुत बड़ा दायित्व होता है युग चेतना को समझना और उस का साथ देना, उसे नयी दिशा देना। हम ने 'वैश्योपकारक'-सम्पादक की अपर्याप्त विकसित चेतना की बात कही। इसे ज़रा और साफ़ करने के लिए हम दो-एक और उदाहरण देना उचित समझते हैं। वर्ष १ अंक २

के मासिक समाचार के अन्तर्गत एक समाचार प्रकाशित हुआ था, "श्रीमान् बड़े लाट कर्जन महोदय बड़ी प्रसन्नता से विलायत को सिधारे। आपके शासन के विषय में किसका कुछ भी अभिप्राय हो परन्तु हम हार्दिक भाव से श्रीमानों के पुनरागमन की इच्छा करके कहते हैं कि आपके शाशन काल में अकाल समय प्रजा के प्राण बचे हैं। यूरोपियनों के अत्याचार से हम को छुड़ाने की चेष्टा हुई है। अंत में प्लेग के अत्याचार से हमारा रक्षण किया गया है। ऐसे कितने ही अच्छे काम हुए हैं। चिरस्मरणीय, अतुलनीय और प्रशंसनीय दिल्ली दरबार करके आपने दिग्विजय किया है। लवणकर और इन्कमटेक्स कम करके गरीब प्रजा का आशीर्वाद लिया है। हम भारतवासी सदा के राजभक्त हैं। थोड़े से ही उपकार में अनेक अपकारों को भूल जानेवाले हैं और समय पर हम भारतवासी अपकार का भी बदला उपकार ही करते हैं।"

जातीय स्वर

इतिहास का साक्ष्य है कि लार्ड कर्जन के हृदय में भारत-हित-कामना का एक कण भी न था और भारतवासियों को उस ने बहुविध पीड़ित किया था। उस के कुकृत्यों की कहानी 'भारतमित्र' के शब्द-शब्द में भरी है जिस की चर्चा अभी हम ने की है। हम ने यह भी देखा है कि लार्ड कर्जन के अनेक कुकृत्यों के साथ ही दिल्ली दरबार के अनौचित्य का भी भारतमित्र-सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने बड़े साहस और तेजस्विता के साथ पर्दाफ़ाश किया था। वैश्योपकारक की दृष्टि से लार्ड कर्जन के सारे कुकृत्य भारत-हित-कामना से प्रेरित थे जिन्हें वह पुनीत उपक्रम मानता था और उस की प्रशंसा करता था। इस प्रसंग में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि नियत साफ़ होते हुए भी जब कोई अनुचित-उचित का विचार न कर सके और बिना समझे ही अनौचित्य का समर्थन करने लगे तो निश्चित रूप से उस के बौद्धिक धरातल पर सन्देह होने लगता है। यहाँ निवेदन करूँ कि हमारी इस धारणा का आधार वैश्योपकारक के कुछ आरम्भिक अंक ही हैं। बाद के अंकों में इस का स्वर बिलकुल बदल गया। जिस लार्ड कर्जन की स्तुति कर उन के पुनरागमन की कामना की गयी थी उन्हीं के सम्बन्ध में वर्ष २, अंक ९ में एक कविता प्रकाशित हुई है जिस की ध्वनि सर्वथा भिन्न है। उक्त कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

लार्ड कर्जन की विदाई

करजन दरजन दिन रहे समय नियराया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया।
क्या करहि पहुनई जाती बार न बरियो।
जैसी दीन्हों सुख हमें नाथ तस करियो।
हम हैं अजान गुण औगुण हिये न धरियो।
अरु इत आवन को कष्ट फेरि जनि करियो।

सट कट्टहु बट्टहु क्या डरहु दूसरा आया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया ॥१॥
सांची पूछो तुम जिस दिन भारत आये।
लखि तरुन अवस्था लोग बहुत घबराये।
जब सुने मधुर प्रिय बोल अधिक सुख छाये।
सब कियो बहुत गुणगान लाट कस पाये।
कछु दिन ही में तुम अद्भुत रूप दिखाया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया ॥२॥

....

है लाट बाट किचनर्जी क्या देर बताओ।
यह बोट खड़ा तैयार कूद चढ़ जाओ।
क्या कहैं और जैसा दिये वैसा पाओ।
लो गुडबाई राम सलाम जहाज बढ़ाओ।
प्रभु गुणकर गान यह रामदीन दिन गाया।
अब पीछा छोड़हु नाथ बहुत कलपाया ॥२०॥

कहना न होगा कि इन पंक्तियों से लार्ड कर्जन के शासन से त्राण पाने की आतुरता प्रकट होती है जो भारतवासियों की सामान्य पीड़ा से सम्पृक्त है। वैश्योपकारक का यह परिवर्तित स्वर है जो जातीय चेतना के अधिक निकट है।

इस अध्याय के आरम्भ में ही हम ने निवेदन किया है कि रूस पर जापान की विजय ने पूरे एशिया में नयी जागृति उत्पन्न कर दी थी। वैश्योपकारक के प्रथम वर्ष की नौवीं संख्या में राधाकृष्ण मिश्र की एक कविता प्रकाशित हुई है—"जापान के प्रति भारतभूमि" इस की आरम्भिक चार पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"हे बन्धुवर! सुखकारक सुप्रजा के।
आनन्दवर्द्धन! वृहद् बल एशिया के।
प्रख्यात रूस बल दर्प विनाशकारी!
जापान! हो, जय सदा रण में तुम्हारी॥"

लोकमान्य तिलक की महत् प्रेरणा से महाराष्ट्र में शिवाजी जयन्ती के साथ महोत्सव होता था जो प्रकारान्तर से नयी जातीय चेतना को एक नया आलोक देता था। महाराष्ट्र के प्रभाव के परिणामस्वरूप बंगाल में भी शिवाजी महोत्सव का आयोजन शुरू हुआ था। इस सम्बन्ध में वैश्योपकारक के प्रथम वर्ष, अंक ६ में एक समाचार प्रकाशित हुआ था जो इस प्रकार है :—

"शिवाजी का उत्सव—महाराष्ट्र वीर शिवाजी का जन्मोत्सव तीन साल से यहाँ होता है। इस वर्ष का उत्सव गत शुक्रवार को बड़ी धूमधाम से टौनहाल में हुआ।

आनरेवल वावू सुरेन्द्रनाथ वनर्जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। और कई नामी वक्ताओं के व्याख्यान हुए थे। संस्कृत, हिन्दी, बंगला आदि में कविताएँ पढ़ी गयी थीं और 'वन्देमातरं' का जातीय गीत गाया गया था। टौनहाल में भीड़ इतनी थी कि सहस्रों मनुष्यों को स्थानाभाव से लौटना पड़ा परन्तु शान्ति यहाँ तक थी कि चुपचाप वक्ता की वात को सब लोग ध्यान से सुनते थे। यह सब हमारे उद्योग परायण मित्र महाराष्ट्र ब्राह्मण कुमार पण्डित सखाराम गणेश देउस्कर महाशय के परिश्रम का फल है। इस उत्सव में उक्त महाशय की 'शिवाजी दीक्षा' नामक पुस्तक की दश हजार प्रतियाँ वितरण की गई थी।"

अंक ७ में 'छत्रपति श्री शिवाजी महाराज!' शीर्षक राधाकृष्ण मिश्र की कविता प्रकाशित हुई है जिसमें हिन्दुत्व के रक्षक और जातीय नेता के रूप में शिवाजी के वीरत्व की स्तुति की गयी है :—

"साहू सुत शिवराज, छत्रपति !
जो तुम नहिं लेते अवतार
आर्य्यवंश की विजय पताका
नहिं उड़ती फिर किसी प्रकार ?"

इस प्रकार की कविताएँ पं० राधाकृष्ण मिश्र प्रायः लिखा करते थे जिस के लिए उन्हें वैश्योपकारक की ओर से एक पदक देने का प्रस्ताव उन के सामने रखा गया था जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया था।

स्वदेशी आन्दोलन और वैश्योपकारक

स्वदेशी आन्दोलन से 'वैश्योपकारक' उदासीन नहीं था, परवर्ती अंकों में प्रकाशित सामग्री को देखने से इस की अभिज्ञता होती है। वर्ष दो अंक १२ में प्रकाशित 'स्वदेशी आन्दोलन' शीर्षक लेख की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"यह सच है कि बंगालियों के साथ प्रत्यक्ष में हम लोगों का अभी सम्बन्ध दिखलाई नहीं देता, पर भीतर ही भीतर जो प्रेम भाव आप से आप हो रहा है, वह निरपेक्ष और अनिवार्य है। चाहे कभी "सुरेन्द्रनाथ और विपिनचन्द्र पाल की अग्निमयी वक्तृता का निर्वाण हो जाय और चाहे पत्रिका और हितवादी की सुतीव्र लेखनी कोमलता ग्रहण कर ले, पर यह कभी सम्भव नहीं है कि इस प्रतिदिन वर्द्धमान भाव की गति कोई रोक सके। जब हम अपने अन्तःकरण से यह प्रश्न करते हैं कि क्यों अब हम लोगों को बंगाली इतने प्यारे लगने लगे तो उत्तर यही मिलता है कि उन के स्वदेश प्रेम स्वार्थ त्याग और निडरपन से बंगाल कौन्सल के मेम्बरों ने निडरता के साथ जैसे मर्मस्पर्शी शब्द कहे थे वैसे कोई स्वार्थी पुरुष नहीं कह सकता। अपनी मातृभूमि के शोक में उन्मत्त हो कर उन्होंने जो जो अनुष्ठान किये हम लोगों के लिये वे नये होने पर भी प्यारे हैं।"

इसी विषय पर 'सुदर्शन'-सम्पादक पं० माधव प्रसाद मिश्र का 'बुराई में भलाई' शीर्षक लेख 'वैश्योपकारक' के वर्ष २, अंक ६ में प्रकाशित हुआ है। वंग विच्छेद को लक्ष्य कर तेजस्वी लेखक ने लिखा है "लार्ड कर्जन ने सोचा था कि अपने द्विरागमन से वे अपने प्रताप को बुलन्द करेंगे और बंगालियों ने आशंका की थी कि उनके पुनरागमन से बंगाल की भलाई नहीं है परन्तु फल विपरीत हो रहा है। तेजस्वी कर्जन यहाँ आकर अस्तोन्मुख दिवाकर की तरह निस्तेज हो गये और वंगविच्छेद के कार्य से बंगाली अलग-अलग होने के बदले एक हो गये।" इसे एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक घटना मानते हुए लेखक ने कहा है कि "इस देश में धर्म्म के नाम से चाहे जो हो सकता है किन्तु राजनीति गत स्वार्थ को लेकर आन्दोलन और एकता होना एक नई और विलक्षण बात है। जिस दिन लार्ड कर्जन ने विद्यार्थियों को उपदेश देने के मिष एशिया निवासियों को मिथ्यावादी और अनादर्श कहा था उसी दिन से इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा है। बंगालियों की ध्वनि के साथ उसी दिन से सब प्रान्तों की प्रतिध्वनि होने लगी है। देखते हैं, धीरे-धीरे आन्दोलन का आकार बढ़ रहा है। कलकत्ते में प्रतिदिन इस विषय की सभा होती है और दूसरे प्रान्त एवं नगर भी इस से खाली नहीं हैं।"

स्वदेशी आन्दोलन की परिणति और व्याप्ति की चर्चा करते हुए इसी लेख में कहा गया है कि "ऐसा विरला दिन होता है जब कि विलायती सिगरेट वा चुरट घृणा के साथ फेंके न जाते हों। बंगाली थियेटरों के पात्र अभिनय के समय इसी विषय पर दर्शकों का ध्यान खेंचते हैं और कई बंग रमणी इस विषय पर ललित कविता प्रकाशित कर पुरुषों के उत्साह को बढ़ा रही हैं।"

स्वदेशी आन्दोलन पर पं० माधव प्रसाद मिश्र ने 'स्वदेशी आन्दोलन' शीर्षक एक और लेख लिखा था जो 'माधव मिश्र निबन्ध-माला' में संकलित है। इस जातीय आन्दोलन के देशव्यापी प्रभाव की चर्चा करते हुए उन्हों ने राजस्थान की एक घटना का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—

"पिछले दिनों किसी कारणवश इस निबन्ध का लेखक उदयपुर गया था। मार्ग में मुझे वीरभूमि चित्तौड़ के दर्शन करने की लालसा हुई। जब मैं वहाँ के भग्नप्राय राजमन्दिरों का अवलोकन करने गया तब प्रसिद्ध राठौड़ वीर जयमल्ल के हृदय-भेदी टूटे महल में तीन चार चारण-कवियों को बंगालियों की चर्चा करते देखा। उन के हाथ में बम्बई का प्रसिद्ध हिन्दी संवादपत्र 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' था। उस में बरीसाल के लोगों के सताये जाने का करुण दृश्य था। उसी पर वे लोग कविता कर रहे थे। एक की कविता का आशय था कि "वंगभूमि! कम्पित मत हो, कलंक गया, तेरी सन्तान का इतिवृत्त चित्तौड़ की वीर सन्तति के साथ लिखा जायगा।" दूसरे ने जो रचना की थी उस का आशय था कि "यहाँ की अधिष्ठातृ देवी की भाँति वंगदेवी

भी कह रही है कि 'मैं भूखी हूँ।' उस के लिए वीर और माननीय बालकों का प्रयोजन है, देखना इस बलिदान के समय विचलित न होना।" इसी तरह तीसरे के काव्य का भी आशय विलक्षण था। उस का कहना था कि, "बरिसाल! तेरे नाम से शत्रुओं को डरना चाहिए न कि दयालु राजा को। मुझ से दुःखित नगर धन्य हैं जो सत्कार्य्य के लिए सताये जायँ।"

"यद्यपि मैं बंगाली नहीं था, पर तो भी भारत वर्ष की सर्व प्रधान वीरभूमि में उन की प्रशंसा सुन कर आनन्दित हुआ। स्वदेशी आन्दोलन की संक्रामक शक्ति ने बंगालियों को कहाँ तक बढ़ा दिया है, इस बात को प्रत्येक पर्यटक बता सकता है, जिस ने अपने नेत्रों से बड़ी-बड़ी सभाओं में उनका आदर देखा हो। इस समय सब प्रान्तों के सुलेखक, सुवक्ता और सुकवियों की प्रतिभा का विषय बंगाल हो रहा है, बोध होता है, इस बात को समझाने की आवश्यकता नहीं।[1]"

इस लेख के उपसंहार की पंक्तियों में मारवाड़ी जाति से अनुरोध करते हुए कहा गया है कि "यदि इस समय मारवाड़ी भी इस बात का प्रचार अपने भाइयों में करें तो विलायती वस्तुओं का प्रवाह जो उन में प्रबल रूप से चल रहा है बहुत कुछ रुक जाय। वैश्यों का यह धर्म भी है कि देशजात वस्तुओं की वे भरसक रक्षा करें।"

इन निबन्धों के अतिरिक्त 'वैश्योपकारक' में ऐसे अनेक समाचार प्रकाशित हुए थे जिन से उस समय की देश-दशा और जातीय चेतना की सूचना मिलती है। साथ ही जातीय चेतना के प्रति वैश्योपकारक की अभिरुचि और उदारता का भी ज्ञान होता है और इस तथ्य की पुष्टि होती है कि हिन्दी पत्र जातीय चेतना के प्रति अतिशय सचेत थे और इस प्रकार देश तथा विशेषतः हिन्दी समाज के प्रति इन पत्रों ने अपने दायित्व का पूर्ण पालन किया। वैश्योपकारक में प्रकाशित कुछ विशिष्ट संवाद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

वर्ष २, अंक ५, "विलायत समाचार—लाला लाजपतराय वकील, जाति के अग्रवाल, वैश्य कांग्रेस के मुखिया और पंजाब के एक नामी स्पीकर हैं। उन के भाषण और लेख में एक प्रकार की मस्ती है जिसके प्रत्येक अक्षर में हित भरा होता है। इस समय आप राजनीतिक आन्दोलन के लिए पंजाब की ओर से विलायत पधारे हैं। ईश्वर आप को सफल मनोरथ करें। यद्यपि हम अन्धाधुन्ध विलायत यात्रा के पक्षपाती नहीं हैं, परन्तु किसी बड़े उद्देश्य की सिद्धि के लिये व्यक्ति विशेष के जाने को हम अनुचित नहीं समझते। बहुत से भ्रष्टाचारी यहाँ भी विलायत के कान काटते हैं और विलायत में जाने पर भी स्वामी रामतीर्थ जैसे सत्पुरुषों की कुछ हानि नहीं हुई वरंच उन के गमन से दूसरों का उपकार हुआ।"

---

१. माधव मिश्र-निबन्ध-माला, पंचम खण्ड, पृ० ११।

वर्ष २, अंक १०, "वन्देमातरम् की शक्ति—बरीसाल के सतानेवाली गोरखा पलटन ढाके में गई है। उन्हींमें दो गोरखे हैं जो व्याकुल पड़े थे 'वन्दे मातरम्' की मंडली वाले लड़के उपस्थित हो समझाया कि तुम 'वन्दे मातरम्' इस मंत्र का जप करो। संकट दूर होगा। परन्तु उन अभागियों ने न माना। और जब बेमार हुए तब 'वन्देमातरम्' को जपा बस, झट पट आरोग्य लाभ किया। इस से गोरखे भी क्रोध छोड़ इस मंत्र के प्रेमी बन बैठे। धन्य विधाता।" ....

"स्वदेशी चीनी पर प्रेम—प्रायः आजकल मॉरस चीनी से हिन्दू सन्तान का चित्त हट स्वदेशी चीनी की तरफ चला है। इसकी विशेषता देश देशान्तर में फैली जा रही है।"

"देशी दियासलाई—सुनने में आया है कि अहमदाबाद में सलाइयों के बनने का एक कार्य्यालय खोला गया है। हमको यह जान कर अति प्रसन्नता हुई है कि उक्त कार्यालय की सलाइयाँ विदेशी सलाइयों से किसी अंश में न्यून नहीं होती हैं। सहायता के अभाव से भारत के लोग शिल्पादि शिक्षा में कुछ नहीं कर सकते हैं, यदि उन्हें पर्याप्त सहायता दी जाये तो क्या इस में अथवा किसी विषय में भारत की प्रतिद्वन्द्विता कोई कर सकता है। हर्ष का विषय है कि अब दिनोंदिन शिल्प शिक्षा की ओर लोगों की प्रवृत्ति हो रही है।"

यहाँ तक हम ने 'वैश्योपकारक' को युगीन चेतना के आलोक में रख कर उस की अनाव उपलब्धियों की चर्चा की। स्मरणीय है कि इस के उद्देश्य का उल्लेख करते हुए आरम्भ में ही कहा गया है कि "अपने वैश्यबन्धुओं का सहायक और उत्तायक होने पर भी यह पत्र उन के दुराचारों का पक्षपाती न होगा। इसका मुख्य उद्देश्य समाज का सुधार करना है जिस के लिये यह प्राणपण से चेष्टा करेगा।" इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अपने दायित्व के प्रति यह पत्र पूर्ण सजग था और इसे अपने महत् उद्देश्य में पूरी सफलता मिली है।

वैश्योपकारक और सामाजिक सुधार

वर्ष १, अंक ४ में 'जाति सुधार' शीर्षक रामचन्द्र गुप्त की एक अपील प्रकाशित हुई थी। वैश्य जाति को कुसंस्कार और जड़ता से मुक्ति दिलाने की कामना इस लेख की मूल विशेषता है। अपनी रूढ़ि-प्रिय जाति को सम्बोधित कर श्री गुप्त ने अपील की है कि "आप को जो कोई भाई शिक्षारूपी कड़वी औषधि दे उसको आप अपना सच्चा भाई समझ कर उस के साथ प्रेम करो और अपनी भूल को सुधार उन्नति के मार्ग पर चलो। जरा आप यह भी विचार लें कि समय की हालत सदा एक-सी नहीं रहती। परमात्मा ने सृष्टि की रचना ऐसी की है कि उस की दशा समय-समय पर बदलती रहती है जिस के कई कारण हैं। अतएव यह जरूरी समझा गया है कि मनुष्य भी जैसी-जैसी समय की अदल-बदल होवे अपना तरीका बदलता रहे, यह हठ कभी न करें कि

मेरे बाप ने तो यह किया था मुझे यह क्यों न करना चाहिये। चाहे वैसा करने में हानि ही हो। बहुधा देखा जाता है हमारे भाई जरूरत को न देख केवल एक-दूसरे की नक़ल करने लगते हैं।"

सीठने की प्रथा के विरुद्ध वैश्योपकारक का आन्दोलन

मारवाड़ी जाति में बद्धमूल सीठने की कुप्रथा के उच्छेद का सफल प्रयत्न वैश्योपकारक के माध्यम से हुआ था। विवाह के अवसर पर गाली गाने की रीति बहुत पुरानी थी जिस ने विकृत रूप धारण कर लिया था। इस का रूप यहाँ तक बिगड़ गया था कि जिन शब्दों को पति-पत्नी एकान्त में भी उच्चारण नहीं कर सकते, उन को खुली सड़कों में सब लोगों के सम्मुख भरद्वाज गौतम आदि जगत्पूज्य महर्षियों के वंश में उत्पन्न होने वाली ब्राह्मणी और सेठानी कहती हुई नहीं लजाती थीं। वर्ष १, अंक ६ 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित 'मारवाड़ियों के सीठने' का एक स्थल यहाँ उद्धृत किया जाता है: "इसी सप्ताह की बात है कि चौरस्ते पर भले घरों की स्त्रियों का गोल सीठने गा रहा था, पास ही खड़े हुए दो तीन मुसल्मान और कुछ बंगाली हँस रहे थे। एक अदना मुसल्मान मुसकरा कर कह रहा था कि "वाह! सेठानी जी वाह, खूब गाया और गावो" देख कर बड़ा दुःख हुआ। यही खयाल हुआ कि जिनकी बहू बेटियों की यह दशा है, उन का जीना ही क्या है?"

इस लेख की अन्तिम पंक्तियों में सीठने की कुप्रथा को उठाने की अपील की गयी है: कुछ लोगों का यह प्रस्ताव है कि, "बाजार में सेठानी सीठने गाती न निकलें, परन्तु ब्राह्मणी गावें, तो कुछ हर्ज नहीं।" परन्तु यह प्रस्ताव टहनी की रक्षा के लिए पेड़ काटने के समान है। प्रथम तो सच्चे वैश्यों का यह परम धर्म्म है कि ब्रह्मकुल को पूज्य बुद्धि से अवलोकन करें और यदि समय के प्रभाव से ऐसा न भी कर सकें तो उन से नीच कार्य्य करवाना तो किसी प्रकार उचित नहीं, दूसरे नीति यह बतलाती है कि जो दोष पड़ोसी के घर में होंगे उनका प्रभाव पासवाले पर भी पड़ता है। तब पुरोहित कुल के दोषों का प्रभाव यजमानों पर न होगा, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? जिन्होंने अपने पुरोहितों की मर्यादा बढ़ाई उनके वंश की भी मर्यादा बढ़ती ही गयी और जिन के पुरोहित कुल का अधःपतन हुआ उनका प्रताप भी स्थिर नहीं रहा। जो हो, सीठने की उक्त रीति ब्राह्मण वैश्य सब लोगों को मिल कर उठा ही देनी चाहिए, यही हमारी प्रार्थना है।"

सीठने-जैसी कुप्रथा को उखाड़ने के लिए वैश्योपकारक का निरन्तर प्रयत्न चलता रहा। वर्ष १, अंक ८ के सम्पादकीय वक्तव्य 'मारवाड़ियों के सीठने (३)' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, "हमारा सिद्धान्त तो यह है कि पुरुषों की अपेक्षा हमारे समाज की स्त्रियों का चरित्र बहुत निर्मल और उत्कृष्ट है। यदि मारवाड़ी भाई, अपने समाज की बहू-बेटियों पर कृपा कर सीठनों से घृणा करने लगें, यदि वे हर्षोत्फुल्ल नेत्रों

और उत्तेजक शब्दों से गाते समय उन्हें प्रोत्साहित न किया करें तो आप से आप सीठनों की गति रुक जाय। धर्म्मशीला स्त्रियों को फिर पापपूर्ण शब्द उच्चारण करने की आवश्यकता ही न रहे। जब लड़की देखती है कि उसके गन्दे गीतों को सुन कर उसके बूढ़े पिता और युवा भ्राता क्रुद्ध होने के बदले हर्षित हो रहे हैं तो उन के अन्तःकरण में यह बात आप से आप जम जाती है कि सम्बन्धियों को प्रसन्न करने के लिये यह मार्ग सब से उत्तम है। ... ... हमें यह जान कर बहुत सन्तोष हुआ कि कलकत्ते की ब्राह्मण सभा इस कार्य में आगे बढ़ी है और मारवाड़ी एसोसियेशन के कुछ सत् साहसी सभ्यों ने उन का सहायक और अनुगामी होना स्वीकार किया है।" इस सम्पादकीय वक्तव्य से स्पष्ट है कि सीठने की प्रथा को पुरुषों का प्रोत्साहन न मिले तो वह अपने आप टूट जावेगी। अंक १२ में "मारवाड़ी लेडी एसोसिएशन को चनौती छपी है जिसमें लेडी एसोसिएशन ने पंचायत और सभाओं से कई प्रश्न किये हैं। पहला प्रश्न इस प्रकार है :

"सब लोग पंचायत में सीठने गाने का दोष हम अबला स्त्रियों पर लगाते हैं, परन्तु यदि पंचायत में कोई स्त्री प्रतिनिधि होती तो इस बात को सिद्ध कर देती कि इस विषय में स्त्रियों का कुछ भी दोष नहीं है। दोष उनका यही है कि उनको पुरुषों के कार्यों का प्रतिवाद करने का कोई अधिकार नहीं है। पुरुष पंचायत के एक प्रपंची पुरुष ने इस एसोसिएशन की कई सभ्याओं को गन्दे गीत न गाने के कारण बहुत से लोगों के सामने धमका अपनी नामर्दी प्रकट की है, क्या इस भले मानुस का मारवाड़ी कुछ इलाज नहीं कर सकते ?"

मारवाड़ी लेडी एसोसिएशन के इस प्रश्न से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि सीठने गाने का दोष स्त्रियों पर नहीं बल्कि पुरुषों पर आरोपित करना चाहिए, इस प्रकार वैश्योपकारक-सम्पादक के वक्तव्य का इस से पूर्ण समर्थन होता है। इस प्रश्न से दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि मारवाड़ी नारी समाज में एक ओर सीठने-जैसी कुप्रथा का प्रचलन था दूसरी ओर युगीन जागृति का स्पर्श भी उसे हो गया था और वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गया था।

वर्ष १, अंक १० में "मारवाड़ियों में सुधार। सीठने गाने और मेंहदी लगवाने की बन्दी" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था जिस की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं : "परमात्मा का धन्यवाद है कि जिन गन्दी रीतियों के कारण मारवाड़ी समाज बदनाम हो रहा था उनमें से दो प्रधान रीतियों की कमर टूट गयी। वैश्योपकारक के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि इसके आन्दोलन करने पर कलकत्ते के मारवाड़ियों का इधर ध्यान हुआ और इन्होंने बड़े साहस के साथ पंचायत कर के विवाह आदि में गन्दे सीठने गाने और ब्राह्मणियों से पैरों में मेंहदी लगवाने की खोटी रीति एकदम बन्द कर दी। इस कलिकाल की राजधानी में जिस बात का होना लोग असम्भव

नहीं तो, महा कठिन समझते थे, उस का इस प्रकार से हो जाना मारवाड़ियों के किसी पुण्य विशेष का ही फल है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि युगीन चेतना के प्रति सचेत रहते हुए 'वैश्योपकारक' अपने उद्देश्य के प्रति सतत सक्रिय था। अविलम्ब ही उसने बहुतों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और शुभ कामनाएँ प्राप्त कर लीं। हिन्दी के प्रमुख पत्रों (भारत जीवन, हितवार्ता, सुधारक, हिन्दी प्रदीप, सरस्वती इत्यादि) ने वैश्योपकारक के प्रति अपनी शुभ कामना प्रकट की थी, जो वर्ष १, अंक ६ में 'समाचारपत्रों की सम्मति' शीर्षक से प्रकाशित हुई है।

राजनीतिक और सामाजिक विषयों के अतिरिक्त उस युग की अन्य गतिविधियों में भी वैश्योपकारक रुचि लेता था। हिन्दी साहित्य के उन्नायक महत् उपक्रमों में इस की सक्रिय रुचि थी। वर्ष १, संख्या ३ के 'समालोचना की आलोचना' स्तम्भ के अन्तर्गत एक सूचना है, "इस बात को जान कर प्रत्येक हिन्दी रसिक को आनन्द होगा कि गत ता० २६ मई को हमारे श्रद्धास्पद 'सुदर्शन' सम्पादक पण्डित माधवप्रसाद मिश्र जी के उद्योग से यहाँ "हिन्दी साहित्य सभा" की स्थापना हो गयी। उस दिन बड़े बाजार के अनेक प्रतिष्ठित मारवाड़ी रईस और साहित्य-सेवी सज्जन मिश्र जी के निमन्त्रण करने पर गणेशदास जयरामदास की कोठी पर एकत्रित हुए थे। बड़े बाजार के प्रसिद्ध विद्यानुरागी रईस बाबू रूडमलजी गोयेनका के सभापतित्व में मिश्र जी ने एक सारगर्भ, सुमिष्ट वक्तृता-द्वारा सभा स्थापन की आवश्यकता दिखायी थी। अनन्तर पदाधिकारी और प्रबन्धकारिणी सभा के सभ्यों का चुनाव होने पर निश्चय हुआ कि—'सुदर्शन' सम्पादक 'भारतमित्र' उत्पादक पण्डित छोटूलाल मिश्र, बाबू रूडमल गोयेनका और वैश्योपकारक सम्पादक बाबू शिवचन्द्र भरतिया, सभा के नियम बना कर आगामी अधिवेशन में उपस्थित करें।" अंक ४ में मासिक समाचार के अन्तर्गत एक समाचार प्रकाशित हुआ है जो इस प्रकार है: 'हिन्दी साहित्य सभा—कलकत्ते की हिन्दी साहित्य सभा भी अपनी कीर्ति से लोगों के चित्त को शीघ्र ही आकर्षित करेगी, यह लक्षणों से प्रतीत हो रहा है। अब नियमावली विधिबद्ध हो गई है, शीघ्र ही सभ्यों के पास छप कर पहुँच जायेगी तिसपर भी उसकी सभ्य श्रेणी में सैकड़ों सज्जनों का नाम लिखा जा चुका। बाहर से भी बहुत से महाशयों के सभ्य होने के लिए पत्र आ रहे हैं। ईश्वर करे कि सब हिन्दु भाई मद, मात्सर्य और अहंकार को छोड़कर प्रेमपूर्वक आकर इसमें मिलें और मातृभाषा के पूजा स्थान को भारत के भविष्य सौभाग्य का केन्द्र बनावें।"

देवनागरी के सम्बन्ध में उन दिनों एक आन्दोलन चल रहा था। भारतमित्र के सन्दर्भ में हम ने इस का उल्लेख किया है और अगले अध्याय में देवनागरी लिपि का उन्नायक पत्र देवनागर की विवेचना करते हुए इस प्रश्न की विस्तृत चर्चा की

जायेगी। यहाँ इतना ही निवेदन करना है कि लिपि के प्रश्न पर भी वैश्योपकारक में छोटी-छोटी टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं। वर्ष २, संख्या ७ में प्रकाशित 'एक लिपि किस प्रकार होगी' शीर्षक लेख की कुछ विशिष्ट पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "इस समय वैश्य जाति द्वारा भारतवर्ष के प्राणस्वरूप देशी व्यापार की बहुत कुछ रक्षा हो रही है परन्तु उनके मुडिया अक्षरों के बही खाते से नागरी की शिक्षा का द्वार रुक रहा है और देशोन्नति में एक प्रकार की रोक हो रही है, इसे सभी स्वीकार करेंगे।

"जब तक वैश्य जाति के वाणिज्य-व्यापार आदि का विशेष सम्बन्ध मुडिया अक्षरों के साथ रहेगा तब तक एक विस्तृत और कार्यक्षम जनसमूह से नागरी देवी अलग रहेगी, इस में कुछ सन्देह नहीं। आज यदि सब वाणिज्य व्यवसायी वैश्य नागरी लिखना-पढ़ना जानते तो उनका बहुत कुछ उपकार होता और नरपशु के तुल्य उन्हें अपना जीवन व्यतीत करना नहीं पड़ता।"

इसी अंक में "मासिक व विविध समाचार" के अन्तर्गत एक समाचार है— "एक लिपि—कलकत्ते के हैरीसन रोड में एक लिपि प्रचार की एक स्थायी सभा खोली गई है इससे देश का सुधार अतिशीघ्र होवेगा क्योंकि वाणी ही सर्वसुखों की मूल है......हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि सभा की आप रक्षा करें जिस में एक लिपि का अति क्षटित प्रकाश होवे।

भिवानी के राधाकृष्ण मिश्र और झाँसी के मैथिलीशरण गुप्त (रसिकेश) की कविताएँ प्रायः वैश्योपकारक में प्रकाशित होती थीं। इन दोनों कवियों के प्रति वर्ष दो अंक एक के सम्पादकीय वक्तव्य में कृतज्ञता प्रकट की गयी है। इन के अलावे विभिन्न पत्रिकाओं से होली के गीत उद्धृत किये जाते थे जो राष्ट्रीय भावना से पूर्ण होते थे। वर्ष २, अंक १२ से एक 'फाग' उद्धृत किया जाता है :

फाग

अब तो चेत करो रे भाई।
जब सरबसु कढ़ि गयो हाथ तैं, तब न उचित हरिहाई ॥ अब० ॥
उपज घटै धरती की दिन दिन नाज नितहिं महँगाई।
कहा खाय त्यौहार मनावैं, भूखे लोग लुगाई ॥ अब० ॥
सब धन ढोयो जात विलायत, रह्यो दलिद्दर छाई।
अन्न-वस्त्र कहँ सब जन तरसैं, होरी कहाँ सुहाई ॥ अब० ॥

इसी अंक में है—'चैती ठेका होरी'

खुलिहैं नैन तिहारे हो रामा कौने दिनवाँ खुलि हैं
बहुत काल सोवत ही बितायो,
अब जागहु पिय प्यारे हो रामा, कौने दिन० ॥

कैसी कहूँ कछु कहत न आवे
वने हो अजव मतवारे हो रामा, कौने दिन० ॥
को हौ कौन काज है तुम को,
कछु हू न हीय विचारे हो रामा, कौने दिन० ॥
जागहु अजहुँ सुकवि कविता सुनि,
तजहु पलक झपकारे हो रामा, कौने दिन० ॥"

इस पत्रिका को साहित्यिक पत्रकारिता का स्पर्श मिला था पं० माधवप्रसाद मिश्र के सम्पादन से। नेमाणी जी और भरतिया जी का सम्बन्ध जब निभ न सका तो अन्ततः सेठ रूडमल्ल जी गोयेनका और भरतिया जी के विशेष अनुरोध से पं० माधव-प्रसाद मिश्र ने 'वैश्योपकारक' का सम्पादन-भार सम्हाला था। मिश्र जी के सम्पादन काल में इस पत्रिका का स्तर बहुत ऊँचा उठ गया था। अपनी सशक्त लेखनी और गत्वर शैली-द्वारा मिश्रजी ने इस पत्रिका को बहुचर्चा का विषय बना दिया था। भारतमित्र के द्वारा उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए सन् १९०७ ई० में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था कि "कड़ी आलोचना लिखने में वह बड़े ही कुशल-हस्त थे। अति तीव्र और जहर में बुझे लेख लिखने पर भी वह हँसी के लेख लिख कर पाठकों के चेहरे पर खुशी ला सकते थे। लिखने में वह बड़े ही निडर और निर्भीक थे। हिन्दी इतनी अच्छी लिखते थे कि दूसरा कोई उन के जोड़ का लिखने वाला नहीं दिखाई देता। इतनी बड़ी शक्ति की सहज उपलब्धि 'वैश्योपकारक' के लिए बड़े सौभाग्य की बात थी। प्रायः पौने दो वर्ष 'वैश्योपकारक' के साथ मिश्र जी का सम्बन्ध रहा[1]।" मिश्रजी की सम्पादन-कला की उपलब्धि और उन के साहित्यिक अवदान का स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है। निस्सन्देह यह अध्ययन ऐतिहासिक महत्त्व का होगा यदि उसे प्रामाणिक तथ्यों के आलोक में शोध और विवेचन का स्पर्श दे कर प्रस्तुत किया जाये।

■

१. माधव मिश्र-निबन्ध-माला, प्रथम खण्ड, पृ० ४।

हिन्दी पत्रकारिता का तिलक युग

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशक और लोकमान्य तिलक का व्यक्तित्व

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशक की भारतीय राजनीति का नेतृत्व लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के हाथों में था। इसी अवधि को इतिहासकारों ने भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम का तिलक युग कहा है। १९०५ से १९१८ तक की कालावधि को रेखांकित कर इस युग की सीमा निर्धारित की गयी है।

पिछले अध्याय में स्वदेशी आन्दोलन और उस के पुरस्कर्ताओं का उल्लेख किया गया है, साथ ही बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के भारतीय परिवेश की वैशिष्ट्य-चर्चा भी की गयी है। इस युग के सच्चे प्रतीक थे बाल गंगाधर तिलक[१], जिन्हों ने बड़े तेजस्वी स्वर में घोषणा की थी कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' और पूरे देश में पूर्ण स्वराज्य की भूख उत्पन्न की थी, जिस के चलते अँगरेजों की सत्ता भी लोगों को असह्य हो गयी।[२] वैधानिकता की सवारी पर चलने वाली राजनीतिक भिक्षा-वृत्ति का अन्त हुआ। पूर्ण स्वराज्य की कामना को मानवीय नैतिकता के आधार पर वैचारिक अवलम्ब दिया गया। लोकमान्य तिलक के सक्रिय सहयोगियों में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और लाला लाजपतराय थे। उन के अनुगामियों में नयी पीढ़ी के वे सभी नवयुवक थे जिन्हों ने परवर्ती राजनीतिक परिवेश को नयी दिशा दी, नेतृत्व दिया और कालान्तर में स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रमुख सेनानी बने।

---

१. "......the real symbol of the new age was Bal Gangadhar Tilak from Maharastra."—Jawaharlal Nehru : 'The Discovery of India' p. 295.

२. "Tilak was the guiding spirit of the new type of nationalism that emerged towards the close of the ninteenth and the begining of the twentieth century, and the Kesare and Mahratta became the chief organs of this new movement. It would be difficult to exaggerate the importance and significance of the role played by these two papers in the development of nationalism in India." Dr. R. C. Majumdar. The British Paramountancy and Indian Renaissance, II Page, 250.

स्मरणीय है कि उन के मन में तिलक के ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रति पूज्य और उपास्य-भाव था। श्री नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है :

"१९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खबरें आती थीं उन से मैं बहुत बेचैन रहता था। अँगरेज़ी अखबारों में बहुत ही कम खबरें मिलती थीं लेकिन जितनी मिलती थीं उन से ही यह मालूम हो जाता था कि देश में बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में, बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। लाला लाजपतराय और अजीत सिंह को देश-निकाला दिया गया था, बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन बातों का मुझ पर भारी असर पड़ा। १९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानो उबलता रहा। १८५७ के ग़दर के बाद पहली मरतबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचलों और उन के कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरों से और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञाएँ ले रही थी, उन से इंग्लैण्ड में रहने वाले तमाम हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।[1]"

आचार्य नरेन्द्रदेव के संस्मरणों में इस का उल्लेख इस प्रकार है—"बंग-भंग के कारण एक नये दल का जन्म हुआ था जिस के नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे।.......मैं बहुत जल्द गरम दल के विचार का हो गया। हम में से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन में शरीक हुए। रिपन कॉलेज में हम लोग ठहराये गये। नरम-गरम दल का संघर्ष चल रहा था और यदि श्री दादाभाई नौरोजी सभापति न होते तो वहीं दो टुकड़े हो गये होते। उन के कारण यह संकट टला। इस नवीन दल के प्रधान अंग स्वदेशी, ब्रिटिश माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा थे।.......अँगरेज़ी शिक्षित वर्ग समझता था कि अँगरेज़ हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और जब हम को शासन के कार्य में दक्ष बना देगा तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंप कर चला जायेगा। बिना इस विश्वास को दूर किये राजनीति में प्रगति आ नहीं सकती थी। लोकमान्य ने यही काम किया। इस नये दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते में की गयी। इस की ओर से कलकत्ते में दो सभाएँ हुई थीं। इस में मैं भी मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इन में सब भाषण हिन्दी में हुए थे। श्री विपिनचन्द्र पाल और लोकमान्य भी हिन्दी में बोले थे।....बंगाल में इस दल का अच्छा प्रभाव था। कलकत्ते की काँग्रेस के बाद संयुक्त प्रान्त को सर करने के लिए दोनों दलों के बड़े-बड़े नेता आये और उन के व्याख्यानों

---

१. जवाहरलाल नेहरू : मेरी कहानी, पृ० २३, ३२४।

को सुनने का मुझ को अवसर मिला। सब से पहले लोकमान्य आये। उन के स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन गये। उन की सभा का आयोजन थोड़े-से विद्यार्थियों ने किया था। शहर के नेताओं में-से कोई भी उन के स्वागत के लिए नहीं गया। उन की सवारी के लिए एक सज्जन घोड़ा-गाड़ी लाये थे। हम लोगों ने घोड़ा खोल कर स्वयं गाड़ी खींचने का आग्रह किया किन्तु उन्हों ने इसे स्वीकार नहीं किया। लोकमान्य के शब्द थे 'Reserve that enthusiasm for a better cause' इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिए""हम लोगों ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के अखबार मँगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वन्दे मातरम्' आता था जिसे हम बड़े चाव से पढ़ा करते थे। इस के लेख बड़े प्रभावशाली होते थे। श्री अरविन्द घोष इस में प्रायः लिखा करते थे[1]।"

इस तथ्य का समर्थन प्रख्यात इतिहासवेत्ताओं ने किया है कि भारत में राजनीति दर्शन को तिलक ने स्वर्ग से धरती पर उतारा, विधान सभा अथवा कांग्रेस के मण्डप से उबार कर उसे सड़क और बाज़ार में पहुँचाया।[2]

शास्त्रज्ञ और गणितज्ञ होने के कारण उन में गद्‌गद्‌ भावुकता का सर्वथा अभाव था और उन की वैचारिक भित्ति काफ़ी पुष्ट थी। उन के व्यक्तित्व में पाण्डित्य और व्यावहारिक राजनीति का सहज समन्वय था। उन के पाण्डित्य का प्रभाव पश्चिमी जगत् की मनीषा पर भी था।[3]

---

१. आचार्य नरेन्द्र देव : संघर्ष, वर्ष २०, अंक २६ (नरेन्द्र देव अंक)।

२. आर० सी० मजुमदार : स्टडीज़ इन द बंगाल रेनेसाँ, पृ० १६४।

३. "राजद्रोह के अपराध में तिलक को कारावास की सज़ा मिली थी। उन की पुस्तक 'ओरियन' को पढ़ कर प्रो० मैक्समूलर उन की प्रतिभा और योग्यता के क़ायल हो गये थे। उन्हों ने यह जान कर कि तिलक जेल में ऋग्वेद के अनुशीलन को जारी रखना चाहते हैं, अपने ऋग्वेद के अँगरेज़ी अनुवाद की एक प्रति जेल के अँगरेज़ सुपरिण्टेण्डेण्ट की मार्फ़त उन के पास भेजी।"'मैक्समूलर-द्वारा पुस्तक भेजे जाने से अँगरेज़ अफ़सर को यह पता चला कि उन की जेल में कोई भारतीय विद्वान् रहता है। वह स्वयं लोकमान्य से मिला और उन के साथ व्यवहार में कुछ नरमी लाने की सिफ़ारिश की।

लोकमान्य को राहत दिलाने के शुभ-संकल्प को प्रो० मैक्समूलर ने केवल ऋग्वेद का अनुवाद भेज कर ही समाप्त नहीं कर दिया। उन्हों ने भारत मन्त्री के पास एक आवेदन पत्र भेजा, जिस में तिलक को जेल से छोड़ने की प्रार्थना की गयी थी। आवेदन-पत्र पर मि० विलियम केन, मि० ए० ए० मैक्डानल, सर विलियम हण्टर आदि अँगरेज़ तथा मि० दादा भाई और श्री० आर० सी० दत्त आदि विद्वानों के भी हस्ताक्षर थे। उस में तिलक को छोड़ने के पक्ष में मुख्य रूप से दो युक्तियाँ दी गयी थीं। एक युक्ति तो यह थी कि तिलक-जैसे विद्वान् को जेल में रखना अँगरेज़ी सरकार के लिए अपयश का कारण है, और दूसरी युक्ति यह थी कि यह सिद्ध हो गया था कि चापेकर-अभियोग से लोकमान्य का कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐंग्लो इण्डियन समाचारपत्रों को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि रैंड की हत्या से तिलक

तिलक के पास लेखनी का बहुत बड़ा बल था। वे एक तेजस्वी पत्रकार थे जिन के हाथ में 'केसरी' और 'मराठा' दो अपने पत्र थे। 'केसरी' का उद्देश्य था जनता में राजनैतिक जागृति उत्पन्न करना। 'मराठा' ऐंग्लो इण्डियन पत्रों-द्वारा फैलायी हुई ग़लत बातों का निरास करता था। 'केसरी' के लेखों की ध्वनि यह थी कि केवल माँगने या प्रस्ताव पास करने से कुछ पढ़े-लिखे भारतवासी राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। उन को प्राप्त करने के लिए नरमेध-यज्ञ तक करना पड़ेगा। उस नरमेध-यज्ञ में बहिष्कार, असहयोग, क़ानून-भंग और आवश्यक हो तो विद्रोह—सभी कुछ अन्तर्निहित था। 'मराठा' 'केसरी' का नर्म संस्करण था। 'केसरी' 'उकसाता था, 'मराठा' समझाता था। केवल सप्तक का भेद था, राग एक ही था।" 'केसरी' के एक सम्पादकीय लेख में आयरलैण्ड की चर्चा करते हुए कहा गया था—"स्वातन्त्र्य-रूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति के लिए नरमेध-यज्ञ को छोड़ कर अन्य समस्त लौकिक साधन व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इस ऐतिहासिक सिद्धान्त को मिथ्या कौन कर सकता है?"[1] 'केसरी' के लेखों की उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम यह हुआ कि तिलक पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया और १९०८ में उन्हें सजा मिली। सजा की घोषणा करते हुए जज ने जब तिलक से पूछा कि अपने पक्ष में कुछ कहना है तो तिलक ने कहा था, "जूरी के इस फ़ैसले के बावजूद मैं कहता हूँ कि मैं निरपराध हूँ। संसार में ऐसी बड़ी शक्तियाँ भी हैं जो सारे जगत् का व्यवहार चलाती

का किसी प्रकार का भी सम्बन्ध प्रमाणित नहीं हुआ, इस कारण यदि सम्भव हो तो तिलक को कुछ शर्तों पर रिहा कर देना चाहिए।"—लोकमान्य तिलक और उन का युग, पृ० ११२।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध संस्कृतान्वेषक विद्वान् प्रो० ब्लूमफील्ड ने 'ओरियन' को पढ़ कर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की थी—"साहित्य-जगत में पिछले दो-तीन महीनों में एक सब से बढ़ कर महत्त्वपूर्ण घटना हुई है, जिस से शास्त्री और विद्वान् समाज में बहुत खलबली मच जायेगी। कोई दस सप्ताह पहले बाल गंगाधर तिलक की लिखी हुई एक नयी पुस्तक मेरे पास आयी थी।...तिलक का नाम पहले कभी नहीं सुना था।...वेद तथा तत्सम्बन्धी साहित्य पर लेखक का कितना अधिकार है, यह बात मुझे पहली बार ज्ञात हुई।...मुझे प्रतीत होने लगा कि इस वर्ष के साहित्य में यह पुस्तक सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है।—वही, पृ० ६३।

१९०५ के बनारस काँग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित होने तिलक महाराज बनारस गये थे। बनारस स्टेशन पर उन से हाथ मिलाते हुए भगिनी निवेदिता ने उच्छ्वसित हो कर कहा था, "मि० तिलक, हम अब तक अमेरिका में आप को वेदसम्बन्धी 'ओरियन' तथा 'आर्कटिक होम इन द वेदाज' नाम की जगत्-प्रसिद्ध पुस्तकों-द्वारा जानते थे, परन्तु आज व्यक्तिगत रूप से आप से भेंट कर के बहुत हर्ष हुआ है। आज का दिन अवश्यमेव स्मरणीय और मेरे लिए एक हर्षपूर्ण दिन है, जिसे मैं जीवन में कभी नहीं भूलूँगी"—वही, पृ० १३२

१. लोकमान्य तिलक और उन का युग, पृ० २३।

हैं और सम्भव है ईश्वरीय इच्छा यही हो कि जो कार्य मुझे प्रिय है वह मेरे आज़ाद रहने की अपेक्षा मेरे कष्ट सहन से अधिक फूले-फले[1]।" जिन लेखों के आधार पर उन्हें सज़ा मिली थी कोर्ट के कहने पर भी उन्हों ने उन्हें अपना न मानने से इनकार कर दिया, "हमारे जीवन में ऐसी भी एक अवस्था आती है जब कि हम अकेले अपने मालिक नहीं हुआ करते। बल्कि हमें साथियों के प्रतिनिधि के रूप में काम करना पड़ता है[2]।" कहना न होगा कि जीवन-भर तिलक महाराज इसी हैसियत से कार्य करते रहे और देश की मुक्ति के लिए निरन्तर प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ते रहे, यन्त्रणा झेलते रहे। अपने लिए उन के पास कुछ नहीं रह गया था, उन्हों ने पूर्ण रूप से अपने को देश के लिए उत्सर्ग कर दिया था। माण्डले जेल की यन्त्रणा झेल ही रहे थे तभी जून मास में उन की पत्नी का देहान्त हो गया। इस शोक-संवाद से तिलक को गहरा धक्का लगा, किन्तु उन की आँखों से आँसू नहीं निकले। एक मित्र के पूछने पर उन्हों ने कहा था, "क्या करूँ? मैं देश के लिए अपने आँसू बहा चुका हूँ। आँखों में आँसू नहीं रहे।" ऐसी ही थी तिलक की देश-भक्ति जिस के चलते गार्हस्तिक सुख-दुःख में हँसने-रोने की भी फ़ुरसत उन्हें नहीं थी। तिलक की उत्सर्ग-भावना का देश में गहरा प्रभाव था। "देश के युवक उन्हें अपनी आशाओं का केन्द्र मानने लगे थे। बंगाल, मद्रास और उत्तर भारत के घरों में उन के मराठा लाल पगड़ी और अँगरखे वाले चित्र लटकते दिखाई देते थे। "केसरी" के लेख अँगरेजी तथा देशी भाषाओं के अनेक पत्रों में अनूदित कर के प्रकाशित किये जाते थे। देश में अन्य सब भाषाओं से अधिक समझी जाने वाली हिन्दी भाषा में तो नागपुर से "हिन्दी केसरी" नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगा था, जो हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में राजनीति की गीता के समान उत्सुकता और भक्ति से पढ़ा जाता था। उस पत्र का सम्पादन हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्री माधवराव सप्रे करते थे। उस पत्र ने विशेषतः उत्तर भारत के नवयुवक मण्डल में ओजस्विनी देशभक्ति को जाग्रत करने का अद्भुत कार्य किया था[3]।"

तिलक की नेतृत्व-शक्ति का उल्लेख करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है कि सभी वर्गों के लोगों को अपने निर्देशन-द्वारा संगठित करने की उन में क्षमता थी। वे शिक्षितों के ही नेता नहीं थे बल्कि व्यापारियों, उद्योगपतियों, ग्रामीणों और किसानों

---

१. काँग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० ८३-८४

"There are higher powers which rule the destiny of things and it may be the will of Providence that the cause which I represent may prosper more by my suffering than by my remaining free."—The Newspaper in india, p. 73.

२. काँग्रेस का इतिहास, भाग १, पृ० ८४।

३. इन्द्र विद्यावाचस्पति : लोकमान्य तिलक और उन का युग पृ० १२९-३०।

के नेता थे—जनता के नेता थे। सम्पूर्ण महाराष्ट्र उन के लेख और वक्तृता के मर्म को समझता था और अपने अनुकूल आचरण द्वारा उन के कार्यों का सक्रिय समर्थन देने को सम्पूर्ण महाराष्ट्र सदैव उद्यत रहता था। स्वदेशी आन्दोलन के जमाने में उन की लोकतान्त्रिक नेतृत्व-शक्ति एक व्यापक परिवेश में दिखाई पड़ी।[1]

तिलक युग की हिंसापरक राजनीतिक धारा और तिलक का दृष्टिकोण

तिलक युग में उग्र राष्ट्रीयता की एक हिंसापरक राजनीतिक धारा चल रही थी जिसे आतंकवादी आन्दोलन के रूप में हम जानते हैं। 'युगान्तर' के माध्यम से भूपेन्द्रनाथ दत्त ने हिंसावाद का प्रचार किया था जिस के चलते उन्हें लम्बी सजा मिली थी। अपने पुत्र की इस देश-भक्ति से प्रसन्न हो कर भूपेन्द्रनाथ दत्त की माता ने हर्ष प्रकट किया था और बंगाल की ५०० महिलाओं ने उन के घर जा कर उन्हें बधाई दी थी। मुजफ़्फ़रपुर के जिला-जज को मारने के लिए जो दो बम तैयार किये गये थे वे दो महिलाओं पर जा गिरे और इस अपराध में खुदीराम बोस को, जिन की अवस्था मात्र १८ वर्ष की थी, फाँसी की सज़ा मिली। पूरे देश में इस नवयुवक शहीद की आत्माहुति ने आग भड़का दी थी। कई राजनैतिक खून हो गये। बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में आन्दोलन अधिक तेज था। गीता के निष्काम कर्मयोग से प्रेरणा ले कर दैन्य का परित्याग कर युवक-मण्डली युद्ध को ही अपना एकमात्र धर्म मान रही थी। हिन्दू राष्ट्रीयता और हिन्दुत्व के जातीय भाव ने एक नया जोश उत्पन्न कर दिया था। आत्माहुति की आतुरता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रही थी। बंगाल में प्रच्छन्न रूप से अरविन्द दिशा-निर्देश कर रहे थे। बम्बई के 'इन्द्रप्रकाश' और पूना के 'केसरी' में हिन्दू राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित करने का नया उपक्रम चल ही रहा था। बंकिम, तिलक और अरविन्द ने स्वातन्त्र्य-संग्राम को गीता के आधार पर धर्मयुद्ध घोषित किया था। हिंसावादी आन्दोलन के अगुआ इस से अपने अनुकूल अर्थ निकाल कर अपने हिंसात्मक कार्यों का औचित्य प्रमाणित कर सकते थे, कर रहे थे। बंगाल के पी० मित्र की अनुशीलन समिति की चर्चा पिछले अध्याय में की गयी है। यत्र-तत्र राजनीतिक खून होने लगा था। मदनलाल ढींगरा ने लन्दन की एक सभा में १९०७ में सर कर्जन वाइली की साहसपूर्ण हत्या की थी[2] जिन्हें बाद में फाँसी हुई और उन्हें बचाने का

---

१. Sri Aurobindo-Bankim-Tilak-Dayananda, P. 24,

२. कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दू पंच' के बलिदान-अंक में श्री मदनलाल ढींगरा का अन्तिम हृदयोद्गार प्रकाशित हुआ है जिसे यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है :-

अदालत में अपना अपराध स्वीकार करते हुए मदनलाल ढींगरा ने कहा, "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उस दिन मैं ने अँगरेज का रक्त बहाने की चेष्टा की थी, पर यह इसलिए कि अँगरेज सरकार अमानुषिक रूप से जो हिन्दुस्थानी देश-भक्तों को फाँसी देती और

प्रयत्न करने वाले डॉ० लाल काका नामक एक दूसरे भारतीय को भी फाँसी दी गयी।

स्मरणीय है कि उग्र राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक होते हुए भी तिलक इस हिंसावादी आन्दोलन के विरुद्ध थे। मुजफ्फरपुर बम-काण्ड की निन्दा करते हुए उन्होंने 'केसरी' में 'देश का दुर्भाग्य' शीर्षक लेख लिखा था जिस की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"मुजफ्फरपुर-काण्ड एक बहुत गम्भीर दुर्घटना है। हम इस की निन्दा करते हैं और उस के विरुद्ध अपना मत प्रकट करते हैं। परन्तु हम यह नहीं समझते कि सरकार तक केवल इतने भाव प्रकाशित करने से हमारे कर्तव्य का पूरा पालन हो जाता है। इस विषय में सब एकमत हैं कि ऐसी घटनाएँ घटित न हों और हमारे देश का कोई निवासी ऐसे दुःसाहसपूर्ण कार्य करने के लिए मजबूर न हो। किन्तु ऐसे अवसरों पर यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि अधिकार-सम्पन्न लोग देशवासियों की अभिलाषाओं की कहाँ तक उपेक्षा कर सकते हैं और किस सीमा के आगे प्रजा के धैर्य की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। यदि इन बातों पर ध्यान दिया जाय तो शासकों और प्रजा में प्रेम-सम्बन्धों का क़ायम रहना असम्भव है।" लोकमान्य तिलक भली-प्रकार समझते थे कि आतंकवाद का जन्म सरकारी दमन और अत्याचार का अनिवार्य परिणाम होता है। 'केसरी' ने सरकार को पुनः-पुनः चेतावनी दी थी कि दमन की नीति का परित्याग कर न्यायोचित अधिकार दे कर भारतीयों को सन्तुष्ट और भारत

कालेपानी भेजती है, उस का मैं एक साधारण बदला ले सकूँ। इस काम में मैं ने किसी की भी सलाह नहीं ली है बल्कि मैं ने केवल अपनी अन्तरात्मा से पूछा है और अपने कर्तव्य का पालन किया है।

मेरा विश्वास है कि संगीनों की मदद से जब कोई जाति किसी जाति को परतन्त्र करती है, तब वह परतन्त्र जाति उस जाति से एक स्थायी युद्ध की दशा में रहती है। और चूँकि हमें बन्दूकें नहीं दी गयी हैं, इस लिए मैं ने अपना तमंचा निकाला और शत्रु पर अचानक हमला किया।

एक हिन्दू के नाते मेरा विश्वास है कि मेरे देश का अपमान करना साक्षात् ईश्वर का अपमान करना है। मेरे देश की पूजा श्री रामचन्द्र की पूजा है। देश की सेवा श्री कृष्ण की सेवा है। मेरे-जैसा निर्धन और मतिमन्द पुत्र माता की आराधना के लिए अपने रक्त के अतिरिक्त और क्या दे सकता है? आज मैं अपना वही रक्त अपनी माता की बलिवेदी पर चढ़ा रहा हूँ।

इस समय भारतवासियों को केवल यही एक शिक्षा ग्रहण करनी है कि मरना कैसे चाहिए, और यह शिक्षा हम स्वयं मर कर दे सकते हैं, इसलिए मैं मरता हूँ।

यह युद्ध भारत और इंगलैण्ड के बीच उस समय तक बराबर जारी रहेगा, जब तक कि इंगलैण्ड और भारत के वर्तमान अप्राकृतिक सम्बन्ध न रुकेंगे।

ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मैं तब तक उसी माता से जन्मता रहूँ और फिर उसी उद्देश्य के लिए मरूँ, जब तक कि माता स्वतन्त्र न हो जाये, जिस में मानवता की सेवा हो और ईश्वर की विभूति सिद्ध हो।"

को शान्त करें। इसी प्रकार तिलक ने स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों को मन्त्र दिया था—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—जो लोग मेरे साथ जैसा बरताव करते हैं, मैं उन के साथ वैसा ही बरतता हूँ। इतना ही नहीं बल्कि तिलक ने बड़े साफ़ शब्दों में 'केसरी' की सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा था कि "चाहे कितनी ही बहादुरी और दृढ़ इच्छा-शक्ति से काम लें तब तक सफलता नहीं मिल सकती, जब-तक हमें यह विश्वास न हो कि हम जो कार्य कर रहे हैं, वह अच्छा काम है और भगवान् हमारी उस में सहायता कर रहे हैं और धार्मिक भावना महात्माओं के आशीर्वाद हमारे साथ हैं।" इस प्रकार जातीय मुक्ति के लिए किये जाने वाले उपक्रम के औचित्य के प्रति पूर्ण विश्वस्त हो कर कार्य करने की प्रेरणा वे अपने त्यागमय जीवन से बराबर देते रहते थे। परिणाम यह था कि सम्पूर्ण देश में जागृति आ गयी थी और तिलक का नेतृत्व पूरे देश ने स्वीकार कर लिया था।

तिलक युग की मूल चेतना : कलकत्ते के हिन्दी पत्र

तिलक युग की मूल चेतना को ध्वनित करने वाले कलकत्ते के हिन्दी पत्रों में 'भारतमित्र', 'मारवाड़ी बन्धु' और 'नृसिंह' प्रमुख थे। और तेजस्वी पत्रकार थे दुर्गा प्रसाद मिश्र, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और बाबूराव विष्णु पराड़कर। पत्रकारिता को इस युग के पत्रकारों ने पेशा के रूप में नहीं बल्कि धर्म के रूप में अपनाया। इन के लिए पत्रकारिता देश-सेवा का एक माध्यम था। इस युग के तेजस्वी पत्रकार लक्ष्मण नारायण गर्दे ने 'सम्पादकीय आत्म परीक्षण' करते हुए लिखा था, "पत्र-सम्पादन के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने का मेरे लिए, प्रत्यक्ष कारण 'स्वदेशी आन्दोलन' हुआ। सन् १९०६–०७ में मैं मराठी समाचार पत्र (विशेषकर 'केसरी', 'काल' और 'भाला') बहुत पढ़ा करता था। समाचारों की अपेक्षा अग्रलेखादि पढ़ने में अधिक रुचि थी, जो विचार पढ़ता था, उन विचारों को प्रकट करने की भी बड़ी प्रबल इच्छा होती थी।[1]" पराड़कर जी ने स्वयं स्वीकारा था कि "कलकत्ता जाने का मेरा मुख्य उद्देश्य पत्रकारिता न थी प्रत्युत क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो कर देश-सेवा का कार्य करना था। परिवार का खर्च चलाने तथा पुलिस की नजरों से बचने के लिए मैं ने 'हिन्दी बंगवासी' में सहायक सम्पादक का कार्य स्वीकार किया था। 'हितवार्ता' और 'भारतमित्र' के सम्पादन के साथ-साथ चन्द्रनगर की गुप्त समिति का कार्य भी मैं कर रहा था।" पराड़कर जी इस युग के नेता लोकमान्य तिलक के निकट सम्पर्क में भी पहुँचे थे और तिलक उन्हें प्रत्यक्ष राजनीति में खींचना चाहते थे। उन के मामा सखाराम गणेश देउस्कर ने उन के हाथों में गीता और पिस्तौल थमा कर उन का राजनीतिक संस्कार किया था। "उस समय राष्ट्रभक्तों की सेवा-साधना की कसौटी यह थी कि कौन कहाँ तक सशस्त्र राजनीतिक क्रान्ति के साथ संलग्न है।

१. विशाल भारत, अक्तूबर, १९३१।

उस समय का राजनीतिक आदर्श था—हाथ में गीता लिये फांसी के तख्ते पर हँसते हुए चढ़ जाना।" नेशनल कॉलेज, जिस के प्रधानाचार्य श्री अरविन्द थे, उग्र राष्ट्रवादियों और क्रान्तिकारियों का केन्द्र था। देउस्कर जी वहाँ अध्यापन-कार्य करते थे। उन्हीं के प्रेरणा-प्रयत्न से पराड़कर जी और अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी उस कॉलेज में अध्यापक के रूप में आ गये। अपने पत्र-सम्पादन के दायित्व के साथ-साथ ये लोग अध्यापन-कार्य करते थे। उद्देश्य था एक मात्र देश की मुक्ति—देश की सेवा। उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे किसी भी मार्ग को अपनाने के लिए उद्यत थे। अपने अध्यापन-द्वारा वे विभिन्न देशों की मुक्ति की कहानी बताते हुए अपने देश की परवशता की चर्चा कर इस की मुक्ति के लिए विद्यार्थियों में प्रेरणा और आत्मबल का संचार करते थे। बड़े उत्साह से वे अपने महत् दायित्व का निर्वाह कर रहे थे, किन्तु जब उन्हें अपनी उद्देश्य-पूर्ति में व्यवधान दिखाई पड़ा तो इन लोगों ने नेशनल कॉलेज से अपने को अलग कर लिया। सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने अपने संस्मरण लिखते हुए इस प्रसंग की चर्चा इस प्रकार की है, "नेशनल कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी और मेरे मित्र स्व० सखाराम गणेश देउस्कर तथा पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर उस में अध्यापन कार्य करते थे। देउस्कर जी 'हितवादी' छोड़ कर वहाँ गये थे और पराड़कर जी 'हितवार्त्ता' के सम्पादन के साथ-साथ वहाँ हिन्दी और मराठी पढ़ाते थे। उन्हों ने यह प्रयत्न किया कि हिन्दी पढ़ाने का कार्य मैं करूँ।...... मैं ने यह स्वीकार कर लिया। कुछ ही महीनों के बाद पराड़कर जी दो महीने की छुट्टी पर चले गये, इस लिए 'हितवार्त्ता' का सम्पादन-भार भी मेरे ही ऊपर आ पड़ा। 'श्री सनातन धर्म' तो छोटे आकार का पत्र था, पर 'हितवार्त्ता' का आकार बड़ा था। फिर भी दोनों के सम्पादन के साथ ही कॉलेज का काम अनायास ही हो जाता था। क्यों कि जवानी की उम्र थी और अधिक परिश्रम से भी शरीर नहीं थकता था। यही नहीं 'हितवार्त्ता' के काम में अधिक आनन्द मिलता था क्योंकि उस की नीति सर्वथा अपने अनुकूल थी।

१९१० में कॉलेज के अधिकारियों की नयी नीति हम लोगों को पसन्द न थी, इस लिए देउस्कर जी पराड़कर जी और मैं ने बिना कारण निर्देश किये हुए एक साथ पद-त्याग कर दिया।.......गवर्नमेण्ट का दबाव नेशनल कॉलेज पर भी हो गया अस्तु, हम लोग नेशनल कॉलेज से चले आये।[1]"

■

१. पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशाल भारत, सितम्बर १९३१।

कलकत्ते का राजनीतिक हिन्दी मासिक पत्र 'नृसिंह'

'श्री सनातन धर्म' का सम्पादन और नेशनल कॉलेज का अध्यापन-कार्य करने के पहले सन् १९०७ में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने 'नृसिंह' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था और जिस के सम्पादक-संचालक सब-कुछ वाजपेयी जी ही थे। अपने संस्मरण में वाजपेयी जी ने अपने इस पत्र के आविर्भाव की चर्चा इस प्रकार की है, "मेरे पास कुछ रुपये हो गये थे, इस लिए मुझे मासिक पत्र निकालने की सूझी। अनेक मासिक पत्र हिन्दी में निकलते थे परन्तु उन में कोई राजनीतिक पत्र न था, इस लिए इस अभाव की पूर्ति का ठेकेदार मैं बना। पत्र का नाम 'नृसिंह' रक्खा। १९०७ के नवम्बर में पहली संख्या निकली। मैं ही लेखक, सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक, क्लार्क और दफ़्तरी सब-कुछ था। बड़े आग्रह और प्रार्थना पर पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने 'अवतरणिका' और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने 'उद्देश्य' लिखवा दिया था। पं० दुर्गाप्रसाद जी का वीरभद्र देव शर्मा के नाम से एक लेख पण्डितों की चाटुकारिता के सम्बन्ध में बाद को छपा, पर पं० गोविन्दनारायण जी ने फिर कुछ लिखा-लिखाया नहीं।"

प्रकाशन-सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए इसी लेख में वाजपेयी जी ने लिखा है, "रुपये का प्रबन्ध करना, पत्र के लिए काग़ज लाना, छपाना, प्रूफ़ देखना और डिस्पैच करना मेरा ही काम था। इन सब कार्यों से मुझे जितना कष्ट नहीं हुआ, उस से कहीं अधिक आर्थिक चिन्ता से रहा और आफ़त की मार कि आगे भी इस चिन्ता ने मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा। पूँजी तो नहीं के बराबर ही थी इस लिए यह दो-तीन अंकों के लिए भी यथेष्ट नहीं हुई।.........ग्राहक २०० भी नहीं थे और विज्ञापन का प्रायः अभाव ही था और काग़ज़ नदारद। कहाँ से रुपया आवे, जो काग़ज़ लाया जाय? मेरे तथाकथित साझी महाशय ने कुछ भी देना स्वीकार न किया, इस लिए मुझे वह कार्य करना पड़ा जो पहले कभी नहीं किया था।......एक परिचित सज्जन के पास गया, जो मेरे निकट के सम्बन्धी की सहायता किया करते थे। बड़ी देर तक उन के पास बैठा रहा और अन्त में साहस कर के ३०) उधार माँगे। उन्हों ने २०) की एक चेक दी और इसे ले कर मैं काग़ज़ वाले के यहाँ गया और तुड़ा कर काग़ज़ ले आया। राम-राम कर के एक साल पूरा किया और पत्र बन्द कर दिया। एक मित्र ने १००) सहायतार्थ दिये, पर मैं ने सर गुरुदास बनर्जी की बंगला पुस्तिका 'शिक्षा' के हिन्दी भाषान्तर में खर्च कर दिये और 'नृसिंह' सदा के लिए बन्द कर दिया।"

स्पष्ट है कि 'नृसिंह' का प्रकाशन एक वर्ष तक ही हुआ। कहना न होगा कि

नृ सिं ह

मासिक पत्र

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(श्री मद्भगवद्गीता)

भाग १) कलकत्ता, विजयदशमी सम्वत् १०६४ (संख्या १

प्रथम पृष्ठ पर ही 'अवतरणिका' शीर्षक लेख है, जिसे सम्पादक के अनुरोध पर गोविन्दनारायण मिश्र ने लिखा है। हिरण्य कशिपु और भक्त शिरोमणि प्रह्लाद की कथा वर्णित कर लेखक ने 'अवतरणिका' का उपसंहार इस प्रकार किया है, "इस में सन्देह नहीं कि अत्याचार का विशेष बढ़ना, राजा-प्रजा सब के लिए ही परम दुःख-दायी होता है। परिणाम में असम्भव भी सम्भव हो जाता है और भगवान् की विचित्र लीला प्रत्यक्ष देखने में आ जाया करती है। जैसे बाह्य दृश्यों में स्वार्थपरायण प्रबल राजा से सामान्य पशु-पक्षी कीट पतंग तक में अपने स्वार्थ के लिए दुर्बल को सताना हर घड़ी प्रत्यक्ष दिखता, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में कुमति और सुमति, धर्म्म और अधर्म्म के राज्य पर चढ़ाई करने को अपनी-अपनी सेना सहित दिन रात धावा करती ही रहती हैं। जिस के शरीर में जिस प्रकार की वृत्तियाँ विशेष बलवती रहती हैं, उस के अन्तःकरण में उन के अनुसार ही धर्म्म या अधर्म्म का अविचल राज्य स्थापित हो जाया करता है। अटल विश्वास, भक्ति, साधना और उद्यम वा तपस्या से ही राज्य की भित्ति भी सुदृढ़ रूप से स्थापित होती है। अन्तःकरण से सच्चा अनुराग और सच्ची भक्ति के बिना स्वराज्य वा पर राज्य दोनों में एक की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। सुप्रतिष्ठित प्रबल पराक्रान्त राज्य का विनाश भी अदूरदर्शिता, पाशव अत्याचार और विशेष रूप से मदान्ध होने के कारण से ही होता है।"

'नृसिंह' का उद्देश्य

'अवतरणिका' के नीचे 'नृसिंह' के 'उद्देश्य' की विज्ञप्ति है, "यों तो सब ही हिन्दी पत्र राजनीतिक आलोचना के अभिप्राय से प्रकाशित होते हैं, परन्तु वास्तव में

इन में इने-गिने ही हिन्दी पत्र यथाविधि इस उद्देश्य के साधन में तत्पर दिखते हैं। मासिक पत्रों का तो कोई निर्धारित लक्ष्य ही स्थिर नहीं दिखता और न इन के सम्पादक ही निज कर्तव्य पालन में यथायोग्य दत्तचित्त देख पड़ते हैं। एक ही पत्र के किसी अंक में तो राजनीति की भरमार परवर्ती अंक में उपन्यासों का चमत्कार वा 'ऐयारी' का खिलवाड़ साथ ही समाज सुधार का विचार, पुनः विज्ञान का प्रचार साथ ही व्याकरण का संस्कार कभी-कभी वाग्वितण्डा का उपचार और आपस में जूती पैजार का व्यभिचार देखने में आता है। सारांश यह है कि जो नियम उठाया जाता, उस का निर्वाह अन्त तक देखने में नहीं आता। प्रत्येक विषय अधूरा रह जाता और पूरा होने नहीं पाता। हिन्दी पत्रों की ऐसी विचलित विश्रृंखल आलोचनाओं की यथाविधि सांगोपांग समालोचना करना और धीर गम्भीर भाव से आलोचित विषयों की गूढ़ गवेषणापूर्वक मीमांसा करना ही 'नृसिंह' का अन्यतम वा प्रधान पुरुषार्थ है।"

विशेष नियम

'नृसिंह' के विशेष नियम अन्तिम पृष्ठ पर इस प्रकार हैं :

'नृसिंह' के विशेष नियम।

(१) इस का अग्रिम वार्षिक मूल्य २) रुपये है। जिन को नमूने की आवश्यकता हो वे कृपापूर्वक चार आने भेज कर मँगा लें।

(२) सम्पादक लेखकों की सम्मति के उत्तरदाता नहीं हैं।

(३) चिट्ठी-पत्री, रुपया पैसा आदि मनेजर के नाम नीचे लिखे पते पर भेजना चाहिये।

मनेजर, 'नृसिंह',
नं० ७२।३ चासा धोबा पाड़ा स्ट्रीट,
कलकत्ता।

कलकत्ता—नं० ८०।१ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, गोबर्द्धन प्रेस छाप कर नं० ७२।३ चासा धोबा पाड़ा स्ट्रीट से ए० पी० वाजपेयी ने प्रकाशित किया।"

प्रकाशन की उन कठिनाइयों का उल्लेख प्रकाशक-सम्पादक के ही शब्दों में ऊपर किया गया है जिन के चलते किसी तरह 'नृसिंह' एक वर्ष जीवित रह सका। संख्या ११, १२ श्रावण, भाद्र संवत् १९६५ को संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित हुआ था। इस संयुक्तांक की सम्पादकीय टिप्पणी—'हमारा वक्तव्य' में हिन्दी पत्र-पाठकों की रुचि और बौद्धिक धरातल की चर्चा करते हुए पत्र-प्रकाशन-सम्बन्धी अन्य कठिनाइयों का भी सम्पादक ने उल्लेख किया है। उक्त सम्पादकीय वक्तव्य की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं : "हिन्दी पत्रों के पाठकों के मन में पढ़ने-लिखने का चाव बहुत कम रहता है। साधारणतः उन्हें भले-बुरे का ज्ञान नहीं होता, तड़क-भड़क पर ही लोटपोट हो जाते हैं। चित्रों के प्रेमी और समाचारों के पाठक ही हिन्दी में अधिक हैं। विषय

की उत्कृष्टता देख कर बहुत ही कम लोग ग्राहक होते हैं। इसी से साप्ताहिक समाचार पत्रों के ही प्रेमी अधिक मिलते हैं। हिन्दी में अच्छे मासिक के अभाव का यह एक प्रधान कारण है। जब तक किसी प्रेस से ठीक समय पर 'नृसिंह' निकालने का प्रबन्ध न कर लिया जायेगा, तब तक इसे बन्द रखना पड़ेगा। हम नहीं चाहते थे कि एक दिन भी यह बन्द रहे, परन्तु ग्राहकों के तकाजों से हम को ऐसा करना पड़ा। दो ही चार दिन की देर से ग्राहक घबरा जाते हैं और दो-दो तीन-तीन महीने वे कैसे चुप रह सकते हैं? प्रेस का प्रबन्ध होने में भी देर न लगती, पर जब नये प्रेस ऐक्ट से मालवीय जी जैसे आईन के पण्डित डरते हैं, तब साधारण लोगों की क्या बात है? जिस प्रेस में अभी तक 'नृसिंह' छपता था, उस के अध्यक्ष को भी लोगों ने भड़काया परन्तु हमारे बहुत समझाने बुझाने पर किसी प्रकार उन्हीं ने वर्ष पूरा कर दिया। यदि इस से पाठकों या देश का कुछ लाभ हुआ हो तो, या भविष्यत् में होने की सम्भावना हिन्दी साथियों को समझ पड़ेगी, तो नृसिंह भगवान की कृपा से किसी प्रकार हम पुनः कार्य्य क्षेत्र में अवतीर्ण होने की चेष्टा करेंगे।"

'नृसिंह' शब्द का विशिष्ट अर्थ

युगीन परिवेश के आलोक में देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'नृसिंह' के नाम, उद्देश्य और इस के समग्र वैशिष्ट्य में तिलक-युग मुखर है। 'नृसिंह' एक व्यापक अर्थवाची शब्द है। 'नृसिंह' एक नाम है न्याय और औचित्य के रक्षक का। नृसिंहावतार का एक बड़ा प्रयोजन था। अधर्म का, अन्याय और अनौचित्य का निरसन तथा धर्म और सत्य की प्रतिष्ठा के महत् उद्देश्य से नृसिंहावतार सम्भव हुआ था। और तभी से नृसिंह शब्द प्रतीक बन गया औचित्य विधायिनी शक्ति का, जिसे देखते ही न्याय और औचित्य-रक्षा का हमें आश्वास-बोध होता है।

'नृसिंह' का प्रकाशन भी एक बड़े उद्देश्य को ले कर हुआ था। अनेक कठिनाइयों और नाना प्रकार की प्रतिकूलताओं से जूझते हुए भी इस ने अपने दायित्व का निर्वाह किया।

'स्वराज्य की आवश्यकता' : तिलक युग के भारत की राजनीतिक क्षुधा

हम ने ऊपर चर्चा की है कि लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया था और पूरे देश में स्वराज्य की भूख उत्पन्न की थी। 'नृसिंह' अंक ४ का पहला लेख है, 'स्वराज्य की आवश्यकता'। इस लेख की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"स्वराज्य की आवश्यकता भारतवासियों को इसलिये है कि विदेशी सरकार उन के अभाव-अभियोगों के समझने में असमर्थ है। यदि आज यहाँ स्वराज्य होता, तो लाखों हिन्दुस्थानी दुर्भिक्ष के कारण दाने-दाने को तरस कर प्राण न गँवाते......

स्वराज्य के अभाव से ही प्रतिवर्ष ४५ करोड़ रुपये इस दरिद्र देश से इंगलैण्ड चले जाते हैं ! और इस के बदले भारत में एक कानी कौड़ी तक नहीं आती; जहाँ पाँच करोड़ मनुष्यों को साल भर में एक समय भी पेट भर कर भोजन नहीं मिलता, जिस के पास जाड़े में रात को ओढ़ने के लिये कम्बल तक नहीं है, जहाँ के करोड़ों किसान अरहर, उड़द, चना और मूँग बोते हैं पर उस के स्वाद से नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं, जिन्हें टैक्स देने के लिये बाध्य हो कर अन्न बेचना पड़ता है, जहाँ के शासक शासितों से सहानुभूति नहीं रखते, उस देश की विपत्तियों की तुलना किस से हो सकती है……
ऐसी स्थिति में स्वराज्य के बिना भारत की गति ही नहीं है। जिस प्रकार रोगी को औषधि की, भूखे को अन्न की और दरिद्र को धन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भारत को स्वराज्य की आवश्यकता है। भारतवासियों के लिये दो ही मार्ग हैं। चाहे वे स्वराज्य लाभ कर अपना मनुष्यत्व बनाये रक्खे अथवा जंगली मनुष्यों की भाँति पशुओं की श्रेणी में सम्मिलित हो जायँ। दोनों बातें भारतवासियों के अधीन हैं।"

इसी अंक के दूसरे लेख 'परदेशी भारतवासी' में सम्पादक श्री पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी ने देशवासियों का आह्वान किया है : "आओ समस्त देशवासियो हम लोग—उपनिवेश और उस के पिट्ठू इंगलैण्ड की वस्तुओं का बहिष्कार करें, जिस से उन्हें जान पड़े कि हिन्दुस्तानी निरे मुर्दे नहीं हैं। हम लोग दिखा दें कि हम आत्माभिमानी हैं और तुम्हें तुम्हारे पाप कर्मों का फल चखाने को बद्ध परिकर हैं। मद्राज ने इस विषय का श्री गणेश किया है। जो प्रान्त वा प्रदेश इस समय अपने कर्तव्य से च्युत होगा, इस का नाम सदा के लिये कलंकित हो जायगा।"

१९०६ की कलकत्ता कांग्रेस में पं० मदनमोहन मालवीय ने देश की ग़रीबी और देशी उद्योग-धन्धों के पिछड़े होने का कारण बताते हुए कहा था कि "हमारे देश का कच्चा माल देश से बाहर चला जाता है और विदेशों से तैयार हो कर उस का माल हमारे पास आता है। अगर हम स्वतन्त्र होते तो ऐसा न होने देते। उस हालत में हम भी उसी प्रकार अपने उद्योगों का संरक्षण करते, जिस प्रकार कि सब देश अपने उद्योगों की शैशवावस्था में करते हैं।" श्री तिलक ने कहा था कि "हमारे अन्दर स्वावलम्बन, दृढ़-निश्चय और त्याग की भावना होनी चाहिए।" और 'नृसिंह' के अंक ४ में प्रकाशित सम्पादकीय लेख की एक पंक्ति इस प्रकार है : "स्वराज्य होने का पहला लाभ यही है कि स्वराज्य प्राप्त जाति अपनी सुविधा से वाणिज्य, व्यापार के लिये आईन कानून बना सकती है और इस प्रकार देश की आर्थिक उन्नति का मार्ग उन्मुक्त कर सकती है।"

काँग्रेस का गरम दल और 'नृसिंह' की नीति

सन् १९०७ में सूरत अधिवेशन के समय काँग्रेस में प्रकट रूप से दो दल हो गये। दोनों की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार उन्हें गरम दल और नरम दल नाम दिया

गया। एक के नेता तिलक, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, लाला लाजपत राय आदि थे; दूसरे के अर्थात् नरम दल के थे गोखले, फ़िरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और डॉ० रासविहारी घोष इत्यादि। निवेदन किया जा चुका है कि 'नृसिंह' की नीति गरम दल के निकट थी। अंक ३ में 'राष्ट्रीय और धृतराष्ट्रीय' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था जिस में गरम दल को राष्ट्रीय और नरम दल को 'धृतराष्ट्रीय' कहा गया है। दोनों के अन्तर की चर्चा करते हुए पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है, "संक्षेप में 'धृतराष्ट्रीय' पक्ष का सिद्धान्त यह है, कि ये विनती करने के सिवा कुछ न करेंगे। 'राष्ट्रीय' पक्ष स्वदेशी वहिष्कार द्वारा देश को आर्थिक उन्नति करेगा और सरकार के आँख कान करने के लिये अप्रत्यक्ष वा परोक्ष प्रतिकार का अवलम्बन करेगा, परोक्ष प्रतिकार में गला घोटू आईन न मानेगा। स्वावलम्बन इस का मूल मन्त्र है।"......
हमारा विश्वास है कि प्रत्येक कार्य्य में दो पक्ष होने से हानि के बदले लाभ ही होता है। दो पक्ष होने से कार्य्य नष्ट होने का विचार जिन के मस्तिष्क में समाया है, वे विचारे संसार के राजनीतिक इतिहास के विषय में बॉवावसंत ही हैं...... जिस प्रकार किसी मनुष्य की आँख में फूली या माड़ा पड़ जाता है और विना दूसरे के बताये उसे अपनी आँख की दशा का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्य्य का दोष न दिखना भी स्वाभाविक है। इस के अतिरिक्त ये तो धृतराष्ट्रीय ही ठहरे, इन्हें आँख वाले की सदा ही आवश्यकता बनी रहती है। उन्नति के लिये दो वा अधिक पक्षों का होना अत्यानन्द का विषय है।"

'नृसिंह' की जातीय दृष्टि

श्री तिलक ने अपने देशवासियों से कहा था कि प्रत्येक जातीय प्रयत्न के औचित्य के प्रति आश्वस्त रहना अत्यन्त आवश्यक है। कोई राष्ट्रीय कार्य सम्पन्न कर उस के औचित्य के प्रश्न को ले कर द्विविधा अथवा विकल्प में पड़ना दुर्बल इच्छा-शक्ति का सूचक है। कलकत्ता के बैरिस्टर मि० ए० सी० बनर्जी की ऐसी ही दुर्बलता को लक्ष्य कर अंक २ में एक सम्पादकीय टिप्पणी इस प्रकार है—"आज कल जिन लोगों ने 'येनकेन प्रकारेण' प्रसिद्धि प्राप्त करना ही अपना मुख्य उद्देश्य मान रक्खा है, उन में यदि कलकत्ते के वारिष्टर मि० ए० सी० बनर्जी की भी गणना कर ली जाय तो कुछ अनुचित नहीं है। अपनी व्याख्यान रत्नमाला के कारण उन्हें सर्वसाधारण की दृष्टि में जितना हेठा लालची और स्वार्थी प्रमाणित होना पड़ा है उसे लोग भलीभाँति जान गये हैं।......यदि वे चुपचाप वारिष्टरी करते रहते और राष्ट्रीय पक्ष में सम्मिलित हो कर ओजस्विनी वक्तृता देने में सीमातिरिक्त छलांग न मारते, तो कदाचित् उन्हें इस प्रकार लांछित और अपमानित भी न होना पड़ता। हम नहीं चाहते कि कोई राजद्रोही वक्तृता दे फिर क्षमा प्रार्थना कर अपने देशवासियों के सत्कार्य को असत् सिद्ध करे। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन को कलंकित करना अच्छा नहीं।

मि० बनर्जी वारिष्टर हैं। वक्तृता के समय उन्हों ने अवश्य उस का परिणाम समझ लिया होगा। पर फिर थूक कर क्यों चाटा? जो लोग राष्ट्रीय आन्दोलन के निमित्त कष्ट उठाने से भागते हैं उन्हें उस से दूर रहना चाहिये। क्योंकि मि० मौर्ली स्वयं कहते हैं कि इस में बहुत दुःख झेलने पड़ेंगे। जो लोग इस आन्दोलन का कार्य्य किया चाहें, उन से हम प्रार्थना करते हैं कि पहले तो अपना जी तौल लें तब इस समुद्र मन्थन में सम्मिलित हों, क्यों कि उस में किसी न किसी दिन अवश्य विष निकलेगा और उसे देख, डर कर मैदान छोड़ भागना पुरुष का कार्य्य नहीं है।"

'मराठा' के सम्बन्ध में हम ने ऊपर लिखा है कि ऐंग्लो इण्डियन पत्रों के भारत और हिन्दू-विरोधी प्रचार का निरास करना 'मराठा' अपना दायित्व समझता था। 'नृसिंह' भी ऐंग्लो इण्डियन पत्रों की विषैली टिप्पणियों पर दृष्टि रखता था। 'नृसिंह' के प्रथम अंक में ही इस विषय को लक्ष्य कर एक सम्पादकीय टिप्पणी है जिसे यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है :

"अँगरेज कुत्तों के प्रेमी होते हैं पर हिन्दुस्तानी उन से घृणा करते हैं। हिन्दू मुसलमानों के यहाँ कुत्ते से छू जाने पर केवल स्नान ही नहीं वरन् कपड़े तक धोने की विधि है, पर अंग्रेज कुत्तों के मुँह से मुँह मिलाने में भी तनिक नहीं हिचकते। अंग्रेजी सभ्यता के रक्षक कुत्तों ने आजकल बहुत तंग कर रखा है; क्यों कि अभी तक तो निष्प्रयोजन दिन रात ये भूँका ही करते थे, पर अब काटने को भी मुँह खोलने लगे हैं। हाल में 'लण्डन टाइम्स' और 'इंगलिश मैन' ने इस का आभास दिया है। हम इस विषय में कुछ कहना नहीं चाहते थे पर ज्यों ज्यों हम लोग तरह देते जाते हैं, त्यों त्यों ये नरो चवाने दौड़ते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इंगलिश मैन का न्यू मैन टाइम्स का सम्वाददाता है। इस ने टाइम्स में एक पत्र छपाया, जिस में लिखा है कि जिन हिन्दू विधवाओं से मुसलमानों ने निकाह कर लिया था, वे इस से बड़ी प्रसन्न हुई थीं। क्यों कि हिन्दू विधवाओं की बड़ी दुर्दशा होती है; उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिये जाते हैं। 'इंगलिश मैन' ने भी मि० हार्डी को उपदेश देते हुए ऐसी ही बातें कहीं हैं, पर उन्हों ने इस का विचार नहीं किया कि हिन्दू और अंग्रेज स्त्रियों में आकाश पाताल का अन्तर है। अंग्रेज स्त्री के लिये पातिव्रत वैसा ही है जैसे बन्दर के लिये अदरक का स्वाद। पति के मरते ही उसे पुनर्विवाह की पड़ जाती है। लोग उस के पीछे दौड़ने लगते हैं, और शीघ्र ही उस का विवाह हो जाता है। अंग्रेज स्त्रियों का विवाह रोटी-कपड़े के लिये और हिन्दू स्त्रियों का विवाह परलोक सुधारने के लिये होता है। विधवा हो जाने पर ये निज इच्छा से विलासिता के पदार्थ त्याग देती हैं। पर अंग्रेज स्त्रियाँ पुनर्विवाह की अभिलाषा से विशेष बन ठन कर निकलती हैं। हम अंग्रेजों को चिताये देते हैं, कि यदि वे इन कुत्तों को न बाधेंगे, तो अन्त में पछतावे के सिवा कुछ हाथ न लगेगा।"

युग के नेता के आदर्शों का 'नृसिंह' में आनयन

कहना न होगा कि इस युग के सम्पादक युग के नेता के आदर्शों के आधार पर ही अपनी नीति का निर्धारण करते थे। इस युग के लोकनायक अपनी प्राचीन परम्परा और हिन्दू धर्म के प्रति आस्थावान् थे। अरविन्द ने कहा था, "पराधीनता का प्रधान आधार है जाति का स्वधर्म नाश और परधर्म सेवा, यदि पराधीन अवस्था में हम स्वधर्म की रक्षा कर सकें या स्वधर्म को पुनरुज्जीवित कर सकें तो फिर पराधीनता का बन्धन अपने-आप खुल जायेगा—यह प्रकृति का अलंघनीय नियम है। अतएव यदि कोई जाति अपने दोष से पराधीनता में जा पड़े तो अविकल और पूर्णांग स्वराज्य ही उस का प्रथम उद्देश्य और राजनीतिक आदर्श होना चाहिए।[1]" नये राष्ट्रोद्धारकों की चर्चा करते हुए श्री अरविन्द ने एक दूसरे स्थल पर विश्वास प्रकट किया था कि "यह नवीन सन्तति जो कुछ करने के लिए अभी है वह पूरा किये बिना नहीं जा सकती। अवश्य ही इस नवीन के अन्दर भी पुरातन का प्रभाव विद्यमान है।......नवीन लोगों के भीतर सत्य युग के प्राकट्य का एक अपूर्व लक्षण दिखाई दे रहा है और वह यह है कि उन की धर्म में मति है, और बहुतों के हृदय में योग-लिप्सा और धर्म-विकसित योग शक्ति विद्यमान है।[2]" नये लोगों को सुझाव देते हुए श्री अरविन्द ने कहा था, "हमारे लिए जैसा समय और जैसी अवस्था उपस्थित हुई है उस को देखते हुए हमारा इस समय प्रधान कर्तव्य हो गया है—रजः और सत्व यानी प्रवृत्ति और ज्ञान को जगा कर, तम का वर्जन कर के देश की सेवा और जगत की सेवा के लिए अपनी जाति की आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक बल को पुनरुज्जीवित करना।[3]" प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति श्री तिलक ने अपनी धारणा इस प्रकार प्रकट की थी, "हमारी धर्म और ज्ञान की परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। धर्म और ज्ञान के सम्बन्ध में हमारी परम्पराएँ अन्य किसी भी देश से घटिया नहीं, अपितु उत्कृष्ट ही होंगी। यदि हम उन परम्पराओं को छोड़ दें तो हमारी जाति को परस्पर जोड़ने का कोई साधन न रहेगा। प्राचीन मान्यताओं को तोड़ने का परिणाम यह होगा कि जाति का शीराजा बिखर जायेगा। हमें सदा यह बात याद रखनी चाहिए।[4]" 'नृसिंह' की मूल ध्वनि इन्हीं उपरोक्त स्वरों की प्रतिध्वनि है।

औचित्य का विचार छोड़ कर ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय नेताओं पर तरह-तरह के आरोप लगा कर उन्हें यन्त्रणा देती और उन की जातीय शक्ति को कुण्ठित करने की कुटिल चेष्टा करती रहती थी। तिलक, लाला लाजपत राय और श्री अरविन्द पर

१. श्री अरविन्द : 'धर्म और जातीयता', पृ० ८८-८९।
२. श्री अरविन्द : 'धर्म और जातीयता', पृ० ६३।
३. वही, पृ० १२।
४. इन्द्र विद्यावाचस्पति : 'लोकमान्य तिलक और उन का युग', पृ० १४१।

ग़लत आरोप लगा कर उन्हें कड़ी सज़ा दी गयी थी। पराधीनता की सब से बड़ी यन्त्रणा यह थी कि ब्रिटिश सरकार न्याय का गला घोंट कर भारतीयों को तरह-तरह से पीड़ित करती थी ताकि उन की शक्ति टूट जाय और परवशता-मुक्ति की कामना उन के मन में कभी न उठने पाये। कहना न होगा कि सरकारी दमन-नीति का परिणाम भारत के हक़ में अच्छा हुआ। तिलक पर लगाये गये आरोपों की असत्यता विज्ञस थी। मोतीलाल घोष महाशय, जो तिलक के विश्वासपात्र व्यक्तियों में थे, ने तिलक को सुझाव दिया था कि सरकार से समझौता कर मामले को आगे न बढ़ने देने में ही बुद्धिमानी है। घोष महाशय के पत्र का उत्तर देते हुए श्री तिलक ने लिखा था, "लोगों में मेरी जो प्रतिष्ठा है, उस का आधार मेरा चरित्र है। इस राजनैतिक अभियोग में डर जाना, मेरे लिए लज्जास्पद होगा। यदि मैं दब गया तो मेरे लिए पूना में रहूँ या अण्डमान में दोनों एक ही-से होंगे। यदि हमें राजनीति में भाग लेना है तो ऐसे संकटों के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए। सरकार का उद्देश्य हमें जनता की दृष्टि में गिराना है, परन्तु मुझे विश्वास है कि वह झुकाने में सफल नहीं होगी। वह हमें ऐसा कच्चा बाँस न पायेगी कि ज़रा से बोझ से टूट जाये। हमें यह भी तो याद रखना चाहिए कि अन्त में हम किसी हद तक जनता के सेवक ही तो हैं। यदि नाज़ुक समय आने पर हम लोग भाग निकलेंगे तो यह जनता के साथ विश्वासघात और द्रोह ही तो माना जायेगा। यदि मुझे सजा हुई तो देशवासियों की जो सहानुभूति मुझे प्राप्त होगी, वही मुझे सहारा देगी।" तिलक की इस आस्था का परिणाम था पूरे देश का सक्रिय सहयोग। 'सन्ध्या'-सम्पादक ब्रह्मबान्धव उपाध्याय पर भी राजद्रोह का आरोप लगाया गया था। 'सन्ध्या' के प्रकाशकीय, संचालकीय, और व्यवस्थापकीय का सम्पूर्ण दायित्व उपाध्याय महाशय ने स्वीकार कर लिया था। अरविन्द घोष पर भी राजद्रोह का अभियोग लगाया गया था जिस की चर्चा 'नृसिंह' के अंक ४ में 'श्रीयुत अरविन्द घोष' शीर्षक लेख में इस प्रकार है—"गत अगस्त महीने में जब कलकत्ते के 'वन्दे मातरम्' पत्र पर राजद्रोह का अभियोग चला, तब पुलिस ने अरविन्द बाबू को सम्पादक बता कर अदालत में धर घसीटा। ज्योंही इन्होंने सुना कि इनको पकड़ने के लिये वारंट निकला है, त्योंही ये चुपचाप थाने चले गये। जिस प्रकार चिड़िया फँसाने के लिये चिड़ीमार के बड़े-बड़े यत्न निष्फल हो जाते हैं, वैसे ही पुलिस और मैजिस्ट्रेट के सब यत्न निष्फल हुए और पुलिस अपना-सा मुँह लिये रह गयी। इस देश में जितने राजद्रोह के मामले हुए प्रायः सब में अभियुक्त अपराधी प्रमाणित करके जेल में ठेल दिये गये हैं। पर जिस प्रकार घोष महाशय के मामले में पुलिस फिट्टी पड़ी और मैजिस्ट्रेट को हाथ मलने पड़े, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था।" इसी प्रकार जब लाला लाजपत राय और सरदार अजीत सिंह जेल से मुक्त हुए उस समय 'नृसिंह' ने टिप्पणी करते हुए लिखा था कि "जिन्होंने रावलपिण्डी के हंगामे का ब्योरा ध्यान देकर पढ़ा है, उन्हें स्मरण होगा कि उसमें लाला लाजपत राय और सरदार अजीत सिंह को बलवाई प्रमाणित

करने की लेश मात्र भी कसर नहीं की गयी थी। यदि अधिकारी लोग स्वीकार कर लेते कि ये निर्दोषी हैं तो उनके प्रताप अर्थात्, 'प्रेष्टिज' घट जाने की सोलहों आने सम्भावना थी। इससे सम्राट् के जन्मोत्सव के बहाने वे छोड़े गये।"

अँगरेजों की संकीर्ण न्याय-व्यवस्था

अँगरेजों की न्याय-व्यवस्था कितनी संकीर्ण और पक्षपातपूर्ण थी; यह सभी जानते हैं। 'नृसिंह' के अंक–२ की एक सम्पादकीय टिप्पणी इसी सन्दर्भ में द्रष्टव्य है—"रावलपिण्डी में एक हिन्दू अबला पर बलात्कार करके जिस प्रकार गोरा अपराधी मूर बेदाग छूट गया, तथा हिन्दुस्थानी नौकर की हत्या करके जिस प्रकार मि० ष्टलिंग को केवल छः महीने की सपरिश्रम जेल के साथ दो सौ रुपये देकर ही प्राण बचाने की आज्ञा मिल गयी, उससे भारतवासियों के चित्त में दृढ़ विश्वास हो गया है कि आईन कानून की कड़ाई भारतवासियों के लिये ही हैं। यदि अंग्रेजी सरकार काले-गोरे के लिये एक ही ढंग की विचार-व्यवस्था रक्खेगी, तो असन्तोष घटेगा। इसका क्या कारण है कि विलायती मनुष्यों का विचार उनके भाई बन्धु करें और साधारण प्रजा की भांति मजिष्ट्रेट उनका विचार न कर सके? फिर जेल में यूरपियनों के रहने के लिये ससुराल सा प्रबन्ध क्यों किया जाय? हिन्दुस्थानी अपराधियों की भाँति उनसे तेल क्यों न पिरवाया जाय? या मक्का क्यों न पिसवायी जाय? क्या ही अच्छा होता कि सरकार इन दोनों प्रकार के अपराधियों के लिये एक ही आईन क्यों न कर देती? कितने ही विदेशियों का भी विश्वास है कि जूरी के कारण ही गोरे निर्दोष प्रमाणित हो जाते हैं।[1]"

इसी गोरे-काले भेद को लक्ष्य कर पण्डित ब्रह्मबान्धव उपाध्याय के सम्बन्ध में 'नृसिंह' के पहले ही अंक में एक टिप्पणी इस प्रकार है—"प्रारब्ध से ससुराल भी अच्छी मिलती है। आज कल सन्ध्या के पण्डित ब्रह्मबान्धव उपाध्याय की प्रारब्ध अच्छी नहीं जान पड़ती। क्यों कि उन की ससुराल से सिविल मिलिटरी गजट के मि० ष्टलिंग की ससुराल में बड़ा अन्तर है। ससुराल में उपाध्याय जी के 'हाथ में खुरपी, बगल में खारा' होगा, पर ष्टर्लिंग की ससुराल तो निःसन्देह 'सुख की सार' ही होगी। पुलिस कोर्ट के 'वेटिंग रूम' में उपाध्याय को न बैठने देना तथा काले लड़के के खून का अपराध लगने पर भी ष्टलिंग का फिटन पर चढ़ कर जेल जाना इस का पक्का प्रमाण है। यद्यपि गोरे जूरियों की सहायता से यदि ष्टलिंग निर्दोष प्रमाणित हो जावें

---

१. "अमरावती काँग्रेस के अध्यक्ष श्री शंकर नायर बहुत बड़े वकील थे। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में तिलक-अभियोग के सम्बन्ध में दो दोष बतलाये। एक दोष तो यह था कि सभ्य जगत् के नियम के अनुसार जूरी के सब सदस्य भारतीय होने चाहिए थे, जो नहीं रखे गये। दूसरा दोष यह था कि यदि विलायत में तिलक को सजा मिली होती तो उन के साथ साधारण कैदियों-जैसा सलूक न किया जाता।"—लोकमान्य तिलक और उन का युग, पृ० ११०-१११।

तो किसी को आश्चर्य नहीं हो सकता। यदि दण्ड भी हुआ, तो ससुराल में मि० ष्टलिंग अपने सुख के दिन वितावेंगे।"

इस प्रकार अंगरेजों की स्वार्थपरक न्यायव्यवस्था से क्षुब्ध हो कर 'नृसिंह'-सम्पादक पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा था, "जिस देश में लिखने और बोलने की स्वतन्त्रता नहीं है, जहां देशभक्त राजद्रोही समझे जाते हैं और बिना अपराध ही निर्वासित कर दिये जाते हैं, जहां विचारक शासक बन बैठते हैं, जहां भलेमानस देशनायक चोर-डाकुओं से भी गये बीते समझे जाते हैं, वहां जो न हो वही आश्चर्य है।" जब कि लिखने और बोलने की स्वतन्त्रता नहीं थी तब औचित्य के आग्रह के चलते इतनी कड़ी बात कहना निरापद न था, किन्तु ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि इन पत्रकारों के लिए पत्रकारिता पेशा नहीं बल्कि देश-सेवा का एक माध्यम थी।

चूंकि 'नृसिंह' एक राजनीतिक पत्र था, इस लिए इस में अन्य विषयों का समावेश किंवा चर्चा सम्भव न थी। छबीलदास (मधुर) की कविताएँ प्रायः इस में छपती थीं। अंक ३ में एक कविता है—'जननी की पुकार', जिस की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"सम्पत्ति मेरे घर से अपार।
हैं ले गये लूट अनेक बार॥
रोती न हूँ मैं इस बात से भी।
वो हैं मुझे ख्याल न स्वप्न में भी॥
ये बाल मेरे मरते अकाल।
होता मुझे है इनका ही ख्याल॥
आलस्य मेरा घर हो गया है।
होता मुझे कष्ट वही सदा है॥
ये पुत्र मेरे अति ही मलीन।
हा! हो गये हैं पुरुषार्थ हीन॥

× × ×

हा! हा! इन्होंने सब खो दिया है। तो भी न आती इनको हया है।
भिक्षाटनों से निज तृप्त धार। 'दे दान दाता' कहते पुकार।
है वृत्ति ऐसी नित ही जिन्हों की। हो मुक्ति कैसे दुःख से उन्हों की।
आत्माभित्यागी जबलों न होंगे। स्वातंत्र्य भोगी तब लों न होंगे।
होंगे जभी ये निज स्वत्वधारी। होगा तभी दुःख विनाश भारी॥
ये आँसु मेरे तब ही थमेंगे। मेरे जभी पुत्र 'स्वराज्य' लेंगे॥"

इन की एक दूसरी कविता अंक ५ में प्रकाशित हुई है—'परामर्श', इस की बीच की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"दासत्व को दो अब छोड़ भाई। जानो इसी में अपनी भलाई॥
आर्य्यत्व का नाम नहीं लजाओ। श्वेतांग पैरों पड़ना भुलाओ॥

छोड़ो अभी तो इस पालसी को। झूठे हितैषी बनना न सीखो ॥
सच्चे हितार्थी जब ही बनोगे। देशी जनों का तब मान लोगे ॥
'दाता दिला दो' यह मंत्र छोड़ो। गौरांग चेले बनने न दौड़ो ॥
जोड़ो न मित्रों निज नाम साथ। सी० आइ० ई० की दुम तीन हाथ ॥"

काव्य-मर्मज्ञ निश्चय ही इसे श्रेष्ठ कोटि की कविता नहीं मानेंगे तथापि इस में सन्देह नहीं कि युगीन चेतना की दृष्टि से देखने पर इस का अपना एक महत्त्व है। बात चाहे पद्य में कही गयी हो या गद्य में, उस जमाने के लिए यह एक कड़ी बात तो थी ही और जाहिर है कि कड़ी बात कहने का साहस सब में नहीं होता, इस लिए भी इन का महत्त्व असन्दिग्ध है।

ऐंग्लो इण्डियन पत्रों के अनौचित्य का निरास

ऐंग्लो इण्डियन और अँगरेजी पत्रों का जवाब देने में 'नृसिंह' कितना सचेत था, इसे दिखाने के लिए पहले एक सम्पादकीय टिप्पणी उद्धृत की गयी है। देशी पत्रों के अराष्ट्रीय स्वर का भी विरोध वह खुल कर करता था। अंक ३ की टिप्पणी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"आजकल देश में जितने उपद्रव होते हैं, ऐंग्लो इण्डियन पत्र सम्पादकों की कृपा से वे सब राजनीतिक साँचे में ढल जाते हैं। पर इन सब से अधिक हम को इस बात से दुःख होता है कि कभी कभी हमारे देशवासी भी उन्हीं की हाँ में हाँ मिलाने लगते हैं। यदि गोरे पत्र सम्पादक नित नयी आविष्क्रियाओं में अपने चिर अभ्यस्त अस्त्र प्रयोग करें, तो किसी को आश्चर्य करने का स्थल नहीं है। पर जब मेल की दुन्दुभी बजा कर देशी सम्पादक ऐसा घृणित कर्म्म करते हैं तब हमें हत-भाग्या जन्मभूमि के भाग्य में सुख के दिन बहुत दूर जान पड़ते हैं। क्यों कि गोरों और कालों का विपरीत स्वार्थ है, जिस में हमारी हानि है इस में उन का लाभ है। ऐसी दशा में हमारे देशवासियों का कर्त्तव्य है कि अपनी जलन मिटाने के लिये वे अपने भाई को शत्रु के हवाले करके गंगदत्त मेंढक का अनुसरण न करें।"

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

देश की एकता को क़ायम रखने के लिए एक सामान्य भाषा के रूप में किसी देशी भाषा की प्रतिष्ठा का प्रश्न स्वातन्त्र्य-संग्राम के साथ ही उठा था। राष्ट्र के सच्चे उन्नायकों ने हिन्दी का पक्ष-समर्थन किया था। राष्ट्रभाषा का प्रश्न चूँकि राजनीति के साथ सम्पृक्त हो गया था इस लिए प्रत्येक राजनीतिक उपक्रम के साथ ही इस प्रश्न की ओर भी ध्यान दिया जाता रहा है। 'नृसिंह' ने भी इस प्रश्न को उठाया था। पहले ही अंक में प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा' शीर्षक सम्पादकीय लेख के उपसंहार का एक स्थल इस प्रकार है—

"जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते, वे न तो कॉंग्रेस में जाते हैं और न उस के उद्देश्यों को ही भलीभाँति समझते हैं। गत दिसम्बर में जो काँग्रेस कलकत्ता में हुई थी, उस की बैठकों में अंग्रेजी न जानने वाले अनेक मारवाड़ी भी उपस्थित होते थे। पर अंग्रेजी की उपयुक्त योग्यता न होने के कारण, उन्हें वहाँ कुछ आनन्द न मिलता था। अन्त को हिन्दी समाचार पत्रों द्वारा जो कुछ थोड़े बहुत समाचार मिले, उन पर ही उन्हें सन्तोष करना पड़ा। यदि आज समस्त भारत के लिये सार्वजनिक अथवा राष्ट्रभाषा होती, तो विदेशी व्यापार में लिप्त मारवाड़ी भी देश की दुर्दशा का समस्त वर्णन अपने कानों सुन कर परिणाम में सत्यनाशी विदेशी वाणिज्य को तिलांजलि दे देते। इस के सिवाय समस्त देश में एकता उत्पन्न करने के लिये जिन तीन बातों की आवश्यकता होती है, उन में सार्व्वजनिक भाषा ही प्रधान है। हमारा यह सिद्धान्त कदापि नहीं है कि इन तीन बातों के बिना एकता सम्पादित नहीं हो सकती। वरंच यदि किसी प्रकार से समस्त देश में सार्व्वजनिक भाषा कर सकें तो हमारा कार्य्य बहुत ही सरल हो जाय। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में परस्पर प्रेम और सहानुभूति के जो अंकुर उगे हैं वे विशेषतः विद्वन्मण्डली से ही परिविष्ट हैं। अब समय आ गया है, कि समस्त भारतवासी विद्वान अथवा मूर्ख तन, मन, धन से स्वदेशोन्नति के लिये कमर कस कर खड़े हो जायँ। पर सर्व्वसाधारण को जगाने का काम विदेशी भाषा से कभी सम्पन्न नहीं हो सकता, उस के लिए राष्ट्रभाषा का प्रयोजन है।.......... पर 'राष्ट्रभाषा' की गद्दी सब को नहीं दी जा सकती, वह एक को मिलेगी। समस्त भारत के ३० करोड़ मनुष्यों में ६ करोड़ मनुष्यों की मातृभाषा हिन्दी है। यदि इस में मुसलमानी हिन्दी बोलने वालों की संख्या भी जोड़ दी जाय, तो आठ करोड़ मनुष्यों की मातृभाषा हिन्दी हो जाती है। शेष २२ करोड़ मनुष्य मिल कर १० भाषायें बोलते हैं। पंजाबी और गुजराती भाषाएँ हिन्दी से बहुत मिलती जुलती हैं, दोनों प्रान्तों के निवासी हिन्दी भली भाँति समझते हैं।"

इसी प्रश्न के दूसरे पक्ष की चर्चा की गयी है अंक ३ में। 'राष्ट्रभाषा' शीर्षक लेख का एक स्थल इस प्रकार है : "कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्र संस्कृत प्रश्नों का उत्तर बंगाक्षर में लिखते हैं और बंग देश के पण्डित भी संस्कृत पुस्तकों को बंगाक्षर में ही छपाते हैं। चाहे समस्त भारतवासी राष्ट्र भाषा की उपयोगिता स्वीकार कर लें, पर कुछ बंगालियों की डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग ही पकेगी। कुछ दिन हुए, महमहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने इस का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाया था। देव-नागराक्षर के विस्तार के निमित्त विश्वविद्यालय की बैठक में हाईकोर्ट के विज्ञ विचार-पति श्रीयुत शारदा चरण मित्र महाशय ने जब प्रस्ताव किया था कि छात्र संस्कृत प्रश्नों का उत्तर बंगाक्षर में न लिख कर देवनागराक्षर में लिखा करें, तब उक्त शास्त्री जी की ही कृपा से यह प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ था। पन्द्रहवीं शताब्दी में श्री चैतन्य महाप्रभु ने बंग साहित्य को जीवन प्रदान किया था। जिन 'कीर्तनों' को उन्हों ने

सर्वसाधारण में आदरणीय बनाया था, वे उन के पहले भी विद्यमान थे। . इन के रचयिता विद्यापति आदि मैथिल कवि थे, जिन को बंगाली लोग अपने कवि बताते हैं।" बंगालियों का यह दावा एक विषयान्तर चर्चा का विषय है। यहाँ तो इतना ही निवेदन करना है कि ज्ञान के आधुनिक आलोक को जितनी त्वरित गति से बंगालियों ने अपनाया और राष्ट्रीय प्रश्नों का जितना सहज समाधान इन्हों ने प्रस्तुत किया वह एक असाधारण महत्त्व की बात है। हिन्दी का पक्ष-समर्थन भी सब से पहले बंगाल ने ही किया था। कहना न होगा कि देश में एकता लाने और देशोत्थान के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता को सब ने महसूस किया था हिन्दी की शक्ति से वे परिचित थे। आधुनिक भारत के पिता राजा राममोहन राय से ले कर श्री अरविन्द तक जितने महापुरुष हुए सब ने खुल कर हिन्दी का समर्थन किया।[1] इन्हीं में एक महापुरुष थे जस्टिस शारदाचरण मित्र जिन्हों ने बंगाक्षर के

---

१. (क) राजा राममोहन राय हिन्दी की शक्ति से भली प्रकार परिचित थे और उसे उन्हों ने अपेक्षित महत्व दिया था। बंगला, फारसी और अँगरेजी में निकलने वाले राजा साहब के पत्र 'बंगदूत' में हिन्दी को भी स्थान प्राप्त था। राजा साहब-द्वारा हिन्दी के पक्ष-समर्थन का बंगालियों पर गहरा असर पड़ा।

(ख) ब्रह्मानन्द केशव चन्द्रसेन ने स्पष्ट कहा था कि "यदि भारतवर्ष के एक हुए बिना भारत में एकता नहीं हो सकती, तो उस का उपाय क्या है? उपाय है सारे भारत में एक ही भाषा का व्यवहार। अभी जितनी भाषाएँ भारत में प्रचलित हैं, उन में हिन्दी भाषा लगभग सभी जगह प्रचलित है। इस हिन्दी भाषा को अगर भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनाया जाय, तो यह काम सहज ही और शीघ्र सम्पन्न हो सकता है।"

(ग) बंकिम बाबू ने 'बंगदर्शन' में 'भारते एकता' शीर्षक लेख लिखा था जिसे 'भारतमित्र' में बाबू बालमुकुन्दगुप्त ने १९०४ में उद्धृत किया था। उस लेख के अन्त में बड़े साफ शब्दों में बंकिम बाबू ने लिखा था, "अँगरेजी भाषा से चाहे जो हो, लेकिन हिन्दी सीखे बिना हर्गिज नहीं चल सकता। हिन्दी भाषा में किताब और भाषण से भारत के अधिकांश का मंगल होगा। केवल बंगला और अँगरेजी की चर्चा से यह नहीं होने का... बंगला-जैसी हिन्दी की जो उन्नति नहीं हो रही है, यह देश के लिए दुर्भाग्य की बात है। हिन्दी भाषा के सहारे जो लोग विभिन्न प्रदेशों में एकता कायम कर सकेंगे, वही वास्तव में भारत बन्धु के नाम से पुकारे जायंगे।"—साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२६ जुलाई, १९६४) में प्रकाशित श्री हंसकुमार तिवारी के "बंगाल कहाँ है हिन्दी के विरुद्ध" से साभार उद्धृत।

(घ) बंगाल के प्रख्यात मनीषी, अर्थशास्त्रवेत्ता रमेशचन्द्र दत्त ने बड़ौदा साहित्य सम्मेलन के 'हिन्दी कान्फरेन्स' में हिन्दी की राष्ट्रीय शक्ति का उल्लेख करते हुए कहा था, "भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अधिवासी परस्पर से हिन्दी में ही बोलते हैं। अन्य भाषा-भाषियों में हिन्दी समझ सकते हैं बहुत, पर बोल सकते हैं कम। जब मैं पहले पहल गुजरात में आया तब गुजरातियों से हिन्दी में बोलता था तथा वे भी मेरी बातें समझ जाया करते थे। यदि ऐसी कोई भाषा हो जो भारत के अधिकांश स्थानों में चल सकती है, तो वह भाषा हिन्दी ही हो।"—देवनागर, वत्सर ३, अंक २ से उद्धृत।

स्थान पर देवनागराक्षर के पक्ष में विश्वविद्यालय की बैठक में प्रस्ताव प्रस्तुत किया था जिस की चर्चा ऊपर उद्धृत 'नृसिंह' को एक सम्पादकीय टिप्पणी में है। इस प्रश्न को उन्हों ने इतना महत्त्व दिया था कि इसी प्रश्न को ले कर उन्हों ने आन्दोलन खड़ा कर दिया था। 'एक लिपि विस्तार परिषद्' की स्थापना और 'देवनागर' पत्र का प्रकाशन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है जिस का सम्पूर्ण श्रेय न्याय-पति स्व० शारदाचरण मित्र को है। १९०७ में ही 'देवनागर' का भी प्रकाशन हुआ था। आगे इस की विस्तृत चर्चा करेंगे।

जिस उद्देश्य को ले कर 'नृसिंह' का आविर्भाव हुआ था और आरम्भ में ही जो संकल्प इस ने लिया था, हम ने देखा कि अल्पायु और निरन्तर नाना प्रकार की प्रतिकूलताओं से जूझते रहने के बावजूद इस ने अपने दायित्व का पूर्ण निर्वाह किया। यदि दुर्बल इच्छा-शक्ति का सम्पादक होता तो अपनी प्रतिकूल परिस्थिति से वह एक वर्ष भी न लड़ सकता। हम ने ऊपर संकेत किया है कि उस युग के पत्रकार निज-बाहु-बल पर ही महत् अनुष्ठान का सूत्रपात करते थे। उन्हें औचित्य का पूरा ध्यान रहता था और आत्माहुति की आकुलता ने उन्हें निर्भीक बना दिया था। 'क्षणं प्रज्व-लितं श्रेयः न च धूमायितम् चिरम्' का आदर्श उन के सामने था। तथापि पत्र के अल्पायु से उन्हें पीड़ा होती थी लेकिन उस पीड़ा से वे कुण्ठित न हो कर, नये उत्साह और नयी योजना के अनुसार नये पत्र का प्रकाशन करते थे। चाहे हिन्दी के आदि-पत्रकार पं० युगलकिशोर शुक्ल हों, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र हों अथवा पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी हों—सब में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जो उन के महत् आदर्श और बल-वती निष्ठा को द्योतित करती है।

(ङ) 'देश और जातीयता' के प्रश्न का विवेचन करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है : "जिस दिन हम अखण्ड स्वरूप मातृमूर्ति के दर्शन करेंगे, उस के रूप लावण्य से मुग्ध हो कर उस के कार्य में जीवन उत्सर्ग करने के लिए उन्मत्त हो जायेंगे, उस दिन यह बाधा तिरोहित हो जायेगी, भारत की एकता, स्वाधीनता और उन्नति सहज-साध्य हो जायेगी। उस समय भाषा-भेद के कारण कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, सब लोग अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए साधारण भाषा के रूप में हिन्दी भाषा को ग्रहण करेंगे और यह बाधा दूर हो जायेगी।"—धर्म और जातीयता, पृ० ६४ से उद्धृत।

(च) प्रख्यात भाषाविद् डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने हिन्दी को अभाव—उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए 'विशाल भारत' के जून, १९३१ के अंक में लिखा था कि "हिन्दी में जो गुण और कठिनाइयाँ हों, सो हों, पर यह सब को मानना पड़ेगा कि दुनिया के अव्वल दरजे की अन्तर्जातीय भाषा में हिन्दी का स्थान है। अंगरेजी, उत्तर चीनी, जर्मन, रूस, स्पेनिश, फरांसी, अरबी, फ़ारसी, मालय आदि भाषाओं में हिन्दी का नाम करना चाहिए। संख्या के विचार से अँगरेजी और उत्तर चीनी के नीचे हिन्दी का स्थान है, श्रुतिमाधुर्य, जोर, कार्यशक्ति आदि में हिन्दी एक अनोखी भाषा है। ऐसी भाषा हमारा गौरवस्थल है।

देवनागरी लिपि का उन्नायक पत्र 'देवनागर'

उन्नीसवीं शताब्दी का बंगीय सांस्कृतिक परिवेश और जस्टिस सारदा चरण मित्र

उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और रामकृष्ण परमहंस के महत् प्रयत्नों से भारतवर्ष में सांस्कृतिक जागरण आया जिसे स्थिरता मिली परवर्ती अनेक महापुरुषों के वैचारिक अवलम्ब से। इस सांस्कृतिक चेतना को अक्षत रखने और क्रमशः सम्वर्द्धित करने का स्तुत्य प्रयत्न अपने-अपने ढंग से अनेक लोगों ने किया। इन्हीं महापुरुषों की शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का नाम है—जस्टिस सारदा चरण मित्र। कहना न होगा कि आधुनिक भारत के निर्माण में बंगाल ने अप्रतिम वैचारिक और व्यावहारिक भूमिका प्रस्तुत की है।

बंग-पुत्र स्व० सारदाचरण मित्र ने भली प्रकार समझ लिया था कि जातीय उत्थान के लिए भावात्मक एकता अनिवार्य शर्त है और इस एकता को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे की भावाभिव्यक्ति को समझना जरूरी है। एक दूसरे की भावाभिव्यक्ति समझने के लिए एक दूसरे की भाषा और लिपि का ज्ञान जरूरी है। विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों के इस महादेश में यह एक विकट समस्या है। इसी समस्या का समाधान ढूँढ़ने के उद्देश्य से सारदाचरण मित्र ने 'एक लिपि-विस्तार परिषद्' की स्थापना की थी। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है जिस की ओर पण्डितों और विचारकों का ध्यान नहीं जाता, परिणामतः इस का अपेक्षित मूल्यांकन नहीं हो पाता।

एक लिपि विस्तार परिषद् और देवनागर का आविर्भाव

'एक लिपि विस्तार परिषद्' का एक मात्र उद्देश्य था भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि को प्रचलित और प्रतिष्ठित करना। देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता, व्यापकता और व्यावहारिकता को भली प्रकार समझ कर उसे ही 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के आदि संचालक जस्टिस सारदा चरण मित्र ने भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि बनाने का व्रत लिया था और इस महत् उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही 'देवनागर' का आविर्भाव हुआ था। इस पत्र का विशिष्ट उद्देश्य था भारत में एक सामान्य लिपि—देवनागरी लिपि—का प्रचार बढ़ाना और प्रच्छन्न सी भारतीय एकता को पुष्ट करने की सतत सक्रिय चेष्टा।

देवनागरी लिपि का उन्नायक पत्र 'देवनागर'

उन्नीसवीं शताब्दी का वंगीय सांस्कृतिक परिवेश और जस्टिस सारदा चरण मित्र

उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और रामकृष्ण परमहंस के महत् प्रयत्नों से भारतवर्ष में सांस्कृतिक जागरण आया जिसे स्थिरता मिली परवर्ती अनेक महापुरुषों के वैचारिक अवलम्ब से। इस सांस्कृतिक चेतना को अक्षत रखने और क्रमशः सम्वर्द्धित करने का स्तुत्य प्रयत्न अपने-अपने ढंग से अनेक लोगों ने किया। इन्हीं महापुरुषों की शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का नाम है—जस्टिस सारदा चरण मित्र। कहना न होगा कि आधुनिक भारत के निर्माण में बंगाल ने अप्रतिम वैचारिक और व्यावहारिक भूमिका प्रस्तुत की है।

वंग-पुत्र स्व० सारदाचरण मित्र ने भली प्रकार समझ लिया था कि जातीय उत्थान के लिए भावात्मक एकता अनिवार्य शर्त है और इस एकता को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे की भावाभिव्यक्ति को समझना जरूरी है। एक दूसरे की भावाभिव्यक्ति समझने के लिए एक दूसरे की भाषा और लिपि का ज्ञान जरूरी है। विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों के इस महादेश में यह एक विकट समस्या है। इसी समस्या का समाधान ढूँढ़ने के उद्देश्य से सारदाचरण मित्र ने 'एक लिपि-विस्तार परिषद्' की स्थापना की थी। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है जिस की ओर पण्डितों और विचारकों का ध्यान नहीं जाता, परिणामतः इस का अपेक्षित मूल्यांकन नहीं हो पाता।

एक लिपि विस्तार परिषद् और देवनागर का आविर्भाव

'एक लिपि विस्तार परिषद्' का एक मात्र उद्देश्य था भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि को प्रचलित और प्रतिष्ठित करना। देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता, व्यापकता और व्यावहारिकता को भली प्रकार समझ कर उसे ही 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के आदि संचालक जस्टिस सारदा चरण मित्र ने भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि बनाने का व्रत लिया था और इस महत् उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही 'देवनागर' का आविर्भाव हुआ था। इस पत्र का विज्ञप्त उद्देश्य था भारत में एक सामान्य लिपि—देवनागरी लिपि—का प्रचार बढ़ाना और प्रच्छन्न थी भारतीय एकता को पुष्ट करने की सतत सक्रिय चेष्टा।

देवनागर का प्रकाशन संवत् १९६४ (५००९ कल्यब्द) में 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के तत्त्वावधान में यशोदानन्दन अखौरी के सम्पादकत्व में हुआ था। इस के मुखपृष्ठ पर पत्रिका की मुख्य विशेषता का परिचय देने वाला एक वाक्य है—"भारतीय चित्र-विचित्र भाषाओं के लेखों से विभूषित एक अद्वितीय सचित्र मासिक पत्रिका"—अपनी इसी अद्वितीय रूप-रेखा और वैशिष्ट्य के चलते एक ओर इस ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और इसी अनन्यता के चलते यह उपेक्षित भी रहा। यह उपेक्षा इस हद तक रही कि किसी ने इस का मूल्यांकन नहीं किया। कुछ लोगों ने इस की ओर ध्यान भी दिया तो ग़लत अनुमान लगा कर रह गये। जो तथ्य बिलकुल स्पष्ट है उस के बारे में भी ग़लत अनुमान लगाना वस्तुतः आश्चर्य की बात है। देवनागर के जितने अंक उपलब्ध हैं उन से यही ज्ञात होता है कि यशोदानन्दन अखौरी ही इस के सम्पादक थे। इस तथ्य को भी तरह-तरह के अनुमान लगा कर उलझा दिया गया है।[1] मेरा अनुमान यह है कि 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के संचालक जस्टिस सारदाचरण मित्र का सम्बन्ध कलकत्ता के विशिष्ट हिन्दी साहित्यकारों, पण्डितों

---

१. अपनी पुस्तक 'समाचार पत्रों का इतिहास' में सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने 'देवनागर' की चर्चा की है : "देवनागर विचित्र था। भारत भर में एक लिपि हो जाय इस का आन्दोलन करने के अभिप्राय से हाईकोर्ट के जज बाबू सारदाचरण मित्र की प्रेरणा से 'एक लिपि विस्तार परिषद्' की स्थापना हुई थी जिस ने नागरी वा देवनागरी को भारत की लिपि बनाने का संकल्प किया था। कारण यह है कि यह समग्र भारत में प्रचलित और परिचित लिपि है। इस का उद्देश्य भारत की सभी भाषाओं को तमिल, तेलुगु आदि द्रविड़ भाषाओं को भी हिन्दी अक्षरों में प्रकाशित करना था। शारदा बाबू परिषद् के मन्त्री और प्रथम सम्पादक बनाये गये। सारदा बाबू के बाद उमापति दत्त शर्मा और उन के बाद बाबू यशोदानन्दन अखौरी ही वास्तविक सम्पादक रहे।"

इस सम्बन्ध में 'देवनागर' के (स्थायी) लेखक स्व० पं० अक्षयवट मिश्र ने भी अपने लेख, 'पाण्डेय उमापति दत्त शर्मा' में एक विवादास्पद बात कही है। मिश्र जी का यह लेख 'देवनागर' के तीसरे वर्ष के ११-१२ संयुक्तांक में प्रकाशित हुआ है। पं० उमापति दत्त शर्मा के कृतित्व का उल्लेख करते हुए एक स्थल पर कहा गया है, "देवनागर के तो आप जन्मदाता ही थे। आप ने उस को अपनी सम्पादकता में १ वर्ष रख कर भलीभाँति चलाया। उनके समय में 'देवनागर'—जैसा सुन्दर, उत्तमोत्तम लेखों से विभूषित, अनेक गुण सम्पन्न तथा बड़ा होता था, वह किसी से छिपा नहीं है। यदि हम देवनागर को पाण्डेय जी का स्मारक कहें तो भी अतिशयोक्ति नहीं हो सकती।"

चौथे वर्ष के 'देवनागर' के अंक २ में सम्पादक के नाम 'जीवनी में भ्रम' शीर्षक एक पत्र छपा है जो पं० अक्षयवट मिश्र द्वारा लिखित स्व० पं० उमापति दत्त शर्मा की तीन भूलों की ओर संकेत करता है। दूसरी भूल इस प्रकार है—उसी पृष्ठ पर दूसरे स्थान पर लिखा है, "एक वर्ष तक आप ने स्वयं इस का (देवनागर का) सम्पादन भी किया था।" वास्तव में पं० उमापति दत्त जी ही 'देवनागर' के सृष्टिकर्ता थे। पर पण्डित जी कदापि देवनागर के

और समाज-सेवियों से था।[1] पं० उमापति दत्त शर्मा असाधारण कोटि के पण्डित थे।

सम्पादक नहीं हुए। वैसे तो इस का सभी कार्य आप के हाथ में था। आप के ही उत्साह और परिश्रम से यह पत्र उस समय बड़े जोर-शोर से चला। प्रथम वर्ष में व्यय कुछ अधिक हो जाने के कारण दूसरे वर्ष से कार्य्य श्रीमान् सारदा चरण मित्र ने अपने हाथ में ले लिया। सन् १६०७ ई० के मई में 'देवनागर' का प्रथम अंक निकला। उस समय से बराबर २६ वें अंक तक श्रीयुत् यशोदानन्दन अखौरी उस के सम्पादक रहे। अखौरी जी तथा स्व० पण्डित जी दोनों की योग्यता और कार्य क्षमता के परिचायक 'देवनागर' पत्र के वे अंक हैं।
आश्चर्य यह है कि 'देवनागर' में बराबर लिखने वाले पं० श्री अक्षयवट मिश्र से यह भूल कैसे हो गयी और फिर इस भूल को 'देवनागर' के सम्पादक श्री यशोदानन्दन अखौरी ने सुधार क्यों नहीं दिया? यह और भी आश्चर्य की बात है। दोनों प्रकार की धारणाओं को बिना किसी टिप्पणी के यथावत् प्रकाशित कर उन्हों ने इस विवाद को और पुष्ट कर दिया है। यह सम्पादकीय दुर्बलता ध्यान देने योग्य है।

१. (क) "सन् १६०५ ई०, ता० ११ जुलाई

…………आज सन्ध्या को ८॥ बजे ग्रांड थियेटर में 'एक लिपि' पर पं० दीनदयालु जी का व्याख्यान सफलता से हुआ। जस्टिस सारदाचरण मित्र सभापति थे।……

ता० २२ जुलाई

……तीसरे पहर श्री विशुद्धानन्द विद्यालय में गये। वहाँ जस्टिस सारदा चरण मित्र आये एक लिपि विस्तार परिषद् के लिये कोई पौन घण्टे विचार हुआ।……

ता० १० सितम्बर

……विद्यालय में जस्टिस मित्र मिले। 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के नियम पढ़े गये।

ता० १३ सितम्बर

……पाण्डेय जी के साथ जस्टिस सारदा चरण मित्र के मकान पर गये। वहाँ 'पूर्णिमा' नाम की अद्भुत सभा देखी। —'बालमुकुन्द गुप्त की डायरी के पृष्ठों से'—बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ से उद्धृत।

(ख) "गुप्त जी का देहान्त होने के पश्चात् उनकी पहली वार्षिक स्मृति सभा ता० ७ सितम्बर रविवार, सन् १६०८ को सायंकाल ७ बजे स्थानीय श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय में कलकत्ता हाई कोर्ट के माननीय न्यायाधीश श्री सारदा चरण मित्र महोदय के सभापतित्व में हुई थी।

जस्टिस मित्र ने गुप्त जी की स्मृति को श्रद्धा ज्ञापित करते हुए कहा था, "मैं भारतमित्र में गुप्त जी के शिवशम्भु के चिट्ठे बड़ी उत्सुकता से मन लगा कर पढ़ता था। उन का भाषा पर अधिकार, स्वदेशानुराग एवं हास्योद्रेक में क्षमता आदि गुण संस्मरणीय हैं। उन के प्रति सादर मैं अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ।" —बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ।

(ग) "१६०५ की ही एक घटना चोखानी जी के जीवन में और भी अमिट छाप दे गयी। जस्टिस सारदा चरण मित्र के उद्योग से एक लिपि विस्तार परिषद् बनी थी। बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू ईश्वरीप्रसाद जी वर्मा आदि इस संस्था के सदस्य रहे। चोखानी जी ने भी इस परिषद् के कार्यों में हाथ बँटाया।"—श्री रामदेव चोखानी स्मृति ग्रन्थ, पृ० ६७।

जस्टिस मित्रा के द्वितीय पुत्र श्री सरत कुमार मित्र ने मुझे बताया कि पं० उमापति दत्त शर्मा से 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के संचालक का घनिष्ठ सम्बन्ध था। 'देवनागर' के सम्पादक के रूप में यशोदानन्दन अखौरी के साथ ही उमापतिदत्त शर्मा का भी नामोल्लेख श्री सरत कुमार मित्र कर रहे थे। देवनागर के प्रकाशन में निश्चित रूप से शर्मा जी की प्रेरणा थी। मेरा अनुमान है कि श्री यशोदानन्दन अखौरी को 'देवनागर' के सम्पादक के रूप में शर्मा जी ही लाये थे। 'एक लिपि विस्तार परिषद्' से आत्यन्तिकः सम्पृक्त होने के कारण 'देवनागर' के प्रति शर्मा जी अपना दायित्व महसूस करते रहे होंगे और 'देवनागर' को इन का सक्रिय सहयोग सदैव मिलता रहा होगा। आश्चर्य नहीं कि शर्मा जी के प्रयत्न से ही उस समय के कुछ विश्रुत पण्डितों और लेखकों का सहयोग 'देवनागर' को सुलभ हो सका। कदाचित् शर्मा जी को इसी सक्रियता को देख कर यह सहज ही मान लिया गया कि शर्मा जी 'ही देवनागर' के वास्तविक सम्पादक थे। यह मान्यता भी उन लोगों की है जो 'देवनागर' के अत्यन्त निकट थे[1]। इस लिए इसे कोरा अनुमान मान लेना उचित नहीं जान पड़ता। सम्भव है, शर्मा जी सम्पादकीय दायित्व भी निभाते रहे हों किन्तु सम्पादक के रूप में अपने नाम की विज्ञप्ति देना उन्हें उचित न जान पड़ा हो। जैसे उसी समय के हिन्दी पत्र 'मारवाड़ी बन्धु' का सम्पादन करते थे पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र किन्तु सम्पादक के रूप में उन के चचेरे छोटे भाई पं० वासुदेव मिश्र का नाम छपता था।[2] अस्तु। जस्टिस मित्र का भी देवनागर—सम्पादक के रूप में उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन करना है कि संचालक होने के कारण तथा अपने महत् उपक्रम की सफलता के लिए 'देवनागर' के उन्नयन और दीर्घजीवन की उन्हें सदैव चिन्ता रहती थी। सम्पादकीय व्यवस्था की भी उन्हें चिन्ता रहती थी। देशी-विदेशी अनेक विख्यात पण्डितों से उन की मैत्री थी जिन से वे पत्रव्यवहार किया करते थे और 'देवनागर' के लिए सहयोग माँगा करते थे। इस प्रकार वास्तविक सम्पादक न होते हुए भी उन्हों ने सम्पादकीय दायित्व अपने कन्धों पर ले लिया था। स्मरणीय है कि 'देवनागर' एक संस्था का पत्र था जिस का अपना एक विशेष उद्देश्य था और अपने उद्देश्य के प्रति अटूट विश्वास था, "पाँच वर्ष में न हो, दस वर्ष में न हो, किन्तु किसी न किसी समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक लिपि प्रचलित होगी ही। धीरे-धीरे प्रादेशिक लिपि के भक्त क्षुद्र हृदय लोगों की संख्या घटती जायेगी, भारतमाता के देश-प्रिय सपूत लोगों की संख्या क्रमशः बढ़ती जायेगी एवं थोड़ी ही देर में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में एक लिपि व्यवहृत हो कर भाषा और

१. पं० अक्षयवट मिश्र 'देवनागर' में बराबर लिखा करते थे। पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी का कार्य-क्षेत्र कलकत्ता था और उसी वर्ष उन के राजनीतिक पत्र 'नृसिंह' का प्रकाशन हुआ था। स्व० जस्टिस मित्र के द्वितीय पुत्र ९० वर्षीय सरत कुमार मित्र की स्मृति अभी ठीक है, इस लिए उन की बात का भी विशेष मूल्य है।

२. द्रष्टव्य—समाचार पत्रों का इतिहास—ले० पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी।

साहित्य को एक कर देगी।[1]" तो चूँकि 'देवनागर' एक संस्था का पत्र था इसलिए उक्त संस्था के संचालक और सक्रिय सहयोगी मन्त्री को सर्वेसर्वा मान लेने की भूल हो गयी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अस्तु, यह निर्विवाद है कि यशोदानन्दन अखौरी ही 'देवनागर' के सम्पादक थे क्यों कि 'देवनागर' की उपलब्ध फ़ाइलें इसी का समर्थन करती हैं।

यह तो स्पष्ट है कि देवनागर अल्पजीवी रहा किन्तु कब तक इस का प्रकाशन होता रहा, यह एक विचारणीय विषय है। जस्टिस सारदा चरण मित्र के द्वितीय पुत्र वयोवृद्ध श्री सरतकुमार मित्र ने मुझे बताया कि 'देवनागर' का प्रकाशन सात वर्षों तक होता रहा। नब्बे वर्षीय[2] श्री सरतकुमार मित्र साल भर से रोगग्रस्त हो गैया पर पड़ गये हैं तथापि काफ़ी रुचि के साथ बात करते हैं और उन की स्मृति अभी ठीक है। इस लिए उन के वक्तव्य पर सन्देह करने का कोई आधार नहीं है।। दिक्क़त यह है कि सात वर्षों की फ़ाइल कहीं उपलब्ध नहीं है। और इस प्रकार जिसको जितने अंक उपलब्ध होते हैं उसे ही वह सम्पूर्ण मान लेता है और इस दिशा में अनुसन्धान की चेष्टा नहीं की जाती। श्री सुधाकर पाण्डेय को तीन वर्ष की फ़ाइल मिली तो उन्हों ने सन्तोष कर लिया और घोषणा कर दी कि "इस पत्रिका के तीन वर्षों के अंकों का मैंने दर्शन किया है। इस के बाद यह पत्रिका अकाल कवलित हो गयी।" मुझे तीन वर्ष और पाँच माह के अंक मिले हैं, लेकिन मुझ में इतना साहस नहीं है कि घोषणा कर दूँ कि 'देवनागर' नामक पत्रिका तीन वर्ष पाँच माह के बाद काल कवलित हो गयी। मैं इसे अनुसन्धान सापेक्ष मानता हूँ। यद्यपि कलकत्ते की पुरानी संस्थाओं में तथा स्व० जस्टिस सारदा चरण मित्र के निजी पुस्तकालय में मैं ने काफ़ी छान-बीन की है और बाहर के लोगों से भी पत्र-व्यवहार किया है। मुझे पूरी सामग्री नहीं मिली इसे मैं अनुभव करता हूँ। 'श्री रामदेव चोखानी स्मृति ग्रन्थ' में 'देवनागर' की चर्चा इस प्रकार की गयी है, "परिषद् की ओर से कुछ समय तक 'देवनागर' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ। सर जस्टिस साहब की अकाल मृत्यु ने इस परिषद् के कार्य को आगे बढ़ने से रोक दिया।" जस्टिस मित्र का देहान्त ४ सितम्बर १९१७ ई० को हुआ था। १९०७ ई० में देवनागर का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। लगातार तीन वर्ष निकलने के बाद अनेक कठिनाइयों के कारण डेढ़ वर्ष के लिए उस का प्रकाशन बन्द हो गया था। देवनागर का नव पर्याय 'नवीन व्यवस्था' के अन्तर्गत कार्तिक १८३३ शकाब्द को पुनः प्रकाशित हुआ। 'नवीन व्यवस्था' शीर्षक की सम्पादकीय टिप्पणी का कुछ अंश द्रष्टव्य है: "कई अनिवार्य कारणों से देवनागर के प्रकाश होने में आज तक इतना अधिक विलम्ब होता रहा कि वह प्रायः डेढ़ वर्ष पीछे पड़ गया था। इस देर के कारण

१. देवनागर, वल्यूर—२, अंक १—एक लिपि विस्तार परिषद् के मन्त्री जस्टिस सारदा चरण मित्र के बंगला लेख के अनुवाद से उद्धृत।

२. अद्य: स्वर्गीय।

देवनागर के संचालकों की जो क्षति हुई है, उस का उल्लेख कर हम अपने पाठकों का समय वृथा नष्ट करना नहीं चाहते। पर हमें उन से इस बात की दृढ़ आशा है कि आज तक उन्हों ने हमें जिस प्रकार आश्रय दिया है वैसा ही भविष्यत् में भी देंगे। जिस में भविष्य में देवनागर ठीक समय पर प्रति मास प्रकाश होता रहे, इस की पूर्ण व्यवस्था की गयी है। परमात्मा की कृपा और पाठकों का आश्रय पा कर देवनागर द्विगुण उत्साह के साथ एक लिपि प्रचार के लिए प्रयत्न करेगा। इस अंक में पाठक कई नयी बातें पायेंगे। प्रथमतः इस का आकार पहले से घटा दिया गया है, पर साथ ही पृष्ठ संख्या बढ़ा दी गयी है। पहले प्रति अंक में डेमाई चार पेजी पांच फर्मा रहा करते थे पर भविष्यत् में क्राउन चार पेजी छः फर्मा रहेंगे। पहला आकार बड़ा होने के कारण अनेक पाठक उस से असन्तुष्ट थे। इसी से अब इस का आकार घटा कर हिन्दी के अन्यान्य मासिक पुस्तकों की बराबरी का कर दिया गया है। द्वितीय और बड़े महत्त्व का परिवर्तन यह किया गया है कि अब से इस के प्रत्येक अंक में चार फर्मा भारतीय भाषाओं के और दो अंग्रेजी के रहेंगे।" उक्त टिप्पणी का उपसंहार इस प्रकार किया गया है, "अन्त में हम यह कह कर यह लेख समाप्त करते हैं कि देवनागर के लिये स्वतन्त्र प्रेस की व्यवस्था की गयी है तथा इस के लिए निर्णय सागर के उत्तम टाईप भी मँगाये गये हैं। इसे समय पर प्रकाश करने और सर्व्वांग सुन्दर बनाने में हमारी ओर से कोई भी बात उठा नहीं रक्खी जायेगी। परमात्मा हमारे सहायक हों।" इस लम्बे उद्धरण से यह विज्ञप्ति मिलती है कि अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए भी देवनागर-संचालक के संकल्प शिथिल नहीं हुए और 'देवनागर' का प्रकाशन बन्द करने की दुर्बल इच्छा उन के मन में नहीं उठी। यह बात और है कि जस्टिस सारदा चरण मित्र के साथ ही 'एक लिपि विस्तार परिषद्' का सारा आयोजन ही शेष हो गया, तथापि 'देवनागर' के सात वर्षों की फ़ाइल का अनुसन्धान अपेक्षित है।

भारतीय पत्रकारिता का सशक्त और नवीन प्रयोग

'देवनागर' का प्रकाशन भारतीय पत्रकारिता में एक सशक्त नवीन प्रयोग था। यह पत्रिका मूलतः सांस्कृतिक थी। भाषा, साहित्य, धर्म, राजनीति, इतिहास, विज्ञान, गणित आदि प्रायः सभी विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। इस में प्रत्येक भारतीय भाषाओं की रचनाएँ देवनागरी लिपि में छपती थीं। इस का उद्देश्य था एक लिपि के प्रचार द्वारा जातीय एकता की प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक उन्नयन। एक वर्ष की विषय सूची देख कर इस का वैशिष्ट्य आसानी से समझा जा सकता है[१]। अपने विराट् परिप्रेक्ष्य से 'देवनागर' ने अनेक लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया[२]।

---

१. अलग से परिशिष्ट में 'देवनागर' के एक वर्ष की विषय सूची दी गयी है जो द्रष्टव्य है।
२. विषय सूची के साथ ही 'देवनागर' के सम्बन्ध में, कहना चाहिए प्रशंसा में, प्राप्त अनेक विशिष्ट लोगों की सम्मतियाँ भी उद्धृत की गयी हैं।

इस के बहिरंग का चित्र दिया जाता है ताकि इस के बाहरी रूप को देखा जा सके। 'देवनागर' प्रथम पृष्ठ पर 'आविर्भाव' शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य है जो 'देवनागर' के आविर्भाव के कारणों और उद्देश्य पर प्रकाश डालता है। 'देवनागर' का पहला पृष्ठ और सम्पादकीय वक्तव्य का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है :

॥ श्रीः ॥

दे व ना ग र

श्री मद्भारतवर्ष भूति भरितैर्नाना विधैर्भावणैः।
पूर्ण भारतमव्य मानव मनोवन्ध्याय सूत्रं दृढ़म् ॥
श्री देवाक्षर दक्ष मेक लिपि विस्तारैकवीरं नवं।
पत्रं राजति 'देवनागर' मही। गृह्णन्तु तत्कोविदः ॥

वत्सर १) मेष, ५००९ कल्पब्द अङ्क १

हिन्दी) आविर्भाव

"मनुष्य स्वभाव से ही एकता प्रेमी है। अद्वितीय परमात्मा का अंश होने के कारण चित्र-विचित्र पटावलम्बित संसार को एकता के सूत्र में गूँथने की इच्छा उसे सदा बनी रहती है। वह यह चाहता है कि अपना मण्डल दूर तक फैले, इसी में विविध वस्तुओं का समागम हो, उच्च, नीच, सम तथा बाल, युवा, वृद्ध आदि अपने स्थान पर इसी मण्डल में सुशोभित हों और सब भेदभावों को भूल कर परस्पर के प्रेम से प्रेमानन्द स्वरूप अद्वैत ईश्वर में एक हो जायँ। मनुष्य की यही स्वभावजात अभिलाषा भाषाओं को एक करने के विषय में भी चरितार्थ होती है।

"जगद्विख्यात भारतवर्ष ऐसे महाप्रदेश में जहाँ जाति, पाँति, रीति, नीति, मत आदि के अनेक भेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, भाव की एकता रहते भी भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण एक प्रान्तवासियों के विचारों से दूसरे प्रान्त वालों का उपकार नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा का मुख्य उद्देश्य अपने भावों को दूसरे पर प्रकट करना है इससे परमार्थ ही नहीं समझना चाहिये अर्थात् मनुष्य को अपना विचार दूसरों पर इसीलिये प्रगट करना पड़ता है कि इससे दूसरे का ही लाभ हो किन्तु स्वार्थ साधन के लिये भी भाषा की बड़ी आवश्यकता है। इस समय भारतवर्ष में अनेक भाषाओं का प्रचार होने के कारण प्रान्तिक भाषाओं से सर्वस्वधारण का लाभ नहीं हो सकता। भाषाओं को शीघ्र एक कर देना तो परमावश्यक होने पर भी दुस्साध्य सा प्रतीत होता है। परन्तु इस अवस्था में भी जब यह देखा जाता है कि अधिकांश लोग काश्मीर से कुमारिका अन्तरीप और ब्रह्म देश से गान्धार पर्यन्त हिन्दी या इसके रूपान्तर का व्यवहार करते हैं तब आशा है कि सब की चेष्टा तथा अभिरुचि होने से कालान्तर में प्रान्तिक भाषाओं के सम्मिलन से एक सार्वजनिक नूतन

भाषा का आविर्भाव हो जायगा। कारण यह है कि भारत की सभी प्रान्तिक भाषाओं के सम्मिलन से एक सार्वजनिक नूतन भाषा का आविर्भाव हो जायगा। कारण यह है कि भारत की सभी प्रान्तिक भाषायें एक ही जननी संस्कृत से उत्पन्न हैं। यह कार्य थोड़े समय में सिद्ध नहीं हो सकता इसके लिये प्रत्येक प्रान्त के निवासियों को तन मन धन से चेष्टा करनी होगी। इसे प्रारम्भ में ही असम्भव या हास्यास्पद कह कर त्याग देना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है।

"इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है।....देवनागर का व्यवहार चलाने में किसी प्रान्त के निवासी का अपनी लिपि वा भाषा के साथ स्नेह कम नहीं पड़ सकता। हाँ, यह अवश्य है कि अपने परिमित मण्डल को बढ़ाना होगा।

"इस पत्र में साहित्य विषयक रोचक लेख तथा विज्ञान आदि विषय के भी उत्तम लेख प्रकाशित किये जायँगे। कालान्तर में उन का भाषान्तर भी कर दिया जायेगा। प्रत्येक अंक में किसी न किसी प्रान्तिक भाषा के व्याकरण सम्बन्धी लेख अवश्य रहेंगे। और कुछ शब्द कोश भी। जिन से अन्य भाषाओं को समझने में सरलता हो और इस पत्र के पढ़ने में पाठकों का चित्त लगे। पहले इस पत्र को पढ़ने में पाठकों को बड़ी नीरसता जान पड़ेगी किन्तु इस दूरदर्शिता, उपयोगिता तथा आवश्यकता का विचार कर सहृदय पाठकगण अनन्त भविष्यत् के गर्भ में पड़े हुए पचास वर्ष के अनन्तर उत्पन्न होने के शुभ फल की आशा से इस क्षुद्र भेंट को अंगीकार करेंगे।

"इस देश की वर्तमान दशा में जब मनुष्य अपनी ही मातृभाषा का यथाविध ज्ञान तथा व्यवहार नहीं रखता, बहुभाषी पत्र का निकालना दुष्कर जान पड़ता है। बहुभाषी पुरुष का मिलना तो दूर रहे उत्तरीय भारत की भाषा के साथ-साथ दक्षिणी भाषा का जाननेवाला भी मिलना कठिन है। प्रायः दो वर्ष से इस की चेष्टा की गयी, अच्छे-अच्छे भारतहितैषियों के साथ पत्र-व्यवहार किया गया, कई समाचार पत्रों में विज्ञापन दिये गये और स्वयं मिल कर आज कल के शिक्षितों से सहायता माँगी गयी किन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुए। निदान अपने ही पुरुषार्थ पर भरोसा कर अपने इस देवनागर को सर्वसाधारण के सन्मुख रखा है जिस के लिये कतिपय देश-हितैषियों की आँखें उत्सुकता से लगी हुयी थीं और जिन्हों ने यथाशक्ति धन द्वारा सहायता भी की है।"

'आविर्भाव' शीर्षक यह वक्तव्य विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं यथा गुजराती, तैलंगी, तामिल, मराठी, बंगला, कनाड़ी, सिन्धी, संस्कृत, पाली, मलयालम, उड़िया में अनूदित हो कर क्रमशः प्रकाशित होता रहा। अनेक प्रकार की कठिनाइयों के बावजूद 'देवनागर' के सम्बन्ध में किया हुआ संकल्प कभी टूटा नहीं। 'देवनागर' के पाठकों और लेखकों की सम्मतियों, प्रतिक्रियाओं और सुझावों का ध्यान रखते हुए इस को

रूप-रेखा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे। इस सम्बन्ध में देवनागर, वत्सर–१ अंक दो की सम्पादकीय टिप्पणी 'व्याकरण निबन्ध का अप्रकाशन' द्रष्टव्य है[1]। यह एक दृष्टान्त है। आगामी अंकों में प्रायः इस तरह के छोटे-मोटे परिवर्तन होते रहे हैं। किन्तु 'देवनागर' के संकल्प और उद्देश्य में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परिणामतः एक अनुकूल वातावरण का निर्माण तो हुआ किन्तु भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी।

प्रकाशन सम्बन्धी कठिनाइयाँ

बड़े उद्देश्य के साथ बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ भी लग जाती हैं और महत् आयोजन में पग-पग पर विघ्न उत्पन्न होता है। 'देवनागर' जैसी विलक्षण और अप्रतिम पत्रिका का प्रकाशन दुर्बल इच्छा शक्ति वाले के वश का नहीं था। इस के प्रकाशन सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख वत्सर–६, अंक १ के सिंहावलोकन शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में किया गया है। "परिषद् की आर्थिक अवस्था अब तक ऐसी नहीं हुई है कि देवनागर के सम्पादन के लिये भिन्न-भिन्न भाषा के भिन्न अनेक सम्पादक नियत किये जायँ। ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न भाषाओं के लेखकों की सहायता के बिना 'देवनागर' का कलेवर पूर्ण करना अत्यन्त कठिन वरन् असम्भव है। यदि आरम्भ से अब तक इन उत्साही लेखकों का सहारा न मिलता तो हम मुक्तकण्ठ से कह सकते हैं कि देवनागर ने अब तक जितना कर दिखाया है उतना वह कदाचित् न करता। अतएव लेखकों के इस साहाय्य प्रदान के लिये हम उन के अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

"देवनागर के समय पर प्रकाशित न होने का दोष आरम्भ से ही चला आता है। इस के लिये हम अत्यन्त लज्जित हैं। इस का मुख्य कारण प्रेस की कठिनाइयाँ हैं। परिषद् का अपना कोई प्रेस नहीं है। अपना प्रेस रहने से मनमाने कम्पोजिटर रख कर उन्हें देवनागर के उपयुक्त शिक्षा दी जा सकती थी। किन्तु दूसरे प्रेस में मनमानी बात सर्वथा नहीं चल सकती। जिस प्रेस में आरम्भ से आज तक देवनागर का काम होता चला आता है उस प्रेस के कम्पोजिटरों को यद्यपि देवनागर सम्बन्धी कुछ विशेष शिक्षा दे दी जाती है। परन्तु तथापि देवनागरी में लिखे भिन्न-भिन्न भाषाओं के लेख कम्पोज

---

१. "देवनागर के प्रत्येक अंक में किसी न किसी भारतीय भाषा का व्याकरण देना स्थिर किया गया है। पहले यह विचार था कि जो व्याकरण जिस भाषा का हो वह उसी भाषा में छपे। इसी विचार के अनुसार गतांक में कनाडी का व्याकरण छापा गया था। 'देवनागर' के प्रेमी कतिपय सज्जनों का अनुरोध है कि शब्दकोष और व्याकरण के लिये हिन्दी भाषा का साहाय्य लेने से पाठकों को अधिक लाभ होगा क्योंकि शब्दकोष और व्याकरण हिन्दी में देने से हिन्दी भाषी तो समझेंगे ही अन्य प्रान्त वाले अधिकांश समझ लेंगे पर और भाषाओं में छपने से केवल उसी भाषा के जानने वाले समझेंगे। उन का यह अनुरोध मान्य है। आगे से व्याकरण निबन्ध हिन्दी भाषा में छपा करेंगे। इस बार हिन्दी में यह निबन्ध प्रस्तुत न होने के कारण प्रकाशित न हो सका।

करना ठट्ठा नहीं है। कम्पोजिटर जो भाषा समझ सकता है उस भाषा के लेख वह बहुत शीघ्रता और शुद्धता से कम्पोज कर सकता है। यहाँ के प्राय: सब प्रेसों में अधिकतर बंगाली कम्पोजिटर हैं। यह देवनागरी में हाथ से लिखी कापी शुद्ध और स्पष्ट रीति से नहीं पढ़ सकते। ऐसी दशा में जिन भाषाओं के विषय में यह कम्पोजिटर श्वेत-कृष्ण कुछ भी नहीं जानते उन भाषाओं के हस्तलिखित लेख वह कहाँ तक शुद्धता और शीघ्रता से कम्पोज कर सकते हैं यह बात किसी अनुभवी के निकट परोक्ष नहीं रह सकती। साधारणत: देवनागर का प्रूफ-हिन्दी और बंगला के अतिरिक्त—पाँच-पाँच छः छ: बार संशोधित करने पर कहीं छपने के योग्य होता है। कभी-कभी किसी विशेष लेख वा चित्र की आशा में भी विलम्ब हो जाया करता है। निदान देवनागर के प्रकाशन में यथासाध्य शीघ्रता की जाती है, किन्तु अनिवार्य कारणों से विवश हो कर ही इस विलम्ब की लांछना सहनी पड़ती है।

"हम ऊपर ही लक्ष्य मात्र कह आये हैं कि देवनागर की आर्थिक अवस्था इतनी संतोषजनक नहीं है जितनी इस के लिये आवश्यक है। देवनागर सम्बन्धी व्यय का प्राय. दो तिहाई अंश तो इस के वार्षिक मूल्यादि से चलता है और एक तिहाई परिषद् के प्रधान संचालक और वर्तमान मंत्री श्रीयुक्त बाबू सारदा चरण मित्र महोदय (कलकत्ता हाईकोर्ट के पूर्व जज) अपने पास से देते हैं। हां, बीच-बीच में और कतिपय उदार महानुभावों ने भी आर्थिक सहायता किया है जिस का उल्लेख परिषद् के वार्षिक विवरणों में समय-समय पर किया गया है। किन्तु व्यय की ओर दृष्टि डालने से वह सब साहाय्य दाल में नमक के समान है। 'परिषद्' के वार्षिकोत्सव में प्रस्तुत परिषद् की प्रगति-रिपोर्ट में भी इन कठिनाइयों का जिक्र किया गया है उसी वार्षिकोत्सव के अवसर पर व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा का व्याख्यान हुआ था। उन्हों ने सबल तर्कों के आधार पर देवनागराक्षर का पक्ष-समर्थन और देवनागर पत्रिका के लिये आर्थिक सहायता का अनुरोध श्रीमन्तों से किया था[1]। इस अवसर पर 'देवनागर' के सम्बन्ध में भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के अधिकांश विद्वानों ने प्रशंसापत्र भेजा

---

१. "हिन्दी साहित्य के प्रेमियों को इस के प्रचार करने की विशेष चेष्टा करनी चाहिये। इस के प्रचार का भार आज तक सरस्वती देवी के वरद पुत्रों के ही सिर पर रहा और उन्हीं का इस में विशेष व्यय भी हुआ है, पर संसार में किसी कार्य की पूर्ण सफलता तभी होती है जब लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का ऐक्य होता है, अतएव देश के धनवान लोगों से मेरा अनुरोध है कि वे यथाशक्ति इस की सहायता करें क्यों कि इस की उद्देश्य-सिद्धि पर भारत की भावी उन्नति निर्भर है।"

अन्त में पण्डित जी ने प्रस्ताव किया कि इस की सहायता के लिए देश-देशान्तर में पत्र द्वारा प्रार्थना की जानी चाहिए और एक फण्ड आज ही सभा में खोल दिया जाय।

था। अमेरिका और योरप के भी न्यायप्रिय महोदयों ने इस पत्र की उपकारिता पर मुग्ध हो कर प्रशंसापत्र भेजा है।[1]"

देवनागर की अप्रतिम रूपरेखा और सुधी जनों की उदासीनता

आरम्भ में निवेदन किया गया है कि अपनी अप्रतिम रूप रेखा और वैशिष्ट्य से 'देवनागर' ने सुधीजनों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया, साथ ही अपनी विलक्षणता के कारण ही वह उपेक्षित भी रहा। चूँकि वह किसी एक भाषा का पत्र नहीं माना जाता था। इस लिए इस के सम्यक् मूल्यांकन की चेष्टा किसी ने नहीं की। देवनागरी हिन्दी की अपनी लिपि है, इसलिए अन्य प्रान्तीय भाषाभाषियों ने 'देवनागर' को हिन्दी का पत्र समझ कर इस में विशेष रुचि नहीं ली। हिन्दी वालों के लिए यह उपादेय इस लिए नहीं हो सका क्यों कि इस में केवल हिन्दी की ही रचनाएँ

---

१. अमेरिका सम्मिलित राज्य के मेसेचुसेट्स, केम्ब्रिज, ९ फरार स्ट्रीट के प्रसिद्ध लोकोपकारी विद्वान् चार्ल्स आर० लैनमैन ने अपने प्रशंसा-पत्र द्वारा 'देवनागर'—संचालकों को प्रोत्साहित किया है :

Haward University
February 29, 1908

Dear sir,

I thank you for your kindness in sending me your monthly Journal intended to bring the Devanagari character in to use in India. I do not doubt that it would be of very great use, if you could get people to unite upon one common script. The same would be true in this country of an improvement of our very bad English spelling, the only difficulty is that we can not start people to adopting the reform. It is going to be, apparently, the result of a long and very slowly proceeding movement; so I think perhaps you ought not to be discouraged if you do not see great results at first. I have been toiling all my life to make what is good in the religions of your country known to my countrymen in order that they may be less narrow-minded and begoted in this matter. I am not discouraged because the results are slow, believing that what I am doing is of fundamental importance and will tell in the long run. If I do not, I should have given up, I fear, long ago.

With best wishes for your success
very truely yours'
C. R. Lanman

नहीं छपतीं थीं बल्कि विभिन्न भाषाओं के लेख छपा करते थे।[1] तथापि इसे विवाद का विषय न बना कर यदि तटस्थ दृष्टि से विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में एक सर्वथा नवीन प्रयोग होते हुए भी 'देवनागर' हिन्दी का पत्र था और इस लिए इसे हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में उचित स्थान मिलना चाहिए। सम्भव है, मेरी यह विचारणा किसी हिन्दी भक्त (?) को अच्छी न लगे और इस विभिन्न भाषाओं के पत्र के प्रति वे उदासीनता प्रकट करें, उन से मेरा निवेदन है कि इस पत्र के बारे में किसी प्रकार की अन्यथा धारणा बनाने के पूर्व पत्र के उपलब्ध अंकों का अनुशीलन आवश्यक है।

हिन्दी भाषा का पक्ष-समर्थन

इस पत्र का प्रकाशन 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के तत्त्वावधान में हुआ था। परिषद् के संचालक थे—बंगभूमि के यशस्वी पुत्र जस्टिस सारदा चरण मित्र जिन्हें मातृभूमि, मातृभाषा और जातीय संस्कृति के प्रति अनुराग था और जो बंगीय साहित्य परिषद् के अध्यक्ष भी बनाये गये थे। स्व० सारदा बाबू ने 'देवनागर' के सम्पादन का

---

१. एक व्यक्तिगत बातचीत में कलकत्ता के भूतपूर्व हिन्दी पत्रकार और श्रेष्ठ साहित्यकार श्री इलाचन्द्र जोशी ने 'देवनागर' के सम्बन्ध में मुझ से कहा था, "वह इक फालतू पत्र था।"

'हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास' के लेखक पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने 'देवनागर' और 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के आन्दोलन पर यों रिमार्क दिया है, 'देवनागर' विचित्र था।......कुछ अन्य प्रान्तवासी उच्च पदस्थ सज्जनों ने इस आन्दोलन का समर्थन भी किया था। बंगला की कई पुस्तकें नागरी लिपि में छपीं भी पर वास्तविक बंगालियों में इस आन्दोलन का कुछ भी प्रभाव न पड़ा।'

वाजपेयी जी के वक्तव्य की पुष्टि बंगीय साहित्य परिषद् की ओर से प्रकाशित त्रैमासिक 'साहित्य परिषद् पत्रिका' के पंचदश भाग की अतिरिक्त संख्या में प्रकाशित 'राढ़ेर भाषा' शीर्षक प्रबन्ध से होती है। इस के लेखक बाबू योगेशचन्द्र राय एम० ए० ने देवनागरी वर्णमाला और हिन्दी भाषा पर बड़ी तीव्रता से कटाक्ष किया था जिस पर 'देवनागर' सम्पादक ने वर्ष २, अंक १२ में 'साहित्य परिषद् पत्रिका के लेख' शीर्षक से टिप्पणी दी है। उक्त टिप्पणी का शेषांश इस प्रकार है—'बंग भाषा एवं बंग लिपि की उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए आप ने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि की धूल उड़ाने में यथासम्भव कोर-कसर नहीं की है।......आप ने अपनी भाषा और अपनी लिपि की उत्तमता सिद्ध करने में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि की उत्तमता, सार्वजनीनता आदि अनुपम गुणों को मिटाने की चेष्टा की है। लेखक महाशय अपनी बंग भाषा और बंग लिपि की जितनी श्लाघा कर डालते सो सब अच्छा था, किन्तु हिन्दी और देवनागरी की उपयोगिता, सार्वजनीनता, सुष्टता आदि गुणों को मिटाने की चेष्टा करते हुए 'देवनागर' पर कटाक्ष न करते तो हमें उस पर कुछ भी बोलने का काम न था।......लेखक महाशय से हमारी प्रार्थना है कि वह इस विषय पर विचार करें कि बंग के विख्यात विद्वान् डॉक्टर राजेन्द्र लाल मित्र तथा बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय प्रभृति ने किस निष्पक्षता से अपनी सम्मति इस विषय पर दी है।"

भार किसी बंगाली को न दे कर हिन्दी भाषा-भाषी श्री यशोदानन्दन अखौरी को सम्पादक बनाया था। 'देवनागर' की प्रकाशन-विज्ञप्ति 'आविर्भाव' शीर्षक से (वत्सर १, अंक १ में) हिन्दी में प्रकाशित हुई थी। 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के इस पत्र की लिपि देवनागरी थी जो हिन्दी भाषा की लिपि है और जिसे सम्पूर्ण देश की सामान्य लिपि बनाने के उद्देश्य से ही उक्त संस्था और पत्र 'देवनागर' का आविर्भाव हुआ था। सम्पादकीय नीति हिन्दी भाषा के पक्ष में थी और हिन्दी भाषा और लिपि के प्रचार-प्रसार के प्रयत्नों की सूचना विशेष टिप्पणी के साथ पत्रिका में प्रकाशित हुआ करती थी।[1] अधिकांश लेख हिन्दी के ही प्रकाशित होते थे। हिन्दी भाषा में हिन्दी भाषा, लिपि, साहित्य और साहित्यकारों के बारे में[2]। हिन्दी के प्रति इतना आग्रह था कि हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों की भी रचनाएँ छपती थीं।[3] अन्य प्रदेश के महापुरुषों-जैसी ही चर्चा हिन्दी प्रदेश के महापुरुषों की रहती थी। अन्य भाषाओं में लिखे गये निबन्धों में भी हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का पक्ष-समर्थन रहता था।[4] इन बातों से स्पष्ट है कि यह पत्र न केवल देवनागरी लिपि बल्कि हिन्दी भाषा का आग्रही और उन्नायक था। मुझे तो आश्चर्य हुआ जब श्री सरतकुमार मित्र ने अपने पिता श्री (स्व० जस्टिस सारदा चरण मित्र) के बारे में मुझे बताया कि वे हिन्दी भाषा के नहीं केवल हिन्दी लिपि अर्थात् देवनागरी लिपि के प्रेमी और प्रचारक थे। हिन्दी भाषा के प्रति यदि जस्टिस सारदा चरण मित्र की अन्यथा धारणा होती तो 'देवनागर' की सम्पादकीय व्यवस्था दूसरे प्रकार की रही होती, उस में अनेक परिवर्तन आ गये होते, किन्तु हम देखते हैं कि 'देवनागर' के संचालक ने कभी सम्पादकीय नीति में ऐसा हस्तक्षेप नहीं किया जिस से सम्पादक को हिन्दी भाषा के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा हो। इस दिशा में भी उन्हों ने अपने स्वभाव के अनुसार पूरी उदारता बरती। असल में उन का सारा उपक्रम महत् उद्देश्य से संचालित था। एकांगिता और संकीर्णता के लिए उन के यहाँ कोई स्थान नहीं था। एक लिपि विस्तार परिषद् के वार्षिकोत्सव में उन्हों ने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि हम एक दूसरे प्रदेश की भाषा और साहित्य को नहीं समझ पाते, इस समय हम लोग अन्य

---

१. कुछ मुख्य उद्धरणों के लिए देखें परिशिष्ट (ख)।

२. इस बात के प्रमाण के लिए 'देवनागर' के एक वर्ष की विषय-सूची देखना ही पर्याप्त है, जो परिशिष्ट (ख) में दी गयी है।

३. वत्सर १, अंक ४ में 'राज्य दर्बार डुमराँव के कवि स्वर्गीय पं० रामचरित्र तिवारी रचित पूर्व्वीय पंचरत्न अर्थात् बलिया भोजपुर की बोली में अनूठे कवित्त' प्रकाशित हुए हैं—

> "देखि देखि आजु कालि हाकिम के हालि चालि,
> हमनी का खूस हो के मन में मनाइले।
> राम करें ऐसने नियाई बदसाह रहे,
> जेकरा भरोसे समे सुख से बिताइले॥"

४. कुछ मुख्य उद्धरणों के लिए देखें परिशिष्ट (ख)।

प्रदेश के साहित्य में प्रायः निपट अनभिज्ञ हैं, इस समय कितने ही विद्वान् बंगाली लोग तुलसीदास के भी प्रबन्ध नहीं पढ़ सकते। यह क्या सामान्य दुःख की बात है? महाकवि चन्द के ग्रन्थों को बड़े-बड़े काव्यों के साथ तुलना की जाती है। यह राजपूत लोगों का 'इलियड' है, किन्तु कितने ही इसे जानते तक नहीं। इसी प्रकार बंग साहित्य परिषद् के अध्यक्षीय भाषण की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, "इंगराजी आमादेर साधारण भाषा हइते पारे ना। इंगराजी शिक्षा आमादेर साहित्यिक उन्नतिर व्याघात कारण। योरोपीय पाश्चात्य भाषार साहित्य द्वारा आमादेर अनेक उपकार हइयाछे सन्देह नाइ, राज सेवार जन्य इंगराजी प्रयोजनीय हइते पारे, किन्तु सम्पूर्ण भिन्न उपादानेर भाषा शिक्षा करिवार जन्य कत कष्ट, ताहा सहजेइ अनुभव करा जाय। भाषा शिखितेइ जीवनेर मूल्यवान समय—अतिवाहित करा अकर्तव्य।

"वर्तमान हिन्दी अनेक परिमाणेइ आमादेर राष्ट्रभाषार अभाव पूरण करिते पारे, हिन्दी सहजेइ शिक्षा करा जाय, सुतरां सहजेइ आर्य्यावर्तेर राष्ट्रभाषा हइते पारे, किन्तु राष्ट्रभाषा यथा समये कि अवयव धारण करिबे, ताहा एखन बला जाय ना। शब्दोच्चारणेर नैसर्गिक भेद द्वारा भाषार ओ शब्देर स्वभाव सिद्ध पुनर्गठन कर ले अन्यान्य देशीय वैज्ञानिक कृषि वाणिज्ये ओ शिल्प विषयक शब्दे ओ संस्कृत शब्देर अधिक परिमाणे व्यवहार द्वारा राष्ट्रभाषा एक नूतन आकार धारण करिते पारे। बांगला आर हिन्दीर भित्तिमूले समस्त भारतवर्षेर विद्वज्जन व्यवहार योग्य नूतन आकारे राष्ट्रभाषा सर्वजन समादृत हइते पारे।

"साहित्येर सम्यक् उन्नतिर जन्य भारतवर्षेर प्रत्येक विभागेर साहित्येर सम्यक् ज्ञान आवश्यक। आमरा अनेक इंगराजी, फरासी, जर्म्मनी प्रभृति विदेशी साहित्येर अभ्युदेर इतिहास जानि, ताहादेर प्रसिद्ध ग्रन्थाकार दिगेर रचना मूल अथवा अनुवाद पाठ करिया कृतार्थम्मन्य हइतेछि। किन्तु कयजन महाराष्ट्रीय ओ गुजराती साहित्येर प्रति दृष्टिपात करिया थाकेन? कय जन महाराष्ट्री वा पंजाबी बंगेर साहित्येर प्रति दृष्टिपात करेन? राजपुतानार अद्वितीय कवि चांदेर मधुचक्रे प्रवेश करिवार जन्य कयजन चेष्टा करिया थाकेन? तुकाराम वा दलपत रायेर काव्यलहरीर सुमधुर झंकार आमादेर कयजनेर कर्णे प्रवेश करिया छे? एमन कि, तुलसीदासेर सुप्रसिद्ध रामायण वा कबिरेर भक्तिपूर्ण पद आमरा कय जन पड़ियाछि? साहित्य सम्बन्धे आमरा परस्पर के सम्पूर्ण विभिन्न मने करि, एक ब्रिटिश शासनान्तर्गत बलिया राजनीतिक सम्बन्ध देखिते पाइ। आमादेर परस्परेर लिपिर पार्थक्य आछे, किन्तु आमि भाषार विशेष पार्थक्य देखिते पाइना"…… कि उपाय अवलम्बन करिले तुलसीदास, कबीर, हरिश्चन्द्र, चांद, दलपतराय, तुकाराम प्रभृति आर्य्य भारतेर अन्यान्य प्रदेशेर कवि ओ सुलेखक गणेर ग्रन्थ निचय आमादेर प्रत्येक शिक्षित गृहस्थेर आदरेर जिनिस हइबे, ताहा साहित्य सम्मेलने स्थिर करा आवश्यक।"

टिप्पणी में तीन प्रकार की विधियों का उल्लेख किया गया है—"देवनागरी में अक्षरान्तर तीन रीतियों से हो सकता है—एक तो उन भाषाओं के शब्दों के उच्चारण के अनुसार देवनागरी के युक्ताक्षरों से काम लेना, दूसरी देवनागरी में उन के लिये कुछ नये अक्षर निर्माण करना और तीसरी प्रचलित अक्षरों में ही प्रसंगानुसार कुछ संकेत जोड़ना। पहली रीति सर्वसाधारण के सीखने-पढ़ने में दूसरी, तीसरी से अत्यन्त सुलभ है क्यों कि उन्हें कोई नया अक्षर नहीं सीखना पड़ेगा।

"अभी तक यह निर्णय नहीं हुआ है कि उक्त तीनों रीतियों में से कौन सी रीति सर्व सम्मत है। इस लिये इस अनिर्णीत विषय के निर्णय का भार देवनागर के पक्षपाती विद्वानों पर छोड़ कर उन भाषाओं के अक्षरान्तर करने में शब्दों के यथातथ उच्चारण के अनुसार देवनागरी के संयुक्ताक्षरों का प्रयोग किया गया है। और जब तक इस विषय में कोई नीति निर्णीत और पक्की न होगी तब तक इसी रीति का अनुसरण किया जायेगा।" और अन्त तक इसी रीति का अनुसरण किया गया। कदाचित् इसी रीति को उस समय के पण्डितों ने सर्वोत्तम समझा। सम्भव है, आज के पण्डितों को इस में कोई त्रुटि दिखाई पड़े।

साम्प्रतिक चेतना

इतना ही नहीं, सम्भव है, लोगों को देवनागर में राजनीतिक और साहित्यिक प्रश्न उपेक्षित से लगें, प्रत्यक्ष राजनीति से असम्पृक्त देवनागर का दृष्टिकोण एकांगी और तत्कालीन वातावरण से एक हद तक उदासीन प्रतीत हो, क्योंकि उस समय देश की प्रत्येक जातीय समस्या का समाधान राजनीति के माध्यम से ढूँढ़ा जा रहा था। बंग-भंग की गहरी प्रतिक्रिया थी। उग्र राष्ट्रीयता का ज़माना था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख नेता लोकमान्य बालगंगाधर तिलक थे। हिन्दी पत्रकारिता का भी यह तिलक युग था। अन्यत्र इस युग की मूल प्रवृत्ति की विस्तृत विवेचना की गयी है। यहाँ इतना ही निवेदन करना है कि वह हर दृष्टि से भारतीय इतिहास का जाग्रत् युग था। क्या साहित्य क्या राजनीति सर्वत्र उग्र राष्ट्रीयता के लक्षण स्पष्ट हो गये थे। भारतीय पत्रकारिता मूल स्वर जातीय था। केसरी और मराठा से प्रेरणा-प्रभाव ग्रहण करना सहज और अनिवार्य हो गया था।[1] सम्पूर्ण चेतना राष्ट्रीयता से सिक्त थी।

---

१. "१९०६ की कलकत्ता कॉंग्रेस से जो नयी स्फूर्ति और जागृति देश में उत्पन्न हुई थी उस के प्रमाण पर्याप्त मात्रा में इस वर्ष के पत्रों में पाये गये। इस वर्ष से हिन्दी के पत्रों में नये युग की झलक दिखाई देने लगी। भिन्न रुचि के भिन्न पत्र निकले जिस में स्वभावतः मासिकों की संख्या अधिक थी। महामना मालवीय जी का 'अभ्युदय' इसी वर्ष निकलता था और इसी वर्ष नागपुर के प्रसिद्ध नेता डॉ० बालकृष्ण शिवराम मुंजे आदि ने 'हिन्दी केसरी' निकाला था। तिलक के प्रसिद्ध पत्र 'केसरी' के लेखों का इस में अनुवाद होता था"—पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास।

देश की जनता में पूर्ण स्वराज्य की भूख उत्पन्न हो गयी थी और उन्हें देश में अँगरेजों की न केवल प्रभुता अपितु सत्ता ही अखरने लगी थी।[1] देवनागर के सम्पादकीय वक्तव्य प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रश्नों से असम्पृक्त प्रतीत होते हुए भी तत्कालीन जातीय चेतना के प्रति पूर्ण सचेत थे। निवेदन किया जा चुका है कि यह एक सांस्कृतिक मासिक पत्रिका थी। मासिक पत्रिकाओं में प्रत्यक्ष घटनाओं का उल्लेख अपेक्षाकृत कम रहता है। राजनीतिक मासिक पत्रों में राजनीतिक विषयों को प्रमुखता दी जाती है। स्मरणीय है सांस्कृतिक पत्र होने से देवनागर राजनीति से सर्वथा उदासीन नहीं था बल्कि प्रच्छन्न रूप से या प्रकारान्तर से वह, राजनीतिक पत्रों की अपेक्षा, एक बड़े उद्देश्य की पूर्ति में सक्रिय था। निस्सन्देह यदि यह पत्र दैनिक किंवा साप्ताहिक होता तो इस में राजनीतिक घटनाएँ अधिक मुखर होतीं और तब शायद इस की ओर विशेष ध्यान दिया गया होता, किन्तु वैसी स्थिति में कदाचित् इतना महत् उद्देश्य लेकर वह न चल पाता। राजनीतिक घटनाओं की उग्र प्रतिक्रिया का लेखा-जोखा करने में ही उलझ जाता।

यहाँ १९०७ ई० की चर्चा की गयी है। इसी वर्ष कलकत्ते से पं० दुर्गा प्रसाद मिश्र का 'मारवाड़ी बन्धु' और पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी का 'नृसिंह' प्रकाशित हुआ था। ये दोनों पत्र अल्पजीवी रहे। 'नृसिंह' उग्र राष्ट्रीयता का समर्थक शुद्ध राजनीतिक मासिक पत्र था। १९०७ में ही कलकत्ते से प्रकाशित होने वाली 'हितवार्ता' का सम्पादन पराड़कर जी ने सँभाला और उसे राजनीति प्रधान पत्र बनाया। इस में गम्भीर-राजनीतिक विषयक लेख प्रकाशित होते थे। उस समय हिन्दी पत्रों की परम्परा में यह सर्वथा नवीन प्रयोग था।" —पराड़कर जी और पत्रकारिता, पृ० ३०।

"पत्र सम्पादन के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने का मेरे लिए, प्रत्यक्ष कारण, 'स्वदेशी आन्दोलन हुआ। सन् १९०६-७ में मैं मराठी समाचार पत्र (विशेषकर 'केसरी', 'काल' और 'भाला') बहुत पढ़ा करता था। समाचारों की अपेक्षा अग्रलेखादि पढ़ने में ही अधिक रुचि थी। जो विचार पढ़ता था, उन विचारों को प्रकट करने की भी बड़ी प्रबल इच्छा होती थी। उन दिनों काशी में महाराष्ट्रीय विद्यार्थियों की एक सभा स्थापित हुई थी जिसका नाम ज्ञानवर्द्धिनी सभा था। इस सभा में प्रचलित राज-काज और राजनीतिक आन्दोलन के विषय में लेख पढ़ कर सुनाया करता था और वे लेख सुनने वालों को पसन्द होते थे, ऐसा मैं समझता हूँ।...एक दिन की सभा के सभापति उस समय के सेण्ट्रल हिन्दू कालेज स्कूल के हेडमास्टर मि० आरण्डले थे। मैंने 'बायकाट' पर एक लेख लिखा था, और इसी विषय पर श्री श्रीप्रकाश जी का अंग्रेजी में व्याख्यान हुआ था। मेरे लेख से श्री आरण्डले बहुत प्रसन्न हुए और उन्हों ने मेरा नाम 'एसेइस्ट' रक्खा और मुझे कहा कि इस लेख को छपवा कर वितरण करा दो। छपवाना और वितरण कराना मेरी समझ और योग्यता के परे की बात थी, पर उस से सचमुच ही मेरा उत्साह बहुत ही बढ़ा। पत्र-सम्पादन के कार्य की ओर जोर के साथ झुक पड़ने का यह एक निमित्त कारण हुआ।" —श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे, सम्पादकीय आत्म-परीक्षा विशाल भारत, अक्टूबर, १९३१।

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति—लोकमान्य तिलक और उनका युग, पृ० ३।

देवनागर में प्रकाशित साहित्य और देवनागर के सहयोगी लेखक

मेरी प्रतीति है कि अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़ आस्था और विशेष आग्रह होने के कारण ही देवनागर साहित्य की ओर से भी उदासीन रहा। कविता-कहानी की अपेक्षा विचारात्मक निबन्धों को अधिक महत्त्व इस लिए दिया गया क्यों कि वैचारिक क्रान्ति के उद्देश्य से ही इस पत्र का प्रकाशन हुआ था। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न भी नहीं उठता कि स्थानीय हिन्दी-बँगला लेखकों से उतना सहयोग क्यों नहीं लिया गया। देवनागर का परिवेश भारतव्यापी था। इस के लेखकों की संख्या कम थी, लेकिन इस में लिखने वाले विशिष्ट कोटि के लोग थे। भारत के विश्रुत शास्त्रज्ञ महा-महोपाध्याय पं० राम अवतार शर्मा, गणितज्ञ डॉ० गणेश प्रसाद, पण्डित शिरोमणि अनन्त वायु शास्त्री जोशी, संस्कृतज्ञ पं० अक्षयवट मिश्र, बंगाल के प्रसिद्ध पं० कूच-विहार निवासी श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य, विद्यारत्न, एम० ए०, तथा द्विवेदी युग के विशिष्ट कवि पाण्डेय लोचन प्रसाद शर्मा के अतिरिक्त अन्य अनेक विशिष्ट लोगों का सहयोग देवनागर को प्राप्त था। इस लिए मेरी दृष्टि से यह प्रश्न विचारणीय नहीं रह जाता कि देवनागर को हिन्दी लेखकों का सहयोग प्राप्त था या नहीं। असल में 'देवनागर' को जिस प्रकार के साहित्य की अपेक्षा थी वह विभिन्न प्रदेशों के लेखकों और विचारकों से प्राप्त कर लेता था। उस समय तक हिन्दी में अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन हो गया था और शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ उन्हीं पत्रिकाओं में छपती थीं।

भावात्मक एकता का संकेत

"इधर राजनीतिक विषय लेकर समस्त भारतवर्ष को आलोड़ित करने की कामना तो हम लोग करते हैं, किन्तु आपस की भाषाओं को समझने के लिए कोई प्रधान उपाय ग्रहण करने के विषय में हम लोग कुछ भी चेष्टा नहीं करते। यही उपाय 'एक लिपि' है।" ये शब्द है, 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के आदि संचालक स्व० जस्टिस सारदा चरण मित्र के जो वर्षों पहले परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में उन्हों ने कहे थे और जिस की अर्थवत्ता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। स्व० जस्टिस मित्र का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। वे सच्चे अर्थों में एक दूरदर्शी पुरुष थे जिन की दृष्टि केवल वर्तमान पर नहीं थी। उन की दृष्टि सीमित भारत पर नहीं, बृहत्तर भारत पर बल्कि कहना चाहिए, सम्पूर्ण पूर्वी मध्य एशिया पर लगी हुई थी। वर्तमान की प्रत्येक गतिविधि का ज्ञान रखते हुए अपनी परम्परा के आलोक में सम्पूर्ण पूर्वी एशिया को वे एक कर देना चाहते थे। उन के लेख, 'भारतवर्ष में बौद्ध धर्म' जो देवनागर में प्रकाशित हुआ था और जिस की प्रशंसा स्व० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने की थी, की कुछ पंक्तियाँ देखिए—"वस्तुतः समस्त प्राच्य ओ मध्य असियाय एकइ धर्म्म एखन ओ प्रचलित एवं से धर्म्म के हिन्दु वा भारतवर्षीय धर्म बला कर्तव्य। प्रकाश्य आकारे किछु-

किछु विभिन्नता थाकिले ओ किन्तु मूल ओ अन्तः प्रकृति ते सकलइ एक।......बौद्ध धर्म्म भारतवर्षीय धर्म्मज्ञाने बौद्ध मात्र केइ आमादेर भ्राता मने करा उचित। याहाते प्राच्य आसियार एकता संस्थापित हय ताह आमदेर विशेष कर्तव्य।" इन पंक्तियों का महत्त्व आज नये सन्दर्भ में, जब एशिया की एकता खतरे में पड़ गयी है, विशेष बढ़ गयी है। दुर्भाग्य की बात यह है कि जस्टिस मित्र की इस उदात्त परम्परा का निर्वाह करने वाला उन का कोई समर्थ उत्तराधिकारी नहीं उत्पन्न हुआ और इस प्रकार उन के साथ ही उन की परम्परा भी शेष हो गयी। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की यह एक बहुत बड़ी दुर्घटना है। यह दुर्घटना न हुई होती तो कदाचित् प्रान्तीयता और भाषा को लेकर आज इतनी टेढ़ी समस्याएँ न उत्पन्न होतीं और तब हमारी जातीय एकता की धुरी इतनी दुर्बल न रहती और निश्चय ही हमने परमुखापेक्षिता पर विजय पा ली होती। किन्तु दुर्भाग्य देश का कि इतना विराट् और महत् सांस्कृतिक आयोजन स्थायी प्रभाव न उत्पन्न कर सका, केवल इतिहास की वस्तु बन कर रह गया। इस प्रकार तमाम बौद्धिक आलोक-स्तम्भ एक-एक कर ढहते गये और हम साम्प्रदायिकता की अन्ध घाटी में भटक गये। राष्ट्रीय उन्नयन की सारी सम्भावना जैसे शिथिल पड़ गयी।

'देवनागर' के 'नव पर्याय', भाग १, संख्या २ में सम्पादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत दो हिन्दी पत्रों की प्रतिक्रिया 'सहयोगी सम्मति' शीर्षक से दी गयी है। यह प्रतिक्रिया देवनागर के 'नव पर्याय' पर है।

'श्री वेंकटेश्वर समाचार" अपने तीन नवम्बर के अंक में (सन् १९११ ई०) लिखता है—"बड़े हर्ष और उत्साह से हम 'देवनागर' का फिर स्वागत करते हैं। प्रायः सवा वर्ष बाद इस के दर्शन हुए हैं (?)। यह इस के नव पर्याय के प्रथम भाग की प्रथम संख्या है। आकार पूर्वापेक्षा कुछ घटाया गया है सही, पर साथ ही पृष्ठ संख्या बढ़ा दी गयी है। दूसरा परिवर्तन हुआ है कि पत्र के दो भाग किये हैं। पहले भाग में भारतीय भाषाओं के लेख हैं और दूसरे में अंगरेजी के।"

"सद्धर्म्म प्रचारक" की प्रतिक्रिया इस प्रकार है—"कलकत्ते की 'एक लिपि विस्तार परिषद' का मुख्य पत्र यद्यपि कभी-कभी निकलता है, तथापि निकलता अच्छा है। छपाई, कागज आदि सब प्रकार की दृष्टि से पत्र प्रशंसनीय होता है। लेख भी व्यापी तथा अच्छे होते हैं। कार्तिक मास से अब इस में एक नया मेल जोड़ा गया है। वह यह कि पत्र के साथ आठ पृष्ठ अंग्रेजी भाषा के रोमन अक्षरों में रहते हैं। यह मेल हमारी सम्मति में अनभीष्ट और पत्र की उपयोगिता को कम करने वाला है। उपयोगिता के अतिरिक्त यह अन्वर्थक भी नहीं। क्या ही अच्छा हो यदि उन पृष्ठों में नागराक्षरों में ही अंग्रेजी लिखी जाया करे। देवनागर पत्र में रोमन का समावेश तो वैसा ही है जैसा तालाब में कीचड़ का।"

सम्पादक ने 'सविनय निवेदन' किया है—"इच्छा न रहते हुए भी, परदेशी भाषा से कुछ सहायता लेनी ही पड़ेगी।........नागराक्षरों में अँग्रेजी लिखने की सूचना के विषय में हमारा केवल इतना ही निवेदन है कि देवनागर का उद्देश्य केवल भारतीय भाषाओं के लिये न कि पृथ्वी भर की सभी भाषाओं के लिये, एक लिपि का प्रचार करना है।"

उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम ने तिलक युग की हिन्दी पत्रकारिता की वैशिष्ट्य चर्चा की। 'नृसिंह' और 'देवनागर' के अलावे और भी कई तेजस्वी पत्र इस युग में निकले। उन में पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र का 'मारवाड़ी बन्धु' और पराड़कर जी की 'हितवार्ता' विशेष उल्लेखनीय हैं।

'मारवाड़ी बन्धु' के सम्बन्ध में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि सम्पादक प्रवर पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने इसे निकाला था। 'उचित वक्ता' बन्द कर के वे प्रेस का सामान पहले ही बेच चुके थे, इस लिए 'मारवाड़ी बन्धु' दूसरे प्रेस में छपता था। 'मारवाड़ी बन्धु' निकालने के लिये उन्हें बाबू रूडमल्ल गोएनका ने आर्थिक सहायता दी थी, इस लिये इस का नाम भी 'मारवाड़ी बन्धु' रखा गया था। पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी भी इस पत्र में कभी-कभी लिखा करते थे। मिश्र जी काँग्रेस के गरम दल के समर्थक थे। 'मारवाड़ी बन्धु' थोड़े ही दिनों तक निकला था, क्योंकि आर्थिक कारणों से बहुत काल तक नहीं चलाया जा सका[1]।

१९०७ में ही पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने 'हितवार्ता' का सम्पादन भार ४०) मासिक वेतन पर सँभाला और लगभग चार वर्षों तक इस दायित्व का निर्वाह किया। यह साप्ताहिक पत्रिका तिलक-युग की उग्र राष्ट्रीयता का हिन्दी समाज में प्रसार करती थी। 'हितवार्ता' के पहले पराड़कर जी 'हिन्दी बंगवासी' के सहायक सम्पादक के पद पर लगभग छः माह कार्य कर चुके थे। 'हिन्दी बंगवासी' की शिथिल और प्रतिक्रियावादी नीति पराड़कर जी को पसन्द न थी। इस लिए शीघ्र ही उस से वे अलग हो गये और 'हितवार्ता' के माध्यम से उन्हें अपनी उग्र राष्ट्रीयता के निर्विघ्न प्रकाशन का अवसर मिला।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशक की हिन्दी पत्रकारिता का वैशिष्ट्य-निष्कर्ष

स्मरणीय है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशक की (कलकत्ते की) हिन्दी पत्रकारिता का मूल स्वर साहित्यिक नहीं बल्कि राजनीतिक था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों में एक भी शुद्ध साहित्यिक पत्र कलकत्ते से नहीं निकला। ऊपर राजनीतिक और सांस्कृतिक पत्रों की चर्चा की गयी है, उन्हों ने

---

१. पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी—समाचार पत्रों का इतिहास।

प्रकारान्तर से साहित्य का ही काम किया है। यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी साहित्य की जातीय भूमिका का निर्माण हिन्दी पत्रकारिता ने किया जिस में कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता का विशेष महत्त्वपूर्ण अवदान है। यह साहित्य का ही एक ऐतिहासिक तथ्य है जिस ओर साहित्य के पौरम्परिक पण्डितों का ध्यान जाना चाहिए ताकि इस का साहित्यिक मूल्यांकन हो सके।

चतुर्थ खण्ड

हिन्दी पत्रकारिता का गान्धी-युग

गान्धी-युग का राजनीतिक परिवेश

इतिहासकारों का मत है कि बालगंगाधर तिलक ने अँगरेज़ों के हाथ से शासन माँगने का प्रश्न उठाया था और सब से पहले उन्हों ने ही स्वराज्य को अपना जन्म सिद्ध अधिकार घोषित किया था, परन्तु ग्रामों के रहने वाले किसानों और मज़दूरों तक वह आवाज़ नहीं पहुँची थी। यह महत् कार्य गान्धी-युग ने सम्पन्न किया[1] जो १९१९ के रौलट एक्ट के विरोध के साथ ही आविर्भूत हुआ था—"रौलट ऐक्ट के विरोध में जो आन्दोलन उठा उस का ढंग ऐसा था कि वह जनता की चीज़ बनने लगा। गाँव-गाँव कांग्रेस का प्रचार होने लगा और स्वराज्य की माँग जनता के सामने रखी गयी। किसानों से बात करते समय, उन के सम्पर्क में आने से, उन के दृष्टिकोण से भी बहुत-सी बातें कही गयीं।[2]"

गान्धी जी अँगरेज़ों के प्रति एक हद तक सहानुभूति रखते थे। सरकार भी उन्हें अपना मित्र समझती थी। सन् १९१५ में उन्हें 'केसर-ए-हिन्द' स्वर्ण-पदक भी सरकार की ओर से प्रदान किया गया था। गान्धी जी का उस समय तक विश्वास था कि युद्ध में सरकार की सहायता करना स्वराज्य पाने का सुगम मार्ग है। वे सत्य और अहिंसा के बल पर स्वराज्य प्राप्त करना अधिक श्रेयस्कर मानते थे। साधन-शुचिता के वे आग्रही थे। वे कहा करते थे कि साधन ही साध्य के निर्णायक होते हैं, इस लिए साधन की पवित्रता महत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

१८ मार्च १९१९ के 'काले क़ानून' तथा अन्य सरकारी क़ानूनों को तोड़ने के लिए महात्मा जी ने एक समिति निर्मित की, लोगों से सत्याग्रह की प्रतिज्ञा करायी और ३० मार्च १९१९ को हड़ताल करने की अपील की। इस अपील के जवाब में पूरे देश ने अपनी जातीय जागृति का परिचय दिया।

---

१. आचार्य नरेन्द्र देव—राष्ट्रीयता और समाजवाद।

२. गान्धी जी के सम्बन्ध में के० एम० पणिकर ने लिखा है, "It is he who converted Indian Nationalism, a movement. confined to intellectual middle classes, into a revolutionary mass sruggle. It is the who developed its organization and disciplines and provided it with a method of effective action." —The Foundations of new India. P. 180.

सरकारी दमन नीति और अत्याचार ने महात्मा जी की दृष्टि बदल दी। वे विदेशी सरकार के कट्टर विरोधी हो गये। स्मरणीय है कि महात्मा जी ने बोअर युद्ध, जुलू-विद्रोह और यूरोपीय महासमर के समय अँगरेज़ों को सक्रिय सहयोग दिया था। १३ अप्रैल १९१९ के जालियाँवाला बाग़ हत्याकाण्ड के बाद गान्धी जी ने सरकार से औचित्य की माँग की थी, किन्तु अपेक्षित और उचित परिणाम न देख कर उन्हों ने असहयोग का निर्णय कर लिया था।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि कांग्रेस में प्रवेश करते ही गान्धी ने इस के विधान में पूर्णतया परिवर्तन ला दिया। उन्हों ने इसे जनतान्त्रिक स्वरूप दिया और सामान्य जन की संस्था बनाया।[1] वे व्यक्ति-स्वतन्त्रता और समता के हिमायती थे, विशेष रूप से उन की दृष्टि देश के उस बड़े वर्ग पर थी जो सनातन सन्तप्त और पीड़ित था। उन के साथ ही बुद्धिजीवियों तथा अन्य वर्ग की ओर भी उन का ध्यान था। इस प्रकार उन्हों ने अपने अनुयायियों के साथ ही अपने विरोधियों और तटस्थ लोगों के मानस पर भी एक गहरा प्रभाव डाला।[2] उन्हों ने प्रत्येक व्यक्ति के आँसू पोंछने का व्रत लिया था।

सितम्बर १९२० में कलकत्ते में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ था जिस में गान्धी जी की अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकृति मिली थी और उस के अनुसार एक नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था। खिताबों का छोड़ना, सरकारी स्कूल और कॉलिज तथा सरकार से सहायता पाने वाले या इस के नियन्त्रण को स्वीकार करने वाले स्कूल और कालेजों से अपने लड़कों को निकाल लेना, राष्ट्रीय विद्यालयों को स्थापित करना, सरकारी अदालतों का बहिष्कार और पंचायतों की स्थापना, नयी कौंसिलों और विदेशी माल का बहिष्कार—इस कार्यक्रम के प्रधान अंग थे। नागपुर अधिवेशन में यह प्रस्ताव दुहराया गया और कांग्रेस का फिर से संगठन किया गया। सब उचित और शान्तिमय उपायों द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति कांग्रेस का ध्येय बनाया गया।[3]

महात्मा गान्धी के नेतृत्व में कार्य करने वाले देहातों और गाँवों में भेजे गये ताकि वे अपने देश की मूल समस्या को सही रूप में देख-समझ सकें और गाँवों में वैचारिक क्रान्ति के बीज बो सकें। उन नेताओं को पुस्तकीय ज्ञान तो था, किन्तु देश के अर्थशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान उन्हें गाँवों में घूमने और किसानों की समस्याओं में रुचि लेने पर ही हुआ[4]।

---

१. जवाहरलाल नेहरू—डिस्कवरी आफ इण्डिया, पृ० ३६३।

२. वही, पृ० ३६७–६८।

३. आचार्य नरेन्द्रदेव–राष्ट्रीयता और समाजवाद।

४. "He sent us to the villages, and the countryside hummed with the activity of innumerable messengers of the new gospel of ac-

१९२१ की अहमदाबाद कांग्रेस ने लोगों से सरकार की चुनौती को स्वीकार करने की अपील की थी। विशेष रूप से यह अनुरोध किया गया था कि स्वयं-सेवक-दलों में सम्मिलित हो कर शान्तिपूर्वक अपने को गिरफ़्तार करा दें। गान्धी जी को अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमिटी के समस्त अधिकार दे दिये गये थे। गान्धी जी बारडोली ताल्लुक़े में ही सब से पहले सामूहिक सत्याग्रह करना चाहते थे, किन्तु चौराचौरी काण्ड के चलते उन्हें सत्याग्रह का विचार कुछ समय के लिए स्थगित करना पड़ा था। अन्य रचनात्मक कार्य अप्रभावित थे। पत्रों-द्वारा औचित्य की माँग की जाती थी। 'यंग इण्डिया' की कुछ टिप्पणियों के कारण गान्धी जी १३ मार्च १९२२ को गिरफ़्तार कर लिये गये। सेठ गोविन्ददास ने इस प्रसंग की चर्चा इस प्रकार की है 'आखिर १३ मार्च १९२२ को गान्धी जी गिरफ़्तार कर लिये गये और राजद्रोह के अपराध में उन्हें सेशन सुपुर्द कर दिया गया। यह ऐतिहासिक मुकदमा १८ मार्च को अहमदाबाद में आरम्भ हुआ। गान्धी जी पर 'यंग इंडिया' में लिखे गये कतिपय लेखों को ले कर मुकदमा चलाया गया था। कैसा विचित्र कैदी था यह जिस की शान्त, कृश और अजेय देह का अदालत में प्रवेश होते ही सब उस के सम्मानार्थ उठ खड़े हुए। अभियोग के पढ़े जाने पर उसे एकदम स्वीकार कर लिया गान्धी जी ने। इस के बाद जो लिखित बयान गान्धी जी ने दिया, वह संसार के इतिहास की एक उत्कृष्ट सामग्री है।

"न्यायाधीश ने, जो उस समय की सरकार की कठपुतली था, इस मामले को अभूतपूर्व बतलाते हुए गान्धी जी को लोकमान्य तिलक के सदृश मान उन्हें ६ वर्ष के कड़े कारावास की सज़ा दी। गान्धी जी ने अपनी लोकमान्य से तुलना करने के लिए जज को धन्यवाद देते हुए सिर झुका कर सज़ा सिर माथे ली और इस प्रकार संसार का महान् व्यक्ति विधायक कार्यक्रम का उपदेश देते हुए स्वतन्त्रता की अभिलाषा से सहर्ष परतन्त्रता के घेरे में चला गया। इस प्रकार सन् २० का असहयोग आन्दोलन यहीं समाप्त हो गया।"

---

tion. The peasant was shaken up and he began to emerge from his quiescent shell. The effect on us was different but equally far reaching, for we saw, for the first time as it were, the villager in the intimacy of his mud-hut, and with the starte shadow of hunger always pursuing him. We learnt our Indian economics more from these visits than from books and learned discourses. The emotional experience we had already undergone was emphasized and confirmed and—hence forward there could be no going back for us to our old life or our old standards, howsoever much our views might change subsequently.

—Jawaharlal Nehru, Discovery of India., p. 365.

श्री नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गान्धी-युग शुरू किया, जो तब से अब तक क़ायम है—हाँ, बीच में थोड़ा-सा समय (१९२२ से १९२९ तक) ज़रूर ऐसा था जिस में गान्धी जी ने अपने आप को पीछे रख लिया था और स्वराज्य पार्टी को, जिस के नेता देशबन्धु दास और मेरे पिता जी थे, अपना काम करने दिया था। तब से कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गयी, विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ़ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी, कांग्रेस में नये क़िस्म के प्रतिनिधि दिखाई देने लगे, जो ख़ास कर के मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहाँ अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्यों कि कितने ही प्रतिनिधि अँग्रेज़ी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के ख़िलाफ़ भी लोगों के भाव तेज़ी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ़ तौर पर एक नयी ज़िन्दगी, नया जोश, और सचाई देती थी[1]।"

गान्धी जी ऐसे महापुरुष थे जिन में जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कला थी।[2] लुई फिशर ने लिखा है कि गान्धी ने भारत के किसानों, मज़दूरों और बुद्धिजीवियों को समाज में अपने निजी महत्त्व की भावना प्रदान की। उन्हों ने उन्हें सिर्फ़ स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भरती ही नहीं किया वरन् उन का व्यक्तिगत मान भी बढ़ाया और इस प्रकार उन्हें सर्ववादी सिद्धान्त का विरोधी बना दिया।[3]

सांस्कृतिक अवदान

गान्धी जी ने राजनीतिक को आध्यात्मिक स्पर्श दिया। विश्व राजनीति को गान्धी जी की यह बहुत बड़ी देन है। गान्धी जी के इस महत् अवदान पर टिप्पणी करते हुए श्री नेहरू ने लिखा है कि "राजनीति को आध्यात्मिकता के—संकीर्ण धार्मिक मानों में नहीं—साँचे में ढालना मुझे एक उम्दा ख़याल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिए—यह एक अच्छी नीति, सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि निर्भ्रान्त व्यावहारिक राजनीति भी थी, क्यों कि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अकसर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते हैं और नयी समस्याएँ और नयी दिक़्क़तें पैदा कर देते हैं[4]।" असहयोग आन्दोलन की उपलब्धि-चर्चा करते हुए श्री नेहरू ने लिखा है कि असहयोग आन्दोलन ने मुझे वह चीज़ दी जो मैं चाहता था—क़ौमी आज़ादी का ध्येय और (जैसा मैं ने समझा) निचले दर्जे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के अनुकूल

१. श्री जवाहरलाल नेहरू—मेरी कहानी पृ० ७१।
२. वही, पृ० ९६।
३. श्री लुई फिशर— साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ५ अक्टूबर १९५२।
४. श्री जवाहर लाल नेहरू—मेरी कहानी, पृ० ८०।

थे और जिन्हों ने मुझे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भान कराया।[1]

गान्धी जी राष्ट्रीय भूमिका पर कार्य करते हुए मानव-मांगल्य के लिए चिन्तित रहते थे और उस के लिए वे निरन्तर ऐसे उपक्रम किया करते थे जिस से मानवता वर्वरता की ओर न वढ़े। "उन की पैगम्बर-जैसी दृष्टि थी और उन्हों ने महसूस किया कि युद्धों से राष्ट्रों के वीच की खाई अधिक चौड़ी होगी और उन के वीच समझदारी घटेगी और इस प्रकार अधिक युद्धों तथा अधिक घृणा के लिए रास्ता तैयार होगा और अन्ततः मानवता वर्बरता तक पहुँच जायेगी। यह विश्व-शान्ति के लिए गान्धी जी की देन है[2]।" इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धी जी केवल राष्ट्रीय पुरुष ही नहीं वल्कि मानवता के अप्रतिम उन्नायक थे और उन की आस्था थी कि स्वतन्त्रता के विना भोजन नहीं, प्रकाश नहीं, अच्छाई नहीं, सत्य नहीं, शान्ति नहीं। जो घृणा करते हैं, वे शान्ति नहीं चाह सकते; जिन का कार्य-क्रम विनाश पर अवलम्वित है, वे शान्ति में योग नहीं दे सकते[3]।

युगीन चेतना पर गान्धी के व्यक्तित्व का प्रभाव

गान्धी जी अपने युग के ऐसे नेता थे जिन का देश की समग्र चेतना पर प्रभाव था। राजनीति के साथ ही शिक्षा और साहित्य पर उन का गहरा प्रभाव पड़ा।[4]

राष्ट्रीय संस्थाओं के संस्थापन और संगठन की ओर गान्धी जी की विशेष रुचि थी। उन की प्रेरणा और सक्रिय रुचि से अनेक राष्ट्रीय विद्या-केन्द्रों की स्थापना हुई जिन में प्रमुख हैं—नेशनल कॉलिज कलकत्ता, पटना नेशनल कॉलेज, विहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, वंगाल नेशनल युनिवर्सिटी, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, नेशनल मुस्लिम यूनिवर्सिटी और गुजरात विद्यापीठ।

गान्धी युग और हिन्दी का छायावाद युग

"सन् १९२० से १९३० ई० तक का समय पुराने संस्कारों के प्रति विद्रोह और नवीन संस्कारों के वीजारोपण का समय है।[5]" इतिहासकारों के मत से सन् १९३० ई० भारतवर्ष के लिए युगान्तर ले आने वाला वर्ष है। इस वर्ष भारतवर्ष

---

१. श्री जवाहर लाल नेहरू –मेरी कहानी, पृ० ८०।
२. लुई फिशर—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ५ अक्टूबर १९५३।
३. वही।
४. "Mahatma Gandhi took over the leadership of the national movement and for over twenty-five years shaped not only the course of India's history but lift an indelible imprint on the thinking of India."—K. M. Panikkar, The Foundation of New India. P. 179.
५. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १४६।

का चित्त पुराने संस्कारों को झाड़ कर नवीन मार्ग के अनुसन्धान में प्रवृत्त हुआ था। नवीन आशा और नवीन आकांक्षा के प्रति जैसा अडिग विश्वास इस समय दिखाई दिया वह शताब्दियों से अपरिचित-सा हो गया था। इस के पहले का भारतवर्ष यद्यपि आत्म-चेतना से शून्य नहीं था पर उस का चित्त पूर्ण मुक्त नहीं हुआ था।[1] हिन्दी साहित्य का यह छायावाद युग था। छायावाद युग के साहित्य की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इस ने 'रूढ़ि-समर्थित काव्य कला' पर प्रश्नचिह्न लगाया। स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन हुआ। अँगरेज़ी स्वच्छन्दतावादी काव्य और रवीन्द्रनाथ के काव्य से प्रभाव-प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी में काव्य-रचना प्रारम्भ हुई। छायावाद द्विवेदीकालीन राष्ट्रीयतावाद के प्रति उतना आग्रह नहीं रखता था जितना मानव ऐक्य की भावना के प्रति। इस युग ने हिन्दी को तीन ऐसे महान् कवि दिये जिन्हों ने अपनी प्रातिभ-शक्ति से हिन्दी काव्य को उन्नत किया। प्रसाद, निराला और पन्त की बृहत्त्रयी हिन्दी में सर्वथा नवीन स्वर लेकर आयी।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "छायावाद को चाहे जिस नाम से पुकारिए, इस का एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। राष्ट्रीय इतिहास में जिन सुस्पष्ट प्रेरणाओं से यह उत्पन्न हुआ और जिस आवश्यकता की पूर्ति इस ने की, उस की ओर ध्यान देना आश्चर्य की बात होगी। हिन्दू जाति के नाना भेदों-प्रभेदों के बीच एक संघटित जातीयता का निर्माण हिन्दू-मुस्लिम और ईसाई आदि विभिन्न धर्मानु-यायियों में एक अन्तर्व्यापी मानव सूत्र का अनुसन्धान, राष्ट्रों के बीच खाइयाँ पाटना—महायुद्ध के पश्चात् अपने देश के सामने ये प्रधान प्रश्न थे। देश की स्वतन्त्रता का भी कुछ कम प्रधान प्रश्न न था। पर वह जातीय और राष्ट्रीय एक-सूत्रता के आधार पर ही खड़ा हो सकता था और अन्तर्राष्ट्रीय मानव सभ्यता का एक अंग बन कर ही शोभा पा सकता था। यह सम्मिलन और सामंजस्य की भावना भारतीय संस्कृति की चिरदिन की विशेषता रही है, इस लिए महायुद्ध की शान्ति के पश्चात् ये प्रश्न सामने आते ही वह सांस्कृतिक प्रेरणा जाग उठी और तीव्र वेग से तत्कालीन काव्य और कलाओं में अपनी अभिव्यक्ति चाहने लगी।[2]"

स्मरणीय है हिन्दी का छायावाद युग गान्धी युग की साहित्यिक उपलब्धि है। छायावादी कवियों और स्वच्छन्दतावादी लेखकों के अलावे इस युग में कुछ ऐसे विश्रुत साहित्यकार भी हुए जो गान्धी जी के सत्याग्रह-आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता थे और इन्हों ने गान्धी जी के आचार-पक्ष से भी काफ़ी प्रभाव ग्रहण किया था। माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, मैथिलीशरण गुप्त और सियाराम शरण गुप्त ऐसे कवि हैं। ये हिन्दी काव्य के विशिष्ट पुरस्कर्ताओं में हैं। कथा-लेखकों में प्रेमचन्द और जैनेन्द्र पर गान्धी-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है।

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १४६।
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० (विज्ञप्ति) १३।

गान्धी जी स्वयं पत्रकार थे और पत्रकारिता को वे वैचारिक क्रान्ति का एक सशक्त माध्यम मानते थे। उन के हाथ में अपने पत्र थे। विभिन्न भाषाओं में अनेक पत्र प्रकाशित हो रहे थे जिन पर गान्धी-विचार का असर था और जो सत्याग्रह—आन्दोलन के प्रति प्रतिश्रुत थे।[१] कुछ देशी पत्र भी अँगरेज़ी पत्रों की देखा-देखी प्रतिगामी नीति के क़ायल थे।[२]

हिन्दी पत्रकारिता

स्मरणीय है कि १९२० को कलकत्ता कांग्रेस हिन्दी पत्रकारिता के उन्नयन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसी अधिवेशन से हिन्दी की चर्चा राष्ट्रभाषा के रूप में होने लगी। डॉ० रामरतन भटनागर ने लिखा है कि राजनीतिक पत्रकारिता में यहीं से एक नया युग आरम्भ होता है।[३] शिवप्रसाद गुप्त ने बनारस से 'आज' का प्रकाशन शुरू किया। ५ सितम्बर १९२० को इस का प्रकाशन हुआ था। शिवप्रसाद गुप्त का उद्देश्य इस पत्र को लण्डन के 'टाइम्स'-जैसा प्रभावशाली बनाने का था[४]। इस के पहले ही अंक में सम्पादक श्री पराड़कर जी ने लिखा था—"हमारा उद्देश्य अपने देश के लिये सब प्रकार से स्वातंत्र्य उपार्जन है। हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ावें, अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें, उन को ऐसा बनावें कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो, संकोच न हो।"

गान्धी युग की हिन्दी पत्रकारिता की सब से बड़ी उपलब्धि यह है कि इस युग में साहित्यिक पत्रकारिता राजनीतिक पत्रकारिता से पृथक् हुई। मतवाला, सुधा, चाँद, माधुरी, हंस और विशाल भारत-जैसी पत्रिकाएँ इसी समय निकलीं। इन पत्रिकाओं में गान्धी-युग की मूल चेतना मुखर है। ऐतिहासिक दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के साथ

---

१. द्रष्टव्य—ए हिस्ट्री ऑफ द प्रेस इन इण्डिया—ले० एस० नटराजन्, पृ० १९०-९१।

२. द्रष्टव्य—श्री जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक—मेरी कहानी, पृ० ५३-५४।

३. Dr. R. R. Bhatnagar—Rise and Growth of Hindi Journalism. p. 357.

४. "It was at this time that Shri Shivaprasad Gupta, the wellknown millionaire philauthropist of Benares founded his Hindi paper, the Aj, at Benares on September 5, 1920. His ideal was that there should be a newspaper in Hindi as influential as the Times of London."—Margarita Barns—The Indian Press, p. 347.

ही आविर्भूत 'सरस्वती' साहित्यिक महत्त्व और जातीय स्वर की दृष्टि से इसी युग की पत्रिका थी।[1]

'मतवाला' ३१ मई, १९२४ की एक सम्पादकीय टिप्पणी की अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"...यदि आप स्वतंत्रता के अभिलाषी हैं, अपने देश में स्वराज्य की प्रतिष्ठा चाहते हैं, तो तनमन और धन से अपने नेता महात्मा गान्धी के आदेशों का पालन करना आरम्भ कीजिये।" इसी प्रकार मतवाला के २६ जनवरी १९२४ की सम्पादकीय टिप्पणी की अन्तिम पंक्तियाँ गान्धी जी का पक्ष-समर्थन करती हैं—"हमें बिना विलम्ब सत्याग्रह की शरण ले कर लीडरों को अपना पिछलगुआ बनने के लिये बाध्य करना चाहिये, क्यों कि गान्धी-विहीन स्वराज्य यदि स्वर्ग से भी सुन्दर हो तो वह नरक के समान त्याज्य है। उस एक महात्मा पर ही शत-शत स्वराज्य न्योछावर कर देने योग्य हैं। उस के बिना स्वराज का स्वप्न भी कैसा? वही हमारा प्रत्यक्ष स्वराज्य है। यदि वह हमारी आँखों के सामने बना रहे, तो स्वराज्य चरणों पर लोटता रहेगा। जिस एक के बिना हमारा सब कुछ लवण-हीन व्यंजन हो रहा है उसी एक को पा कर हम अनेक 'एक' हो सकते हैं।"

इस युग की हिन्दी पत्रकारिता का यही मूल स्वर था। इस युग की हिन्दी पत्रकारिता के विशिष्ट पुरस्कर्ताओं की चर्चा करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "इस काल में हिन्दी में कुछ इतने महत्त्वपूर्ण पत्रकार पैदा हुए जो दीर्घकाल तक याद किये जायेंगे। बुद्धिगत प्रौढ़ता के साथ-साथ चरित्रगत दृढ़ता ने इन पत्रकारों को बड़ी सफलता दी। गणेश शंकर विद्यार्थी, पराड़कर जी, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे और बनारसी दास चतुर्वेदी, ऐसे ही पत्रकार हुए।" अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे और बनारसी दास चतुर्वेदी का तत्कालीन कार्य-क्षेत्र कलकत्ता ही था।

---

१. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आदर्श की दृष्टि से इस युग के मनीषी पत्रकार थे और उन की पत्रिका 'सरस्वती' इसी युग की पत्रिका थी। द्विवेदी जी पर टिप्पणी करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "वे ऐसे-वैसे सम्पादक नहीं थे, सिद्धान्तवादी और सिद्धान्त पालक सम्पादक थे।......जो कुछ उन के लक्ष्य थे, उन की प्राप्ति अपनी निश्चित धारणा के अनुसार 'सरस्वती' के द्वारा करना उन का सिद्धान्त था, अतः 'द्विवेदी काल' की 'सरस्वती में केवल द्विवेदी जी की भाषा की प्रतिभा ही गठित नहीं है, उन के विचारों का भी उस में प्रतिबिंब पड़ा है।......'सरस्वती की सहायता से उन्हों ने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारकों, और साहित्य के शिक्षक—तीन-तीन संस्थाओं के संचालक का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उस का निर्वाह किया।......द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादन का इतिहास ऐसे अनेक आन्दोलनों का इतिहास है। वह उनके व्यक्तित्व और तत्कालीन समाज के विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।"—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य 'बीसवीं' शताब्दी, पृष्ठ ३, ४।

प्रस्तुत चर्चा का उद्देश्य गान्धी-युग की वंगीय हिन्दी पत्रकारिता का अनुशीलन है। इस युग के दैनिक पत्रों की चर्चा एक स्वतन्त्र अध्याय में की गयी है। यहाँ साप्ताहिक और मासिक पत्रों की ही चर्चा की जायेगी। इतना और निवेदन करूँ कि उक्त चर्चा का सम्बन्ध विशेष रूप से साहित्यिक पत्रकारिता से होगा। इस प्रकार 'मतवाला' की विशेष विवेचना करते हुए अन्य पत्रों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

मतवाला

प्रकाशकीय प्रेरणा :—मतवाला के प्रकाशन की प्रेरणा बंगला-साप्ताहिक पत्र 'अवतार' से मिली थी। यह हास्यरस का पत्र था। हिन्दी में ऐसा पत्र नहीं था। इस अभाव की ओर कलकत्ते के तत्कालीन हिन्दी हितैषियों का ध्यान गया। इन में प्रमुख थे मुंशी नवजादिक लाल, पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी, बाबू शिवपूजन सहाय और 'बालकृष्ण प्रेस' के मालिक महादेव प्रसाद सेठ। बालकृष्ण प्रेस में इन की बैठक जमती थी।

बंगला 'अवतार' पढ़ कर इन लोगों को प्रेरणा मिली जिस की चर्चा आचार्य शिवपूजन सहाय ने अपने संस्मरण में इस प्रकार की है—"सोचावट होने लगी—इसी ढंग का एक पत्र हिन्दी में निकाला जाय। रोज हर घड़ी चर्चा छिड़ी ही रहती थी। कितने ही हवाई किले बने और कितने ही उड़ गये। बहुत मन्थन के बाद विचारों में स्तम्भन आया। उसी दम बात तय हो गयी। बीजारोपण हो गया।

"ता० २० अगस्त, १९२३ ई० रविवार को सिर्फ़ बात पक्की हुई। ता० २१ सोमवार को मुन्शी जी ने ही पत्र का नामकरण किया—'मतवाला'। मुन्शी जी को दिनरात इसी की धुन थी। नाम को सब ने पसन्द किया। अब कमिटी बैठी। विचार होने लगा—कौन क्या लिखेगा—पत्र में क्या रहेगा, इत्यादि।—'निराला'जी ने कविता और समालोचना का भार लिया। मुन्शी जी ने व्यंग्य-विनोद लिखना स्वीकार किया।

"मैं चुप था। मुझ में आत्मविश्वास ही नहीं था। बैठा-बैठा सब सुन रहा था। सेठ जी भंग का गोला जमाये सटक गुड़गुड़ा रहे थे। मुझ से बार-बार पूछा गया। डरते-डरते मैं ने कहा—मैं भी यथाशक्ति चेष्टा करूँगा। सेठ जी ने कहा—'आप लीडर (अग्रलेख) लिखियेगा, प्रूफ देखियेगा जो कुछ घटेगा सो भरियेगा।"

"मुंशी जी और सेठ जी तैयारी में लग गये। स्तम्भों के शीर्षक चुने गये। डिजाइन, ब्लाक, कागज, धड़ाधड़ प्रेस में आने लगे। चारु बाबू चित्रकार ने मुखपृष्ठ के लिए 'नटराज' का चित्र बनाया। देख कर सब की तबियत फड़क उठी। 'निराला' जी ने कविता तैयार कर ली—समालोचना भी लिख डाली। मुंशी जी भी रोज कुछ लिखते जाते थे। मैं हतबुद्धि-सा हो गया। कुछ सूझता ही न था। श्रावण की पूर्णिमा ता० २६ शनिवार को पड़ती थी। उस दिन 'मतवाला' का निकलना सर्वथा

निश्चित-सा था। युवती दुलहिन के बालक पति की तरह मेरा कलेजा धुकधुका रहा था।

"कुछ मैटर प्रेस में जा चुका था। उस का प्रूफ़ भी मैं देख चुका था। अब उत्साह बढ़ने पर मैं ने भी कुछ 'बहक' और 'चलती चक्की' लिखी। श्रावणी संवत् १९८० शनिवार (२३ अगस्त १९२३ ई०) को 'मतवाला' का पहला अंक निकल गया। था तो साप्ताहिक, मगर मासिक पत्र की तरह शुद्ध और स्वच्छ निकला। बाजार में जाते ही पहले ही दिन धूम मच गई।"[1] इस प्रकार मतवाला के प्रकाशन के साथ हिन्दी पत्रकारिता में एक नया प्रयोग हुआ, एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई और एक साहित्यिक क्रान्ति का आविर्भाव हुआ। उस ने हिन्दी साहित्य को एक हस्ताक्षर—निराला—दिया, जो आधुनिक काव्य की महत् उपलब्धि और स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का सब से बड़ा पुरस्कर्ता है।

संघटन पक्ष

मतवाला के मुख्य पृष्ठ पर निराला की कविता छपती थी। नियमादि भी मुख्य पृष्ठ पर ही रहता था। पहले अंक का पहला पृष्ठ अविकल उद्धृत किया जाता है, ताकि इस के व्यवस्था-स्वरूप का ज्ञान हो सके।

■

---

१. आचार्य शिवपूजन सहाय—शिवपूजन-रचनावली, चौथा खण्ड, पृ० ११२-११३।

मतवाला
साप्ताहिक पत्र

"अमिय-गरल, शशि-शीकर, रवि-कर, राग-विराग भरा प्याला
पीते हैं जो साधक उन का प्यारा है यह मतवाला।"

(प्रति प्याला दो पैसा नगद) (वार्षिक बोतल दो रुपया पेशगी)

वर्ष १] कलकत्ता, श्रावणी पूर्णिमा १९८०, रविवार [संख्या १

मेरा पिनल कोड।

(१) प्रति शनिवार को शनैश्चर की तलाश में मैं बाहर निकला करूँगा।

(२) जो लोक दो रुपया डाक व्यय सहित सालाना सलामी मेरे पण्डे के पास पेशगी जमा कर देंगे उन के घर ठीक समय पर बिना रोक-टोक सीधे पहुँच जाऊँगा।

(३) नक़दानक़द का पक्षपाती होने के कारण वी० पी० की अपेक्षा मनिआर्डर द्वारा वार्षिक दक्षिणा लेना ही मुझे अधिक पसन्द है। इस से मेरा और मेरे भक्तों का लाभ है।

"रक्षा-बन्धन"

परिमल युत मृदु मन्द मलय वह
गुंजत छन छन मत्त मधुपगन
उठत बीन झंकार चतुर्दिस
चढ्यो मदन जनु करन कतहु रन
पन-पिय अधरन चूम चाँदनी,
अलस चुवत तन सुधा-स्वेदकन
प्रकृति-पुरुष कर मिलन मनोहर
अति सुखकर यह 'रक्षा-बन्धन'

—पुराने महारथी।

(२)

बढ़ गई शोभा सखी सावनी सलोनी हुई
बड़े भाग्य भारत के गौरव के गये दिन आये फिर
'रक्षा' से बँधे हैं भारतीयों के कोमल कर,
मंगल मनाती क्यों न, रहा क्यों कलेजा चिर ?
तारों इन सुनहलों के आगे सितारे मात
अथवा प्रकाश रहा बादल-दलों से घिर ?
देख करतूत ऐसी वीरवर सपूतों की
भारत का गर्व से उठेगा या झुकेगा सिर ?
कंकालों का क़त्ल अहो इस 'राखी' के रंग में छिपा
भूत, भविष्यत्, वर्तमान है दोनों का तीनों लिया।

—'निराला'

चेतावनी

(१) लेख, कविता, समालोचनार्थ पुस्तकें और परिवर्तनार्थ पत्र आदि सम्पादक—'मतवाला' और मूल्य तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्रादि मैनेजर—मतवाला के पास नीचे लिखे पते से भेजना चाहिये—'बालकृष्ण प्रेस, २३ शंकर घोष लेन, कलकत्ता।'

(२) कोई मुहर्रमी महाशय 'मतवाला' के लिये लेख भेजने का दुस्साहस न करें।

विज्ञापन दर

जो सज्जन एक वर्ष के लिये छपवाना चाहेंगे उन से प्रति इंच प्रति सप्ताह चार आने के हिसाब से छपाई पेशगी ली जायगी। ६ महीने के लिये उक्त दर का डेढ़ा, तीन महीने के लिए दूना और एक महीने के लिये तिगुना लिया जायगा। एक महीने से कम का विज्ञापन नहीं लिया जायगा। विज्ञापन की छपाई हर हालत में पेशगी ही ली जायगी।

मैनेजर—'मतवाला'
बालकृष्ण प्रेस,
२३ शंकर घोष लेन, कलकत्ता।

दूसरे पृष्ठ पर सम्पादकीय टिप्पणी रहती थी। सम्पादकीय स्तम्भ का स्वरूप दिखाने के लिए एक पूरे पृष्ठ का चित्र जिस में एक पूरी सम्पादकीय टिप्पणी है, दिया जा रहा है। सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक मुख्य पृष्ठ के शीर्ष पर अंकित रहता था। सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत शीर्षक के ऊपर ही अकबर की दो पंक्तियाँ स्थायी रूप से रहती थीं, जो इस प्रकार है—

"खींचो न कमानों को न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल है तो अखबार निकालो॥"
— अकबर।

मतवाले की बहक, चलती चक्की, मतवाले का चाबुक स्थायी स्तम्भ थे। कभी-कभी 'मतवाले का चुकूड़', 'चण्डू खाने की गप्प' और 'रँगरूटों की फौज' भी प्रकाशित होता था। मुख्य पृष्ठ के लिए निराला कविता लिखते थे, सम्पादकीय लेख, चलती-चक्की तथा अन्य विनोदपूर्ण टिप्पणियाँ शिवपूजन सहाय लिखते थे, नवजादिक लाल 'मतवाला की बहक' नामक स्तम्भ व्यंग्यात्मक टिप्पणियों से सजाते थे। भूतनाथ तेल का पूरे एक पृष्ठ का विज्ञापन मुन्शी जी (नवजादिक लाल) के चलते सहज ही उपलब्ध हो गया था। समालोचनाएँ निराला जी लिखा करते थे। प्रूफ-संशोधन तथा पूरी सामग्री के सम्पादन का पूरा दायित्व शिवपूजन जी पर था। सम्पादक के रूप में सेठ जी का नाम छपता था।

'मतवाला' की व्यवस्था की चर्चा करते हुए आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है. "प्रेस की व्यवस्था स्वयं सेठ जी करते थे और 'मतवाला' का प्रबन्ध विभाग मुंशी जी के हाथ में था। जब मतवाला का प्रबन्ध सम्बन्धी काम बहुत बढ़ गया तब मुंशी

जी 'मतवाला की बहक' लिखने के लिये समय नहीं निकाल पाते थे। विवश हो कर उन्हें भूतनाथ कार्यालय की मैनेजरी भी छोड़नी पड़ी। तब भी उन्हें कुछ लिखने का अवकाश नहीं मिल पाता था। इस तरह 'बहक' का बोझ भी मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मुंशी जी कभी-कभी यथावकाश कभी कुछ लिख दिया करते। वे और सेठ जी जब अख़बार पढ़ने का अवसर पाते तब उस में निशान लगा कर मेरे पास उस पर टिप्पणी जड़ने के लिये भेज देते। 'मतवाला' कार्यालय की तीसरी मंजिल एक छोटा सा एकांत कमरा था। रात में सेठ जी उस में सोया करते थे और दिन भर में उस में 'मतवाला' का मैटर तैयार किया करता था। शाम को रोज बनारसी बूटी बनती थी। भंग छानने के बाद कुछ घंटे हम लोगों की सम्मिलित बैठक होती थी। उस में अखबार की खबरों पर विचार-विनिमय होता था। देश, समाज, धर्म और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण समाचारों और ज्वलन्त राजनीतिक समस्याओं पर सूझ-बूझ भरी टिप्पणियाँ लिखने के लिये निश्चय किया जाता था। भंग की तरंग में सेठ जी की सूझ-बूझ बड़ी निराली होती थी। मुंशी जी भी स्वाभाविक हास्यविनोद लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे। निराला जी की कविताओं ने भी मतवाला की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ायी। उन्हों ने सरस्वती के अंकों की जो समालोचना लगातार लिखी—'गरगज सिंह वर्मा के नाम से, उसे पढ़ कर आचार्य द्विवेदी जी इतने क्षुब्ध हुए की 'मतवाला' के एक अंक को आदि से अन्त तक अच्छी तरह संशोधित कर के भेज दिया।

'मतवाला' में छपने के लिये बहुत से लोग हास्य-विनोदमयी रचनायें प्रायः भेजा करते थे। उन में से मौके की रचनायें चुन कर मैं सुधार-संवार देता था। ऐसी रचनाओं के लिए 'रंगरूटों की फौज' नामक स्तम्भ बनाया गया था। राजनीतिक, सामाजिक-धार्मिक और साहित्यिक जगत् की जो हवाई खबरें और अफवाहें होती थीं उन्हें कलम बन्द करने के लिये 'चण्डू खाने की गप' नामक स्तम्भ कायम किया गया था। उस से पाठकों का इतना अधिक मनोरंजन होता था कि देश के अनेक भागों से लोग अपने यहाँ की उड़ती खबरें और दिलचस्प अफवाहें लिख-लिख कर भेजा करते थे।……………हिन्दी संसार के पत्र पाठकों में 'मतवाला' ने एक नयी उमंग की लहर पैदा कर दी थी। हास्य रस की ओर लोगों का झुकाव दिन-दिन होता जाता था। नतीजा यह हुआ कि पहले साल के अन्दर ही वह दस हजार की संख्या में छपने लगा। केवल बनारस में ही एजेण्ट की मार्फत दो हजार प्रतियाँ खपती थीं। कलकत्ता में उस की इतनी धाक थी कि जिस विषय पर वह लिखना शुरू करता था उस विषय के क्षेत्र में हड़कम्प मच जाता था।[१]

निराला जी शिवपूजन जी की सम्पादकीय टिप्पणियों को देखते थे और अपेक्षित संशोधन भी करते थे। "मतवाला मण्डल में वही भाषा के आचार्य थे, किन्तु

१. आचार्य शिवपूजन सहाय : नयी धारा, जून १९५२ (वर्ष ३, अंक ३)

मुंशी जी अपनी लिखी चीजों में किसी को कलम नहीं लगाने देते थे। मुंशी जी पुराने अनुभवी थे, कई अखबारों में रह चुके थे, उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे, हाथ मँजा हुआ था[1]।"

सेठ जी और मुंशी जी की अनुपस्थिति में मुद्रण सम्बन्धी सारा काम निराला जी को ही करना पड़ता था। श्याम सुन्दर खत्री के एक संस्मरण से इस बात की पुष्टि होती है। खत्री जी ने लिखा है, "एक बार जब मैं मतवाला आफिस में गया, तब देखा, वहाँ सन्नाटा था। पूछने पर पता चला कि बस इस समय सिर्फ़ निराला जी प्रेस में हैं, मैं ने उन के पास खबर भेजी। वे बाहर आये। शिष्टाचार के उपरान्त हम दोनों एक चौकी पर बैठ गये। निराला जी ने कहा कि मुंशी जी घर गये हुए हैं और महादेव बाबू भी मिर्जापुर चले गये हैं, इस लिए 'मतवाला' का सारा कार्य-भार मुझी पर आ पड़ा है[2]।" इस प्रकार निराला जी 'मतवाला' के प्रकाशन में सक्रिय रुचि लेते थे। 'मतवाला मण्डल' में निराला जी का विशेष स्थान था। 'मतवाला' में कविता और समालोचना निराला जी के स्वीकृत करने पर ही छपती थी। सेठ जी और मुंशी जी उन का जितना आदर करते थे, उतना आदर अब शायद ही किसी साहित्यिक को किसी प्रकाशक से मिल सके[3]।"

इस प्रकार पारस्परिक स्नेह-सहयोग से मतवाला का प्रकाशन होता था। अंक ६ से इस के रूप-विन्यास में किंचित् परिवर्तन यह आया कि मुख्य पृष्ठ पर नटराज का चित्र छपने लगा। इस परिवर्तित रूप को दिखाने के लिए मुख्य पृष्ठ का एक चित्र दिया जाता है।

मतवाला में प्रायः व्यंग्य-चित्र प्रकाशित होते थे जिन में तत्कालीन परिस्थितियों पर चोट करने वाले गहरे व्यंग्य होते थे।

मतवाला का उद्देश्य

'मतवाला' हिन्दी का हास्य-व्यंग्य-विनोद प्रधान साप्ताहिक पत्र था। इस का पूरा स्वरूप विलक्षण था। पहले अंक में सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत 'आत्म परिचय' प्रकाशित हुआ था जो एक विलक्षण शैली में लिखा गया था। इस के लेखक स्व० शिवपूजनसहाय थे जो अपने युग के एक विशिष्ट शैलीकार माने जाते थे। उक्त सम्पादकीय टिप्पणी[4] में 'मतवाला' के आविर्भाव-प्रयोजन की विज्ञप्ति दी गयी है। इस की अन्तिम पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं जिस में 'मतवाला' के उद्देश्य का संकेत है, "मैं अपनी यात्रा कि रिपोर्ट नियमित रूप से प्रकाशित करता रहूँगा। उस में सच्ची

---

१. शिवपूजन रचनावली, चौथा खण्ड, पृ० ११३।

२. श्याम सुन्दर खत्री : निराला अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४३।

३. आचार्य शिवपूजन सहाय : वही, पृ० ३१।

४. 'मतवाला' के प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी अविकल परिशिष्ट में उद्धृत की गयी है।

और स्वाभाविक सूचना रहेगी। उस के द्वारा मैं यथेष्ट रीति से इस देश की आन्तरिक दशा बतलाऊँगा। लेकिन बतलाने का ढंग निराला होगा। जो मेरी ही तरह स्वतंत्र 'मत' वाला होगा वही उस ढंग को समझने वाला होगा। राष्ट्र, जाति, सम्प्रदाय, भाषा, धर्म, समाज, शासन-प्रणाली, साहित्य और व्यापार आदि समस्त विषयों का निरीक्षण और संरक्षण ही मेरी योजना का अभिसंधान है। मैं उसे पूरा करने के लिए संकोच, भय, ग्लानि, चिन्ता और पक्षपात का उसी प्रकार त्याग कर दूँगा जिस प्रकार यहाँ के नेता निजी स्वार्थ का त्याग करते हैं"। आगे 'मतवाला' की वस्तु-विवेचना करते हुए हम देखेंगे कि अपने उद्देश्य के प्रति यह कितना सचेत था।

'मतवाला' की वैशिष्ट्य-चर्चा

'मतवाला' शुद्ध राष्ट्रीय पत्र था। ऊपर इस से दो अंश उद्धृत कर हम ने दिखाया है कि गान्धी जी के प्रति इस की आस्था थी और उन के नेतृत्व में चलने वाले सत्याग्रह आन्दोलन का इस ने खुल कर समर्थन किया था। 'मतवाला मण्डल' के सदस्य गान्धी जी के प्रति सहज श्रद्धा रखते थे।[1] किन्तु उन में हिन्दुत्व का भाव भी कम न था अर्थात् हिन्दु-मुसलिम एकता के प्रश्न पर वे गान्धी जी की शान्तिवादी नीति के पक्ष में नहीं थे। इस प्रकार इस पत्र की प्रकृति पूर्ण स्वच्छन्द और स्वतन्त्र थी। यह किसी व्यक्ति, नीति, दर्शन और सम्प्रदाय के प्रति प्रतिश्रुत नहीं था।

चूँकि यह हास्य और व्यंग्य का पत्र था इस लिए उसे एक बड़ी सुविधा थी कि कड़ी से कड़ी बात विनोद की शैली में वह कह जाता था। उस की टिप्पणियाँ हास्य के आवरण में अनौचित्य पर कड़ी चोट करती थीं। इस दृष्टि से वह किसी के प्रति सहिष्णु या पक्षपाती नहीं था। बड़े निर्भीक ढंग से वह अन्याय और अनौचित्य का परदाफ़ाश करता था। 'मतवाला मण्डल' के प्रायः सभी सदस्य स्वच्छन्द प्रकृति के व्यक्ति थे और उन पर किसी प्रकार का प्रकाशकीय अंकुश न था, इस लिए वे खुल कर अपनी बात कहते थे।

'मतवाला'-संचालक श्री सेठ जी स्तम्भ-लेखकों या कहना चाहिए सम्पादकों के सहृदय मित्र थे। सभी उन्मुक्त ढंग से अपने दायित्व का पालन करते थे। किसी के ऊपर किसी तरह का मानसिक भार नहीं था। सेठ जी मतवाला–परिवार के सदस्यों से

---

१. मतवाला-सम्पादक श्री निराला के बारे में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "राजनीतिक क्षेत्र में वे गान्धी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित अवश्य थे, परन्तु उन की दृष्टि उस समय भी सम्पूर्ण सामाजिक समता तक पहुँच चुकी थी। वे कोरी भावात्मक समता के आदर्शवादी दृष्टिकोण को पर्याप्त नहीं मानते थे। वे आर्थिक और व्यावहारिक समता को उस समय से ही आवश्यक बता रहे थे। फिर भी अपने व्याख्यानों में (हमारे गाँव में उन दिनों प्रायः राजनीतिक सभाएँ और व्याख्यान होते रहते। वे गान्धी जी की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते थे। हाँ साहित्य और भाषा के क्षेत्र में उन के वक्तव्यों को वे अनधिकृत मानते थे।"

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : निराला अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७१-७२।

पारिवारिक व्यवहार रखते थे। वर्ष २, अंक १ में सेठ जी ने 'मतवाला-मण्डल' के सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करते हुए लिखा था, "......सर्वप्रथम उल्लेख योग्य हैं हिन्दू-भूषण बाबू शिवपूजन सहाय। ये वास्तव में हिन्दी साहित्य के भूषण हैं। इन्हीं ने इस जांच को सफल बनाने में जिस अथक परिश्रम और विलक्षणता का परिचय दिया है उसे दृष्टि में रखते हुए हम यह बिना किसी प्रकार की अत्युक्ति के कह सकते हैं कि यदि इन का सहयोग प्राप्त न हुआ होता तो यह जांच हजार चेष्टा करने पर भी अधूरी ही रहती। साथ ही हम अपने मित्र पण्डित श्री सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' (गरगजसिंह वर्मा) के भी बड़े उपकृत हैं जिन्होंने जांच की रिपोर्ट तैयार करने में बड़ी निपुणता से, अपनी 'कसौटी' पर कस कर खरे खोटे की पहचान बताते हुए हमारी सहायता की है और जो 'चाबुक' चलाने में चौकसी दिखाते हुए हमारे रथ को वह निकट मार्ग से निकाल कर मुख्य लक्ष्य पर्यन्त निर्विघ्न खींच लाये हैं। 'निराला' नाम से त्रिपाठी जी ने तो हमारी जो कुछ सहायता की है वह हमारी इस क्रांतिपूर्ण यात्रा को शान्तिपूर्ण बनाने में यथेष्ट समर्थ हुई है और उसे हम बड़े संतोष के साथ अपने इष्टदेव के आगे रखते हैं, वे ही उन्हें इस सच्चे सौहार्द का पुरस्कार दें। प्रियबन्धु 'निराला' की भावमयी कविताओं ने हमें विशेष रूप से तृप्त किया है। उन की निराली स्वर-लहरी में हम अनेक बार गद्गद् हो चुके हैं।...... उन की सुधासुखी लेखनी का सुमिष्ट प्रसाद ही हमारी इस साल-भर की यात्रा का मधुर सम्बल रहा है। उन के सौजन्य का सहारा पा कर हमें हिन्दी संसार को साल भर तक एक नवीन सन्देश सुनाने का सौभाग्य प्राप्त रहा है, जिस का हमें गर्व है।" मुंशी नवजादिक लाल की चर्चा करते हुए उन्हों ने लिखा है कि "अपने परममित्र मुंशी नवजादिक लाल जी श्रीवास्तव को कोटिशः साधुवाद देते हैं जिन्हों ने चुभती हुई चुटकियाँ लिख कर मतवाला-मण्डल की विस्मयजनक विशेषता को प्रत्यक्ष प्रकट किया है।...बात-बात में व्यंग्य और विनोद की सृष्टि करना आप की ही प्रतिभा की करामात है। अत्यन्त आनन्द का विषय है कि आप जैसे विशेषज्ञ हमारे चिर-सहचर और दाहने हाथ हैं।" व्यक्ति-वैशिष्ट्य के महत्व को स्वीकार करने और उस के प्रति अपेक्षित कृतज्ञता ज्ञापित करने की यह उदारता आज दुर्लभ है जो मतवाला-संचालक श्री महादेवप्रसाद सेठ की विशेषता थी।

यह पत्र यथार्थ जीवन-जगत् का आग्रही था और उस 'गोरखधन्धे' का 'खुल्लमखुल्ला' विरोध करता था जो उस समय देश में व्याधि के रूप में व्याप्त था। उक्त 'गोरखधन्धा' की चर्चा 'मतवाला' की एक सम्पादकीय टिप्पणी में इस प्रकार है, "साहित्य में तो विचित्र धाँधली मची हुई है। विशुद्ध साहित्य सूली पर चढ़ाया जा रहा है। भ्रष्ट साहित्य पालने में झूल रहा है। राष्ट्रीय पोथियाँ जब्त हो रही हैं, गन्दे उपन्यासों का प्रचार बढ़ रहा है। सच्चे इतिहास के मुंह में कपड़ा ठूंस दिया गया है, मिथ्या इतिहास सरे बाजार गला फाड़कर चिल्ला रहा है। यथार्थवादी पत्र लोहे

के चने चबा रहे हैं, हां हुजूर वाले बराबर हलवा गपक रहे हैं। लेखकों के छक्के-पंजे भूल गये हैं, प्रकाशकों का पौ बारह है। जो पत्रिकाएँ सादगी से रहकर पवित्र-जीवन बिताती हैं, उन की ओर लोग ताकते भी नहीं, मगर नखरे तिल्ले वाली पुंश्चली पर लोग लट्टू हुए जाते हैं। अजीब गोरखधंधा है।"

'मतवाला' एक सचेत पत्र था। युग की नब्ज़ का उसे सही ज्ञान था। युगीन चेतना के प्रति वह सदैव सचेत रहता था। तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का एक चित्र द्रष्टव्य है, "राजनीतिक परिस्थिति में उथल-पुथल मचा हुआ है। वह निराशा और दुविधा की बीहड़ घाटियों में भटक रही है। दलबन्दियाँ सिर उठा रही हैं। असहयोग शक्ति की कमर टूट गई है। आत्मविश्वास कलेजा थामकर बैठ गया। धैर्य की नाड़ी छूट गई है। साहस के पैर उखड़ चुके हैं। उत्साह बंगलें झांक रहा है। चरखा सिर धुन रहा है। खद्दर का दम घुट रहा है। 'अहिंसा' की कातर दृष्टि शून्य आकाश से जीवन की भिक्षा मांग रही है। दासता की आंखों में चरबी छा गई है। नौकर-शाही की पांचो अंगुलियां घी में हैं। दाढ़ी और चुटिया में गांठ पड़ गई है। एकता रंडापा झेल रही है। दाढ़ी वालों के पेट में दुगुनी लम्बी दाढ़ी है और चोटी वालों के पीछे चोटी से भी लम्बी दुम।"

हम ने आरम्भ में निवेदन किया है कि हास्य-व्यंग्य-विनोद के साथ 'मतवाला' एक साहित्यिक पत्र था। छायावाद युग के अनेक लेखकों का उसे सहयोग प्राप्त था। साहित्यिक दृष्टि से उस का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि उस ने हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ स्वच्छन्दतावादी कवि को प्रस्तुत किया। स्मरणीय है कि 'निराला' जी की कविताओं को अन्य पत्रिकाओं में स्थान नहीं मिलता था या कठिनाई से मिलता था, 'मतवाला' ने उन्हें शीर्ष प्रस्तुति दी और इस प्रकार 'निराला' की प्रतिष्ठा का एक सशक्त माध्यम बना। 'उग्र' की अनेक कहानियाँ इस में छपीं। विशिष्ट साहित्यकारों का पूर्वग्रह-मुक्त सचित्र परिचय छपा।

'मतवाला' की वस्तु-विवेचना

'मतवाला' के संघटन-पक्ष की चर्चा करते हुए निवेदन किया गया है कि इस के मुख्य पृष्ठ पर 'निराला' की कविता छपती थी। 'मतवाला' के एक वर्ष के अंकों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'निराला' का श्रेष्ठ पूर्ववर्ती काव्य 'मतवाला' में ही प्रकाशित हुआ था।[1] यह मतवाला की साहित्यिक उपलब्धि है। स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रतिष्ठा का ऐतिहासिक उपक्रम 'मतवाला' ने सम्पन्न किया। हिन्दी पत्रकारिता के लिए यह सर्वथा नवीन प्रयोग था। साहित्य की दुनिया में भी यह क्रान्ति थी जिस के स्वागत की पूरी तैयारी नहीं हुई थी। 'मतवाला'-जैसा सशक्त माध्यम और

१. 'मतवाला' के मुख्य पृष्ठ पर प्रकाशित 'निराला' की कविताओं और कुछ सम्पादकीय लेखों की एक सूची परिशिष्ट में द्रष्टव्य।

महादेवप्रसाद सेठ-जैसे उदार मित्र यदि निराला को न मिले होते तो कदाचित् हिन्दी-जगत् पर निराला की शक्ति का प्रभाव जमने में अनावश्यक विलम्ब होता।

वर्ष १, अंक ३ के मुख्य पृष्ठ पर 'निराला' की एक कविता छपी है-'गये रूप पहचान'। उक्त कविता यहाँ अविकल उद्धृत की जाती है—

गये रूप पहचान।
सुनी राष्ट्र भाषा की जबसे मव्य मनोहर तान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥
छिपी छुरी नीचों के छल में,
देख दम्भ दुष्टों के दल में,
बढ़ आगे, हो सजग मेट तू क्षण में नाम-निशान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥ १॥
चूम चरण मत चोरों के तू,
गले लिपट मत गोरों के तू,
झटक पटक झंझट को झटपट झोंके झाड़ में मान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥२॥
खल-दल-बल दलदल में बसका
गो गौरव-गरिमा गुण-यश का,
क्या किसका, गर तू उकसाता अपना प्राण महान?
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥३॥
आप आप कर अब न अमर को,
बना बाप मत वंचक नर को,
अगर उतरना पार चाहता दिखा शक्ति बलवान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥४॥

—'निराला'

यही मतवाला का अपना स्वर था। शान्ति के बदले वह शक्ति की उपासना में अधिक आस्थावान् था। कदाचित् इसी लिए वह गान्धी जी का बहुत दूर तक साथ न दे सका।

'मतवाला' का सम्पादकीय स्वर। जातीय दृष्टि

वर्ष १, अंक ११ की सम्पादकीय टिप्पणी सरकारी दमन नीति को लक्ष्य कर लिखी गयी है। उक्त टिप्पणी का एक अंश द्रष्टव्य है:

'जो राजा प्रजा को प्रसन्न नहीं कर सकता उसकी उपमा नीतिकारों ने—'अजागलस्तन' से दी है। किन्तु नीति की बातें तो उसके लिये हैं जिसके किसी अंग में कुछ शर्म हो। जिसको शर्म ही नहीं उसके लिये कैसा धर्म और कैसा कर्म? फिर

धर्म-कर्म की दुहाई भी कभी उसके सामने जो न्याय का दम भी भरे और न्याय का गला भी घोंटे ? धर्म-कर्म की दुहाई क्या उसके सामने जिसने मात को 'गजभुक्त-कपित्थनृवत्' बना डाला ? नहीं, हरगिज़ नहीं, दुहाई कैसी ? दुहाई तो कई दहाई तक पहुंच चुकी। अब दुहाई से रिहाई नहीं मिलेगी। अब अगर रिहाई चाहते हो तो अपने अकाली भाइयों के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर स्वेच्छाचार और अत्याचार की खबरदार सड़क पर निर्विघ्न चले जाते हुए दमन चक्र की राह में आत्मबल की चट्टान डाल दो। किन्तु सावधान ! वह आत्मबल की चट्टान ऐसी हो जिसे तूफ़ानी लहरें भी डिगा न सकें, जिसे प्रलय की आंधी भी हिला न सके, जिसे हत्याकाण्ड का हथौड़ा भी तोड़ न सके, जिस पर तोप के गोले भी पड़कर चकनाचूर हो जायं और जिसकी दृढ़ता से टक्कर खाकर अहंकार सागर में चला आता हुआ आशा का जहाज चूर-चूर हो जाय। तभी तुम्हारी विजय होगी, तभी तुम्हारी लाली रहेगी, तभी तुम्हारे पवित्र रक्त से सिक्त धूलि का एक-एक कण पुलकित होकर प्रलय-पर्य्यन्त पुकार-पुकार कर कहता रहेगा कि—'सत्यमेव जयते नानृतम्'।"

मतवाला की राष्ट्रीय नीति बहुत उग्र थी। विदेशी सरकार की कुटिल नीति पर वह प्रायः बड़े तेज़ अस्त्रों से आक्रमण करता था। 'मतवाला' की धारणा बड़ी सही थी कि अँगरेज़ों से देश को मुक्ति इस लिए नहीं मिल रही है कि हमारा जातीय संघटन दुर्बल है। अंगरेज़ों से कहीं अधिक खतरनाक वे व्यवसायी हैं जो महात्मा जी के राष्ट्रीय आह्वान की उपेक्षा कर देश के शोषण में रत हैं। गोरों की इन काली जोंकों को लक्ष्य कर मतवाला के वर्ष २, अंक ६ की सम्पादकीय टिप्पणी—'गोरों की काली जोंकें'—में सम्पादक ने लिखा था—"महात्मा जी समझाते-समझाते हार गये, लाला जी लेक्चर देते-देते थक गये, मालवीय जी का उपदेश निष्फल हो गया, नेहरू जी के नाकों दम हो गया, दास युक्ति तर्क खाक में मिल गया। कोटि-कोटि दरिद्रों का करुण क्रन्दन अरण्यरोदन हो गया, हजारों नवयुवक कातर प्रार्थना करके—सत्याग्रह करके—पिकेटिंग करके हताश हो गये, परन्तु गोरों की काली जोंकें अपने भाइयों का रक्त चूसने से बाज न आईं। देश कहते-कहते थक गया परन्तु इन रक्त-वाहिनी मोरियों का प्रखर प्रवाह न रोक सका।' सारा देश खद्दर-खद्दर चिल्ला रहा है, विदेशी बहिष्कार और स्वदेशी की पुकार मचाकर कांग्रेस वाले नाज़ुक दिमागों का कान खाये जा रहे हैं। सहयोगी, असहयोगी, स्वराजी और हा हुज़ूरी सभी स्वदेशी के कायल हैं—सभी खद्दर का प्रचार चाहते हैं, देशों की भलाई के लिये देशी व्यवसाय की उन्नति चाहते हैं, परन्तु अर्थ लोलुप विदेशी वस्तु-व्यवसायी, 'छांडि न सकहिं टेक जोटे की।' देश रसातल की राह ले, जाति का सत्यानाश हो जाये, धर्म धरती में धंस जाये, मनुष्यत्व की नानी मर जाये, परन्तु ये अभागे देशद्रोही अपने स्वार्थ से तिलभर भी नहीं डिगेंगे, खुदा जाने विदेशियों से इनका कौन सा गहरा रिश्ता कायम हो गया है ?" अन्त में सम्पादकीय समाधान

दिया गया है, "इन हीन चरित्र व्यवसाइयों को देशद्रोह के घोर पाप से बचाने का एक मात्र उपाय चर्खा और खद्दर है। भारत के प्रत्येक ग्राम में खद्दर और चर्खे की दुन्दुभी बज जानी चाहिये।......देश की जागृति कभी निष्फल नहीं जाती। गरीबों की पुकार सुनकर भगवान का आसन भी डोल जाता है। भारत उठेगा, कोटि-कोटि दरिद्रों का रक्त पीकर अकड़ने वाले देशद्रोहियों को उनके कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। जोंकें चाहे गोरी हों या काली, भारत का रक्त एक दिन उनका पेट फाड़ेगा। साम्यवाद का बीजवपन हो रहा है। सावधान !!!"

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रद्रोहियों पर 'मतवाला' की कड़ी दृष्टि रहती थी। चाहे वे किसी वर्ग और जाति के क्यों न हों, यदि देशद्रोही हैं, उन के आचरण से देश और राष्ट्र को किसी प्रकार का खतरा है, उसे 'मतवाला' किसी शर्त पर क्षमा नहीं करता था। पहले वर्ष के अंक ३ की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है— 'नीम-गुड़-वटिका', जिस में बड़े साफ़ शब्दों में कहा गया है कि "मुसलमान भाई रहते तो हिन्दुस्तान में हैं मगर सपना देखते हैं अरब का। ऊँट जब भागता है तो पश्चिम की ओर जाता है। अकबर ने ठीक कहा है कि—

"पेट मसरूफ है कल्कों में।
दिल है ईरान और टर्की में॥"

यही कारण है कि वे हिन्दू-संगठन को शनैश्चरी दृष्टि से देखते हैं।" यह 'शनैश्चरी दृष्टि' मतवाला के लिए असह्य थी क्यों कि वह राष्ट्रीयता का हिमायती था और शक्ति की उपासना में उस की आस्था थी। अँगरेजों की कुटिल नीति के परिणामस्वरूप हिन्दू-मुसलमान के दंगे आम बात हो गये थे। दोनों कौम के बीच खाई बढ़ती जा रही थी। अँगरेज एक को दूसरे के विरुद्ध भड़काते ही नहीं, सहायता भी करते थे और उन दंगों से अपार जन-धन की क्षति होती थी, आर्थिक संगठन दुर्बल होता था। दोनों जातियाँ एक दूसरे से अत्यन्त क्षुब्ध थीं। उक्त क्षोभ की बड़ी यथार्थ अभिव्यक्ति 'मतवाला' की उपरोक्त सम्पादकीय टिप्पणी में है। कुछेक स्थल द्रष्टव्य है, जो लोग प्रेम से मुसलमानों को जीतना चाहते हैं वे इस दुनियाँ के जीवों में गिने जाने योग्य नहीं है—वे उस लोक के निवासी हैं जहाँ सत्य की चाँदनी में, दया के शीतल छाया-कुंज में प्रेम और शान्ति लिपट कर सो रहे हैं। स्वराज्य के पीछे फकीर होने वाले लोग जबानी भले ही चिल्लाया करें, या कुर्सी पर बैठे-बैठे कलम घिस-घिस किया करें, पर जिन बेचारे (?) हिन्दुओं पर बेतरह (!) मार पड़ती है, वे तो भविष्य को भूल कर वर्तमान में ही लीन हो जाते हैं। उन्हें स्वराज्य तो आगे पीछे मिलेगा, जान और माल का खतरा तो हर साल सिर पर सवार ही रहता है। जब मुसलमानों द्वारा हम बात की बात में कुचल दिये जायंगे, हमारी स्त्रियों की आबरू बिगाड़ने में वे जरा भी संकोच न करेंगे, हमारे धर्म पर आघात करने से पहले वे तनिक न हिचकेंगे और अवसर पाते ही हमारी जान के गाहक बन जायँगे, तब तो

सबसे बड़ी बात यही है कि रावण के साथ भिड़ने से पहले बन्दर और भालू ही आपस में निपट लें। बिना बदाबदी के फैसला न होगा। या तो हिन्दू इसी आन पर मर मिटें अथवा अपनी प्रचण्ड शक्ति का प्रत्यक्ष परिचय देकर मुसलमानों को भलीभांति समझा दें कि भारतवर्ष में हिन्दुओं के शत्रु सदा बसे नहीं रह सकते। अगर मुसलमान अपना कुशल चाहते हैं तो हमारी मंगल-कामना करना सीखें। यदि वे हमें जबरदस्ती दबाकर रखना चाहते हैं तो बला से, स्वराज्य गया तेल हण्डे के नीचे वे भी सावधान हो जायं। हम तो अब कई बार ठोकरें खाकर सचेत हो गये। हमें मालूम हो गया कि नौकरशाही से पहले हमें नादिरशाही का मुकाबला करना पड़ेगा, कुछ चिन्ता नहीं। पहले घर का झमेला तो मिटे। फिर बाहर का बखेडा तय होता रहेगा।"

इसी प्रकार वर्ष १, अंक १ की सम्पादकीय टिप्पणी में हिन्दू-संगठन की दुर्बलता का उल्लेख किया गया है। 'चुटिया ने लुटिया डुबो दी' शीर्षक टिप्पणी की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"सरकारी रिपोर्ट बतलाती है कि हिन्दुस्तान में इक्कीस करोड़ हिन्दू हैं। भला इस गुप्प का भी कुछ ठिकाना है? मर्दुमशुमारी के रिपोर्टरों की आंखों में अंगुली करके कोई दिखलाने वाला होता तो दिखला देता कि देखो, ये हिन्दू नहीं—हिन्दी की दुम हैं। हिन्दू तो जयचन्द की हराम सूरत देखकर ही यहां से उचटकर चले गये। एकाधबार स्नेहवश अपनी सभ्यता की श्मशान-भूमि देखने के लिये प्रताप, शिवाजी और गोविन्द बन कर आये भी, तो जयचन्द की सन्तानों ने अपनी नाक कटाकर उनका सगुन ही बिगाड दिया।" उक्त टिप्पणी का उपसंहार करते हुए सम्पादक ने लिखा है कि "कहने को तो हिन्दू अपने को बड़े-बड़ों को भी अपनी गई बीती सन्तान की मनहूसियत पर शर्म आती होगी। किन्तु इस लम्बी चुटिया वालों को तो शर्म छू भी नहीं गई है। ये तो अपना जातीय संगठन करते ही रह गये और इनके 'छोटे भाई बनने वालों' ने इन्हें अपने संगठन का मज़ा कई बार चखा दिया। इतने पर भी इन्हें शर्म थोड़े ही आती है? अगर इनके किसी अंग में दया होती तो ये अब तक धोबी के पाट नहीं बने रहते—बल्कि माला खट खटाकर यह जप करते रहते कि 'सौ बार सुनार की एक बार लुहार की'।"

'मतवाला' का यही जातीय दृष्टिकोण था। वर्ष २ संख्या २२ के मुख्य पृष्ठ पर 'हिन्दू' शीर्षक विवेकानन्द की वाणी प्रकाशित हुई है जिस में उन्हों ने कहा कि "आप अपने को हिन्दू कहने के अधिकारी उसी अवस्था में हो सकते हैं जब 'हिन्दू' शब्द मात्र से आपकी नसों में बिजली दौड़ जाय, जब हिन्दू नामधारी-मात्र चाहे वह इस देश का निवासी हो या विदेशी, आप को आत्मवत् प्रिय प्रतीत होने लगे····ध्यान रहे, यदि आप अपने देश का हित करना चाहते हैं तो आपको गुरु गोविन्द सिंह का अनुगमन करना होगा।" 'मतवाला' की सम्पादकीय नीति पर विवेकानन्द की उक्त वाणी का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

वर्ष २, अंक ३३ के मुख्य पृष्ठ पर 'पंजाब केसरी लाला लाजपत राय' का चित्र है जो अष्टम हिन्दू महासभा के (कलकत्ता) सभापति थे। चित्र के दोनों पार्श्व में लाला जी के वक्तव्य के दो अंश उद्धृत किये हैं जिन में से एक इस प्रकार है, "यह मत समझो कि धनवान् लोग हिन्दू धर्म की रक्षा करेंगे। करने वाले वे ही लोग होंगे जो लंगोटी लगाये खेतों पर काम करते और किसी प्रकार अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वे दरिद्र हैं, पर वे ही हमारे मेरुदण्ड हैं, जाति के रक्षक हैं। उन्हीं को हम अछूत समझते, देवता के दर्शन नहीं करने देते और कुएँ से जल नहीं भरने देते हैं।"

देश-दशा और मतवाला की स्तम्भ टिप्पणी

'मतवाला' के संगठन-विचार के प्रसंग में निवेदन किया गया है कि 'मतवाला' के अनेक स्थायी स्तम्भ थे जिन के माध्यम से व्यंग्य, विनोद और हास्य के आड़ में अनौचित्य पर गहरी चोट की जाती थी। यहाँ उक्त स्तम्भों से कुछेक अंश उद्धृत किये जाते हैं जिन से युगीन चेतना और देश-दशा का द्योतन होता है—

मतवाले की बहक

(वर्ष १, अंक २): "शायद वृद्धावस्था के कारण श्रद्धेय मालवीय जी की बुद्धि सठिया गई है। इसी से उन्हों ने एक ही कुएँ में सब जाति के मनुष्यों को पानी भरने का प्रस्ताव पास होने दिया है। शिव! शिव इस अन्धेर का भी कहीं ठिकाना है? जब धोबी, डोम, चमार, मेहतर और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि एक ही कूप से जल भरने लगेंगे तो हमारे पुराने कूप-मण्डूक कहाँ रहेंगे?"

(वर्ष १, अंक ३): "देश-सेवा की अपेक्षा विश्व-सेवा विशेष निरापद है। क्योंकि देश-सेवा का पुरस्कार है जेल और विश्व-सेवा का पुरस्कार है 'नोबुल प्राइज़'। इसी से रवीन्द्र बाबू ने पहले को छोड़ पिछले को अपनाया है। अन्यान्य लीडरों को भी उन का अनुकरण करना चाहिये[1]।"

(अंक ४): "२२ जून को सारे भारत में एक अरब ७२ करोड़ २८ लाख एक हजार आठ सौ ५८ रुपये के नोट लोगों के हाथों में चक्कर लगा रहे थे। वाह रे अँग्रेज़ी राज्य। कागज़ के घोड़े खूब दौड़ाये।"

---

१. गान्धी के नाम लिखे अपने एक पत्र में बड़े दादा श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में लिखा था, "रवि गलत रास्ते पर जा रहा है। जब भारतमाता अपने नवीन पुत्र 'स्वराज' को जन्म देने के पूर्व पीड़ा सहन कर रही है, रवि ऐसे समय गाने-बजाने में व्यस्त है। वह विश्व-बन्धुत्वरूपी वृक्ष की शाखाओं पर पानी छिड़क रहा है, जब कि उस की जड़ ही जल के अभाव में सूखी जा रही है। विचारा सहृदय ऐंडूज भी अपने पथ से विचलित होता जाता है। मैं हृदय से दुःखी हूँ। तुम ही मेरे आशा के ध्रुव नक्षत्र हो। ईश्वर दिन-रात तुम्हारे सिर पर अपने आशीर्वादों की बौछार करता रहे।" द्रष्टव्य—संस्मरण—ले० बनारसीदास चतुर्वेदी, पृ० ५५।

(१० नवम्बर १९२३) : "बेचारे पं० बनारसीदास बड़बड़ाया करें, मि० ऐण्ड्रूज़ रो-रो कर मर जायें, महात्मा गाँधी सर पटक दें और भारत के भूत बड़े लार्ड हार्डिंग हाहाकार करते रहें, परन्तु इस देश के कुलियों का विदेश में जाना न रुकेगा। क्योंकि यह अँगरेज़ी राज्य का कुफल है।

मतवाले का चाबुक

(वर्ष १, अंक दो) : "बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० कोषकार हैं। फिर क्या कहा। जो कुछ कहें—जो कुछ पास कर दें, वही कोष में सुरक्षित हो जायेगा। खाता न बही, जो आप कहें सो सही।' नागरी प्रचारिणी सभा की वार्षिक रिपोर्ट में आप का 'माधुरी और सरस्वती की होड़ाहोड़ी' का उल्लेख, देख 'पियक्कड़' थोड़ा-थोड़ी भी हिनहिना पड़े।

"काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित बृहत् कोष में, उसके सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास 'उल्लू सीधा करना' मुहावरे का उल्लेख करना बिलकुल भूल गये हैं। इससे हिन्दी वालों को अपना उल्लू सीधा करने में बड़ी अड़चन पड़ रही है।"

चलती चक्की

(वर्ष १, अंक २) : "महाराज गायकवाड़ के पुत्र का देहान्त हो गया। खबर है कि महाराज बहादुर पेरिस में अंत्येष्टि क्रिया करेंगे। किन्तु चिताभस्म भारतवर्ष भेज देंगे। महाराज की इस स्वदेश भक्ति पर कहीं सरकार की नजर न लग जाय।

"तेजस्वी 'तेज' ने ओजस्वी शब्दों में लिखा है कि दिल्ली से कुछ ही दूर एक गाँव में डिप्टी-कमिश्नर साहब बहादुर की आज्ञा से एक बुढ़िया का झोपड़ा फूँक डाला गया। बुरा क्या हुआ? अब तक न जाने कितने डिपटी-कमिश्नरों ने अनेक घर फूँक तापे हैं। कृपा कर के भारत-सरकार विलायत की सरकार को सूचना दे दे कि जिन लोगों को इंगलैण्ड में अधिक सर्दी मालूम हो, वे दया कर के भारत चले आवें। यहाँ फूँक तापने लायक गरीबों के असंख्य झोपड़े हैं।"

चंडूखाने की गप (ले० श्रीयुत युधिष्ठिर)

(वर्ष १, अंक ४) : "सुनते हैं, 'सी० आर० दासीदल' की जीत की खुशी में वाजपेयी जी नाचेंगे और पं० झाबरमल जी शर्मा पीछे से तबला ठोंकेंगे।"

"पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के विशेष अनुरोध से लाला भगवानदीन 'दीन कवि' ने आगामी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनना स्वीकार कर लिया है।"

अंक छह में 'अमारा आजायब घर' (दुलहिनों का भेड़िया धसान) शीर्षक एक स्तम्भ है जिस में विभिन्न पत्रों की विलक्षण खबरें संकलित की गयी हैं।

'मतवाला' की सामाजिक दृष्टि

'मतवाला' की सामाजिक दृष्टि प्रगतिशील थी। कुसंस्कार, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर वह बड़ा तेज़ व्यंग्य करता था। हिन्दुत्व का हिमायती होते हुए भी उस की नीति साम्प्रदायिक नहीं थी। 'मतवाला' इस दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द के अधिक निकट था। सामाजिक कलुप-प्रक्षालन की ओर उस का सदैव ध्यान रहता था। बाहरी शत्रुओं की अपेक्षा सजातीय शत्रुओं से हिन्दू समाज को अधिक खतरा है, यह 'मतवाला' का दृढ़ विश्वास था। इस विश्वास के आधार पर उस ने तारकेश्वर के तत्कालीन महन्त सतीश गिरि के पापाचारों का परदाफ़ाश किया था। सतीश गिरि का पापाचरण पराकाष्ठा पर पहुँच गया था और जातीय चारित्र्य को कलंकित कर रहा था। इस ओर महापुरुषों का ध्यान गया था और महन्त के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ था। २४ मई १९२४ के मतवाला की सम्पादकीय टिप्पणी का यही विषय है। आन्दोलन की चर्चा करते हुए सम्पादक ने लिखा है : "हिन्दुओं के सौभाग्य और भगवान् शंकर की असीम अनुकम्पा से तारकेश्वर में सत्याग्रह की प्रचण्ड आग धधक उठी है। वीर संन्यासी स्वामी शिवानन्द और वयोवृद्ध स्वामी सच्चिदानन्द की अध्यक्षता में गत मंगलवार से ही यह शुभ अनुष्ठान, यह महान् धर्मज्ञान—यह कलियुगी नरमेध प्रारम्भ हो चुका है।........सुनते हैं इस धर्म संग्राम में 'फील्ड मार्शल' का पद ग्रहण करने के लिये संयुक्त प्रान्त के 'कोहनूर' पण्डित जवाहर लाल नेहरू बुलाये गये हैं। पण्डित जी नौजवान हैं, और भारत के अधिकांश नौजवानों पर आप का प्रभाव है। आप के 'कन्ट्रोल' में यह धर्मयुद्ध सुचारु रूप से संचालित होगा, इस में कोई सन्देह नहीं।"

कुछ लोग इस आन्दोलन का विरोध कर रहे थे और महन्त सतीश गिरि को स्थायी गद्दी देने की आवाज़ उठा रहे थे। उन्हें धिक्कारते हुए मतवाला-सम्पादक ने लिखा था, "अफसोस, जिस से तारकेश्वर की रण्डियाँ तक घृणा करती हैं और प्राणों की ममता छोड़ कर उसके विरुद्ध सत्याग्रह करने को तैयार हैं, तारकेश्वर की प्रजा जिसका नाम लेना, जिसका मुँह देखना तक पाप समझती है उसे चिरस्थायी गद्दी दे देने की व्यवस्था हो रही है!" आन्दोलन के प्रति पूरे देश के सक्रिय सहयोग की कामना करते हुए सम्पादक ने लिखा था, "अन्य प्रान्त के हिन्दुओं का इस आन्दोलन से उदासीन रहना नितांत लज्जाजनक संकीर्णता है। तारकेश्वर का आन्दोलन अखिल भारतवर्ष के अत्याचारी मठाधीशों, पण्डों, साधुओं और धर्म का जामा पहन कर जाति को ठगने वाले तस्करों के विरुद्ध युद्ध घोषणा है। इसे अखिल भारतवर्षीय धार्मिक क्रान्ति का रूप दे देने की आवश्यकता है। नहीं तो ये अस्तीन के सांप, समाज शरीर के अन्दरूनी कीड़े हिन्दुओं की जड़ खोखली कर देंगे। ये जाति के भीतर शत्रु तमाम बाहरी शत्रुओं से प्रबल और खतरनाक हैं।"

इसी प्रकार अछूतोद्धार आन्दोलन का इस ने खुल कर समर्थन किया था। १९ अप्रैल १९२४ की सम्पादकीय टिप्पणी की अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"भाइयो, जड़ता छोड़ो। अपने महान् धर्म की उदारता पर ध्यान दो। अपने बिछुड़े हुए भाइयों को गले लगा लो। जिन्हें तुम अछूत समझ रहे हो, वे तुम्हारे जाति-देह के अंग हैं। यदि अपने शरीर को अविकल रहने देना चाहते हो तो उन्हें अपने से अलग न होने दो।"

स्पष्ट है कि 'मतवाला' सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील विचारधारा के साथ था।

साहित्यिक अवदान

'मतवाला' की साहित्यिक उपलब्धि के रूप में हम ने 'निराला' का नामोल्लेख किया है। 'निराला' के पूर्ववर्ती काव्य के प्रकाशन का श्रेय 'मतवाला' को है। 'मतवाला' का यह सब से बड़ा साहित्यिक अवदान है। निराला के अतिरिक्त उस के अन्य विशिष्ट लेखकों की रचनाएँ प्रायः छपती थीं। उन में प्रमुख नाम इस प्रकार हैं: हरिऔध, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उग्र। उग्र जी 'मतवाला-मण्डल' के सदस्यों में थे। उन की अनेक कहानियाँ और कविताएँ इस पत्र में प्रकाशित हुई थीं। ये अधिकांश कहानियाँ इन में छपी थीं जिन्हें पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'घासलेटी साहित्य' कहा था। उग्र की कहानी पर श्रीरामनाथ 'सुमन' की एक समीक्षा भी प्रकाशित हुई थी। हिन्दी के विशिष्ट पुराने-नये लेखकों का सचित्र परिचय भी प्रकाशित होता था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, हरिऔध जी, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, रामगोविन्द त्रिवेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, राधाचरण गोस्वामी, नाथूराम शंकर शर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त इत्यादि साहित्यकारों का सचित्र परिचय 'मतवाला' में प्रकाशित हुआ था।

'श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी' शीर्षक लेख का एक स्थल द्रष्टव्य है, "इनकी लेखनी में एक तरह की बिजली है। उसने हिन्दी में बड़ा काम किया है। यह उसी लेखनी की करामात है कि आज देशी राज्यों की पीड़ित प्रजा भी आत्मोद्धार के लिये निर्भीकतापूर्वक प्रयत्न कर रही है। जब से इन का 'प्रताप' चमका, हिन्दी संसार में क्रान्ति की लहर फैल गई। हिन्दी के पत्र-जगत् में नवीन राजनैतिक जागृति फैलाने का श्रेय इन्हीं को दिया जा सकता है। ये बड़े ढीठ और निडर हैं, अत्याचार-पथ के कंटक और शान्ति-पथ के सुमन हैं, नौ-जवानों के लड़ाके कप्तान और असहाय गरीबों के सच्चे मददगार हैं।" इस लेख के लेखक का नाम है 'मतवाला मण्डल' का एक अक्खड़।"

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में जो लेख है उस का शीर्षक है, "मातृभाषा हिन्दी की सेवा में सर्वस्व लगा देने वाला परम श्रद्धेय आचार्य्य श्रीमान् द्विवेदी जी।" उक्त लेख की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं, "परम आनन्द और सन्तोष

का विषय है कि—आपने अपना समस्त ग्रन्थ-संग्रहालय जिस में चुनी हुई उत्तमोत्तम पुस्तकों की लगभग सात-आठ आल्मारियाँ थीं, काशी की नागरी प्रचारिणी सभा को समर्पित कर दिया है। ऐसे आदर्श साहित्य सेवी को प्राप्त कर के संसार की किसी भी भाषा का साहित्य गौरवान्वित हो सकता है।"—श्रीमती श्रद्धांजलि देवी।

वर्ष १, अंक ३६ में यानी ३ मई १९२४ के अंक में 'कविवर श्री सुमित्रानन्दन' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख के लेखक हैं—सूर्यकान्त त्रिपाठी। इस के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं :

"हिन्दी में जब से खड़ीबोली की कविता का प्रचार हुआ तबसे आज तक उस में स्वाभाविक कवि का अभाव हो था। जो पौधा लगाया गया था उसे कुसुमित करने के लिये अब तक के कवियों को सींचने का श्रेय जरूर दिया जा सकता है, परन्तु वे उस पौधे के माली ही हैं, कुसुम नहीं। किसी पौधे में फूल एकाएक नहीं लग जाते, वे समय होने पर ही आते हैं। खड़ीबोली की जिस कविता का प्रचार किया गया था, जिसके प्रचारकों और कवियों को कितनी ही गालियाँ खानी पड़ी थीं, उस का स्वाभाविक कवि अब इतने दिनों बाद आया है, और हिन्दी का वह गौरव-कुसुम श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं।" उक्त लेख के दो अंतिम स्थल इस प्रकार हैं, —"पंत जी में कविजनोचित सभी गुण हैं। आप हारमोनियम, क्लेरिओनेट आदि बाजे भी बजाते हैं और गीत गाते भी हैं बड़ा ही सुन्दर। जिस समय आप सस्वर कविता पढ़ने लगते हैं उस समय आप की सरस शब्दावली और कमनीय कण्ठ श्रोताओं के चित्त पर कविता की मूर्ति अंकित कर देते हैं।"

खड़ी बोली में प्रथम सफल कविता आप ही कर सके हैं। आप से हिन्दी को बहुत कुछ आशा है। प्रार्थना है, हमारे इस अधखिले फूल पर परमात्मा की शुभ दृष्टि रहे। इसका परागमय जीवन उनके विराटरूप की ही सेवा के लिये है।

पन्त जी की कविताओं का उदाहरण भी दिया गया है। उच्छ्वास और मौन निमन्त्रण के स्थल अधिक हैं। उक्त निबन्ध को पढ़ कर 'निराला जी' के 'पन्त और पल्लव' शीर्षक प्रबन्ध का स्मरण हो आता है जो परवर्ती काल में लिखा गया और जिस में पन्त जी की मौलिकता पर 'निराला' जी ने बड़ा उग्र आक्रमण किया था।

विभिन्न पत्रों से विवाद

'मतवाला' के तेज व्यंग्य से मर्माहत हो कुछ लोग आपत्तियाँ उठाते थे। 'मतवाला' उस का जवाब देता था। इस प्रकार अक्सर अन्य पत्रों से विवाद हो जाता था। 'हिन्दी केसरी' से एक बार विवाद हुआ था। इस सम्बन्ध में १० नवम्बर १९२३ के 'मतवाला' में 'हिन्दी केसरी' शीर्षक एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी। उस का एक स्थल द्रष्टव्य है : "अपने पाँचवीं नवम्बर के अंक में प्रकाशित 'नोक झोंक' को पढ़ कर देखो, उस में क्या सार है। इस प्रकार के निस्सार लेखों से 'मतवाला' को जवाब

बन्द करने की चेष्टा में तुम्हें कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिये 'मतवाला' सदैव तैयार रहता है। हाँ, स्वयं छेड़खानी करके कीच फेंकना उस का उद्देश्य नहीं। उस में अब तक 'गुलाल' का ही व्यवहार किया है और जब तक उस के ऊपर कीच न फेंकी जायगी तब तक वह बराबर ऐसा ही करता रहेगा। अस्तु।"

'भारतमित्र' से भी उस की लड़ाई हुई थी। 'मतवाला' की एक टिप्पणी का जवाब 'भारतमित्र' ने एक पद्य-रचना छाप कर दिया था जिस में मतवाला-सम्पादकों को गालियाँ तक दी गयी थीं। वर्ष १, अंक ३३ की सम्पादकीय टिप्पणी 'भारतमित्र की शिष्टता' का एक अंश इस प्रकार है "........दुःखसे कहना पड़ता है कि 'भारतमित्र' में प्रकाशित 'पद्य रचना' में मुन्शी नवजादिक लाल श्रीवास्तव, बाबू शिवपूजन सहाय और पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी को भी गालियाँ दी गयी हैं। क्या 'भारतमित्र' सम्पादक बता सकते हैं कि उन्हों ने इन निर्दोष सज्जनों के प्रति किये गये अन्यथा प्रयोगों को क्यों प्रकाशित किया है ? यह कौन सी सभ्यता, कहाँ का न्याय और कैसी भद्रता है ?...वास्तव में भारतमित्र सम्पादक ने इस मामले में जैसी अदूर-दर्शिता से काम लिया है, वह उस की तथा उस के सम्पादक श्रीमान् पण्डित लक्ष्मण नारायण गर्दे के गौरव के सरासर विपरीत है। यदि 'भारतमित्र' शैदा का इतना बड़ा अन्धबन्धु है तो उस के नाटकों पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दे या उनकी 'तुम्बा-फेरी' को मिथ्या सिद्ध करे। झगड़ालू खटकिनों की तरह गाली-गलौज करने में क्या लाभ है ?"

२९ मार्च १९२४ के अंक में एक टिप्पणी है 'भारतमित्र और मतवाला' इस में स्पष्टीकरण है कि 'भारतमित्र' के सम्पादक श्री गर्दे जी तथा अन्य किसी व्यक्ति को 'मतवाला' ने कभी गाली नहीं दी थी। "वास्तव में यह हमारी नीति नहीं कि भठियारों की तरह गाली-गलौज हो। सभ्य-शिष्ट भाषा में परिहास करना ही हमारा उद्देश्य है और उसी उद्देश्य से 'मतवाला' में प्रकाशित सामयिक समाचारों तक को विनोदपूर्ण बनाने की चेष्टा की जाती है।.....'मतवाला' हिन्दी-संसार को अपनी विनोदमयी रीति से प्रसन्न करने के लिए क्षेत्र में आया है किसी से वैर-विरोध या झगड़ा करने के लिए नहीं। हाँ, हमारे कहने का ढंग निराला है। इस लिये यदि हम सीधी बात भी विनोद के साथ कहें, तो यह हमारी नहीं, हमारे नाम का अपराध है।"

भाषा के प्रश्न को ले कर इस ने सरस्वती पर भी आक्रमण किया था जिस से क्षुब्ध हो कर आचार्य द्विवेदी जी ने 'मतवाला' के एक अंक की भाषा-त्रुटियों को संशोधित कर के 'मतवाला' कार्यालय में भेज दिया था। यद्यपि उस समय द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक-पद पर नहीं थे किन्तु 'सरस्वती' के प्रति उन के मन में एक ममता थी।

'मतवाला' पर विशिष्ट सम्मतियाँ

'मतवाला' पर हिन्दी के विद्वानों और लेखकों की जो सम्मतियाँ आती थीं उन्हें " 'मतवाला' पर 'मत' वालों का मत" स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित किया जाता था। कुछ सम्मतियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

"मतवाला बड़ी योग्यता से निकल रहा है। उस की चुटकियाँ मार्मिक और चुटीली होती हैं। उस में सहृदयता झलकती है। आलोचनायें चटपटी होती हैं, तथापि उस में मर्यादा मर्यादित रहती है। मैं पत्र की मंगलकामना करता हूँ। हिन्दी संसार में एक ऐसे पत्र की बड़ी आवश्यकता थी। परमात्मा उसको दीर्घजीवी करे।"

—कविवर पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय

" 'मतवाला' के मतवालेपन में बावलापन या उतावलापन का नहीं है। इस में निरुत्साह नहीं, उत्साह है, निष्कर्मण्यता नहीं, कर्मप्रियता है, क्षुद्रता नहीं, उदारता है, छिछोरपन नहीं, गम्भीरता है।"

—क्षत्रिय मित्र, नवम्बर १९२३

"मतवाला इस युग की एक चीज है। इसकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ अग्र-लेख, मतवाले की बहक, चलती चक्की आदि शीर्षक बड़ी ही पैनी आलोचना, रंगीली और चुटीली भाषा तथा मतवाली और निराली अदा के साथ देखने में आते हैं। मीठा साहित्यिक हास्य इसका प्राण है। हमें तो इसे पढ़ कर पूज्य भट्ट जी के 'हिन्दी-प्रदीप' के कतिपय लेखकों की झलक मिलती है। यह अपने मीठे नशे के झोंक में बड़े-बड़े गम्भीर प्रश्नों पर जो निर्भीक आलोचना कर जाता है वह देखते ही बनती है। भगवान् करे हमारे सहयोगी मतवाले का सदा बोलबाला बना रहे।"

—सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग, भाद्रपद, १९८०

"आपका पत्र उत्तम है और हिन्दी में ऐसे पत्र की भी आवश्यकता थी जिसे आप ने पूर्ण किया। हिन्दी में 'पंच' की शैली का पत्र ही न था जो मनोविनोद का काम दे। हम आपके पत्र की भावी उन्नति चाहते हैं और इससे यह भी सम्भव है कि हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या वैसे ही बढ़ेगी जैसी कि प्रारम्भ में चन्द्रकान्ता उपन्यास से बढ़ी। मतवाले की प्रत्येक संख्या में किसी न किसी हिन्दी साहित्य सेवी का चरित्र छपता है यह प्रयत्न भी प्रशंसनीय है।"

—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

"मतवाला कर डाला मुझको, 'मतवाला' यह आला है।
खूब निकाला इस को, यह तो सब पत्रों में आला है।"

—किशोरीलाल गोस्वामी

"…… ………मुझे मतवाला बहुत पसन्द आया और उसे बिना पढ़े नहीं छोड़ता।"

—श्रीधर पाठक

"लेखों में हास्य रस और व्यंग्य की बड़ी बहार है। खूब मनोरंजन हुआ।"

—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

"ऐसे पत्र की हिन्दी में बड़ी आवश्यकता थी। हिन्दू मुसलिम ऐक्य तथा संगठन पर जो इसके विचार हैं उनसे मैं बिलकुल सहमत हूँ। आशा है कि यह मतवाला अपने ढंग का निराला होने के कारण हिन्दी संसार में विशेष स्थान पावेगा।"

—प्रोफेसर पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए०

"इस पत्र की विशेषता यह है कि राजनैतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक समस्याओं और प्रश्नों को हास्य के इतने अच्छे ढंग में प्रकट करता है कि पाठक के चित्त पर पूरा प्रभाव पड़ जाता है। संख्यायें देखने से यह भलीभांति प्रकट होता है कि पत्र सुसम्पादित है और साहित्य तथा राजनीति की उच्छृंखलता को दूर करेगा। 'मतवाला' अपना निजी कोई इतिहास समाचार-पत्र-संसार में छोड़ जायगा और अन्य लोगों के लिये भी पथ-प्रदर्शक होगा।"

—कर्मवीर, जबलपुर, १५-९-२३

'मतवाला' के प्रथमाब्द-पूर्ति के अवसर पर पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने एक कविता लिख भेजी थी जो 'मतवाला' वर्ष २, अंक १ के मुख्य पृष्ठ पर प्रकाशित हुई थी। उसे यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है—

'मतवाला' का प्रथमाब्द।

ले०—श्रीमान् पं० नाथूराम जी शंकर शर्मा 'शंकर'

(षट्पदी छन्द)

शंकर की धन धार, मटकता मग्न त्रिशूली।
जिस का नृत्य निहार, निरंकुशता सुधि-भूली॥
कुचली कुटिला नीति, न्याय जिसने अपनाया।
रगड़ी कौंद कुरीति, सुयश का कोष कमाया॥
जिसकी उमंग से चाह को, भर प्रमोद प्याला दिया।
उस 'मतवाला' ने ग्राहको, प्रथम वर्ष पूरा किया॥ १॥

उपसंहार।

(सोरठा)

थिर के तोहि निहार, वर मतवाला माधुरी।
कर सानन्द विहार, डर मत वाला माधुरी॥ १॥

सेनापति

प्रकाशन-काल और उद्देश्य

यह सचित्र साप्ताहिक पत्र था जो ५ नवम्बर १९२६ को प्रकाशित हुआ था। श्री निहालचन्द वर्मा इस के व्यवस्थापक थे और पं० रामगोविन्द त्रिवेदी सम्पादक। इस पत्र की चर्चा करते हुए पं० रामगोविन्द जी ने लिखा है : "......गीता-प्रचार के लिए मुझे विदेश जाने की धुन सवार हुई। इस लिए, सन् १९२७ में 'सेनापति' को कलकत्ता के 'विश्वमित्र' में सम्मिलित कर दिया[1]।" लेखकों से सहयोग माँगते हुए सम्पादक ने 'सेनापति' की उद्देश्य-पूर्ति चर्चा इस प्रकार की थी, "हमारा एक मात्र उद्देश्य है आर्य-जाति में वीर भाव का जागरण और उसकी शक्ति का सुसंघटन। इसलिये लेखक महोदयों से निवेदन है कि वे इसी सम्बन्ध के निबन्ध भेजने की कृपा करें। किन-किन उपकरणों से आर्य-जाति का खोया हुआ वीरत्व धन प्राप्त होगा, इसी तरफ लक्ष्य रख कर ही लेख लिख भेजने का कष्ट करें, तो और भी कृपा हो।" सेनापति का पहला पृष्ठ इस प्रकार है :

टेलीफोन नं० ३२३९ बड़ा बाजार। तारका पता—'सेनापति', कलकत्ता।

'पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः'

व्यवस्थापक
निहालचन्द वर्मा [गदाधरी भीम का चित्र] सम्पादक
पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी

से ना प ति

शक १] कलकत्ता, कार्तिक ३० दीपावली, शुक्रवार १९८३ [ध्वनि १
ता० ५ नवम्बर १९२६

दीपावली पर हरिऔधजी के चौपदे हैं। उनके नीचे सेनापति के नियमादि छपे हैं जो इस प्रकार हैं—

सेनापति के नियम।

१. सेनापति प्रति सोमवार को सवेरे प्रकाशित होता है।
२. सेनापति में हिन्दू आदर्श, राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति, साहित्यनीति, विज्ञान, आयुर्वेद, दर्शन, इतिहास, आर्यचरित्र, व्यापार, संगीत, मनोरंजन, स्त्री साहित्य, कृषि-विज्ञान, आलोचना आदि अनेक विषयों के सम्बन्ध में लेख रहते हैं।

---

१. त्रैमासिक 'साहित्य' शिवपूजन स्मृति—अंक, पृ० १०१।

३. प्रत्येक अंक में एक चित्र या कार्टून रहेगा।

४. जिस सप्ताह में जिस सज्जन का वार्षिक मूल्य जमा होगा, वह उसी सप्ताह से ग्राहक समझे जायेंगे।

५. मय डाकखर्च के इसका वार्षिक मूल्य २) रु० और विदेशों में ४)रु० है। कलकत्ते में एक अंक का)॥ और बाहर में)।॥।

११. किसी लेख को छापना, न छापना, बढ़ाना या घटाना अथवा लौटाना न लौटाना सम्पादक की इच्छा पर निर्भर है।

१२. लेख, समालोचना की पुस्तकें आदि सम्पादक के नाम और विज्ञापन, एजेंसी आदि सम्बन्धी पत्र, रुपया-पैसा आदि व्यवस्थापक के नाम भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक, 'सेनापति'

१, नारायणप्रसाद बाबूलेन, कलकत्ता।

इस के नीचे है :

"सेनापति के सहायक (१) १०००) एक बार देने पर 'संरक्षक', (२) ५००) एक बार देने पर प्रतिष्ठित (३) २५०) एक साथ देने पर 'पृष्ठपोषक' (४) १२५) एक साथ देने पर 'विशेष' (५) ११) सालाना देने पर 'सहयोगी' और (६) २) सालाना देने पर 'साधारण' सहायक सर्वसाधारण सज्जन बन सकते हैं। धर्माचार्य, नेता और देशभक्त राजन्य आनरेरी संरक्षक नियत होंगे। आनरेरी संरक्षकों, प्रतिष्ठितों, विशेषों और सहयोगियों का धन्यवाद-पूर्वक परिचय पत्र में सादर प्रकाशित किया जायगा : 'तथा आनरेरी संरक्षकों, संरक्षकों और प्रतिष्ठितों के नाम 'सेनापति' के प्रधान पृष्ठ पर सम्मानपूर्वक छपते रहेंगे।"

इसके नीचे विज्ञापन-छपाई के नियम हैं। सम्पादकीय वक्तव्य का शीर्षक है—'वीरता के लिये'। सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत शीर्ष पर ही कथासरित्सागर की ये दो पंक्तियाँ छपी हैं—

"वीर–साहाय्य–निर्विघ्नाः
सुख-लभ्या हि सिद्धयः।"

उक्त सम्पादकीय वक्तव्य का एक स्थल इस प्रकार है : "मुट्ठी भर जीव हमारी नकेल पकड़ कर नचा रहे हैं और उन्हीं विश्व विकम्पी परशुराम और श्रीराम की सन्तान, बन्दरों की तरह नाच रही है। हमारे इस पतित जीवन पर हमारे पूर्वज स्वर्ग से आँसू बहा रहे होंगे और समर क्षेत्र में गाण्डीव का खेल देखने वाला हिमालय हमारे ऊपर टूट पड़ने का विचार कर रहा होगा।" उक्त टिप्पणी का उपसंहार करते हुए सम्पादक ने विश्वास प्रकट किया है? "हम सनातनी हैं। हमारा विश्वास है कि, पृथिवी पर जब जब अशान्ति की ज्वाला भभकती, जब जब दैत्यों का प्राधान्य

होता और आर्य-पुरुषों का जीवन संकट में आते, तत्र-तत्र वह परमपिता हमारी आर्त-ध्वनि सुनकर किसी न किसी रूप में प्रकट होकर आर्य-रक्षा करता है। इसलिये यदि आज हम उस प्रभु को अपनी करुण-कथा, अपनी हाहाकार-ध्वनि, अपना आर्तनिनाद सुना सकें, तो उसका हृदय अवश्य करुणा से पिघल जायेगा और वह निश्चय हमारे लिये कोई 'सेनापति' भेजकर उसके हाथों में 'पांचजन्य' और 'चक्रसुदर्शन' दे देगा। यही सेनापति के जन्म का एकमात्र उद्देश्य है और यदि वह अपनी यह ध्वनि आर्यजाति को सुना सका और यदि आर्यजाति उस ध्वनि की सम्मिलित महाप्रतिध्वनि उस मंगलमय प्रभु को सुना सकी, तो सेनापति अपना जन्म सार्थक और आनन्दमय समझेगा।"

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह पत्र वीरभाव के संवर्धन का उद्देश्य ले कर प्रकाशित हुआ था। ध्वनि-१ में व्यवस्थापक ने एक 'आवश्यक विनय' की है जो द्रष्टव्य है :

"आवश्यक विनय : हम भारत के हिन्दू पहलवानों के सचित्र परिचय 'सेनापति' में क्रमशः प्रकाशित करना चाहते हैं। इसलिये जो सज्जन इनके परिचय हमारे पास भेज सकेंगे, उनके हम विशेष अनुगृहीत होंगे—व्यवस्थापक।" उक्त विज्ञप्ति से भी इस पत्र की मूल प्रकृति का परिचय मिलता है।

वस्तु-विवेचना

इस में प्रकाशित साहित्य का मूल स्वर वीर भाव ही है। जैसे 'मतवाला' के मुख्य पृष्ठ पर निराला जी की कविताएँ छपती थीं, उसी प्रकार 'सेनापति' के मुख्य पृष्ठ पर अधिकांश कविताएँ पं० केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की छपती थीं। अधिकांश अंकों में 'प्रभात' जी की कविताएँ छपी हैं। कभी-कभी कुछ गद्य कृतियाँ भी छपी हैं। सेनापति में प्रकाशित 'प्रभात' जी की कविताओं का स्वर अत्यन्त उग्र राष्ट्रीयता से सिक्त है। ध्वनि १८ के मुख्य पृष्ठ पर 'प्रभात' जी की कविता है—'असि का आवाहन'। इस कविता की कुछ अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"तू प्यासी है ? हा अभाग्य ! हम जीते हैं, तू प्यासी है !!
व्यथिते ! तुम्हें आज केवल, आँसू हैं और उदासी है !!
टूट गई है, इन प्रमत्त-प्राणों की दीर्घ खुमारी, आ!
अमर शिवा की चिर-संगिनी ! विकरालिनि ! प्रलयंकारी ! आ !!
आ हाथों में अट्टहास कर, गिरि-वन के साहस टूटे।
पगली ! तेरे प्रबल-रूप को लख, 'उनके' छक्के छूटे॥
सुन तेरी झंकार विकट, रिपुओं का हृदय दहल जाये।
जीवित होवे मरे, सुप्त जागृत, आलस्य निकल जाये॥

हमें आज आवश्यकता है, उन्मादिनी ! तुम्हारी, आ !
आ विनाश-लीला की लोहित-चिर-ज्वलन्त चिनगारी आ ॥"

इसी प्रकार ध्वनि २३ के मुख्य पृष्ठ पर 'दीन जी' की कविता है जिस का आरम्भिक अंश इस प्रकार है :

तलवार की तारीफ

(रचयिता—कविवर लाला भगवान 'दीन' जी, हिन्दी प्रोफेसर, काशी विश्वविद्यालय)

"चाकी सी चमकि गज कुम्भ ऐसे फोरि डारे,
जैसे मृगराज हूँ ते फोरत बने नहीं ।
है वर हरट्टन के झुंड झकझोरे जैसे,
बागवान हूँ ते आम झोरत बने नहीं ।"

ध्वनि २५ के मुख्य पृष्ठ पर 'मातृभूमि—वन्दना' शीर्षक 'दिनकर' की कविता है जिस की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"गोद गुरुवर गांधि, मोती, मालवी सबले ।
लसत लाडिले लाजपति लावण्यनिधि निखिले ॥
जयति जय जय भरत अम्बे ॥
सरसिज-सुमन सरजा संचारित माल मंजु भले ।
वांछित विफल नहिं होय दे वर, सदय-हिय वर दे ।
जयति जय जय भरत-अम्बे ॥"

हिन्दू संघटन का उन्नायक होते हुए भी 'सेनापति' साम्प्रदायिक पत्र नहीं था। वीरता की ज्योति जगाने के लिए उस ने आह्वान किया था। इस सन्दर्भ में ध्वनि ४ की सम्पादकीय टिप्पणी के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं :

"हमारे देश में महात्मा गांधी जैसे त्यागी महात्मा और राजेन्द्र बाबू जैसे चरित्रवान् हैं, सर जगदीशचन्द्र बोस जैसे वैज्ञानिक और पण्डित रामावतार शर्मा जैसे विद्वान् हैं, डॉक्टर रवीन्द्रनाथ जैसे कवि और महाराजा बड़ौदा जैसे धनी हैं, अरविन्द घोष जैसे योगी और सावरकर जैसे तपस्वी हैं, माननीय मालवीय जैसे धर्मनिष्ठ और भातखण्डे जैसे संगीतज्ञ हैं, परन्तु वही बात नहीं है, जिसके बिना आज हम हिजड़े बने हुए हैं, कायरता ने हमारे पवित्र अन्तःकरण में घर बना लिया है—हमारा जीवन कंकालमय हो गया है।

'वह है वीरत्व-शक्ति और शत्रुजन्य पुरुषों का अभाव। व्यर्थ की दयालुता, भीरुता और जडता ने हिन्दू जाति में अपना अटूट अड्डा जमा लिया है।'"

इस नाटकीय जीवन से उद्धार पाने का एकमात्र उपाय है वीरता की ज्योति जगाना।

इसलिए हमारे यहां सबसे अधिक आवश्यकता है वीरता की ज्योति जगाने की। अपनी नित्य की उपासना में प्रत्येक आर्यपुत्र को कम से कम ५ मिनिट वीरवर हनुमान, परशुराम, भीम, प्रताप, बाजीराव, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह आदि में किसी आर्यरक्त-रक्षक वीर की अवश्य उपासना करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अपने प्रत्येक कर्म, धर्म में वीरता की भावना रखनी चाहिये।"

इस आग्रह के बावजूद महात्मा गान्धी के नेतृत्व में इस की अटूट आस्था थी। उपरोक्त सम्पादकीय टिप्पणी का उपसंहार करते हुए सम्पादक ने लिखा है: "कुछ लोगों का यह विश्वास देखा जाता है कि, महात्मा गांधी से लेकर छोटे नेता तक ऐसा कोई सेनाधिनायक नहीं है, जो आर्य-वाहिनी का संघटन न कर सके। अपना विश्वास इसके विपरीत है। इसमें दो बातें हैं। पहली तो यह है कि महात्मा गांधी हिन्दू ध्वजिनी को समर-स्थली में ले जाने में सर्वथा समर्थ हैं और इसका जीवित उदाहरण उन्होंने असहयोग काल में, समस्त संसार को दिखा दिया था। जो लोग यह कहते हैं कि, उनका असहयोग विफल हो गया, वे बिल्कुल भूलते हैं। आज जो देश के प्राण किसानों तक में देश के प्रति भक्ति की जागृति है, वह असहयोग के ही कारण है। असहयोग आन्दोलन की नींव पर ही आज हम स्वराज्य पार्टी या किसी भी पार्टी को आकाशचुम्बिनी अट्टालिका उठा रहे हैं। असहयोग के पहले कितने आदमी स्वराज्य का 'स्व' भी जानते थे? असहयोग आन्दोलन में प्राकृतिक नियमानुसार, शैथिल्य भर आया है, उसका प्रकाश उसी तरह उद्दीप्त है, और निश्चित है कि असहयोग या सत्याग्रह से ही भारत स्वराज्य-संग्राम में विजयी होगा। महात्मा गांधी, विश्रान्ति के बाद, फिर युद्ध क्षेत्र में आये हैं और वे अवश्य ही एक योग्य सेनाध्यक्ष की तरह राष्ट्र में नयी जान फूंकेंगे। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि, देश के स्वतंत्रता के लिये, आवश्यकता पड़ने पर महात्मा गांधी ही पहले तोप के मुंह पर खड़े होंगे।"

ध्वनि १६ में 'श्रीयुत बाबू रामधारी सिंह' का एक लेख है 'सामाजिक उन्नति के पथ में'। इस लेख की अन्तिम पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—"'' से सनातन धर्मावलम्बियों यदि तुम्हें सनातन धर्म की रक्षा करना अभीष्ट है, यदि तुम अपने धर्म को अमर बनाना चाहते हो, यदि पूर्वजों के रक्त से तुम्हारा शरीर प्रवाहित हो रहा है, तो आज ही सनातन धर्म की जय बोलकर अपने प्यारे अस्पृश्यों के हेतु अपने समाज का द्वार खोल दो। अन्यथा इस प्रकार की विडम्बनाओं और पाखंडों के द्वारा तुम्हारा नाम रह न सकेगा। भविष्य की सभी जातियाँ घृणायुक्त हो-होकर तुम्हारे नाम पर थूकेंगी। हिन्दू समाज रूपी विमल मयंक पर से इस कलंक रूपी कालिमा को हटा देने से तुम्हारा सामाजिक ही नहीं, वरन् राष्ट्रीय-जीवन भी बहुत कुछ आगे बढ़ जायेगा। समय आ गया है।" कहना न होगा कि यह गान्धी युग का स्वर था जिस के प्रति 'सेनापति' सचेत था।

'सेनापति' के कवियों में मुख्य हैं हरिऔध, प्रभात, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', पं० जगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल', श्रीनाथ मिश्र 'द्विरेफ', व्रजमोहन वर्मा, प्रवासीलाल वर्मा इत्यादि।

विशिष्ट शुभकामनाएँ

'सेनापति' वीरभाव का प्रचारक अपने ढंग का अप्रतिम हिन्दी-पत्र था जिस की ओर पूरे हिन्दी संसार का ध्यान आकृष्ट हुआ था और तत्कालीन साहित्यकार और पण्डितों ने अपनी शुभकामनाएँ भेजी थीं। शुभकामना भेजने वालों में प्रमुख नाम ये हैं—रामजी लाल शर्मा, प्रधान मन्त्री हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बाबू जगतनारायणलाल, प्रधान मन्त्री—अखिल भारतीय हिन्दू महासभा, प्रो० ठाकुर लोटूसिंह जी गौतम, पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, पं० नरदेव शास्त्री, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, राधामोहन गोकुल जी, पं० बलदेव उपाध्याय, नारायणप्रसाद शास्त्री, बाबू सन्तराम बी० ए०, जयशंकर प्रसाद, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'। कुछ शुभ कामनाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

"विशेषतः मुझे यह जान कर असाधारण आनन्द हुआ है कि, राजनीतिक दाव-पेच बतलाने के अतिरिक्त प्राचीन ऋषि-महर्षियों के द्वारा उद्भावित सामाजिक व्यवस्था का भी यह पत्र पूर्ण-रूप से समर्थक होगा। वर्तमान समय में जब पाश्चात्य सभ्यता अंग्रेज़ी शिक्षा और विदेशी विचारों की सहायता से छनकर भारत के कोने-कोने में जा रही है, तब प्राचीन-भारत की अनुभूत सामाजिक व्यवस्था की सत्यता डंके की चोट प्रमाणित की जानी चाहिये।......हिन्दू-हितों की रक्षा करना तो प्रत्येक हिन्दी पत्र का उच्च उद्देश्य होना ही चाहिए।"

'सेनापति'

(लेखक—श्रीयुत बाबू जयशंकर 'प्रसाद')

हाथों में हो शक्ति कर्म में नव कौशल हो।
मन में भगवद् भक्ति सत्य का अतुलित बल हो॥
जीवन के संग्राम करे हँस-हँस कर निर्भय।
निश्छल सेनापति की है निश्चय जय॥"

"सेनापति

(लेखक-श्री युत पं० पद्मसिंह शर्मा)

इस देश में वीर भाव के जागरण की बड़ी आवश्यकता है। इस के लिये यथेष्ट प्रयत्न और आन्दोलन होना चाहिये। इस अभाव की पूर्ति के लिये आपका 'सेनापति' निकालना स्तुत्य कार्य है। परमात्मा करे यह पत्र देश का मंगल-साधन करे। सेनापति के द्वारा अपने विचार प्रकट करने की मैं चेष्टा किया करूँगा।"

"मत मुरली वजाइये ।
(लेखक-श्रीयुत पं० मोहनलाल महतो, वियोगी)

दोहा

छोड़ प्रिया का सुखदकर, चक्र सुदर्शन धार ।
'सेनापति' बनकर करो, नवजीवन संचार ॥

कवित्त

छोड़कर गोपियों का साथ, पीत-पट फेंक, पहन सनाह समर-स्थली में आइये ।
मोहन, हटा के मनमोहन स्वभेष अब, जग को प्रलय का रुद्र रूप दिखलाइये ।
भूलकर भैरवी-धनाश्री की मधुर तान, गीता के अनुष्टुपों से आग बरसाइये ।
ले के 'पांचजन्य' दहला दे रिपुओं का दिल, कुँवर कन्हैया ! मत मुरली वजाइये ।"

सेनापति के सम्पादक एक विद्वान् पुरुष थे । हिन्दी के पण्डितों और लेखकों से उन का घनिष्ट सम्बन्ध था । इस लिए सेनापति को लेखकों का सहयोग सहज ही उपलब्ध हो जाता था । यह एक बड़ी उपलब्धि थी । हिन्दुत्व का इतना उग्र प्रचारक हिन्दी में कदाचित् कोई दूसरा पत्र उस समय नहीं था ।

हिन्दू पंच

'हिन्दू पंच' सचित्र साप्ताहिक पत्र था जिसे १९२६ में बाबू रामलाल वर्मा ने प्रवर्तित किया था । संचालक थे बाबू मुकुन्दलाल वर्मा । इस पत्र का आदर्श वाक्य इस प्रकार था :

"लज्जा रखने को हिन्दू की, हिन्दू-नाम बचाने को ।
आया 'हिन्दू-पंच' हिन्द में, हिन्दू जाति जगाने को ॥"

हिन्दू पंच के प्रधान उद्देश्य थे : १. हिन्दू संगठन, २. शुद्ध संस्कार, ३. अछूतोद्धार, ४. समाज-सुधार, ५. हिन्दी प्रचार । अपने उद्देश्य के प्रति यह पत्र सदैव सचेत रहता था ।

इस के विशेषांक बड़े महत्त्वपूर्ण निकलते थे । 'बलिदान अंक' १ जनवरी १९३० ई० को प्रकाशित हुआ था । यह विशेषांक भारतीय बलिदान का एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करता है ।[1] इस विशेषांक के मुख्य पृष्ठ पर 'विचित्र बलिदानी वीर' शीर्षक कवीन्द्र रवीन्द्र की कविता छपी है । उक्त कविता का अन्तिम अंश इस प्रकार है :

---

१. परिशिष्ट में इस की विषय-सूची दी गयी है।

"लाल कमला के महाशक्ति के अनन्य भक्ति,
सादगी समाई हुई आर्य-रक्त-धारी हैं।
त्याग के तपस्वी अनुराग के परागपूर्ण,
कोमल कुसुम कण्टकों के पथ-चारी हैं।
सैनिक स्वदेश के अहिंसा अस्त्रधारी आज,
सजते स्वतंत्रता के साज सुखकारी हैं।
क्रान्ति के प्रकाशक हैं, भ्रान्ति के विनाशक हैं,
शान्ति के उपासक हैं, क्रान्ति के पुजारी है।"

उक्त विशेषांक की सम्पादकीय टिप्पणी का भी एक अंश यहाँ द्रष्टव्य है : "क्या माता की परतन्त्रता से हमें लज्जा नहीं आती? हमारी वह समृद्धि-शालिनी रत्नगर्भा माता, जो किसी समय धन-धान्य से परिपूर्ण थी, आज दरिद्र भिखारिणी हो रही है। परतंत्रता और दासता में रहते-रहते क्या अब हम ऐसे निष्प्राण हो गये हैं कि वह दास-वृत्ति त्याग देने का हम प्रयास भी नहीं कर सकते? हम जानते हैं कि हमारे विरुद्ध प्रचण्ड शक्ति अपने सम्पूर्ण सैनिक बल से खड़ी हमें गुरेर रही है, पर क्या हम पतंग से भी गये बीते हैं जो अग्नि में गिरकर प्राण भी नहीं दे सकते?……बिना आत्म-बलिदान किये स्वतंत्रता कभी न आयेगी। हमारे रोने, मांगने या गिड़गिड़ाने से हमें कोई स्वतंत्रता न प्रदान कर देगा। स्वतन्त्रता ऐसी है ही नहीं, जो आसानी से मिल जाये और आसानी से मिली हुयी स्वतंत्रता कभी टिकाऊ नहीं हो सकती। स्वर्गीय लाला लाजपत राय कहा करते थे कि हमें चुपचाप मारकर नींव के कंकड़ों की तरह बलिदान करना चाहिये।……तुम्हें अपने बलिदानों के लिये शोहरत नहीं चाहिये, बल्कि अभिमान रहित होकर गुप्त रूप से किये गये बलिदान ही ईश्वर को सबसे अधिक प्रिय हैं। इसलिये तुम्हें स्वयं अपना बलिदान करके बलपूर्वक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी होगी। अपने हकों और अधिकारों के लिये लड़ो, लड़ो और लड़ते हुए बलि चढ़ जाओ, पर एक रंच भी पीछे मत हटो। जलिआनवाला बाग में अगर तुमने अपनी संकुचित पीठों पर गोलियाँ खायी थीं तो अबकी अपनी विशाल छातियों पर दानवी गोलियों का स्वागत करो।……महात्मा गांधी के आदेशानुसार तुम्हें पूर्ण अहिंसात्मक रहते हुए और जल्लादों को आशीश देते हुए निर्भीकता पूर्वक बलिवेदी की ओर बढ़ना होगा। माता वसुन्धरा प्यासी है, उसकी प्यास अपने रक्त से बुझानी होगी। राम और कृष्ण की भूमि एक बार फिर स्वतंत्र करनी होगी। विदेशी शासन के सुरक्षित पहरे में आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए हममें जो कायरता आ गयी है, उस कायरता को हम इसी तरह भगा सकते हैं, कि कर्तव्य-पालन के लिये कमर कसकर खड़े हो जायें।

……इस कर्तव्य-पालन के लिये तुम्हें समस्त यातनायें सहन करते हुए चुपचाप बलि चढ़ जाना होगा और इसका पुरस्कार होगा—'स्वतंत्रता'। याद रहे कि

यह दैवी शक्ति की प्रेरणा है और इसके यह मतलब हैं कि बलिदानों का तांता न टूटने पाये। सैकड़ों-हजारों नहीं, बल्कि लाखों और करोड़ों शीश बलिवेदी पर चढ़ जायेंगे और तब तुम देखोगे कि स्वतंत्रता अविलम्ब आयेगी।"

यही जातीय स्वर 'हिन्दू पंच' का सम्पादकीय स्वर था। इस पत्र में व्यंग्य-विनोद के साथ ही व्यंग्य-चित्र भी छपते थे। इस का मूल्य प्रति अंक दो आना और वार्षिक ६) था। अपने युग का यह अत्यन्त तेजस्वी और विद्युत पत्र था। कुछ दिनों के लिए इस में सम्पादक के रूप में मुन्शी नवजादिक लाल भी आये थे और इस पत्र को उन्हों ने एक नया जीवन दिया था। "उनके अक्लान्त मस्तिष्क के बल पर 'हिन्दू पंच' कुछ दिन चलता रहा, पर किसान के परिश्रम पर छूछे बादलों ने पानी फेर दिया।[1]"

श्रीकृष्ण-सन्देश

डॉ० एम० के० बर्मन की ओर से पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे के सम्पादकत्व में विजयादशमी रविवार, सं० १९८२, २७ दिसम्बर १९२५ को 'श्रीकृष्ण-सन्देश' प्रकाशित हुआ था। यह साप्ताहिक पत्र था। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि यह १९२६ तक चला।[2]

'श्रीकृष्ण-सन्देश' के पहले ही अंक में गर्दे जी का एक लेख 'भारतमित्र और उसके बाद' प्रकाशित हुआ था। इस का अन्तिम अंश इस प्रकार है—"भारतमित्र से सम्बन्ध-विच्छेद होने के पश्चात् हमारा यह विचार था, जैसा कि हमने श्रावण कृष्ण १० मी के अपने अन्तिम निवेदन में लिखा है कि—'भारतमित्र' की सेवा में जो कार्य हम कर रहे थे उस कार्य को करने का कोई अन्य साधन हम निर्माण करें।—एक दैनिक अथवा साप्ताहिक पत्र निकालनेकी प्रवृत्ति हुई थी। हम अपने उन धनी और उदार, निःस्वार्थ और सम्मान्य मित्रों के अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस उद्योग में उदारतापूर्वक पूर्ण सहायता करने का वचन दिया था। परन्तु इस उद्योग में विशेष अग्रसर होने के पूर्व ही 'बर्मन समाचार' के संयोजक हमारे परम हितैषी और उदार मित्र श्रीमान् बाबू चुन्नीलाल जी बर्मन ने—जिनके पिता स्वर्गीय डॉ० बर्म्मन का 'भारतमित्र' से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था—स्नेहपूर्ण आग्रह के साथ अपने विचार हमारे सामने रखे। हमने देखा कि हमारे और बर्मन जी के विचारों में कोई मतभेद नहीं है। इसलिये पृथक् उद्योग का विचार आगे न बढ़ा हमने बर्मन जी के इस

1. आचार्य शिवपूजन सहाय : शिवपूजन रचनावली, खंड ४, पृ० २५६।
2. पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० ३०६।

उद्योग में ही सम्मिलित होना निश्चय किया। तदनुसार 'वर्मन समाचार' की पूर्वयोजना का समावेश करके 'श्रीकृष्ण सन्देश' का आविर्भाव हुआ है। भगवदधिष्ठान में लोक संग्रह साधन करने के संकल्प का ही यह समारम्भ है। उन्हीं आनन्द घन नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की कृपा और गुरुजनों के आशीर्वाद से यह समारम्भ 'धर्म संस्थापन' रूप 'श्रीकृष्ण-संदेश' के कार्य का साधन हो यही प्रार्थना है।—लक्ष्मण-नारायण गर्दे।"

इस की नियमावली भी छपती थी। आरम्भिक ३ नियम इस प्रकार हैं—

१. 'श्री कृष्ण-सन्देश' प्रति सप्ताह रविवार को प्रातःकाल प्रकाशित हुआ करेगा।

२. इसका वार्षिक चन्दा, भारतवर्ष में ३) और विदेश में ६) होगा। जो लोग जिस सप्ताह में वार्षिक चन्दा पेशगी जमा करके ग्राहक होंगे वे उसी सप्ताह से स्थायी ग्राहक समझे जायेंगे।

३. इसमें धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि सभी विषयों की चर्चा रहेगी और संसार-भर के सब प्रकार के समाचारों का संग्रह रहेगा। प्रत्येक अंक में चित्र और कार्टून भी रहेंगे।

'श्री कृष्ण-सन्देश' को अनेक शुभकामनाएँ प्राप्त हुई थीं जिन में से कुछेक यहाँ उद्धृत की जाती हैं—"भारतवर्ष को इस समय कृष्ण-संदेश की बड़ी आवश्यकता है। हम उद्यम और अध्यवसाय भूल से गये हैं। कर्मयोग की शिक्षा भारत को श्रीकृष्ण भगवान् ने दी थी। उसे आज फिर प्रचारित करना और भारतवासियों को कर्मयोगी बनाकर समस्त देश के हित में रत करना सभी नेताओं और पथ प्रदर्शकों का कर्तव्य होना चाहिये। आशा है 'कृष्ण-संदेश' अपने नाम को सार्थक करेगा।

—राजेन्द्र प्रसाद"

"........यदि इस समय हिन्दू जाति में कर्तव्य का ज्ञान कराने में कोई समर्थ हो सकता है तो वह 'कृष्ण संदेश' है। कृष्ण सन्देश को पाकर ही यह गिरी हिन्दू जाति कर्मण्य बन सकती है। 'श्री कृष्ण सन्देश' तेरा सौ बार स्वागत है। —छविनाथ पाण्डे।"

श्री कृष्ण-सन्देश के सम्बन्ध में लोकमत—

वर्तमान, कानपुर :

"प्रत्येक अंक में गवेषणापूर्ण और टिप्पणियों के अतिरिक्त, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों पर लेख रहते हैं। प्रत्येक अंक में कई सामयिक चित्र और कार्टून भी रहते हैं। कागज और छपाई उत्तम है।"

उपन्यास तरंग—कलकत्ता :

"......हिन्दी में आजतक ऐसा सुन्दर साप्ताहिक नहीं निकला।"

किसान, कानपुर :

"पत्र अँग्रेजी के अच्छे से अच्छे साप्ताहिक की टक्कर का है। प्रति सप्ताह प्रायः प्रत्येक विषय की यथेष्ट विचार सामग्री रहती है।"

कहना न होगा कि इस पत्र को प्रतिष्ठा का अधिक श्रेय इस के योग्य सम्पादक पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे को है। गर्दे जी के व्यक्तित्व पर तिलक का अधिक प्रभाव था। 'श्री कृष्ण-सन्देश' में भी यही प्रभाव दिखाई पड़ता है।

समन्वय

रामकृष्ण मिशन के तत्त्वावधान में स्वामी माधवानन्द जी के सम्पादकत्व में कलकत्ते से १९२२ में 'समन्वय' का प्रकाशन हुआ था। यह मासिक पत्र था। इस में धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों के साथ ही साहित्यिक सामग्री भी रहती थी।

इस पत्र के सम्पादन-विभाग में एक लम्बे अरसे तक 'निराला' जी रहे। उन्हीं के स्नेहानुरोध से मुन्शी नवजादिकलाल और बाबू शिवपूजन सहाय भी इस में आये थे। इस प्रकार इस पत्र को एक श्रेष्ठ सम्पादक-मण्डल का सहयोग मिला था। 'निराला' जी को इस में आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भेजा था।[1]

इस पत्रिका में वैचारिक लेख अधिक प्रकाशित हुए थे। इसे उस समय के धौरन्धरिकों ने बहुत पसन्द किया था। हिन्दी के चार विद्वानों की सम्मतियां यहाँ उद्धृत की जाती हैं जिन से 'समन्वय' के वैशिष्ट्य और महत्त्व का उद्घाटन होता है।

---

१. मैं वहाँ बालकृष्ण प्रेस में रहता था जो विद्यासागर कॉलेज के पास था। प्रेस के मकान के ऊपर वाले खण्ड में विवेकानन्द सोसाइटी के कुछ संन्यासी रहते थे। उन में से स्वामी माधवानन्द जी, एम०ए०, 'समन्वय' नामक हिन्दी मासिक पत्र निकालते थे। उस के लिए वे एक सुयोग्य सम्पादक की तलाश में पूज्य आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ गये थे। आचार्य द्विवेदी जी ने ही उन्हें बड़े आग्रह और आदर से 'निराला' जी का नाम बतलाया। स्वामी जी बड़े आग्रह और आदर से 'निराला' जी को कलकत्ता लाये। आचार्य द्विवेदी जी के स्नेहपूर्ण आदेश से 'निराला' जी भी संन्यासियों की मण्डली में चले आये। विवेकानन्द सोसाइटी में आ जाने पर भी 'निराला' जी ने विद्वान् संन्यासियों पर अपनी योग्यता और सुशीलता की छाप बिठा दी। मैं ने देखा था कि वहाँ विवेकानन्द सोसायटी के बड़े-बड़े विद्वान् संन्यासियों पर भी 'निराला' जी की दार्शनिक ज्ञान-गरिमा का सिक्का जम गया था और वे लोग निराला जी को बड़े आदर-मान से रखते थे। आचार्य शिवपूजन सहाय, : निराला अभिनन्दन ग्रन्थ,' पृ० ३० ।

पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी—

" 'समन्वय' मेरा प्रेम पात्र है। उसमें यदि मुझे दोष देख पड़ते तो वह प्रेमपात्र कैसे हो सकता? क्योंकि गुणों का आधार तो प्रेम ही है—'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि'। उसके कुछ लेखों से मेरा मनोरंजन होता है और कुछ से मेरे आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि। रामकृष्ण वचनामृत से तो मेरे हृदय में सात्विक भावों का अत्यधिक उन्मेष हो उठता है। समन्वय की भाषा और उसके अधिकांश लेखों के भाव इस समय की मेरी चित्त वृत्ति के सर्वथा अनुकूल है।"

समालोचक प्रवर पण्डित पद्मसिंह शर्मा—

"ऐसे पत्रों की आवश्यकता है। जैसा सुन्दर शास्त्रीय नाम है वैसे ही महत्त्वपूर्ण लेख हैं। रामकृष्ण आश्रम जो अनेक अच्छे कार्य कर रहा है, 'समन्वय' का प्रकाशन मेरी दृष्टि में उन सब में अच्छा है। भिन्न भाषा भाषी होकर भी आप-लोग हिन्दी में ऐसा उत्कृष्ट पत्र निकाल रहे हैं, यह एक गौरव की बात है। 'समन्वय' की भाषा विषय के अनुकूल प्रसन्न और गम्भीर होती है। 'समन्वय' में प्रकाशित 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' और दूसरे वेदान्त विषयक निवन्ध पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित होने चाहिये। ऐसा प्रशंसनीय साहित्य प्रचार पाने योग्य है। 'समन्वय' का पूरा फाइल मिल सके तो मैं उसे पढ़ना चाहता हूँ।"

बाबू श्यामसुन्दर दास, बी० ए०—

" 'समन्वय' के दर्शन मुझे नागरी प्रचारिणी सभा में हो जाते हैं। आप का उद्देश्य व्यावहारिक जीवन में वेदान्त का प्रभाव दिखाना है और आप इस उद्देश्य की सिद्धि परमहंस रामकृष्ण जी तथा स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों द्वारा करना चाहते हैं। आपका उद्देश्य सर्वथा श्लाघ्य है और मुझे आशा है कि आप इस कार्य में सफल होंगे। आपका पत्र अपने ढंग पर चल रहा है। मुझे आशा है हिन्दी पढ़ने वाले आपके पत्र का यथोचित आदर करके आपके उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होंगे।"

मासिक 'मारवाड़ी सुधार' (आरा) के सम्पादक बाबू शिवपूजन सहाय ने 'समन्वय' के बारे में अपने पत्र (वर्ष २, अंक ८) में लिखा था—"संघ की एक शाखा कलकत्ता में अद्वैताश्रम नाम से प्रसिद्ध है। इसी आश्रम से 'समन्वय' नाम का मासिक-पत्र निकलता है। हिन्दी में वह अपने ढंग और विषय का एक ही उत्तम पत्र है। इसके सम्पादक हैं—स्वामी माधवानन्द जी महाराज। आप बंगाली हैं और अंग्रेजी के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। किन्तु, जिस योग्यता से आप 'समन्वय' का सम्पादन कर रहे हैं, वह हिन्दी वालों के लिये शुभ होने पर भी कुछ आश्चर्यजनक है। क्योंकि स्वामी जी ने एकाएक अपने पवित्र-दर्शन से हिन्दी वालों को मुग्ध किया है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि एकाएक 'समन्वय' को लेकर जिस सराहनीय सफलता के साथ आप कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं, वह हिन्दी के लिए सौभाग्यवर्द्धक और आपके लिये गौरवजनक है।

'समन्वय' धार्मिक और आध्यात्मिक पत्र है। सांसारिक झंझट झमेलों में फंसे रहने वाले मारवाड़ियों को अपने चित्त की शान्ति और भावी कल्याण के लिये 'समन्वय' अवश्य पढ़ना चाहिए। इसमें उपर्युक्त परमहंस देव और स्वामी जी के सरल एवं बारीक उपदेशों की ऐसी बहार रहती है कि उन्हें हृदयंगम करने पर मोह-माया के जाल में फंसे हुए मनुष्य का शुष्क हृदय भी शान्ति की सुशीतल अमृत धारा से सिक्त हो जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सदा ठीक समय पर निकलता है और पाठकों के सामने गहन विषयों को भी बड़ी सरस और शुद्ध भाषा में सुगमतापूर्वक उपस्थित करता है। इसका कार्यालय नं० २८ कालेज स्ट्रीट मार्केट में है। इसकी उत्तमता, उपयोगिता और पवित्रता को देखते हुए तीन रुपया वार्षिक मूल्य कुछ भी नहीं है।"

यह पत्र २८ कॉलिज स्ट्रीज मार्केट, कलकत्ता से प्रकाशित होता था और इस का वार्षिक मूल्य मात्र ३) था। गरीब छात्रों और निःशुल्क वाचनालयों को कुछ दिनों तक २) वार्षिक पर ही भेजा जाता था।

अपने पूरे स्वरूप-स्वर में यह हिन्दी का अप्रतिम पत्र था।

सरोज

इस के स्वत्वाधिकारी श्री कनकाप्रसाद चौधरी थे। सम्पादक के पद पर श्री नवजादिकलाल श्रीवास्तव तथा श्री रामप्रसाद पाण्डेय थे। यह सचित्र मासिक पत्रिका थी जिस का वार्षिक मूल्य ४) था, एक प्रति का छह आने और छमाही मूल्य २)। पहले अंक के प्रथम पृष्ठ की सामग्री यहाँ अविकल उद्‌धृत की जाती है—

सरोज

सचित्र मासिक पत्र

काव्य मौड़ी-मधुप मय, सुरस-तरंगित-ओज।
साहित्यामृत सरसि, यह सुरभित-सुरुचि 'सरोज।'

(कि० ला० गो०)

पुष्प-१] ज्येष्ठ संवत् १९८५ [दल १

आशीर्वाद

(रचयिता-कवि सम्राट् पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय, साहित्य रत्न "हरिऔध")

(१)

अति मंजु-माधुरी सुमधु मानसों में भरे,
सहज-विकास से विनोद हो वरसता।
परम-रुचिर-रचना हो कान्त-रुचिपूत
लोक-चित्र-चारुता विलोक हो हरसती
'हरिऔध' रस-दान करे रस-लोलुप को
नव-राग रहे अनुराग को परसता।
सरस बनावे असरस-भूत-भूरि-भाव
मंजुल-सरोज सी 'सरोज'की सरसता।

(२)

पाके कमलासन समान माननीय सुत
कमलासना के प्रेम-धन से धनी रहे।
विदित-विभाकर सी वर-वंधुता के मिले
विपुल-विभूति में विकचता सनी रहे।
'हरिऔध' कर में विराजे कमलापति के
काल कमनीय अनुकूल अवनी रहे
चोज ओज सहित अमित-मंजुता से लसे
संतत 'सरोज' की सरोजता बनी रहे।

प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी—सरोज विकास—में सम्पादक ने लिखा था, "....अपनी तुच्छ शक्ति के अनुसार मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को है और होना चाहिये। हम 'सरोज' द्वारा उसी अपने जन्मसिद्ध अधिकार का उपयोग अपनी इच्छा और तुच्छ क्षमता के अनुसार करना चाहते हैं। इस से यदि किसी प्रयोजन की सिद्धि न हो तो हमें कोई आश्चर्य और दुःख न होगा और यदि हो जाय तो हम अपना अहोभाग्य समझेंगे। 'सरोज' का मार्ग स्वतंत्र होगा।.... ....अपनी नन्हीं सी जान को संकटापन्न होने से बचाता हुआ अधिकतर अच्छी अच्छी कहानियाँ और बीच-बीच में—केवल जायका बदलने के लिये—कुछ चुने हुए लेख और कवितायें लेकर ही प्रतिमास अपने प्रेमियों की सेवा में उपस्थित हुआ करेगा। साथ ही हंसने हंसाने वाली सामग्री और संसार-साहित्य के रंग-विरंगे सुमनों के सौरभ संग्रह से भी 'सरोज' अपने प्रेमियों का मनोरंजन किया करेगा। नवीन साहित्य के निर्भीकतापूर्वक और पक्षपात रहित, गुणागुण विवेचन द्वारा उत्कृष्टता को पुरस्कृत और निकृष्टता को तिरस्कृत करने में 'सरोज' कभी परंगमुख न होगा। चमत्कार-चित्रों के विना तो शायद आजकल मासिक पत्रों की शोभा की वृद्धि ही नहीं होती, इस लिये 'सरोज' में प्रतिमास अच्छे-अच्छे बहुरंगे चित्र भी छपा करेंगे। नवीन हिन्दी शिल्पियों की प्रतिभा को प्रश्रय प्रदान कर उन्हें मातृभाषा की सेवा के लिये सतत उत्साहित करते रहना 'सरोज' अपना परम कर्तव्य समझेगा और उनकी अपरिमार्जित रचनाओं को परिमार्जित कर साहित्य संसार के सामने उपस्थित किया करेगा। 'सरोज' के गौण विषयों में व्यंग्य-चित्र, नये-पुराने, जीवित-मृत, युवक-वृद्ध हिन्दी साहित्यसेवियों के चित्र और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय आदि रहेगा, परन्तु तो भी यह भानमती की पिटारी न होगा और न 'गागर में सागर' भरने का व्यर्थ प्रयास करेगा। बस, यही चन्द रसगन्ध-विहीन विशुष्क पंखड़ियाँ 'सरोज' की संबल हैं।" स्पष्ट है कि 'सरोज' के प्रकाशन के साथ एक महत् उद्देश्य था।

सम्पादकीय वक्तव्य 'सरोज सौरभ' स्तम्भ के अन्तर्गत पत्रिका के अन्त में

रहता था। पहले अंक में 'सरोज विकास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, एक आवश्यक प्रस्ताव, और सम्पादक सम्मेलन'—शीर्षकों के अन्तर्गत सम्पादकीय वक्तव्य प्रस्तुत किया गया है।

वर्ष १, अंक ७ की सम्पादकीय टिप्पणी—सामाजिक सम्मेलन—की अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "बड़े-बड़े कट्टर भी वर्तमान पराधीनता से घबरा उठे हैं। स्वाधीन चिन्ता की सुखदायिनी लहर प्रबल वेग से उठ रही है। आशा हो रही है कि परिस्थिति बदलेगी और सामाजिक दासता से हमारी मुक्ति होगी। इसलिये सोशल कान्फरेन्स में भी कुछ परिवर्तन होने की आवश्यकता है। कम से कम उस का विलायतीपन दूर होना तो अत्यावश्यक है। उसके ध्येय में कुछ ऐसे परिवर्तन होने चाहिये जो हमारी संस्कृति के अनुकूल हों। तभी सर्व साधारण का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा।"

वर्ष १, अंक १ के लेखक-कवि की नाम-सूची इस प्रकार है, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', उग्र, निराला, मोहनलाल महतो 'वियोगी', हरद्वारप्रसाद जालान, पुरुषोत्तम प्रसाद पाण्डेय, कमल, मोहनसिंह मेहता, गुलाब, मदनलाल हिम्मत सिंह, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, गोपालशरण सिंह, प्रभात, शान्तिप्रिय द्विवेदी, जी० पी० श्रीवास्तव, कृष्ण विनायक फड़के, श्री छबीलेलाल गोस्वामी, हितैषी, कमलाप्रसाद मुख्तार।

इस में निराला की कविता 'सरोज के प्रति' प्रकाशित हुई जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

'सरोज' के प्रति

श्यामल कूलों में सुख-दुख के
बहते सदा ही प्राण
ऊर्मि संघातोद्धत अप्रतिहत,
उज्ज्वल अछोर, चिर-निर्मल सागर की ओर।
नर-नारियों की कितनी ही वन्दनायें मुखर,
कितने ही गान, ज्योत्स्ना के प्राण,
नीरव आह्वान शून्य हृदय के,
भासमान अर्घ्य पुष्प-चंदन-समर्पित वे,
कितना मौन-गुरु भार,
दग्ध संसार के जीवन कितने ही चटुल,
करुण कितने वे नयन,
अश्रु असफलता के,
कितने असार हृदय

पार की आशा से आते हैं साथ तव, स्रोतस्विनि।
मिलते असीम में।
केवल सरोज तुम
कांपते भी इतने प्रहारों से
अविरत प्रवाह में शीर्ण एक नाल पर—
दुर्बल आधार—
रहते हो सदा ही अचल
अपने विश्वास पर
इसीलिये खुलता प्रभात,
बीत जाती दुख-रात तव,
सिद्ध, भगवान भुवन-भास्कर जगाते तुम्हें,
खोल नयन देखते हो,
किरणों से प्लावित
निस्सीम नभ हर्ष भर,
साधना से पास ही
मिलते असीम से।

—निराला

'सरोज' एक साहित्यिक पत्र था। साहित्यिक विशेषांक भी निकलते थे। चूँकि सरोज-सम्पादक मुन्शी नवजादिकलाल हिन्दी के श्रेष्ठ पत्रकार थे, हिन्दी साहित्यकारों से उन का स्नेह-सम्बन्ध था, इस लिए उन का सक्रिय सहयोग 'सरोज' को सहज ही उपलब्ध हो जाता था। वर्ष २, अंक १ की एक सम्पादकीय टिप्पणी—दो और विशेषांक—की आरम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"नाटक साहित्य के सम्बन्ध में कई अधिकारी लेखकों के लेख, चित्र और उन का संक्षिप्त परिचय आदि हमारे पास आये हैं, जिन में पण्डित नारायण प्रसाद बेताब, श्रीयुत् हरिकृष्ण जी जौहर साहित्यालंकार और जनाब आगा हश्र साहब काश्मीरी का नाम उल्लेखनीय है।····स्थानाभाव के कारण हम उन के लेखों को इस प्रवेशांक में स्थान नहीं दे सके हैं, इस लिये हमारा विचार 'सरोज' के दूसरे वर्ष की दूसरी संख्या को एक छोटे से 'नाटकांक' के रूप में निकालने का है।···इस के सिवा आगामी विजयदशमी के शुभ अवसर पर हमने 'सरोज' का एक सुन्दर 'कवि अंक' निकालने का विचार किया है। इस में वर्तमान समय के सभी नये-पुराने कवियों का चित्र, उन का संक्षिप्त परिचय और उनकी सर्वोत्कृष्ट रचनाओं का संग्रह होगा। इस के सिवा काव्य-कला सम्बन्धी सुन्दर लेख और अच्छी-अच्छी कवितायें भी होगीं। हमें यह सूचित करते अत्यन्त हर्ष होता है कि 'सरोज' के 'कवि अंक' के सम्पादन का भार हमारे राष्ट्रकवि श्रीमान् कविवर

'सनेही' जी ने लेने की कृपा की है। इस लिये हमें आशा है कि यह भावी कवि-अंक हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री होगा।" इस विशेषांक के सम्बन्ध में 'सरोज' के प्रमुख कवि श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने मुझे बताया कि यह योजना क्रियान्वित न हो सकी। इस प्रकार 'सरोज' के माध्यम से महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आते-आते रह गयी। 'कवि-अंक' तो नहीं निकला पर सम्पादकीय विज्ञप्ति के अनुसार सरोज, वर्ष २, अंक २ में नाटक के सम्बन्ध में कई लेख प्रकाशित हुए।

परिशिष्ट में 'सरोज' के एक अंक की विषय सूची दी गयी है जिस से इस की वस्तु-वैशिष्ट्य की अभिज्ञता हो सके।

विशाल भारत

भारत के महान् पत्रकार रामानन्द चट्टोपाध्याय की ओर से १९२८ ई० में 'विशाल भारत' का प्रकाशन हुआ था। यह एक मासिक पत्र था जिस के सम्पादक पं० बनारसी दास चतुर्वेदी थे। चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि 'बड़े बाबू ने इस उद्देश्य से 'विशाल भारत' निकाला था कि हिन्दी जनता तक शुद्ध, सात्विक मानसिक भोजन पहुँचे। उन्हों ने कभी अपने किसी लेखक के प्रकाश के लिये आग्रह नहीं किया था और इस बात के लिये तो उन्हों ने विशेष रूप से आदेश दिया था कि 'विशाल भारत' में बंगला और बंगालियों की प्रशंसा न छपे। जब मैंने उन के जामाता डॉक्टर कालिदास नाग की थोड़ी सी प्रशंसा लिख दी तो उन्हों ने मुझ से कहा, 'लोग इस पर आशंका कर सकते हैं कि मैंने ऐसा कहा होगा, अथवा अपने सम्बन्धियों की प्रशंसा करने के लिये पत्र का दुरुपयोग किया जा रहा है'।[1] अपने आदर्श के प्रति ऐसी सजगता और निष्ठा भाव आज की पत्रकारिता में दुर्लभ है। अहिन्दी भाषी हो कर भी रामानन्द बाबू के मन में हिन्दी के प्रति उदार दृष्टि थी। चूँकि हिन्दी जनता को शुद्ध सात्विक मानसिक भोजन देने के उद्देश्य से इस पत्र का प्रकाशन हुआ था और संचालक की निष्ठा बड़ी बलवती थी, इस लिए भावी आर्थिक क्षति उठा कर भी यह निकलता रहा।

'विशाल भारत' की दूसरी बड़ी सुविधा यह थी कि पत्र-संचालक स्वयं पत्रकार होने के नाते पत्रकारों की स्वतन्त्रता का आग्रही और समर्थक था। 'विशाल भारत' सम्पादक को संचालक की ओर से पूरी स्वतन्त्रता थी। यहाँ तक कि रामानन्द बाबू की राजनीतिक धारणाओं के विरुद्ध पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी : 'संस्मरण', पृ०-६५।

सम्पादकीय टिप्पणी लिखी। रामानन्द बाबू ने उस का वैचारिक उत्तर दिया। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि इस धृष्टता के लिए पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० पद्मसिंह शर्मा की डाँट उन्हें सहनी पड़ी थी।[२]

रामानन्द बाबू के दो अपने पत्र थे, 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी'। दोनों में छपने वाली कला-कृतियों का उपयोग 'विशाल भारत' में किया जाता था। प्राचीन काल के अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र इस में प्रकाशित होते थे। इस प्रकार उस में सहज ही एक कलात्मक समृद्धि आ गयी थी।

'विशाल भारत' के आदि सम्पादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी विश्रुत गान्धी-वादी पत्रकार हैं। उस युग के अनेक महापुरुषों से इन का सम्पर्क था। इस सम्पर्क का लाभ उन्हों ने 'विशाल भारत' में किया। यह मासिक पत्र था जिस में विविध विषयों पर प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते थे। विदेशी साहित्य और साहित्यकारों के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं की अनूदित रचनाएँ भी इस में छपती थीं। यह विविध रुचियों का पत्र था।

इस के कई महत्त्वपूर्ण विशेषांक निकलते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा के स्मारक स्वरूप एक विशेषांक निकला था। इस का कला अंक भी काफ़ी चर्चित रहा।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने इस के माध्यम से कई साहित्यिक विवाद उठाये थे। 'उग्र' के कथा-साहित्य को उन्हों ने 'घासलेटी' की संज्ञा दी थी और 'निराला' जी के 'वर्तमान धर्म' शीर्षक निबन्ध को 'विशाल भारत' में प्रकाशित कर उस पर प्रमुख साहित्यकारों से सम्मतियाँ माँगी थीं। अधिकांश ने उस लेख को 'अनर्गल प्रलाप' बताया था।[१] प्रयाग के 'भारत' ने इस का विरोध किया था और विवाद बढ़ गया था।

'विशाल भारत' ने अनेक महत्त्वपूर्ण पुराने तथ्यों को प्रस्तुत किया। हिन्दी पत्रकारिता के सम्बन्ध में ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय, विष्णुदत्त शुक्ल, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और गर्दे जी के संस्मरण और लेख प्रकाशित कर नये अध्याय के निर्माण की अनुकूल भूमिका प्रस्तुत की।

हिन्दी के विशिष्ट लेखकों का उसे सहयोग प्राप्त था। इस प्रकार कलकत्ते के हिन्दी मासिक पत्रों में 'विशाल भारत' सब से समृद्ध पत्र था। वह आज भी निकल रहा है। बीच में कुछ दिनों के लिए सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन इस के सम्पादक थे। श्रीराम शर्मा और मोहन सिंह सेंगर ने भी इसे कुछ दिनों सम्पादित किया था।

गान्धी युग के दो और पत्र काफ़ी प्रसिद्ध थे, जिन में एक था 'मौजी' और

---

१. वही, पृ० ६१।
२. द्रष्टव्य—इलाचन्द्र जोशी का संस्मरण : 'कलकत्ता—प्रवास से ले कर आज तक', निराला अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४।

दूसरा आदर्श। दोनों ही बाबू शिवपूजन सहाय के सम्पादकत्व में निकलते थे।[1] 'मौजी' में पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी भी कुछ दिनों तक रहे। नवम्बर १९२२ से 'आदर्श' का सम्पादन-भार आप के ऊपर आया। यह मासिक पत्र था जो दीनानाथ सिगतिया द्वारा घोष मेशिन प्रेस ३८, शिवनारायण दास लेन में मुद्रित और १३१, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट—कलकत्ता से प्रकाशित होता था।

इस के सम्बन्ध में (इस के सम्पादक) बाबू शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि—"...जिस समय 'आदर्श' का सम्पादन मेरे काँपते हुए हाथों में ज़बरदस्ती सौंपा गया, उस समय ऐसी-ऐसी लम्बी आशायें मेरे सामने उपस्थित की गयीं कि साहित्य सेवा के नाम पर, स्वार्थसिद्धि का बीड़ा, मैंने झट उठा लिया। भावी आशाओं पर विश्वास करके मुझे आग्रह और अनुरोध अंगीकार करना पड़ा। किन्तु नतीजा बुरा हुआ। पांच अंक निकलकर 'आदर्श' बन्द हो गया। पाँच अंकों में भी एक अंक दो महीने की संयुक्त-संख्या के रूप में निकला।" प्रकाशक की स्वार्थ-वृत्ति की ओर संकेत करते हुए शिवपूजन जी ने लिखा है, 'आदर्श' के प्रकाशक शुरू में एक ग्राहक न रहने पर भी ५०० ग्राहक फंस जाने का स्वप्न देख रहे थे। ऐसे आदर्श पत्र-प्रकाशक हिन्दी संसार में बहुत हैं। किन्तु मेरे जैसे बुद्धू और अनाड़ी सम्पादक शायद ही हों। निःसन्तान होकर रहना अच्छा, पर पुत्र-शोक अच्छा नहीं। किसी लेखक को किसी ऐसे पत्र का सम्पादन अपने हाथ में न लेना चाहिये जिसका भविष्य उज्ज्वल न हो। भविष्य उज्ज्वल उसी पत्र का हो सकता है जिसके प्रकाशक के पास पूंजी हो, साथ ही साहित्य के प्रति अटल अनुराग भी। केवल पुस्तकों की विज्ञापन बाजी करने और पांचवां सवार बनने के लिये जो लोग पत्र निकालते हैं, वे हिन्दी-संसार को धोखा देते हैं। हिन्दी में बरसाती कीड़े की तरह पत्र निकलते जा रहे हैं और इने-गिने लेखक भी सम्पादक बनकर अपनी प्रतिमा को संहार करने के लिये अपकीर्ति के क्षेत्र में उतरते चले जाते हैं। यह साहित्यिक व्यभिचार हिन्दी के लिये अपघातक है। सुसम्पादित और सुसंचालित दस ही पत्र रहे तो हिन्दी के गौरव की वृद्धि हो सकती है। केवल गिनती के सैकड़ों पत्र हिन्दी का, अपकार के सिवा उपकार नहीं कर सकते। 'आदर्श' निकलने से हिन्दी का कुछ लाभ नहीं हुआ, मैं जरूर लाभान्वित हुआ। किन्तु उसके बन्द हो जाने से हिन्दी

---

१. आचार्य शिवपूजन सहाय के जीवनवृत्त की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, "सन् १९२४ ई० के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में आप को एकाएक लखनऊ छोड़ देना पड़ा। कुछ दिनों तक काशी और अपने गाँव में रह कर आप फिर सन् १९२८ ई० में 'मतवाला' में लौट आये। इसी समय थोड़े-थोड़े दिनों के लिये आप ने 'मौजी' 'समन्वय', 'गोलमाल' आदि पत्रों का सम्पादन-कार्य किया। जुलाई, १९२५ ई० के लगभग आपने वहीं के वणिक् प्रेस से निकलने वाले मासिक पत्र 'उपन्यास तरंग' का सम्पादन-भार ग्रहण कर लिया। किन्तु 'मतवाला' से आप का सम्बन्ध बना रहा।"—साहित्य : शिवपूजन-स्मृति-अंक, पृ० ७८।

की कुछ तो हानि अवश्य हुई, मेरी चाहे भले ही न हुई हो—क्योंकि कलम और पेट का नाता इस जीवन में छूटता नहीं नजर आता।…'आदर्श' ही जैसे पत्र बड़े-बड़े पत्रों के मार्ग में कण्टक स्वरूप हैं। भगवान् ऐसे कण्टकों से सबको बचावे।[1] प्रकाशक की स्वार्थपरता की चोट की प्रतिक्रिया ही उपरोक्त पंक्तियों में व्यक्त हुई है। अस्तु।

शिवपूजन जी परम गान्धीवादी पत्रकार थे। 'आदर्श' में गान्धीयुग का स्वर ही प्रमुख है। हिन्दू-मुसलिम एकता, नारी-समस्या, हिन्दी का प्रश्न और आदर्श राष्ट्रभाषा आदि विषयों पर इस में लेख प्रकाशित होते थे।

'निराला' जी की कविताएँ इस में प्रकाशित होती थीं। 'जूही की कली' दूसरे अंक में प्रकाशित हुई थी। कविता के शीर्षक के नीचे कोष्ठक में (बंगला छन्द) मुद्रित है और रचनाकार के स्थान पर है : ले०—श्रीमान् पण्डित सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' जी की एक और कविता—'विरहिणी पर व्यंग' अंक ३-४ में प्रकाशित थी जिसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

विरहिणी पर व्यंग

(घनाक्षरी)

हार मन मार मार की वहू ललाट ठोक
काजल वहा कपोल कुत्सित किया करे।
अ चल ? लजी मशालची की लालटेम काली
नेत्र जल से प्रबल नासिका सदा झरे।
कल्पना ललाम की लगाम थाम कविदल
मुख तुलना न कभी चन्द्र के बिना करे।
चांद आइने में चारु चित्र देख छुप वह
तकिया सहारे पड़ी तारे ही गिना करे॥

—पंडित सूर्य्यकान्त त्रिपाठी।

श्री सीतारामदास श्रीवास्तव की एक टिप्पणी 'सचित्र साप्ताहिक पत्र' शीर्षक प्रकाशित हुई थी, अंक २ में। इस टिप्पणी में तत्कालीन पत्रों की चर्चा करते हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र के अभाव और आवश्यकता का उल्लेख किया गया है।

सम्पादकीय टिप्पणियों के अन्तर्गत, पण्डित रामेश्वर भट्ट और पण्डित वदरीनारायण जी चौधरी 'प्रेमघन' की मृत्यु-सूचना और श्रद्धांजलि दी गयी है। भट्ट जी का देहान्त १८ जनवरी १९२३ को और 'प्रेमघन' जी का १४ फ़रवरी १९२३ को हुआ था।

---

१. आचार्य शिवपूजन सहाय : शिवपूजन रचनावली, पृ० ३७७-७८।

दूसरी सम्पादकीय टिप्पणी की आरम्भिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "कलकत्ते से 'साहित्य' नामक मासिक पत्र निकलता था। उसके सिर्फ छः अंक निकले थे। उसके प्रकाशक पूंजीवाले हैं। उनके पास पत्र संचालन का साधन भी था। साहित्य के सम्पादक पण्डित छविनाथ पाण्डेय बी० ए० एल० एल० बी० भी बड़ी योग्यता से सम्पादन करते थे। थोड़े ही दिनों में साहित्य चमक उठा था। उसमें राजनीतिक चर्चा भी खूब रहती थी। क्योंकि सम्पादक जी राष्ट्रीयता के उपासक हैं। व्यापार की भी चर्चा रहती थी। क्योंकि प्रकाशक महाशय मारवाड़ी हैं। साहित्यिक चर्चा की कमी रहती थी। कारण स्पष्ट है। अत्यन्त खेद की बात यह है कि अकारण ही 'साहित्य' बन्द हो गया। कलकत्ते से कोई सचित्र मासिक पत्र नहीं निकलता। एक निकला भी तो प्रसूति-गृह में ही चल बसा।"

तीसरी टिप्पणी कानपुर में होने वाले साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के सम्बन्ध में है।

चौथी सम्पादकीय टिप्पणी अविकल उद्धृत की जाती है जिस से 'आदर्श' की नीति की भी विज्ञप्ति मिलती है : "देश के अभाग्य से राष्ट्रीय आन्दोलन पर पाला पड़ गया। दास पार्टी देश को दासता से मुक्त करने के लिए चेष्टा कर रही है। किन्तु 'मल किमि छूट मलहिं के धोये ? घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ?' जनता भी भोरी हो गयी है। वह त्याग का आदर करना नहीं जानती। त्रिशूल जी ने ठीक कहा था कि, जनता पंजाब मेल पर जा रही है और नेता छकड़े पर लदे हैं। अब लोग केवल एक ही संकल्प पर मर-मिटने की तलाश में हैं। वैसे नेता होते तो अब तक देशोद्धार बाकी न रहता।"

'आदर्श' पर आयी सम्मतियाँ 'आदर्श को आशीर्वाद' शीर्षक से प्रकाशित हुई थीं। यहां दो सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं—

"आदर्श देख कर खुशी हुई। पत्र सुन्दर है। आशा है, आप के सम्पादकत्व में यह आदर्श-रूप में परिणत हो जायगा। आपका 'आदर्श' पहले ही अंक से एक आदर्श पत्र बनने का आभास दे रहा है। यह मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ। ईश्वर शीघ्र आप के सम्पादकत्व में उसे समुन्नत करें और आदर्श पत्र बनने का सुअवसर दें। अवकाश मिलने पर मैं भी सेवा में उपस्थित होऊँगा।

—कविवर पण्डित रूपनारायण पाण्डेय।

(माधुरी-सम्पादक) लखनऊ।

"'आदर्श' सचमुच आदर्श है। भगवान से प्रार्थी हूँ कि यह पत्र अपने उद्देश्यों में सफल हो। —श्री वियोगी हरि जी, सम्मेलन कार्यालय, प्रयाग।"

गान्धी युग के प्रमुख साप्ताहिक और मासिक हिन्दी पत्रों की चर्चा इस अध्याय में की गयी। इस युग के दैनिक पत्रों की चर्चा अगले अध्याय में की गयी है।

■

कलकत्ते के दैनिक पत्र

समाचार सुधावर्षण

हिन्दी पत्रकारिता की दृष्टि से कलकत्ते का यह ऐतिहासिक महत्त्व है कि हिन्दी का पहला दैनिक पत्र—'समाचार सुधावर्षण'—कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७) के तीन वर्ष पूर्व १८५४ ई० में—श्यामसुन्दर सेन के सम्पादकत्व में यह पत्र प्रकाशित हुआ था। यह द्विभाषी पत्र था। आरम्भिक दो पृष्ठ हिन्दी और शेष दो पृष्ठ बँगला में छपता था। पूर्ववर्ती पृष्ठों में कलकत्ते के आरम्भिक पत्रों की उपलब्ध सामग्री की विवेचना करते हुए 'समाचार सुधावर्षण' की वैशिष्टय-चर्चा काफ़ी विस्तार से की गयी है। उस की आवृत्ति आवश्यक नहीं है।

भारतमित्र

'भारतमित्र' के यशस्वी सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त 'हिन्दी अखबार' के इतिहास में दैनिक 'भारतमित्र' की चर्चा इस प्रकार की है : "१८९७ ई० में छोटे साइज पर भारतमित्र दैनिक किया गया। साप्ताहिक पत्र अपने असली साइज पर अलग निकलता रहा। पर कई महीने चल कर बन्द हो गया। बहुत लोगों को इस से बड़ा दुःख हुआ। कितने ही उत्साही सज्जनों की प्रेरणा से जनवरी सन् १८९८ ई० से रायल चार वरक पर भारतमित्र फिर दैनिक हुआ। मूल्य १२) साल रखा गया, पर एक वर्ष चल कर फिर बन्द करना पड़ा।[१]"

सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के मतानुसार "संवत् १९६९ की वर्ष प्रतिपदा को शायद १९ मार्च १९१२ का दिन था। इसी दिन पूर्व सूचना के अनुसार दैनिक 'भारतमित्र' का प्रथम अंक स्थायी रूप से चलाने के लिए प्रकाशित किया गया।[२]"

जनवरी, १९११, के अन्तिम सप्ताह में वाजपेयी जी 'भारतमित्र' के सम्पादक-पद पर नियुक्त हुए थे। यह हर्बर्ट रिजले के प्रेस ऐक्ट (१९१०) का युग था। इस समय का संस्मरण वाजपेयी जी ने इस प्रकार लिखा है,—"'भारतमित्र' के मालिक बाबू जगन्नाथ दास जैसा पत्राधिकारी भारत-भर में कोई नहीं था। उन्हें न किसी मत का

---

१. बालमुकुन्द गुप्त : गुप्त निबन्धावली, पृ० ४१८।

२, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचार-पत्रों का इतिहास, पृ० ३३८।

प्रचार करना था और न पक्ष की पुष्टि। अपना विज्ञापन करना अथवा पत्र से कुछ उपार्जन करना भी उनका उद्देश्य नहीं था, परन्तु वे इतना ही चाहते थे कि 'भारत-मित्र' से कोई अनुचित लाभ न उठा सके और यह बराबर देश-सेवा करता रहे। स्वार्थ नहीं परमार्थ भारतमित्र के प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य था। इसी साल बादशाह पाँचवें जार्ज का दिल्ली में दरबार होना था और यह घटना भारत में निपट नई थी, इसलिये मैंने सोचा कि जब तक बादशाह हिन्दुस्तान में रहें, तब तक के लिये 'भारत-मित्र' दैनिक कर दिया जाय।[1]" पत्र के स्वामी को कोई आपत्ति न थी। इस प्रकार ढाई महीने के लिए 'भारतमित्र' दैनिक कर दिया गया। दैनिक हो जाने से काम बढ़ गया और वाजपेयी जी पर अतिरिक्त श्रम करने की विवशता आ गयी। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के चचेरे भाई पं० वासुदेव मिश्र के अतिरिक्त कोई दूसरा सहायक न था। हजार-आठ सौ प्रतियों की खपत आसानी से हो जाती थी। वाजपेयी जी ने अपने कठिन श्रम की चर्चा करते हुए लिखा है कि "दिन-रात में अठारह घण्टे काम मुझे ही करना पड़ता था। १७ जनवरी १९१२ को अस्थायी दैनिक का प्रकाशन बन्द कर के जब मैं 'भारत-मित्र' आफिस से निकला तब मेरे पैर काँपते थे।[2]"

अपने पूर्व निश्चय के मुताबिक सं० १९६९ को चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को दैनिक 'भारतमित्र' निकला। सम्पादन विभाग में तीन सहायक नियुक्त हुए—शारदाचरण सेन, पाँचकौड़ी बनर्जी और सदानन्द जी शुकुल। वासुदेव जी थे ही। किन्तु इन नये लोगों से विशेष लाभ न हुआ। वाजपेयी जी ने लिखा है कि "शारदा बाबू सन्ध्या को आते और अधिक से अधिक दो ढाई घण्टे बैठ कर अपने रुपये सीधे कर लेते थे। 'भारतमित्र' के मैनेजर नवलकिशोर गुप्त अधिक काम करने पर भी इतना नहीं पाते थे। और तो क्या सम्पादक का भी वेतन इतना न था। इस लिए शायद दो महीने बाद शारदा बाबू को हमने विदा कर दिया। पाँचकौड़ी बाबू भी सन्ध्या को तीन-चार बजे आते थे और सम्पादकीय लेख बोल देते थे, जिसे शुद्ध कर लिखने का काम वासुदेव जी को करना पड़ता था। पाँचकौड़ी बाबू को हिन्दी लिखने का अभ्यास नहीं था। इस प्रकार एक काम के लिए दो आदमी रखने पड़ते थे। इस लिए यशोदा नन्दन जी अखौरी को सहकारी व्यवस्थापक नियुक्त कर व्यवस्था की कठिनाई दूर की गयी।"[3]

इस प्रकार एक-एक कर उन सब लोगों को 'भारतमित्र' से वाजपेयी जी ने हटा दिया जो सर्वथा अनुपयोगी थे। यों तो 'भारतमित्र' के वास्तविक मालिक बाबू जगन्नाथदास थे, परन्तु व्यावहारिक मालिक वाजपेयी जी ही थे, इस लिए उन्हें पूरे मनोयोग से इस में लगे रहना पड़ता था। किन्तु पूरे दायित्व को अकेले ढोना सम्भव

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशाल भारत, दिसम्बर, १९३१।
२. वही।
३. वही, समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० ३३९।

नहीं था, इस लिए वाजपेयी जी ने 'हितवार्ता'—सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर से 'भारतमित्र' में आने का अनुरोध किया। जुलाई १९१२ में पराड़कर जी 'भारतमित्र' में आ गये और वाजपेयी जी के साथ १ जुलाई १९१६ तक संयुक्त सम्पादक के रूप में काम करते रहे।[1] पराड़कर जी के सहयोग की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि "उन से बड़ा आनन्द रहा। यदि वे न आते तो बड़ी कठिनाइयों और कष्टों का सामना करना पड़ता क्यों कि बीच-बीच में प्रबन्ध और विशेष कर अर्थ व्यवस्था का भार मेरे ही ऊपर आ जाता था।[2]" प्रेस के संचालन का ज्ञान न होने के कारण प्रायः एक वर्ष तक फ़िजूल खर्ची बनी रही।

वाजपेयी जी की धारणा थी कि यदि दैनिक 'भारतमित्र' बन्द हो गया तो फिर हिन्दी में दैनिक पत्रों का प्रकाशन कुछ समय के लिए रुक जायेगा। इसी चिन्ता से वे नाना प्रकार का कष्ट झेलते हुए 'भारतमित्र' के साथ लगे रहे। आर्थिक क्षति की पूर्ति करने में जगन्नाथदास जी ने इनकार कर दिया। तब वाजपेयी जी ने उसे जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के साझे में निकालने का निश्चय किया। चतुर्वेदी जी को १०००) लगाना था और वाजपेयी जी को अपने वेतन का त्याग करना था। चतुर्वेदी जी ने हाथ खींच लिया। इस के बाद 'भारतमित्र' की लिमिटेड कम्पनी बनायी गयी। उस में जगन्नाथ दास, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० छोटूलाल मिश्र को डाइरेक्टर बनाने का निश्चय किया गया। घनश्यामदास बिड़ला, गोकुलचन्द जी तथा देवीप्रसाद खेतान को भी वाजपेयी जी ने डाइरेक्टर बनाने के लिए राजी कर लिया। यह लिमिटेड कम्पनी १९१३ में बनी।

वाजपेयी जी इस पत्र में १९१९ तक रहे। १९१६ में पराड़कर जी के गिरफ़्तार हो जाने के बाद उन का कार्य-भार बढ़ गया था जिसे सकुशल चलाने में वे वार्धक्य के कारण असमर्थ थे। इस लिए दिल्ली कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर उन्हों ने पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे को 'भारतमित्र' के सम्पादन के लिए आमन्त्रित किया। गर्दे जी के आने पर वाजपेयी जी 'भारतमित्र' से मुक्त हो गये। इस प्रसंग की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है कि "शारीरिक अस्वस्थता के सिवा 'भारतमित्र' छोड़ने का एक यह भी कारण था कि 'भारतमित्र' के लिए मैं ने अपने को एक प्रकार से बलिदान कर दिया, परन्तु जब उस की उन्नति के विषय में मैं ने ५) या ७) का एक विज्ञापन थैकर की डाइरेक्टरी में दिलाया, तो मैनेजर से यह कहा गया कि वे सम्पादक हैं, उन को बात प्रबन्ध के विषय में आपने क्यों मानी ? जब मुझे यह बात मालूम हुई तो बड़ा दुःख हुआ, क्यों कि जिसे मैं ने अपने खून से सींचा था, उस की उन्नति के लिये जब मेरे कहने पर ७) भी नहीं खर्च किये जा सकते, तो मेरा उस से

---

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचार पत्रों का इतिहास, पृ० ३१।
२. वही : विशालभारत, सितम्बर १९३१।

सम्बन्ध रखना व्यर्थ है। यह सोच मैंने ७ अगस्त १९१९ को गर्दे जी को सम्पादक बना कर 'भारतमित्र' से अपना नाता तोड़ लिया।[1]"

स्मरणीय है कि पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के अथक परिश्रम से दैनिक 'भारतमित्र' की भित्ति पुष्ट हुई थी। १९१३ में 'भारतमित्र' के माध्यम से वाजपेयी जी ने विश्व-युद्ध की भविष्यवाणी की थी जो सच निकली। महासमर के समय वाजपेयी जी 'भारतमित्र' में सप्ताह के अन्त में 'महासमर की गति' लिखा करते थे। इस से 'भारतमित्र' की माँग और प्रतिष्ठा काफ़ी बढ़ गयी थी।

दैनिक 'भारतमित्र' एक प्रगतिशील पत्र था जिसे हिन्दी के श्रेष्ठ पत्रकारों ने सम्पादित किया था। पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर और पं० अमृतलाल चक्रवर्ती के बीच समाज-सुधार के प्रश्न को ले कर 'भारतमित्र' और 'कलकत्ता समाचार' के बीच काफ़ी लिखा-पढ़ी हुई थी। 'कलकत्ता समाचार' पुरातन विचारधारा का पत्र था क्यों कि उस पर सनातन धर्मावलम्बियों का प्रभाव था। कालीप्रसाद खेतान जब विदेश से बारिस्टर बन कर लौटे थे तो कलकत्ते के दैनिक पत्रों की लिखा-पढ़ी का वे भी एक विषय बन गये थे।[2]

दैनिक भारतमित्र १९३५ तक निकलता रहा। १९३३ के कुछ अंक मुझे पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री के निजी संग्रहालय में उपलब्ध हुए हैं। उस समय इस के संचालक पं० मोतीलाल मिश्र एम० ए० थे। ३१ दिसम्बर १९३३ के पृष्ठ २ पर 'पं० दीनदयाल शर्मा का वक्तव्य—हरिजन—उत्थान—आन्दोलन पर' छपा है जिस का अन्तिम अंश इस प्रकार है, "मैंने पचास वर्षों से सनातन धर्म की सेवा करता आ रहा हूँ। और मुझे यह देखकर अत्यन्त दुःख हो रहा कि ग्रह कलह के कारण सनातन धर्म का पक्ष दुर्बल हो रहा है।.......मुझे आशा और विश्वास है कि समस्त विचारशील सनातनी इस प्रयत्न में सहयोग प्रदान करेंगे कि जिससे सनातनियों में एकता हो और विद्वान् पण्डितों की सर्वसम्मत व्यवस्था के अनुज हरिजन उत्थान का कार्य सुगमता से चलाया जा सके। इससे हिन्दुओं में एकता दृढ़ता उत्पन्न होगी और भारतीय राष्ट्र का पक्ष अग्रसर होगा।"

यह दैनिक 'भारतमित्र' आठ पृष्ठों का होता था। उपरोक्त अंक में एक विज्ञप्ति है 'भारतमित्र का स्वर्ण जयन्ती समारोह।' इस में उक्त समारोह में सक्रिय सहयोग के लिए संचालक पं० मोतीलाल मिश्र ने अनुरोध किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम 'भारतमित्र' को ही हिन्दी के दैनिकों की परम्परा स्थापित करने वाला मान सकते हैं।

---

१. पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशालभारत, सितम्बर १९३१।

२. द्रष्टव्य : पराड़कर जी के जीवनी-लेखक श्री लक्ष्मीशंकर व्यास के निजी संग्रहालय में संगृहीत 'भारतमित्र' और कलकत्ता समाचार के वे अंश जो पराड़कर जी और चक्रवर्ती जी ने एक दूसरे के प्रति ('भारतमित्र' और 'कलकत्ता समाचार' में) लिखे थे।

कलकत्ता समाचार

'भारतमित्र' के वाद 'कलकत्ता समाचार' ही हिन्दी का उल्लेखनीय दैनिक पत्र था जो चीनी पट्टी, बड़ा बाज़ार, कलकत्ता से १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस के सम्पादक थे पं० अमृतलाल चक्रवर्ती। पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी प्रवन्धकर्ता और सहायक सम्पादक थे। वह विश्व महायुद्ध का काल था। पं० झावरमल्ल शर्मा इस के मुद्रक थे।

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "थोड़े ही दिनों में लोगों को मालूम हो गया कि 'भारतमित्र' पढ़ने से ज्ञान की और 'कलकत्ता समाचार' पढ़ने से कूप मण्डूकता की वृद्धि होती है। "पं० अमृतलाल चक्रवर्ती और पराड़कर जी के समाज-सुधार विषयक विवाद की चर्चा ऊपर की गयी है। चक्रवर्ती जी की टिप्पणियों से उन की पुरातन-प्रियता की स्पष्ट सूचना मिलती है।

सन् १९२२ का, कलकत्ता समाचार, का, तिलकांक उपलब्ध हुआ है। इस के सम्पादक पण्डित झावरमल्ल शर्मा थे। मुख्य पृष्ठ का शीर्षांश इस प्रकार है :

तिलकांक

श्री हरिः

क ल क त्ता — समाचार

हिन्दी दैनिक संवाद— पत्र

A HINDI DAILY JOURNOL

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्याऽपि हेतोः।

सम्पादक— पण्डित झावरमल्ल शर्मा

मूल्य दो पैसे वार्षिक मूल्य १२)

उक्त सामग्री के दाहिने पार्श्व में इस का उद्देश्य और वायें पार्श्व में विज्ञापन-दर छपा है। यह ७ वें वर्ष का १४४ वां अंक है। पहले पृष्ठ पर पूरा विज्ञापन ही है। दूसरे पृष्ठ पर सम्पादकीय वक्तव्य है—

छुट्टी की सूचना।

लोकमान्य के स्मृति-दिवस के उपलक्ष में आज कार्यालय बन्द रहेगा। 'समाचार' की आगामी संख्या वृहस्पतिवार को प्रकाशित होगी। मैनेजर।

श्री हरिः शरणम्

कलकत्ता समाचार

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व।

—भगवान कृष्ण

श्रावण शुक्ला ९ मंगलवार सम्वत् १९७९ वि० ता० १ अगस्त सन् १९२२

लोकमान्य की स्मृति।

उक्त सम्पादकीय टिप्पणी के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं, "........जिस समय भगवान तिलक ने राष्ट्रीय कर्मक्षेत्र में एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति प्रवेश किया था, उस समय देश की राष्ट्रीयता का बीज—सच पूछा जाय तो अंकुरित भी नहीं हुआ था। जन-साधारण में किसी को इस बात की खबर नहीं थी कि राष्ट्रीयता कहते किसे हैं। परन्तु लोकमान्य ने भगीरथ प्रयत्न करके भारतीय राष्ट्र के लिये क्षेत्र तय्यार किया। उसमें उन्होंने बीज को बोया और सींचा। जो अंकुर फूटा उसकी रक्षा के लिए स्वयं ऐसे अनेक कष्टों को सहा, जिन्हें सहन करना उन दिनों केवल लोकमान्य का ही काम था।

यदि प्रतिशत एक आदमी ने भी आज के दिन लोकमान्य को अपना आदर्श बनाया, उनके गुणों को अपने में लाने का उद्योग किया और उन्हीं के निर्दिष्ट मार्ग पर अनुगमन किया तो कुछ वर्षों के अन्दर ही देश में ३० लाख तिलकों का उत्पन्न हो जाना असम्भव नहीं है। जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन देश को पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ फेंकने में एक मुहुर्त भी न लगेगा, भारत स्वाधीन हो जायेगा—एवमस्तु।"

तिलक के सम्बन्ध में श्री अरविन्द, गान्धी जी और जगद्गुरु श्री शंकराचार्य शारदापीठ के लेख हैं। श्री अरविन्द और गान्धी जी के लेख के कुछेक स्थल उद्धृत किये जाते हैं—

"प्रत्येक योग्य भारतीय से कम से कम यह आशा की जाती है कि वह भविष्यत् में वस्तुओं के विषय में निर्णय करते समय इच्छा शक्ति की दुर्बलता साहस की त्रुटि और त्याग की अनिच्छा को दूर कर देगा। प्रत्येक मनुष्य को स्वार्थ रहित निष्पक्षता से काम करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि स्वार्थ रहित निष्पक्षता ही लोकमान्य का उपदेश है और यही हमें ईश्वरीय इच्छा और माता की अन्तरात्मा से साक्षात्कार कर सकने योग्य बना देगा। भारत को दो बातों की आवश्यकता है। एक तो यह कि आत्मा, जीवन और कार्य की स्वाधीनता—जो आवश्यक है उस काम के लिए जो उसे मनुष्य जाति के लिये करना है, दूसरी यह कि भारतवर्ष भविष्यत् में सच्चा भारतवर्ष हो इसके लिये उसके लड़के उस काम को और स्फूर्ति से समझावे।"
—श्री अरविन्द।

गान्धी जी के लेख का एक स्थल इस प्रकार है, "वे चाहते थे कि भारत में समानता का भाव रखा जाय और इसे वे देश का जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। भारत की स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने जो लड़ाई की उस में सरकार को छोड़ नहीं दिया। स्वतन्त्रता के इस युद्ध में उन्होंने न तो किसी की मुरव्वत की और न किसी की प्रतीक्षा ही की। मुझे आशा है कि अँगरेज लोग उस महापुरुष को पहचानेंगे जिस की भारत पूजा करता था।"

इस अंक के कुछ समाचार इस प्रकार हैं—

"अध्यापक कृपलानी के साथ वार्तालाप।

"युक्त प्रान्त की ख्याति सरकार के दमन के कारण है।"

अहमदाबाद ३० जुलाई, 'नवजीवन' के एक प्रतिनिधि से वार्तालाप होने पर बनारस गान्धी-आश्रम के अध्यापक कृपलानी ने कहा कि युक्त प्रान्त ने असहयोग आन्दोलन में जो ख्याति प्राप्त की है वह जनता की कार्रवाइयों के कारण नहीं पर सरकार की कार्रवाइयों के कारण है। उन्हों ने अपना यह विचार प्रकट किया कि जिन कार्रवाइयों के कारण कार्यकर्ता वहाँ जेल में डाले गये हैं वे अन्य प्रान्तों में निरपराध समझे गये होते। ... उन से यह पूछा गया कि इतने व्यक्तियों के जेल जाने से कुछ प्राप्त हुआ है या नहीं तो उन्हों ने उत्तर दिया कि मैं यह नहीं बतला सकता कि कितने व्यक्तियों ने लाभ उठाया है। यह बतला सकता हूँ कि राष्ट्र ने नैतिक दृष्टि से बहुत लाभ उठाया है। जेल जाने का भय जाता रहा है और उस से राष्ट्रीय कार्य सरल हो गया है।"

"लोकमान्य का स्मृति दिवस

आज का कार्यक्रम

१ ली अगस्त लोकमान्य तिलक को स्वर्गवास का दिवस है। लोकमान्य के श्रद्धोपलक्ष में देशवासी आज स्मृति-दिवस मनायेंगे।"

"स्नान-यात्रा।

स्थानीय हिन्दी नाट्य परिषद् के स्थान से प्रातःकाल ७ बजे एक जुलूस में सम्मिलित होकर लोग गंगा स्नान करने जायँगे।"

लोकमान्य तिलक के वक्तव्यों के भी अनेक महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत किये गये हैं। एक इस प्रकार है—

"हमारा कथन।

....हमारा कहनी बस यही कि यह राज-व्यवस्था बदलनी चाहिये। राजा बदलना चाहिये। जिस पद्धति से, जिस व्यवस्था से इस समय शासन हो रहा है उसको न बदलने से उस में आवश्यक परिवर्तन न करने से हिन्दुस्तानी अधिक नामर्द शूरत्वहीन हो जायेंगे।"

कलकत्ते की दैनिक पत्रकारिता के विश्रुत उन्नायक बाबू मूलचन्द अग्रवाल ने 'कलकत्ता समाचार' में पत्रकार-कला की आरम्भिक शिक्षा और दक्षता प्राप्त की थी। अपने 'भाग्यचक्र' का उल्लेख करते हुए मूलचन्द जी ने लिखा है कि—"पत्रकार-कला के लिए कोई खास आकर्षण न था, परन्तु कोई जबर्दस्त प्रेरणा कर रहा था कि शीघ्र कलकत्ता चले जाओ। कलकत्ता लौटने पर 'भारतमित्र' में स्थान खाली नहीं। कुंवर जी 'कलकत्ता समाचार' के प्रधान सम्पादक हो चुके थे। इस लिये यहाँ सहकारी सम्पादकी मिल गयी। ....मैं बहुपरिश्रम और थकावट नाम की चीज से एक दम

लिये समाचार पत्रों से ले कर ही समाचार छापने पड़ते थे। विदेशी समाचार तो पुराने हो जाते थे और देशी भी कुछ नये नहीं रहते थे, इस लिये पुराने समाचारों से तारीख हटा देनी पड़ती थी[1]।"

पं० कमलापति त्रिपाठी के शब्दों में : " 'विश्वमित्र' के पूर्ववर्ती दैनिकों का दैनिकत्व इतना था कि वे सप्ताह में छह दिन प्रकाशित होते रहते थे पर उन में दैनिक की वह मौलिकता, वह नवीनता, वह आकर्षण, वह स्पन्दन कहां था जिस की कल्पना ले कर लॉर्ड नार्थ क्लिफ़ ने इंग्लैण्ड में 'डेलीमेल' की स्थापना की थी। अब तक हमारे दैनिकों का काम केवल इतना था कि अँगरेजी भाषा के दैनिकों में प्रकाशित हुए संवादों का अनुवाद कर के अपने कलेवर को भर दें। पुराने उच्छिष्ट और सड़े हुए समाचारों को ले कर, अँगरेजी पत्रों के चिल्लू से पानी पी कर हमारे दैनिक जीवित रहते थे। आधुनिक, सामाजिक राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में न कोई अपनी दृष्टि होती थी और किसी लक्ष्य से उत्प्रेरित हो कर के अपना प्रकाशन करते थे। यह स्थिति तब बदली जब 'विश्वमित्र' का प्रकाशन श्री मूलचन्द्र अग्रवाल के प्रयास से होने लगा। इस पत्र ने सन् १९१६ ईसवी में जन्म ग्रहण किया। श्री मूलचन्द्र जी ने इस पत्र को वास्तविक अर्थ में दैनिक बनाया और उसे अँगरेज़ी पत्रों के परावलम्बन से मुक्त किया। उन्हों ने स्वतन्त्र रूप से तारों को लेना आरम्भ किया, पत्र में नवीनता और मौलिकता-भरी वाणिज्य तथा सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से लेखादि प्रकाशित करना आरम्भ किया। 'विश्वमित्र' की विविधता और स्वतन्त्रता वास्तव में हिन्दी दैनिकों के क्रमिक विकास में नये स्तर की द्योतक थी[2]।"

'विश्वमित्र' के प्रकाशन काल में 'भारतमित्र' और 'कलकत्ता समाचार' का प्रकाशन बन्द हो गया था। 'विश्वमित्र' के तार समाचार से हलचल मच जाती थी[3]।

१९१६ के शेष में १३, नारायण प्रसाद बाबू लेन से बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल ने इसे प्रकाशित किया। बाबू मूलचन्द्र जी ने लिखा है कि "अधूरी सम्पादकी तो की थी, परन्तु प्रबन्ध या पत्र-संचालन का कोई अनुभव न था। यदि थोड़ा भी अनुभव होता, तो श्रद्धेय वाजपेयी जी के शब्दों में कलकत्ता महानगरी में दैनिक 'विश्वमित्र' खोलने का दुस्साहस वास्तव में नहीं कर सकता था। अनुभवशून्यता ही मेरी सच्ची सहायक हुई।...."मुझे चिन्ता हुई पत्र के नामकरण की। 'भारतमित्र' का अनुकरण कर 'विश्वमित्र' नाम नये पत्र को दिया गया, यह ठीक नहीं। मेरे दिमाग में इस तरह की कोई बात नहीं थी। आज काफ़ी अनुकरण-प्रिय होने पर भी उस समय मौलिकता के प्रवाह में ही बहा करता था।

पत्र का नाम ऐसा होगा कि मौका पड़ने पर उसे अँगरेज़ी जामा भी पहनाया

---

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशाल भारत, सितम्बर १९३१।

२. कमलापति त्रिपाठी : पत्र और पत्रकार, पृ० १२१।

३. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशाल भारत, सितम्बर १९३१।

जा सके। यह कल्पना जाग्रत हुई। न किसी परिपाटी पर विचार किया गया और न राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ही सामने आया। दिमाग ने पेश किया नाम 'विश्वामित्र'। बड़े ओजस्वी मुनि जो थे भारतवर्ष के। बड़ी खुशी हुई कि हिन्दी और अँगरेजी दोनों दैनिकों में यह नाम भलीभाँति चल सकेगा।

......यह नीति स्थिर की गयी—हर रोज पत्र निकाला जाये, किसी भी साइज में, किसी भी समय, किसी भी मूल्य का सफेद या बादामी कागज पर। प्रथमांक तो निकला और उस पर नाम था 'विश्वामित्र'। शुभचिन्तकों ने सलाह दी कि 'विश्वामित्र' ठीक नहीं। इस पर बदल कर 'विश्वमित्र' कर दिया गया।

पत्र की शान, प्रतिष्ठा का प्रश्न एक दम भुला दिया गया और साधनों के अनुकूल नियमित रूप से दैनिक प्रकाशन स्थिर किया गया। यदि लकीर पीटने की नीति काम में लायी जाती, तो अस्तित्व अधिक दिन न दिखायी देता। कलकत्ते में तीसरे हिन्दी दैनिक के लिये क्षेत्र न था और जो था, उस की ओर नये पुराने किसी भी संचालक का ध्यान न था। जबर्दस्त तमाचे लगा कर आवश्यकता जननी ने नये संचालक का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया और वह 'विश्वमित्र' की सफलता, लोकप्रियता और स्थिरता का प्रधान कारण बना। डूबते हुए को भगवान सहारा देते हैं। 'विश्वमित्र' निकला अन्धकार में, परन्तु वह तुरत चमक भी उठा।"[1]

अपने कठिन अध्यवसाय और लोक-चातुर्य के बल पर बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल ने 'विश्वमित्र' का स्तर उन्नत कर दिया। उन्हों ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "'विश्वमित्र' प्रकाशित करने पर 'रमता-योगी' शीर्षक से मैं ने प्रतिदिन एक कालम सामग्री देकर दो प्रतिष्ठित पत्रों के रहते हुए 'विश्वमित्र' के लिये पाठक प्राप्त कर लिये।...'विश्वमित्र' को उल्लेखनीय बनाने के लिये कभी-कभी अँगरेजी में भी अग्रलेख प्रकाशित किये जाते थे जिस से अधिकारियों का ध्यान तुरन्त आकृष्ट हो।"[2]

'विश्वमित्र' आज भी निकलता है और कई स्थानों से निकलता है। साधन और समृद्धि भी बढ़ गयी है, किन्तु निष्ठा, लगन और महत्त्वाकांक्षा के अभाव में 'विश्वमित्र' का स्थान आज के श्रेष्ठ हिन्दी दैनिक पत्रों में विशिष्ट नहीं है। कलकत्ते की हिन्दी-पत्रकारिता का स्तर आज बहुत नीचे आ गया है। बंगला पत्रकारिता की बात तो अलग, हिन्दी पत्रों की तुलना में ही कलकत्ते के पत्र अत्यन्त सामान्य लगते हैं। साम्प्रतिक पत्रकारिता के अनुशीलन के सन्दर्भ में यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में 'विश्वमित्र'-संचालक बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल का वक्तव्य द्रष्टव्य है, जो उन्हों ने अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिया था, "यह दुःख और लज्जा की बात है कि प्रान्तीय भाषाओं के दैनिक हिन्दी दैनिकों से काफ़ी

---

१. बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल : पत्रकार की आत्मकथा, पृ० ३७, ४१, ४३।

२. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—पत्रकार की आत्मकथा : ले० श्री मूलचन्द्र अग्रवाल।

अच्छी अवस्था में पाये जाते हैं। इस का मुख्य कारण तो प्रान्तीय भाषाओं के प्रेमियों का अपने पत्रों पर अगाध प्रेम है, परन्तु साथ ही हम अपनी कमज़ोरियाँ भी स्वीकार करते हैं कि हम हिन्दी पत्रकार कई मामलों में अपने को पिछड़ा हुआ पाते हैं। हमारे यहाँ समाचार-पत्रों के व्यवस्थापक अभी तक कम हैं और सम्पादन विभाग में भी हम उतने कुशल सहायक तैयार नहीं कर पाये हैं। हिन्दी-भाषियों द्वारा ही हिन्दी पत्रों को अवहेलना की दृष्टि से देखा जाना इतना बड़ा लज्जाजनक दृश्य है कि उस की चर्चा करने से भी दिल को बड़ी चोट पहुँचती है। हिन्दी-भाषी पूँजीपति, व्यवसायी और विज्ञापनदाता हिन्दी पत्रों की राष्ट्रीय नीति से लाभ तो काफ़ी उठा लेते हैं, परन्तु वे अपने सेवकों को मज़बूत बनाना अपना कर्तव्य नहीं समझते।" यह पूँजी-वादी मनोवृत्ति आज सार्वत्रिक व्याधि बन गयी है और चूँकि आज अनेक पत्रों के स्वामी पूँजीपति हैं, इस लिए वे भी पूँजीवाद के कलुष पक्ष से अप्रभावित नहीं हैं। कलकत्ते के पत्रों के सम्बन्ध में विशेष रूप से यह बात कही जा सकती है।

स्वतन्त्र

'स्वतन्त्र' गान्धी युग का एक तेजस्वी दैनिक पत्र था जिसे कलकत्ते से पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने ४ अगस्त १९२० को प्रकाशित किया था :

७ अगस्त १९१९ को 'भारतमित्र' से अलग हो कर वाजपेयी जी पत्र-सम्पादन कार्य से वितृष्ण हो गये थे। दैनिक 'भारतमित्र' के सम्पादन-काल में उन्हें आवश्यकता से अधिक श्रम करना पड़ा था और उस की सार्थकता भी प्रत्यक्ष न थी, इस लिए इस कार्य से वाजपेयी जी को अरुचि हो गयी थी। तथापि मित्रों के अनुरोध और हितैषियों की सहायता से उत्साहित हो कर और एक नयी कम्पनी खड़ी कर उन्हें पुनः इस कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा। इस प्रकार ४ अगस्त १९२० को 'स्वतन्त्र' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन हुआ।

वाजपेयी जी ने अपने अनुभव-संस्मरण में लिखा है कि "महात्मा गान्धी के नेतृत्व में असहयोग-आन्दोलन चलाने का समर्थन करने के लिये इसी दिन से कलकत्ते में लाला लाजपत राय के सभापतित्व में स्पेशल कांग्रेस आरम्भ हुई थी। पुलिस मैजिस्ट्रेट के यहाँ से डिक्लेरेशन मिलने और बम्बई से हेडिंग टाइप आने में देर होने से पहला अंक पूरी तैयारी और शान-शौकत के साथ नहीं निकल सका, पर उसकी परवा न की गई, क्योंकि जन्माष्टमी का शुभ मुहुर्त और स्पेशल कांग्रेस में प्रचार का सुअवसर छोड़ना उचित नहीं समझा गया।

स्पेशल कांग्रेस में असहयोग का समर्थन होने के बाद 'स्वतंत्र' भी देश की नीति समझकर उसका समर्थक हो गया। इस आन्दोलन की विशेषतायें गांधी जी की सभायें और व्याख्यान थे। ये 'स्वतंत्र' में विशेष रूप से प्रकाशित होते थे। स्त्री सभाओं की जो रिपोर्ट कहीं न निकलती थीं, वे महिला संवाददात्रियों द्वारा 'स्वतंत्र'

में प्रकाशित होती थी। यों तो कलकत्ते के सभी हिन्दी पत्रों में असहयोग आन्दोलन का समर्थन होता था, परन्तु 'स्वतन्त्र' का प्रचार सबसे अधिक था, और १९२१ के अन्तिम और १९२२ के प्रारम्भिक दिनों में 'स्वतंत्र' लगातार दस-बारह घंटे तक छपता रहता था। इस विशेषता के सिवा 'स्वतंत्र की दूसरी विशेषता थी व्यापारिक समाचार और टिप्पणियाँ। इसके कारण व्यापारियों और विशेषकर कलकत्ते के बाहर के व्यापारियों में वह बहुत लोकप्रिय हो गया था। दिवाली और होली के विशेषांकों से भी 'स्वतंत्र' की ख्याति बढ़ी थी।[1]

राजनीतिक और व्यापारिक विषयों के साथ ही 'स्वतन्त्र' साहित्यिक गतिविधि और भाषा-विषयक प्रश्नों के प्रति भी पूर्ण सचेत था। २६ मई १९३१ की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन'। २७ मई १९३१ के अंक में "हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पहले दिन की कार्यवाही। हिन्दी साहित्य सम्मेलन। श्री रत्नाकर जी का अपूर्व भाषण। पं० सकल नारायण शर्मा का 'स्वागत-भाषण' प्रकाशित हुआ था। इसी अंक में है—स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी बनायी जायगी—कलकत्ते में हिन्दी साहित्य सम्मेलन समारोह। राजनीति से साहित्य को अलग नहीं रखा जा सकता—श्रीयुत सेनगुप्त ने भी हिन्दी का जोरदार समर्थन किया।" एक स्थल द्रष्टव्य है—'सर्वप्रथम बंगाली बालिकाओं ने वन्देमातरम् गीत गाकर लोगों को ध्यानावस्थित कर दिया। उसके अनन्तर मारवाड़ी बालिका विद्यालय की बालिकाएँ जब पं० माधवशुक्ल रचित स्वागत गान गा रही थीं। उसी समय देशप्रिय श्रीयुत जे० एम० सेन गुप्त सभा में आये। उनके पदार्पण करते ही सभा स्थान वन्दे मातरम् तथा महात्मा गांधी की जयध्वनि से गूँज उठा।'''स्वागत गान के बाद स्वागताध्यक्ष पं० सकलनारायण शर्मा करतल ध्वनि के बीच आगत सज्जनों का स्वागत करने के लिये उठ खड़े हुए। आपका भाषण भक्तिभाव से शिवपार्वती को प्रणाम कर आरम्भ हुआ था और पद्यकोष बनाने की आवश्यकता को बताकर समाप्त हुआ था। (सारांश अन्यत्र दिया गया है) छोटा होने पर भी आपका भाषण सारगर्भित है। आपने श्रीयुत रत्नाकर जी के सभापतित्व के लिए प्रस्ताव करते हुए आपने कहा कि सम्मेलन राजनीति के झमेले में घसीटने के बदले शुद्ध साहित्यिक रखना चाहिये।

श्रीयुत सेनगुप्त का भाषण

आपके प्रस्ताव का समर्थन करते हुए श्रीयुत सेनगुप्त ने कहा कि आपके सम्मेलन ने मुझे निमन्त्रित करके अनुगृहीत किया है। मैं इस बात से प्रसन्न हूँ कि सम्मेलन कलकत्ते में हो रहा है। बंगभाषा को मैं देशी भाषाओं से सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ किन्तु हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाने का पक्षपाती हूँ। स्वागताध्यक्ष की इस बात को मैं कदापि नहीं मानता कि साहित्य सम्मेलन को राजनीति से कोसों दूर

---

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशालभारत, सितम्बर १९३१।

रखना चाहिये। बिना राजनीति के तो हमारा कोई भी काम नहीं हो सकता।.... बिना राजनीतिक स्वाधीनता के राष्ट्रभाषा का प्रश्न हो ही नहीं सकता। इसलिये साहित्य को कभी राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। इन शब्दों के साथ मैं प्रस्ताव हृदय से समर्थन करता हूँ।"

डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय का वह ऐतिहासिक भाषण 'स्वतंत्र' में अविकल प्रकाशित हुआ था जिस में वैचारिक और भाषा वैज्ञानिक आधार पर उन्हों ने हिन्दी का समर्थन किया था और घोषणा की थी कि "हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है, यह तो एक स्वतः सिद्ध बात है, हर काम में दिन दिन जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं।....हिन्दी का यह उच्च स्थान का स्वाभाविक कारण से प्राप्त किया गया है। इसलिये जब तक आर्यावर्त, भारत की संस्कृति का मूल स्थान रहेगा तब तक हिन्दी का यह आसन नहीं मिटाने का।

ऐतिहासिक और भाषातात्त्विक के दृष्टि से अगर देखा जाय तो हिन्दी का प्रचार और भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिये एक हिन्दी ही की योग्यता सब लोगों को मानना पड़ेगा।" यह भाषण काफ़ी बड़ा और विद्वत्तापूर्ण है जिस की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार है, "बंगाल में हिन्दी प्रचार के लिये इस सम्मेलन में जो प्रस्ताव उपस्थित किया गया उसे मैं पूरी तौर से समर्थन करता हूँ और आप लोगों से इस विषय में जो शुभकामना प्रकट की उस के लिये मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ। इति शुभम्। श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।" श्री वल्लभ भाई पटेल का सचित्र परिचय और करांची कांग्रेस का उन का भाषण तथा मुख्य पृष्ठ पर 'कांग्रेस के स्वर्गवासी सभापति' के पाँच चित्र हैं—१. पं० बालगंगाधर तिलक, २. लाला लाजपत राय, ३. मौलाना मुहम्मद अली, ४. देशबन्धु चित्तरंजन दास, ५. पं० मोतीलाल नेहरू। २० जुलाई १९३१ के अंक में अमरशहीद श्रीयुत गणेश शंकर 'विद्यार्थी' के सम्बन्ध में सचित्र लेख हैं। चैत्र शु० मंगलवार सं० १९८८ की सम्पादकीय का शीर्षक हैं 'हिंसा और अहिंसा'। सरदार भगत सिंह आदि को फांसी पर लटकाये जाने की खबर है : "सरदार भगत सिंह आदि फाँसी के तख्ते पर लटका दिये गये, प्रकाशमय दीपक सदा के लिये बुझ गया। निकट सम्बन्धियों को भी भेंट करने का हुक्म नहीं मिला। 'गोली से उड़ा दो पर फाँसी के तख्ते पर मत चढ़ाओ' सरदार की अन्तिम इच्छा भी सरकार ने मंजूर नहीं की।" भगत सिंह का चित्र है। चित्र के नीचे 'हा! सरदार भगत सिंह।' छपा है। समाचार इस प्रकार है—

"दीप निर्माण हो गया। कलकत्ता २३ मार्च। नयी दिल्ली से एसोसियेटेड प्रेस को रात के साढ़े ग्यारह बजे टेलीफोन द्वारा मालूम हुआ है कि लाहौर से सेण्ट्रल जेल में सन्ध्या के सात बजे सरदार भगतसिंह, श्रीयुत राजगुरु तथा श्रीयुत शुकदेव फाँसी के तख्ते पर लटका दिये गये।

"लाहौर २३ मार्च। शहर में बड़ी सनसनी फैली है। हिन्दुओं की सभी दूकानें तथा मुसलमानों की अधिकांश दूकानें बन्द पड़ी हैं। लोग हड़ताल मना रहे हैं और सर्वत्र मातम छाये हुए हैं।"

'स्वतंत्र' का शीर्ष-स्वरूप इस प्रकार था—

वन्देमातरम्

स्वतंत्र

पारतन्त्र्यात्परं दुःखं न स्वातन्त्र्यात्परं सुखम्। अप्रवासी गृही नित्यं स्वतन्त्रः सुखमेधते ॥

संस्थापक—पण्डित अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

दोनों पार्श्व में स्वतंत्र के नियमादि की विज्ञप्ति है।

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है, "१९२० के अगस्त से १९३० के मार्च तक 'स्वतंत्र' चला। इस की आर्थिक अवस्था इतनी बिगड़ गयी थी कि इच्छा करने पर भी वह जमानत नहीं दे सकता था। यदि देता भी तो यह निश्चय नहीं था कि पत्र जीता रहेगा। इसलिये कम्पनी तोड़ दी गयी और उस की सम्पत्ति बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल ने खरीद ली। इन्हों ने 'स्वतंत्र' चलाने का यत्न किया और पुराना सम्पादक ही सम्पादन भी करता रहा, पर पत्र नहीं चला। वह बेच कर अलग हो गया।" मुझे १९३१ के कई अंक मिले हैं जिन से ऊपर के उद्धरण दिये गये हैं। इस से स्पष्ट है कि १९३१ तक यह पत्र चलता रहा।

परवर्ती काल के दैनिक पत्रों में एक 'बलिदान' था जो सायंकाल छपता था और सम्पादक थे पं० विश्वनाथसिंह शर्मा।

राष्ट्रीय व्यापारिक दैनिक पत्र 'केसरी' निकला, जिस के सम्पादक पण्डित राधारमण पाण्डेय थे। २७ मई १९३१ के मुख्य पृष्ठ पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २०वें अधिवेशन का समाचार इस में छपा था।

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के भतीजा पं० प्रतापनारायण वाजपेयी ने 'स्वाधीन भारत' प्रकाशित किया था जो 'शाम के ५ बजे' छपता था।

१९२२ में बाबू पारसनाथ सिंह के सम्पादकत्व में 'प्रकाश' निकला था। १९२५ में 'जैन गजट' प्रकाशित हुआ। १९३० में 'दैनिक लोकमान्य' पं० रामशंकर त्रिपाठी ने निकाला जो अब बन्द हो गया।

पुराने दैनिक पत्रों ने सीमित साधन-शक्ति के बावजूद अपने दायित्व का पूर्ण पालन किया। पुराने पत्र-संचालक और सम्पादक में असाधारण कोटि की कर्मठता थी और उस के सामने एक महत् आदर्श था। कहना अनुचित न होगा कि आज कलकत्ते में दैनिकों की अवस्था अत्यन्त सामान्य कोटि की है। प्रबुद्ध पाठक या तो अँगरेजी अखबार पढ़ते हैं या फिर कलकत्ते के बाहर से हिन्दी पत्र मँगाते हैं। ध्यान देने की बात

है कि दिल्ली और बम्बई के दैनिक हिन्दी पत्रों की खपत कलकत्ते में कम नहीं होती जब कि कलकत्ते से दो दैनिक पत्र निकलते हैं।

इन पत्रों के सम्पादकों में न तो वह निष्ठा है और न उस कोटि की अभिज्ञता-योग्यता ही जो पुराने पत्रकारों में थी। आचार्य शिवपूजन सहाय ने दैनिक पत्रों के साहित्यिक महत्त्व की चर्चा करते हुए लिखा है कि, "जो लोग दैनिक पत्रों का साहित्यिक महत्त्व नहीं समझते, वे उन्हें राजनीतिक जागरण का साधन-मात्र समझते हैं। किन्तु हमारे हिन्दी के दैनिकों ने जहाँ देश को उद्बुद्ध करने में अथक प्रयास किया है, वहाँ हिन्दी-प्रेमी जनता में साहित्यिक चेतना जगाने का श्रेय भी पाया है···आज हमें हर बात में दैनिकों की सहायता आवश्यक जान पड़ती है। भाषा और साहित्य की उन्नति में भी दैनिकों से बहुत सहारा मिल सकता है।" कलकत्ते के वर्तमान दैनिक इस दृष्टि से भी बहुत दुर्बल हैं। पुराने दैनिक पत्र इस विषय में पूरे सचेत थे।

पञ्चम खण्ड

कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के विशिष्ट उन्नायक

पुराने पत्रकारों का आदर्श, उद्देश्य और कठिनाइयाँ

हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भिक अध्याय की वैशिष्ट्य-चर्चा के सन्दर्भ में हम ने निवेदन किया है कि पत्रकारिता के आदि उन्नायकों का आदर्श बड़ा था, किन्तु साधन सीमित थे। वे नयी सभ्यता के सम्पर्क में आ चुके थे और हिन्दी-समाज को नवीनता से सम्पृक्त करने की आकुल आकांक्षा रखते थे। उन के मार्ग में अनेक अवरोध थे। प्रचार-प्रसार के साधन सीमित थे। सरकारी संरक्षण और प्रोत्साहन का सर्वथा अभाव था। हिन्दी-समाज इस ओर से उदासीन था। इस लिए इन्हें हर क़दम पर प्रतिकूलता से जूझना पड़ता था। फिर भी उन की निष्ठा अखण्डित थी। हिन्दी के प्रथम पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' के अन्तिम अंक (४ दिसम्बर १८२७ ई०) में सम्पादक ने अपनी कठिनाइयों की चर्चा करते हुए लिखा है: "जबतें या कलकत्ता नगरी में उदन्त-मार्त्तण्ड को प्रकाश भयौ तव लै आज दिवस लौं काहू प्रकार तें ढाढ़स बाँध विद्या के बीज वैवे को हिन्दुस्तानिअन के जड़ता के खेत को बहुविध जोत्यौ पहिले तो ऐसी कठोर भूमि काहे कौ जुतै ताहू पै काया कष्ट कर जैसो तैसो हर चलाय वा क्षेत्र में गाँठ को व्यु बखेर बड़े यत्न तें सींच फल लुन्यौ चह्यौ ता समय लोमरूपी टीडी परिवा खेत के फल फूल पाती सिगरी चरि गई अब जो फिरि फिरि या नशे छेत्र को गो गोड़िये तो श्रम ही कौ फल फलेगौ।" स्मरणीय है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण हिन्दी के आदि पत्रकार पं० युगुल किशोर शुक्ल ने 'उदन्तमार्त्तण्ड' का प्रकाशन बन्द कर दिया था, किन्तु उन की निष्ठा नहीं टूटी थी। यदि ऐसी स्थिति होती तो निश्चय ही वे पुनः पत्र प्रकाशन का साहस न करते। हम जानते हैं कि पं० युगुल किशोर शुक्ल ने १८५० ई० में 'सामदण्ड मार्त्तण्ड' का प्रकाशन किया था। 'उदन्तमार्त्तण्ड' का प्रकाशन 'हिन्दुस्तानियों के हित के हेत' और हिन्दी-भाषियों को विद्या-विषयक परावलम्बन से मुक्ति दिलाने तथा उन्हें स्वतन्त्र दृष्टि प्रदान करने के निमित्त हुआ था।

'भारतमित्र' के पहले अंक की सम्पादकीय टिप्पणी में भी सम्पादक ने बड़ी साफ़ भाषा में लिखा था, "······हिन्दुस्तानियों को सांसारिक खबर जानने के लिये बंगालियों का मुँह ताकते देख कर हमारे चित्त में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यदि एक ऐसा समाचारपत्र प्रचलित हो कि जिस को हमारे हिन्दुस्तानी और मारवाड़ी लोग

अच्छी तरह पढ़ सकें और समझ सकें तो इस से हमारी समाज की अवश्य उन्नति होगी।" पुराने पत्रकारों की यह धारणा थी कि "समाचार पत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होता है" ('भारतमित्र', संवत् १९३५ ज्येष्ठ कृष्ण प्रतिपदा शुक्रवार १७ मै १८७८ ई०)। यह एक महत् प्रतीति थी जिस के प्रति पुराने पत्रकार पूर्ण सचेत रहते थे। 'सारसुधानिधि' वर्ष २, अंक १७ में आनन्दवन का एक लेख 'हिन्दी भाषा के समाचारपत्र सम्पादकों की वर्तमान दशा' प्रकाशित हुआ था जिस की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "समाचारपत्रों के प्रचारित और विदित होने का प्रधान और मुख्य कारण यही है कि वह पिष्टपेषण के प्रकरण से स्थानपूर्ति करने की अपेक्षा देशोपकारक विषयों से विभूषित किया जावे और गवर्नमेण्ट को न्यायान्याय विवेचना से वंचित न रक्खें और जो बात नीति विरुद्ध हो उसे गवर्नमेण्ट के सम्मुख उपस्थित कर देवे, जिस से अन्याय का संचार और बुराई का अंकुर न फैलने पावे।" प्रकारान्तर से और जरा अधिक तेज भाषा में यही बात 'उचितवक्ता', सम्पादक ने १२ मई १८८३ ई० को देशी पत्रकारों को सलाह देते हुए कही थी—"देशी सम्पादकों सावधान !! कहीं जेल का नाम सुन कर कर्त्तव्य विमूढ़ मत हो जाना, यदि धर्म की रक्षा करते हुए यदि गवर्नमेण्ट को सत्परामर्श देते हुए जेल जाना पड़े तो क्या चिन्ता है इस से मानहानि नहीं होती है। हाकिमों के जिन अन्याय आचरणों से गवर्नमेण्ट पर सर्वसाधारण की अश्रद्धा हो सकती है उन का यथार्थ प्रतिवाद करने में जेल तो क्या द्वीपान्तरित भी होना पड़े तो क्या बड़ी बात है ?" इतना ऊँचा उन का आदर्श था। देशवासियों को वे सत्परामर्श देते थे, "भारत के दुर्भाग्य को अपना दुर्भाग्य और भारत के सौभाग्य को अपना सौभाग्य समझो। नहीं तो भारत का दुर्भाग्य कदापि दूर नहीं होयगा।" (सारसुधानिधि, वर्ष २, अंक २५)। किन्तु देशवासियों और पाठकों की स्थिति इस आदर्श के सर्वथा विपरीत थी। उन की न तो राजनीतिक चेतना पर्याप्त विकसित थी और न तो पत्रों में ही उन की रुचि थी। इस प्रतिकूल स्थिति से व्यथित हो कर 'सार-सुधानिधि'-सम्पादक ने ५ जनवरी १८८० को लिखा था—"जैसी अवस्था हिन्दी भाषा की है, इस पर ऐसी आशा नहीं होती कि लोग शौक से हिन्दी भाषा के अनुरागी हो कर हिन्दी पत्रों की सहायता की दृष्टि से लिया करें और यथा समय दाम दिया करें कि जिस में पत्र सम्पादकों को केवल देशोपकार की चिन्ता के दूसरी चिन्ता न रहे।·······देशवासियों को समाचार-पत्र का प्रयोजन, उस का उद्देश्य और उपयोगिता हृदयंगम नहीं हुई है।" इस कठिन परिस्थिति के साथ ही सरकारी यन्त्रणा से भी पत्रकारों को जूझना पड़ता था। 'उचितवक्ता' के २३ दिसम्बर १८८२ ई० के अंक में 'सम्पादक समाज की आवश्यकता' पर विचार करते हुए सम्पादक ने लिखा था : "हम भारतीय पत्र-सम्पादकों की जैसी हीन और मलीन दशा है वह किसी को अविदित नहीं है। ये लोग सदा अपने देश की भलाई के लिये उद्यत रहते हैं उसी से सदैव गवर्नमेण्ट के

समीप राजभक्ति विहीन और अधम गिने जाते हैं, क्षुद्र हाकिमों से लगा कर उच्चतर विचारपतियों तक का इन पर आक्रोश बना रहता है। ये लोग क्षुद्र हाकिमों के गुप्त रहस्य प्रकट करने के कारण अधिकांश हजूरों के चक्षुःशूल हो जाते हैं और औसर पाने पर इन को हजूर लोग भी भलीभाँति धर चपेटते हैं।"

असल में उस युग की पत्रकारिता देश-सेवा का एक माध्यम थी। पत्रकारों के सामने अर्थ का प्रश्न प्रमुख नहीं था। पत्रों को जीवित रखने के लिए ही अर्थ की आवश्यकता थी। ग्राहकों का रोना आरम्भ से ही लग गया था। पहले तो ग्राहक मिलते ही नहीं थे, मिलते भी थे तो उन की शर्त विचित्र होती थी। उन की शर्त के मुताबिक पत्रकारों को उन के घर जा कर पत्र पढ़ कर सुनाना पड़ता था। एक दूसरी स्थिति भी थी, ग्राहक बन कर ग्राहक-शुल्क न देने की। यह और भी दारुण स्थिति थी जिस के चलते पत्रकारों को व्यक्तिगत आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी और इतिहास का साक्ष्य है कि इसी विकट परिस्थिति के बीच महान् पत्रकारों का निर्माण हुआ जो सच्चे अर्थों में हिन्दी पत्रकारिता के उन्नायक हैं।

कलकत्ते के पत्रकारों का राष्ट्रीय और साहित्यिक महत्त्व

जिस प्रकार राजा राममोहन राय से ले कर जवाहरलाल नेहरू तक आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता के प्रायः प्रत्येक पुरस्कर्ता पत्रकार भी रहे हैं[1], उसी प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य के अधिकांश श्रेष्ठ लेखक कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में पत्रकार भी रहे हैं। यह परम्परा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से शुरू हो कर सच्चिदानन्द वात्स्यायन तक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। और यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी-गद्य के निर्माण का अधिकांश श्रेय हिन्दी-पत्रकारों को है जिन्हों ने अपने पत्रों के माध्यम से भाषा को एक व्यवस्था, समृद्धि और परिनिष्ठित रूप दिया। इस दृष्टि से भी कलकत्ते के हिन्दी पत्रकारों का महत् अवदान है। पूरे हिन्दी प्रदेश से कलकत्ते की इकाई को काट कर देखने पर उस का महत्त्व अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

विश्रुत भाषाविद् डॉ० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि "बंगाल की राजधानी कलकत्ते से हिन्दी का संयोग खूब घनिष्ठ है। यदि कलकत्ते को हिन्दी की आधुनिक गद्यशैली की जन्मभूमि कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कहना न होगा कि इस गद्यशैली के निर्माता कलकत्ते के हिन्दी पत्रकार ही थे। गद्यशैली के

---

१. "In India, from Raja Ram Mohan Roy to Keshab Chundar Sen, Gokhale, Tilak, Pherozeshah Mehta, Dadabhai Naoroji, Surendra nath Banerjea, C. Y. Chintamini, M. K. Gandhi and Jawaharlal Nehru, there is a distinguished line of public men who have used, and are using, the press as a medium for the dissemination of their ideas of moral values." Margarita Barns : The Indian Press (Introduction, p. XV)

साथ ही मेरी यह धारणा है कि कलकत्ते के हिन्दी-पत्रकारों ने हिन्दी साहित्य की जातीय भूमिका का निर्माण किया। स्मरणीय है कि कलकत्ते के अधिकांश पत्रकार हिन्दी के श्रेष्ठ कृती साहित्यकार और विचारक के रूप में विश्रुत हैं।

दूसरे दौर की हिन्दी पत्रकारिता के पुरस्कर्ताओं में, जो अपनी वाक्तेजस्विता के लिए विश्रुत थे, दो-तीन नाम कलकत्ते के पत्रकारों के हैं। पं० छोटूलाल मिश्र, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र और पं० सदानन्द मिश्र की प्रतिभा-शक्ति 'भारतमित्र', 'सार-सुधानिधि' और 'उचितवक्ता' के पृष्ठों पर मुखर है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र इन की शक्ति के प्रशंसक थे और उपरोक्त पत्रों में वे सक्रिय रुचि लेते थे। सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा भी इसी युग के तपस्वी पत्रकार थे।

बीसवीं शताब्दी में बाबू बालमुकुन्द गुप्त से ले कर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तक कलकत्ते में अनेक तेजस्वी पत्रकार हुए जिन्हों ने हिन्दी साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अध्याय का निर्माण किया। इतना ही नहीं बल्कि इन पत्रकारों में कुछ ऐसे नाम भी हैं जो सच्चे अर्थों में हिन्दी के गौरव हैं। सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, आचार्य शिवपूजन सहाय, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'—हिन्दी साहित्य के ऐसे विशिष्ट नाम हैं जो किसी समय कलकत्ते में हिन्दी के पत्रकार थे। आधुनिक काव्य की एक महत् उपलब्धि 'निराला' कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता की ही देन हैं। हिन्दी के इस सर्वश्रेष्ठ स्वच्छन्दतावादी कवि का अधिकांश पूर्ववर्ती काव्य कलकत्ते में लिखा गया और उन्हें हिन्दी के पाठकों तक पहुँचाने और कवि को प्रतिष्ठा दिलाने का अधिकांश श्रेय कलकत्ते के पत्र 'मतवाला' को ही है, जिस के सम्पादक-मण्डल में 'निराला' भी थे और जिस में उन की कविताओं की शीर्ष प्रस्तुति दी जाती थी।

व्याकरण और भाषा के प्रश्न को ले कर हिन्दी में जो ऐतिहासिक वाद-विवाद हुआ था उस का श्रीगणेश कलकत्ते के पत्रकार ने 'भारतमित्र' में किया था जिस के द्वारा भाषा-विषयक एक बड़ा कार्य सम्पन्न हुआ था। हिन्दी आन्दोलन को कलकत्ते के पत्रकारों से एक बड़ा अवलम्ब मिला था। देवनागरी लिपि के प्रचार-प्रसार में भी कलकत्ते की पत्रकारिता का अप्रतिम और ऐतिहासिक अवदान है। बीसवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती काल के हिन्दी पत्रकारों की चर्चा करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, "इस काल में हिन्दी में कुछ इतने महत्त्वपूर्ण पत्रकार पैदा हुए जो दीर्घकाल तक याद किये जायेंगे। बुद्धिगत प्रौढ़ता के साथ-साथ चरित्रगत दृढ़ता ने इन पत्रकारों को बड़ी सफलता दी। गणेशशंकर विद्यार्थी, पराड़कर जी, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे और बनारसीदास चतुर्वेदी ऐसे ही पत्रकार हुए।"[१]

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', तीसरी आवृत्ति, पृ० १४६।

ध्यान देने की बात है कि इन पाँच विशिष्ट पत्रकारों में से चार नाम कलकत्ते के हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कलकत्ते में हिन्दी-पत्रकारिता की जो नींव पड़ी उस पर एक विराट् और महत् निर्मिति भी सामने आयी।

प्रासंगिक चर्चा कलकत्ते के विशिष्ट हिन्दी पत्रकारों से सम्बद्ध है। हमारी निश्चित अध्ययन-सीमा के पत्रकारों की नाम-सूची इतनी बड़ी है कि अतिरिक्त विस्तार-भार के कारण सब की चर्चा सम्भव नहीं, इस लिए प्रतिनिधि पत्रकारों की ही चर्चा की जायेगी। 'विशिष्ट' का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। यहाँ यह भी निवेदन करूँ कि मेरी इस चर्चा में जो नाम नहीं आयेंगे वे किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और न तो उन के प्रति मेरे मन में कोई अन्यथा भाव ही है, इस का कारण एक-मात्र स्थानाभाव ही है जो एक विशेष प्रकार की विवशता है। अस्तु।

हिन्दी के प्रथम पत्रकार पं० युगुल किशोर शुक्ल

कानपुर निवासी पं० युगुल किशोर शुक्ल का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि हिन्दी पत्रकारिता की नींव की पहली ईंट बड़ी निष्ठा से इन्हों ने ही रखी थी। हिन्दी के प्रथम पत्रकार के रूप में बड़े सम्मान के साथ इन का नामोल्लेख किया जाता है।

शुक्ल जी के महत् आदर्श की ऊपर चर्चा की गयी है। ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय ने लिखा है कि "युगुल किशोर जी पहले कलकत्ते की सदर दीवानी अदालत में प्रोसीडिंग रीडर थे। फिर उसी अदालत में वकालत करने लगे थे। 'उदन्तमार्तण्ड' के अस्त होने के कई वर्ष बाद युगुल किशोर शुक्ल ने एक दूसरे हिन्दी पत्र को जन्म दिया था, जिसका नाम 'सामदन्तमार्त्तण्ड' था, परन्तु यह भी अधिक दिन तक नहीं चल सका।" जो भी हो, शुक्ल जी के प्रयत्न उन की वलवती निष्ठा को द्योतित करते हैं। उन की जातीय चेतना बड़ी पुष्ट थी। वंगीय परिवेश से प्रभाव और प्रेरणा ले कर हिन्दी-समाज के उन्नयन के लिए उन्हों ने पत्र का प्रकाशन किया था। सजातीय सहयोग के साथ सरकारी साहाय्य पाने की भी उन्हें पूरी आशा थी, किन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य से युगुल किशोर जी को किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली।

स्मरणीय है कि 'उदन्तमार्तण्ड'-सम्पादक ने अपने जिस उद्देश्य और संकल्प की विज्ञप्ति की थी उस के निर्वाह के प्रति वह सदैव सचेत रहे। हिन्दी वालों के लिए उन्हें वंगला के पत्रों से लड़ना पड़ा और अपमान तक सहना पड़ा। यह सारी लड़ाई अपने ही वल पर लड़ी गयी। इस प्रकार हिन्दी-हित-कामना से प्रेरित हो पं० युगुल किशोर जी ने जो महत् उपक्रम किया था उस के सद्यः उपसंहार के मूल में हिन्दी का पक्ष-समर्थन भी था। मारवाड़ी व्यवसायियों और वंगालियों के प्रश्न को ले कर 'समाचारचन्द्रिका' और 'उदन्तमार्तण्ड' पर उस का वुरा प्रभाव पड़ा। एक और मुख्य वात थी जिस ओर पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने संकेत किया है, "......उन दिनों कलकत्ते में हिन्दी भाषियों की संख्या चाहे जितनी हो, उस में दो रुपये महीने

अहिन्दी-भाषी बाबू श्यामसुन्दर सेन

हिन्दी के विषय में पूर्वग्रह-मुक्त हो कर जिन अहिन्दी-भाषी व्यक्तियों ने धारणा बनायी थी, उन के सामने हिन्दी का महत्त्व असन्दिग्ध था। बाबू श्यामसुन्दर सेन ऐसे ही व्यक्ति थे, बंगाली होते हुए भी जिन्हों ने हिन्दी में पत्र प्रकाशित किया था।

सेन महाशय का पत्र 'समाचार सुधावर्षण' हिन्दी और बंगला दो भाषाओं में एक साथ प्रकाशित होता था। हिन्दी के बाद बंगला का अंश रहता था। इस प्रकार यह द्विभाषी पत्र था जिस का सम्पादन बड़ी कुशलता से सेन महाशय करते थे। युगीन चेतना के प्रति ये सजग थे।

राजपुरुषों को कर्तव्य और औचित्य का श्यामसुन्दर बाबू ध्यान दिलाते रहते थे। साउंतालों के अत्याचार से सामान्य प्रजा की शान्ति भंग हो गयी थी। उन के हिंसापरक उपद्रव से लोगों में आतंक फैल गया था। उन से सुरक्षित रहने के लिए सरकारी सहायता की ज़रूरत थी। १३ अगस्त की मेदिनीपुर की चिट्ठी 'समाचार सुधावर्षण' के (१२६२ साल तारीख ३ भाद्र शनिवार इंगरेजी १८ अगष्ट श्रावन सुदी ५) अंक में प्रकाशित हुई थी। इस प्रकार की औचित्य-माँग सेन महाशय प्रायः किया करते थे। इतना ही नहीं 'समाचार सुधावर्षण'-सम्पादक ने उन भारतीय व्यक्तियों को बड़े कड़े शब्दों में धिक्कारा था जो अत्याचारी अँगरेजों के साथ किसी प्रकार का समझौता करते थे अथवा उन्हें सहायता देते थे—"श्रीयुत ष्टिवेनस साहेब ने रेलरोड के गाड़ी पर एक बंगालि बाबू का अपमान करने से प्रधान विचारपति ने उनको दण्ड किया है उस दण्ड का रुपया संग्रह कराने के लिये हिन्दुलोग सहाय करना उचित नहीं है काहे से कि जो बाबु लोगों का हात धर्म्म के विषय में देश के लोगों को एक पैसा खरचा करने के लिये कांपता है वे लोग इस चन्दे का रुपया दान करने में हमलोगों को बड़ा आश्चर्य मालुम देता है।"

अपने जातीय स्वर के कारण श्यामसुन्दर सेन को क्षति भी उठानी पड़ी थी। इस के साथ ही उन में एक बड़ी दुर्बलता भी थी। श्यामसुन्दर बाबू उस युग की प्रगतिशील वैचारिक धारा के साथ न थे। समाज-सुधार-आन्दोलन के प्रश्न पर वे बहुत कुछ पुराणपन्थियों के साथ थे। विधवा-विवाह-आन्दोलन को पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने वैचारिक अवलम्ब दिया था और इसे वैधानिक पुष्टि दिलाने के लिए वे सदैव सक्रिय रहते थे। उन के विरोधियों के नेता राधाकान्त देव थे। 'समाचार सुधावर्षण' ने प्रतिगामियों का ही साथ दिया था। कार्तिक वदि ११ संवत् १९१२ अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का शीर्षक है—'विधवा विवाह विषय'। इस की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं: "........बंगदेशीय मनुष्यों में विद्या का बड़ा प्रचार है, परन्तु धर्म्माधर्म्म कुछ भी विचार नहीं करते क्या महामानव का प्रभाव है क्योंकि कुमारी का विवाह सर्वशास्त्र में लिखा है लेकिन विधवा का विवाह कोई शास्त्र वेद में लिखा नहीं

भी सुनने में आया नहीं केवल इसी देश में इसी देश के पण्डितों के मुख से सुनने में आता है और कोई देश में नाम मात्र चर्चा भी होती नहीं क्या आश्चर्य की बात है पण्डित क्या और देश में होते नहीं या विधवा होती नहीं जो इसका विधवा विवाह का विधि विचारे मगर इसी देश के आदमियों का विचार है शास्त्र का विचार नहीं क्योंकि श्रीकाशीजी में महामहोपाध्याय श्रीकाकाराम पण्डित जी के घर में भी युवती विधवा बैठी हैं वे क्या निर्दयी अविचारी हैं कि विधवा का विवाह नहीं देते।" इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि बाबू श्यामसुन्दर सेन पुरानी रीति-नीति और आचार-विचार के कायल थे। अस्तु।

सेन महाशय का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि उन्हों ने दैनिक हिन्दी पत्रों की परम्परा का प्रवर्तन किया। अहिन्दी-भाषी हो कर हिन्दी भाषा में पत्र प्रकाशित करना उन की उदारता और न्याय-दृष्टि का सूचक है। इतना ही नहीं अपने इस उपक्रम-द्वारा उन्हों ने हिन्दी की राष्ट्रीय व्याप्ति का भी प्रमाण दिया।

'भारतमित्र' के संस्थापक- सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र

पं० छोटूलाल जी सारस्वत ब्राह्मण थे। उन का जन्म कलकत्ता में हुआ था और आरम्भिक शिक्षा काशी में हुई थी। बाल्यकाल काशी में पितामह के साथ व्यतीत हुआ था। लगभग बीस वर्ष की अवस्था में उन्हों ने 'भारतमित्र' का प्रकाशन किया था। कालान्तर में वे व्यवसाय में चले गये और उन्हों ने लाखों रुपया कमाया। उन के वृद्ध पुत्र पं० दीनानाथ जी ने अपने पिताश्री की चर्चा करते हुए मुझे बताया कि उन का व्यक्तित्व बड़ा भव्य था। दिसम्बर १९३५ में लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में उन का देहान्त हुआ।

व्यवसाय में चले जाने के बाद भी पं० छोटूलाल जी साहित्य और साहित्यिक आयोजन में सक्रिय रुचि लेते थे। वे उर्दू, अँगरेजी, हिन्दी और बंगला के अच्छे जानकार थे। उर्दू में उन की विशेष रुचि थी। स्वयं व्यवसायी होते हुए भी उन का व्यवसायियों पर बड़ा प्रभाव था और सभी उन का पण्डित के रूप में आदर करते थे।

सामाजिक कार्यों में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। कलकत्ते की छोटी-मोटी अनेक साहित्यिक, शैक्षणिक और सामाजिक संस्थाओं के वे सदस्य और सहयोगी थे। कलकत्ते के प्रथम हिन्दी विद्यालय—विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय की स्थापना में उन्हों ने आर्थिक सहयोग भी दिया था। इसी प्रकार सांगवेद विद्यालय, शिवकुमार भवन और सारस्वत खत्री विद्यालय के वे सक्रिय सहयोगी थे।

उस युग के महापुरुषों से उन का अच्छा सम्बन्ध था। कलकत्ते से बाहर भी उन के नाम और व्यक्तित्व का प्रभाव था। महामना पं० मदनमोहन मालवीय और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से उन का स्नेह-सम्बन्ध था। इसी प्रकार जम्मू के महाराज प्रताप सिंह उन्हें बहुत स्नेह करते थे।

पं० छोटूलाल मिश्र ने सन् १८८३ ई० तक 'भारतमित्र' का सम्पादन किया था। इस से अलग होने के बाद भी वे किसी-न-किसी रूप में इस पत्र से सम्बद्ध थे।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दी अखबार' की कहानी कहते हुए 'भारतमित्र' के सन्दर्भ में पं० छोटूलाल मिश्र का उल्लेख इस प्रकार किया है : "पण्डित छोटूलाल मिश्र इस के प्रथम सम्पादक और जन्मदाता हैं। सन् १८८३ ई० तक वही इसे चलाते थे। उन्हों ने इस की उन्नति के लिये बड़ी चेष्टा की, साथ ही सम्पादन भी बहुत अच्छी रीति से किया। उन के लिखने का ढंग बहुत साफ और भाषा सरल थी।[1]"

'भारतमित्र' के प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी में पं० छोटूलाल जी ने बड़े खेद के साथ लिखा था कि "१९वीं सदी में बंगाली तथा अन्यान्य जाति के आदमी अपनी-अपनी बोली में केवल एक समाचार-पत्र की उन्नति से विद्या में ज्ञान में दिन-दिन उन्नत हुए जाते हैं और हमारे हिन्दुस्तानी भाइ केवल अज्ञान खटिया पर पैर फैलाये हुए पड़े हैं और ऐसा कोई नहीं जो इन की उस खटिया पर से उठा के ज्ञान की किरण उन के अन्तःकरण में प्रकाश करे बहोत दिनों से हम आशा कर्ते थे कि कोइ विद्वान् बहुदर्शी आदमी इस अभाव को दूर कर्ने की चेष्टा करेंगे परन्तु यह आशा परिपूर्ण न हुई।" इसी आशा को पूर्ण करने के लिए और हिन्दी-समाज को नयी रोशनी से उजागर करने के लिए 'भारतमित्र' का प्रकाशन हुआ था। सघन अन्धकार में आलोक की सृष्टि का संकल्प लेना साधारण और दुर्बल इच्छा-शक्ति वाले पुरुष के लिए सम्भव नहीं होता।

'भारतमित्र' के पुराने पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि 'भारतमित्र'-सम्पादक पं० छोटूलाल मिश्र ने अपने संकल्प की रक्षा और दायित्व का निर्वाह बड़ी कुशलता से किया।

पं० छोटूलाल जी यद्यपि पुरातन-प्रिय थे, तथापि उन्हों ने नये सामाजिक सुधारों का खुल कर समर्थन किया और इस प्रकार अपनी प्रगतिशीलता का प्रमाण दिया। बाल्य-विवाह को सरकार अवैधानिक घोषित कर रही थी। इस विषय में सरकारी नये क़ानून का कुछ रूढिप्रिय भारतीयों ने विरोध किया था। २ जून १८७८ के 'भारतमित्र' की सम्पादकीय टिप्पणी इसी विषय पर है। सरकार का पक्ष-समर्थन करते हुए सम्पादक ने देशवासियों को सलाह दी थी : "....उन्नति के प्रधान प्रतिबन्धक बाल्य-विवाह को समाज से विदूरित कर्ने के लिये ऐसा यत्न कर रहि है और सब आदमियों को एकतान होकर इस नियम के शीघ्र ही प्रचलित हो जाने कि पोपकता कर्नी चाहिये।" उक्त सरकारी पक्ष-समर्थन को अन्यथा न लिया जाये। 'भारतमित्र'-सम्पादक पं० छोटूलाल जी का जातीय दृष्टिकोण बड़ा पुष्ट था और औचित्य के आग्रह

१. बाबू बालमुकुन्द गुप्त : गुप्त निबन्धावली, पृ० ४१६।

से वे सरकार का खुलेआम विरोध करते थे।

'मिष्टर जर्ज टकर' नामक अँगरेज़ ने लण्डन के 'टाइम्स' संवादपत्र में लिखा था कि भारत से निर्यात होने वाले चावल पर से कर (ड्यूटी) उठा देना चाहिए ताकि विदेश में चावल अधिक निर्यात हो सके और वहाँ का दुर्भिक्ष दूर किया जा सके। इस पर १९ सितम्बर १८७८ ई० के अंक में 'भारतमित्र'-सम्पादक ने टिप्पणी दी थी जिस का शीर्षक था: 'अपने को ठांव नहीं पांच पीर संग चलें।' बड़ी साफ़ भाषा में सम्पादक ने लिखा था: "......दूसरे का दुःख दूर करने के पहले उसी प्रकार अपना दुःख दूर करना उचित है, इस देश में आज-कल जैसी दुर्भिक्ष की बढ़ती है उस के लिये देश-हितैषी समदुःखी गणों को यह उचित है जो पहले भारत को उस कष्ट से बचावें तब उस्से और का उपकार करें जो स्वयं दीन, निराहार और मुट्ठी भर अन्न के लिये लालायित रहते हैं उन से साहाय्य की प्रार्थना करना और बलपूर्वक छीन लेना दोनों एक ही समान है।" स्पष्ट ही उस युग के लिए यह एक बहुत कड़ी बात थी।

'भारतमित्र' के संस्थापक-सम्पादक पं० छोटूलाल जी मिश्र का विशेष महत्त्व यह है कि उन्हों ने एक ऐसे पत्र का प्रकाशन किया जो सच्चे अर्थों में भारत-मित्र सिद्ध हुआ। मिश्र जी की ही तरह उन का पत्र भी दीर्घजीवी हुआ और उसे हिन्दी के श्रेष्ठ सम्पादकों का सहयोग मिला जिस के बल पर अन्याय और अत्याचार से लड़ने और उस का विरोध करने में वह अग्रणी हुआ। इस के ऐतिहासिक महत्त्व का उल्लेख करते हुए सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने 'विशाल भारत' (मई, १९३०) में लिखा था: "'भारतमित्र' निकलने के बाद ही कलकत्ते में हिन्दी की जड़ जमी।" श्री राधाकृष्ण दास ने 'भारतमित्र' की चर्चा के प्रसंग में पं० छोटूलाल मिश्र का उल्लेख इस प्रकार किया है: "जब तक यह पत्र पण्डित छोटूलाल मिश्र के हाथ में था तब तक बहुत ही उत्तमता से चला कभी-कभी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी भी लिखा करते थे। जब से उक्त पण्डित जी ने हाथ खींचा कई सम्पादक आये और उस के कई रंग बदले।" किन्तु रंग बदलते रहने पर भी 'भारतमित्र' कभी बेपहचान नहीं हुआ और इस की जातीय चेतना निरन्तर पुष्ट और प्रखर होती गयी। बड़े शुभ मुहूर्त में पं० छोटूलाल जी ने इस अनुष्ठान का प्रवर्तन किया था। 'भारतमित्र' से अलग हो कर भी उन्हें इस पत्र के उत्कर्ष से बड़ा सन्तोष-सुख मिला होगा।

हिन्दी पत्रकारिता के महान् पुरस्कर्ता पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र

पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र जम्मू के सारस्वत ब्राह्मण थे। कलकत्ते के दीर्घ प्रवास के बावजूद जम्मू और काश्मीर के प्रति उन के मन में बड़ी अनुरक्ति और श्रद्धा थी। "पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र जम्मू के सांबा ग्राम के निवासी थे और जम्मू नरेशों के पाधा या उपाध्याय अथवा राजगुरु थे। जम्मू के महाराज गुलाब सिंह ने ही अँगरेज़ी

कम्पनी से काश्मीर खरीदा था इसलिए जम्बू-काश्मीर-नरेशों के वे गुरु थे।[1]" कलकत्ते की कमज़ोर जलवायु और पारिवारिक विपत्तियों की चोट से उन का पुष्ट शरीर बहुत जल्दी टूट गया और वे दीर्घजीवी न हो सके।

'भारतमित्र' का प्रकाशन पं० छोटूलाल मिश्र और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के संयुक्त प्रयास से हुआ था। किन्तु कुछ मतभेद हो जाने के कारण एक वर्ष के बाद ही पं० दुर्गाप्रसाद जी 'भारतमित्र' से अलग हो गये और एक दूसरे तेजस्वी पत्र 'सार-सुधानिधि' का प्रकाशन किया जिसे पं० सदानन्द मिश्र सम्पादित करते थे। वैसे चार प्रमुख व्यक्तियों—पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० सदानन्द मिश्र, पं० गोविन्दनारायण मिश्र और पं० शम्भुनाथ मिश्र—के सहयोग से यह पत्र निकलता था। ये चारों व्यक्ति इस पत्र में साझी थे। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "यह पत्र १३ अप्रैल सन् १८७९ ई० को प्रकाशित हुआ था।" 'सारसुधानिधि' का जो पहला अंक मुझे मिला है, वह १३ जनवरी १८७९ का है न कि १३ अप्रैल का। अस्तु। इस से अलग हो कर पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने ७ अगस्त १८८० ई० को अपने स्वतन्त्र पत्र 'उचितवक्ता' का प्रकाशन किया। स्वतन्त्र इस लिए कि इस पत्र में दुर्गाप्रसाद जी के साथ कोई दूसरा साझी नहीं था। 'उचितवक्ता' के बाद उन्हों ने कलकत्ते से ही सन् १९०६ ई० में 'मारवाड़ी बन्धु' का प्रकाशन रूडमल गोयनका के आर्थिक सहयोग से किया था। सम्पादक के रूप में उन्हों ने अपने छोटे भाई पं० वासुदेव मिश्र का नाम दे दिया था, यद्यपि सम्पादन वे ही करते थे। यह पत्र भी बहुत दिनों तक नहीं चल सका।

पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन करते हुए पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है : "पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने समाचार-पत्र-प्रकाशन से कुछ कमाया नहीं उलटे घर के धान पयाल में मिलाये। परन्तु उनको इस काम का शौक था, नशा था, इसलिये कुछ ऊटक-नाटक किया ही करते थे।[2]" 'उचितवक्ता' जब बन्द हो गया था तो पाठकों और मिश्र जी के मित्रों ने इस के पुनः प्रकाशन का अनुरोध किया था, इस की चर्चा करते हुए २६ मई १८९४ ई० के 'उचितवक्ता' में उन्हों ने अपने पुराने अनुभव लिखे थे, "...'उचितवक्ता' मेरी अनुपस्थिति के कारण बन्द हो गया। यद्यपि मित्र लोग इसके पुनः प्रकाश के लिये अनुरोध करते रहे परन्तु मेरी इच्छा शिथिल ही हो गई थी, जिस समय मैंने भारतमित्र को जन्म दिया था, जिस समय 'सारसुधानिधि' का अनुष्ठान पत्र प्रचार किया था और जन्म देने का उद्योग किया था तथा अंशीदार बनकर रुपये घाटे दिये थे, उस समय हिन्दी की इस राजधानी में बड़ी ही आवश्यकता थी।"

हिन्दी के पुराने पत्रकारों की महत्त्व-चर्चा करते हुए पं० अम्बिकाप्रसाद

---

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० १७५।
२. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : विशाल भारत, मई, १९३१।

वाजपेयी ने लिखा है कि "पं० सदानन्द मिश्र, पं० गोविन्दनारायण आदि ने भी हिन्दी पत्र-सम्पादन और प्रकाशन का कार्य किया सही, परन्तु पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र यदि न होते तो उनके कामों को कोई नहीं जानता।" हिन्दी-पत्रकारिता की भित्ति पुष्ट करने के लिए पं० दुर्गाप्रसाद जी ने कठिन तपस्या की। पत्र छापना, प्रतिकूल राजनीतिक वातावरण में सरकारी अनौचित्य का विरोध करना, ग्राहक ठीक करना और उन की मर्जी के अनुसार उन के घर जा-जा कर पत्र पढ़ कर सुनाना ताकि वे ग्राहक बने रहें और पत्र चलता रहे, यह सब कुछ दुर्गाप्रसाद जी को अकेले करना पड़ता था। उन के पत्रों का पूरा अस्तित्व उन्हीं पर निर्भर था। उन की शक्ति सीमित थी और दायित्व बड़ा था। वे विविध रुचि के व्यक्ति थे। सामाजिक कार्यों में उन की अधिक रुचि थी। राजनीति में भी वे सक्रिय रुचि लेते थे। विशेष रूप से काश्मीर की राजनीति में वे अधिक सक्रिय रहते थे। परिणाम यह था कि प्रायः उन्हें काश्मीर जाना और वहाँ जम कर रहना पड़ता था। इस से उन के पत्र के प्रकाशन में तरह-तरह के अवरोध उपस्थित होते थे क्यों कि उन के पत्र विशेष रूप से 'उचितवक्ता' उन्हीं से सम्पृक्त था। इस से बड़ी क्षति होती थी। यह उस युग की एक सामान्य विशेषता थी जिस की चर्चा करते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है कि : "इस देश में अखबार खास-खास आदमियों के शौक पर चलते हैं। जब उन का शौक कम हो जाता है या वह नहीं रहते तो अखबार भी लीला संवरण कर जाते हैं। विलायत आदि में ऐसा नहीं है। वहाँ के अखबार किसी व्यक्ति विशेष के भरोसे नहीं हैं, वरंच उनका मजबूत स्टाफ होता है, पूरा प्रबन्ध होता है, किसी एडीटर या मनेजर के न रहने से वह बन्द नहीं हो सकते, भारतवर्ष में अभी इस बात के होने का दिन दूर है।" 'उचितवक्ता' और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र के सन्दर्भ में यह बात अधिक स्पष्ट होती है।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में हम ने 'उचितवक्ता' की चर्चा करते हुए पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र की जातीय विवेचना की है और संकेत दिया है कि राष्ट्रीय औचित्य के आग्रह के चलते उन्हें कितनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। उस प्रसंग की आवृत्ति आवश्यक नहीं है। यहाँ इतना ही निवेदन करूँ कि सरकारी अधिकारियों से ले कर हिन्दी-पत्रकारों और पाठकों तक से पं० दुर्गाप्रसाद जी को जूझना पड़ा था और अपनी प्रतिकूलता से खीझ कर १८ नवम्बर १८८२ ई० के 'उचितवक्ता' में उन्हों ने एक टिप्पणी लिखी थी—"देशीय पत्रों के सम्पादक क्या पूर्व जन्म के पापी नहीं हैं?"

उक्त टिप्पणी में देशी पत्रों और पत्रकारों की विकट परिस्थिति पर तीखा व्यंग्य है। २३ दिसम्बर १८८२ ई० के 'उचितवक्ता' की सम्पादकीय टिप्पणी में 'सम्पादक समाज की आवश्यकता' पर विचार करते हुए लिखा था कि "हम भारतीय पत्र सम्पादकों की जैसी हीन और मलीन दशा है वह किसी को अविदित नहीं है। ये लोग सदा अपने देश की भलाई के लिये उद्यत रहते हैं इसी से सदैव गवर्नमेण्ट के

समीप राजभक्तिविहीन और अधम गीने जाते हैं, क्षुद्र हाकिमों से लगा कर उच्चतर विचारपतिओं तक का इन पर आक्रोश बना रहता है'''"हमारे देशवासी मनुष्यों की ऐसी रुचि नहीं है कि समाचारपत्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध रक्खें वा उस के सहायक हों और उस की विपद में सहानुभूति प्रगट करें। यहाँ के धनी सम्प्रदाय रंग राग ही से छुट्टी नहीं पाते फिर करें क्या ?''''अब हम लोगों का प्रधान कर्तव्य यह है कि सब समाचारपत्र के सम्पादक एक उत्तम सभा स्थापन करें जिस में कि सब पत्रों के सम्पादक सभ्य नियुक्त रहें और अपनी अपनी अवस्थानुसार मासिक चाँदा दिया करें जब किसी देशीय पत्र के सम्पादक पर किसी हाकिम महाशय का अनर्थक क्रोध होय तो उस के निवारणार्थ वह संचित द्रव्य व्यय हुआ करे और सम्पादक समाज उस की सब प्रकार से सहायता में तत्पर रहें।" औचित्य और अधिकार की रक्षा के लिए पं० दुर्गाप्रसाद जी ने उस समय यह योजना प्रस्तुत की थी।

हिन्दी, हिन्दू और हिन्दू राष्ट्र के वे कट्टर हिमायती थे। धार्मिक दृष्टि से वे सनातन हिन्दू-धर्म को मानते थे। आर्यसमाज से भी उन्हें संघर्ष करना पड़ता था। हिन्दी आन्दोलन को वे वैचारिक अवलम्ब देने वालों में थे। हिन्दी के पक्षधरों का वे अपने पत्र 'उचितवक्ता' के माध्यम से अभिनन्दन करते थे।

वे एक विद्वान् पुरुष थे जिन का कई भाषाओं पर अधिकार था। बंगला की कई पुस्तकों का उन्हों ने हिन्दी में अनुवाद किया था। उन के द्वारा अनूदित पुस्तकों की विज्ञप्ति 'उचितवक्ता' में प्रायः प्रकाशित होती थी।

पं० दुर्गाप्रसाद जी सहज भाषा के आग्रही थे। भाषा-सम्बन्धी अपने आदर्श की चर्चा उन्हों ने 'उचितवक्ता' के १२ जनवरी, १८९५ ई० के अंक की 'हिन्दी साहित्य' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में की है। पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "उन की भाषा बड़ी प्रौढ़ और व्याकरण सम्मत होती थी, यद्यपि वे बराबर कहते थे कि 'व्याहकरन' मेरे पास नहीं उस की जरूरत हो तो मानिक के पास जाओ।" इस से उन के दो अभिप्राय थे कि व्याकरण मैं नहीं जानता, उस विषय में कुछ पूछना हो तो पं० गोविन्दनारायण मिश्र से पूछो। उन्हें लोग मानिक जी कहते थे। इस में व्यंग्यार्थ था कि स्त्री मर जाने पर मैंने व्याह नहीं किया है। इसी तरह की बातें हुआ करती थीं। दिल्लगी करते समय उन्हें कुछ खर्च भी करना पड़े तो मजे से करते थे।"

भाषा पर उन का पूरा अधिकार था और उन की भाषा-शैली तथा सम्पादन-कला की प्रशंसा बाबू हरिश्चन्द्र तथा अन्य युगीन लेखक करते थे। पं० दुर्गाप्रसाद जी के सम्पादकत्व में 'जम्बू प्रकाश' नामक हिन्दी पत्र काश्मीर से, काश्मीर नरेश की ओर से प्रकाशित होने वाला था। 'उचितवक्ता' में इस की विज्ञप्ति छपी थी। इस सम्बन्ध में बाबू हरिश्चन्द्र का २१ मे १८८१ के 'उचितवक्ता' में एक पत्र प्रकाशित हुआ जो इस प्रकार है—

प्रेरित पत्र।

श्रीयुक्त उचितवक्ता सम्पादकेषु।

प्रिय !

मुझ को यह सुन के बड़ा आनन्द हुआ कि श्रीमान् महाराजाधिराज जम्बू काश्मीराधिपति ने जम्बू में जम्बू प्रकाश नामक एक भाषा का समाचारपत्र प्रचलित करने चाहा है और आप के पूर्व सम्पादक बाबू दुर्गाप्रसाद मिश्र को सम्पादकीय भार मिलेगा ऐसी जनश्रुति है निस्सन्देह पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र भाषा में योग्य पुरुष हैं और इन के सुप्रबन्ध में जम्बू प्रकाश प्रकाश पा कर उस देश का अनेक उपकार करेगा। आशा है कि श्रीमहाराज के द्वारा यह शुभ अनुष्ठान शीघ्र ही सम्पन्न हो :

स्नेहाभिलाषी

वैशाख शुक्ल १४ हरिश्चन्द्र

'उचितवक्ता', ९ जुलाई १८८१ में मथुरा से प्रेषित श्रीनिवासदास का एक पत्र प्रकाशित हुआ था जिस में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पत्र का हवाला देते हुए 'जम्बू प्रकाश' पत्र के प्रकाशन की सम्भावना पर हर्ष प्रकट किया गया है और अन्त में आशा प्रकट की गयी है कि "पण्डित दुर्गाप्रसाद सम्पादित 'जम्बू प्रकाश' शीघ्र ही प्रकाशित हो कर दर्शकों की अभिलाषा पूरी करेगा और ईश्वर की कृपा से चिरस्थायी हो कर अपने कर्तव्य साधन में कृतकार्य होगा।" पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र की सम्पादन-शक्ति की चर्चा बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने इस प्रकार की है—"...पण्डित दुर्गाप्रसाद जी स्वयं एक तेज सम्पादक और जबरदस्त लेखक थे। उन के धुँआधार लेख कभी-कभी गजब किया करते थे। दिल्लगी की फुलझड़ियाँ और छेड़छाड़ के पटाखे छोड़ने में वह किसी उत्सव या पर्व का खयाल न करते थे।[1]

पं० दुर्गाप्रसाद जी बड़े विनोदप्रिय और मिलनसार व्यक्ति थे। उन का निवास स्थान कलकत्ते के साहित्य-सेवियों और साहित्यानुरागियों का केन्द्र था। पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र, देवी सहाय जी पाटनवाले और पं० सदानन्द जी मिश्र आदि हिन्दी के महारथी वहीं आ कर बैठते थे। देश की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थिति की मिश्र जी के दरबार में खुली आलोचना होती थी।[2] 'अमृत बाजार पत्रिका' के संस्थापक एवं सम्पादक बाबू शिशिरकुमार घोष को वे अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।[3] बाबू बालमुकुन्द गुप्त जब 'हिन्दी बंगवासी' में गये तो उन्हें भी कुछ दिनों तक मिश्र जी ने अपने साथ ही रखा। उन्हें हिन्दी की ही नहीं हिन्दी के साहित्यकारों और हितचिन्तकों का भी सदैव ध्यान रहता था।

पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र का व्यक्तित्व आलोकवर्षी था। अपना सब कुछ गँवा

१. बालमुकुन्द गुप्त : गुप्त-निबन्धावली, पृ० ३३४।
२. बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक ग्रन्थ, पृ० ७० ।
३. वही।

कर उन्होंने एक पीढ़ी को आलोकित किया था। कलकत्ते की हिन्दी-पत्रकारिता के प्राण-प्रतिष्ठाताओं में उन का शीर्ष स्थान है।

सारसुधानिधि-सम्पादक पं० सदानन्द मिश्र

दूसरे दौर के हिन्दी पत्रों में 'सारसुधानिधि' अत्यन्त तेजस्वी पत्र था जिस की विस्तृत विवेचना पूर्ववर्ती पृष्ठों में की गयी है। यह पत्र पं० सदानन्द मिश्र के सम्पादकत्व में प्रकाशित होता था। सदानन्द जी के पिता पं० योगध्यान मिश्र कलकत्ता संस्कृत कॉलेज में ज्योतिष के अध्यापक थे। उन्हों ने १८२९ ई० में 'सारसुधानिधि प्रेस' की स्थापना की थी। पण्डित गोविन्दनारायण कहा करते थे कि लल्लूलाल जी का प्रेमसागर पहले पहल 'सारसुधानिधि प्रेस' में ही छपा था[1]।" पं० योगध्यानजी पं० गोविन्दनारायण जी के फूफा थे। इस प्रकार गोविन्द नारायण जी और सदानन्द जी के बीच पारिवारिक सम्बन्ध था।

'सारसुधानिधि' के पहले वर्ष में जब घाटा हुआ तो अन्य साझियों के साथ ही पं० गोविन्दनारायण जी ने भी इस पत्र से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और सदानन्द जी अकेले पड़ गये। फिर भी बड़ी निष्ठा से उन्हों ने इस पत्र का संचालन-सम्पादन किया। इस पत्र की विस्तृत विवेचना करते हुए पं० सदानन्द जी के सम्पादकीय दृष्टिकोण की अपेक्षित चर्चा हम ने की है। उन की राजनीतिक चेतना बड़ी प्रखर थी। उन की यह दृढ़ धारणा थी कि देशवासियों का राजनीतिक संस्कार उन्नत होने पर ही देशोन्नति सम्भव है। देशवासियों में अधिकांश ऐसे थे जिन में राजनीतिक चेतना का अभाव था। ऐसे ही देशवासियों के बौद्धिक धरातल को उन्नत करने का प्रयत्न पं० सदानन्द जी 'सारसुधानिधि' के माध्यम से करते रहे। उन का विश्वास था कि 'राजनीति और समाजनीति का संशोधन जैसा समाचारपत्रों से होता है, वैसा दूसरे उपाय से नहीं हो सकता।' इस लिए उन्हों ने देशी पत्रकारों से अनुरोध किया था, "हम अपने सहयोगियों से सविनय निवेदन करते हैं कि कदाचित् हमारे हिन्दुस्तानी भाइयों के राजनैतिक और समाजनैतिक संस्कारों को देख निराश हो राजनैतिक और समाजनैतिक विषयों की समालोचना छोड़ न दें।....जब हम सब संस्कारक कार्य्य में व्रती हुए हैं तो हम लोगों को उचित है कि यावज्जीवन इस गुरूतम कार्य्य के साधन में प्रवृत्त रहें।....हम लोगों के प्रधान आश्रय धीरता, साहस और अध्यवसाय हैं। यदि हम इन तीनों के आश्रय से निरन्तर अपने कर्तव्य साधन में प्रवृत्त रहेंगे तो निःसन्देह ईश्वर हमारा सहायक हो हमारे हिन्दुस्तानियों के संस्कारों को सुधार हमारी बृटिश गवर्नमेन्ट द्वारा भारतवर्ष की पूर्व स्वाधीनता, पूर्व समृद्धि और पूर्वोन्नति दिखावेगा। आपाततः इसका उपाय एक आप ही सब समाचारपत्र हो, अतएव हम पुनः अनुरोध करते हैं कि कदापि किसी के कहने से शिथिल प्रयत्न न होना। जो आपको विपरीत

१. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० १६५।

सुझाते हैं वह उसी भ्रष्ट संस्कार के वशवर्त्ती हैं। यह निश्चय है कि जो कुछ भारतवर्ष का हित होना है वह समाचारपत्रों ही से होना है।" इसी विश्वास, निष्ठा और अशिथिल प्रयत्न से पं० सदानन्द मिश्र ने अपने दायित्व का पालन किया।

बर्तानिया साम्राज्यवाद का विरोध पं० सदानन्दजी बड़े कड़े शब्दों में करते थे। अत्याचारी गवर्नर जेनरल लॉर्ड लिटन का विरोध जिस स्पष्टता और जिन कड़े शब्दों में उन्हों ने किया था, उसे देखते हुए यह स्पष्ट है कि उन की स्थिति अपनी उग्र राष्ट्रीयता के चलते निरापद नहीं थी। किन्तु उन्हें व्यक्तिगत सुरक्षा और समृद्धि की चिन्ता नहीं थी। कदाचित् इसी लिए वे अन्याय का इतना बड़ा विरोध कर सके थे। ३० मार्च १८७९ ई० के 'सारसुधानिधि' की सम्पादकीय टिप्पणी—'उन्नीसवीं शताब्दी ! और ये सभ्यता !!!'—की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "क्या इसी को सभ्यता, राजनीति, धर्मनीति और दयावृत्ति कहते हैं ? जो लोग अपनी सभ्यता राजनीति, धर्म्मनीति और दयावृत्ति के आगे प्राचीनों को असभ्य, मूर्ख, धर्म्म ज्ञानशून्य और नृशंस कहते हैं, ये क्या उन्हीं लोगों के काम हैं !! गत फ्रांसीस और जर्मन का युद्ध, रूस और टर्की का युद्ध, ये सब युद्धों से स्पष्ट प्रमाण होता है कि सभ्य और असभ्य, राजा और शेर इनमें कुछ भी फरक नहीं है। क्योंकि असभ्यकाल के लोग जिस प्रकार क्रोध, लोभ, हिंसा, वैर, निर्य्यातन और जिगीषा आदि पशुधर्म के वशीभूत हो निरपराधियों के रुधिर से देशप्लावित करते थे, अब के सभ्य महापुरुष भी उसी प्रकार रुधिर की नदी बहाया करते हैं।....हम लोग प्राचीन काल को असभ्य कहते हैं, परन्तु अबके जिगीषु राजाओं का व्यवहार देख कर ये सन्देह होता है कि प्राचीन-काल असभ्य था या अब का समय असभ्य है।" स्मरणीय है कि यह बात उस समय कही गयी थी जब लॉर्ड लिटन का शासन था और प्रेस ऐक्ट लागू था। सरकार का ग़लत पक्ष-समर्थन करने वाले पत्रकारों से पं० सदानन्द जी की अक्सर लड़ाई हो जाती थी। 'भारतबन्धु' के साथ हुए झगड़े के मूल में यही बात थी।

पं० सदानन्द जी का दृष्टिकोण अत्यन्त प्रगतिशील था। वैज्ञानिक कृषि और प्रतिनिधि शासन प्रणाली के वे आग्रही थे। इसी प्रकार की अन्य जातीय समस्याओं पर भी उन्होंने 'सारसुधानिधि' में विचार किया था जिस की विवेचना पूर्ववर्ती पृष्ठों में की गयी है।

कुछ खास कारणों से जब 'सारसुधानिधि' का प्रकाशन कुछ समय के लिए बन्द हो गया था तो हिन्दी-अँगरेजी पत्रों और विशिष्ट व्यक्तियों ने संवेदना और खेद प्रकट करते हुए पं० सदानन्द मिश्र के सम्पादकीय महत्त्व की चर्चा की थी जिसे पहले 'सार-सुधानिधि' के सन्दर्भ में उद्धृत किया गया है। सभी ने पं० सदानन्द जी की योग्यता की प्रशंसा की थी।

श्री राधाकृष्णदास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इति-हास' में लिखा है कि " 'सारसुधानिधि' जैसे गौरव और गम्भीरता से निकलता था

आज तक दूसरा पत्र देखने में न आया। पण्डित सदानन्द मिश्र सम्पादक के प्रौढ़ लेखनी का जिन्हें आनन्द मिला है वे सदा उस के लिए तरसा करते हैं। जैसा ही तो कागज और छपाई उत्तम वैसी ही भाषा तथा लेख प्रणाली उज्ज्वल और वैसे ही राजनैतिक सामाजिक आदि उद्देश्य महत्।[1]"

उन के जातीय दृष्टिकोण की चर्चा हम ने की है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वे हिन्दुत्व के हिमायती थे। हिन्दुओं में वह पौरुष की प्रतिष्ठा और नयी जागृति उत्पन्न करना चाहते थे। 'सारसुधानिधि' प्रथम वर्ष, अंक ६ की सम्पादकीय टिप्पणी, हिन्दू-समाज' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "ये क्या सामान्य दुःख का विषय है कि इस एक लाख इक्यासी हजार सात सौ पचीस वर्ग योजन विस्तीर्ण भारत महाप्रदेश में प्रायः चौबीस करोड़ मनुष्यों की बसती में अन्दाज सोले करोड़ मनुष्य सनातन आर्य्यधर्मावलम्बियों का एक प्रशस्त हिन्दु समाज, केवल एक अपकृष्ट प्रवृत्ति के प्रभाव से परमुखापेक्षित और पराधीनता स्वीकार कर के चिर प्रसिद्ध हिन्दु आर्यों का मान्य और गौरव के बदले हीनता का परिचय देता है। क्या आश्चर्य की बात है! कि हम लोग सामान्य सम्प्रदायिक समाज की उन्नति देख कर के भी उत्तेजित और उत्साहित नहीं होते। और बहुजनाकीर्ण समाज के पराक्रम और बल पर नजर नहीं करके प्रायः सभी विषय में शिथिलता और हीनता ही प्रकाश करते हैं।"

'सारसुधानिधि' की चर्चा करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"अन्य लेखकों का सहयोग इस पत्र को प्राप्त था परन्तु उन में राधाचरण गोस्वामी या सदानन्द मिश्र की प्रतिभा का कोई न था। ये दोनों अपने युग के श्रेष्ठ गद्य-लेखकों में थे और उन की रचनाओं को देखते हुए 'सारसुधानिधि' की और सामग्री कभी-कभी फीकी लगती है। सदानन्द मिश्र का नाम हिन्दी लेखकों में प्रसिद्ध नहीं है परन्तु उन का गद्य सुथरा और ओजपूर्ण होता था। दुर्भाग्य से उन के लेख पत्र की पुरानी जिल्दों में बन्द हैं। उन में एक दृढ़ निर्भीक व्यक्तित्व का दर्शन होता है, उस युग की पत्रकार-कला में निःसन्देह वह अन्यतम थे। उन का पत्र तब के जन-साहित्य का प्रतीक है।[2]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० सदानन्द मिश्र एक सचेत पत्रकार थे जो प्रत्येक युगीन समस्याओं पर ध्यान रखते थे और बहुत खुल कर बिना किसी दुविधा के औचित्य का समर्थन करते थे।

'हिन्दी बंगवासी' के आदि सम्पादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती

हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार पं० अमृतलाल चक्रवर्ती अहिन्दी भाषा-भाषी थे। उन का जन्म सन् १८६३ में पश्चिमी बंगाल के चौबीस परगना जिलान्तर्गत नांवरा नामक ग्राम में हुआ था। चक्रवर्ती जी का बाल्यकाल पुरातनप्रिय पिता श्री के सम्पर्क

१. राधाकृष्ण दास : हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, पृ० २३।
२. डॉ० रामविलास शर्मा : 'भारतेन्दु युग', पृ० ३६।

में बीता। उस जमाने में जैसे हर ग़रीब ब्राह्मण का लड़का संस्कृत पढ़ता था, चक्रवर्ती जी भी अपने बाल्यकाल में घर पर संस्कृत पढ़ते थे। किशोरवय में ही उन का सम्पर्क हिन्दी प्रदेश से हो गया। ग़ाज़ीपुर में वे अपने मामा और मौसी के साथ काफ़ी दिनों तक रहे। वहाँ उन्हों ने फ़ारसी भी पढ़ी और बाद में हिन्दी के आदमी हो गये।

पिता जी की मृत्यु के बाद उन के ऊपर गार्हस्थिक दायित्व का बोझ आ गया जिस के चलते उन्हें बड़ी कठिनाइयों से मुक़ाबला करना पड़ा। कुछ दिनों तक कलकत्ते में छोटा-मोटा काम कर के उन्हों ने कुछ रुपया एकत्र कर लिया और फिर सपरिवार हिन्दी प्रदेश में लौट आये। इलाहाबाद में एक साधारण नौकरी की, फिर हाईकोर्ट में क्लर्क रहे। क़ानून की परीक्षा पास कर लेने पर मुन्सिफ़ बनने की सम्भावना थी, किन्तु चक्रवर्ती जी को उस में कोई विशेष आकर्षण न मिला और वे कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह जी के आमन्त्रण पर उन के पत्र 'हिन्दुस्थान' के सम्पादन का दायित्व ले लिया। वहाँ हिन्दी के धौरन्धरिकों से उन का सम्पर्क बढ़ा और वे क्रमशः हिन्दी के निकट पहुँचते गये।

'हिन्दुस्थान' की नौकरी छोड़ने के बाद चक्रवर्ती जी 'भारतमित्र' का सम्पादन करने लगे। वहाँ भी अधिक दिन नहीं रह पाये। 'हिन्दी बंगवासी' के प्रेरक और आदि सम्पादक चक्रवर्ती जी ही थे। 'हिन्दी बंगवासी' से मुक्त हो कर वे बम्बई चले गये और 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में काम करने लगे। किन्तु वहाँ से भी हिन्दी-प्रेम के अतिरिक्त आग्रह के कारण नौकरी छोड़ देनी पड़ी। सन् १९१४ ई० में 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' का दैनिक संस्करण इन्हीं के सम्पादकत्व में निकलता था। 'कलकत्ता समाचार' में भी वे रहे और 'भारतमित्र'-सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर से सामाजिक विषयों को ले कर उन की प्रायः कहा-सुनी होती रही। 'कलकत्ता समाचार' छोड़ कर वे एक बार फिर 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में गये थे लेकिन इस बार भी अधिक दिनों तक न रह सके और देशबन्धु चितरंजनदास के पत्र 'फारवर्ड' में अच्छे वेतन पर नौकरी कर ली। यहाँ भी सैद्धान्तिक मतभेद होने के कारण वे टिक न सके और हिन्दी साप्ताहिक 'श्री सनातनधर्म' का सम्पादन-भार सँभाला।

'श्री सनातनधर्म' की सम्पादकीय टिप्पणी में हिन्दू-मुसलमान के झगड़े पर विचार करते हुए चक्रवर्ती जी ने लिखा था : "दोनों धर्मावलम्बी स्वदेशवासी भाइयों में पक्की अटल दोस्ती एक मुसलमान नेताओं को छोड़ कर और किसी से भी खड़ी नहीं की जा सकती। क्योंकि हिन्दू-मुसलमानों की चिरस्थायी पक्की दोस्ती मुसलमान धर्मावलम्बियों के गो मांस-भक्षण छोड़ने पर ही निर्भर है, जो महात्माजी त्रिकाल में भी किसी मुसलमान से नहीं कहेंगे। यह केवल मुसल्मान नेता से मुसलमानों से कह सकते हैं और अपनी शक्ति के प्रभाव से बन्द भी करा सकते हैं। स्वराज्य के लिये, जातीय अन्यान्य प्रकार की विभिन्न भलाइयों के लिये, यदि भारत के मुसल्मान इस विषय में अपने काबुल हम-मजहबों की नकल करें तो हिन्दू मुसल्मान

का तमाम झगड़ा चिरकाल के लिये तय हो जाये।'' ''''''मुसलमानों के एक उसी गो-मांस भक्षण के आचरण को छोड़ हिन्दुओं से उन के झगड़े का असल मूल और कोई नहीं है। उस मूल को काट डालते ही झगड़ा तय होकर मुसलमान हिन्दुओं की अपार श्रद्धा प्राप्त करेंगे और परम्परा में कभी न टलने वाली दोस्ती खड़ी होगी।''

अपनी धारणाओं के प्रति चक्रवर्ती जी बड़े कट्टर थे। यही कारण था कि वे कहीं समझौता नहीं कर पाते थे और कहीं स्थिर हो कर कुछ दिन काम करना उन के लिए सम्भव नहीं हो पाता था। इस अस्थिरता के कारण उन्हें हमेशा आर्थिक कष्ट में रहना पड़ता था। क़र्ज़ का भार बढ़ जाने और समय से उसे वापस न करने के कारण उन्हें जेल तक जाना पड़ा था। सहायता के लिए उन्हों ने स्वजनों को पत्र लिखा था जिस के अन्त में यह श्लोक था—

"दरिद्राय नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं यत् प्रसादतः।
जगत् पश्यामि येनाहं मां न पश्यन्ति केचन॥"

चक्रवर्ती जी के स्वजनों ने उन की ख़बर न ली। उस विपत्तिकाल में उन के काम उन के मित्र बाबू बालमुकुन्द गुप्त आये। चक्रवर्ती जी ने लिखा है कि "हृदय की वेदना ले कर वह जेलखाने के दरवाजे पर पहुँचा और हृदय के मर्मस्थल से निकलते हुए अश्रुजल से भींगता हुआ अधूरी बातों में कहने लगा—'आप की यह दशा सही नहीं जाती।'''''''''उन के प्रबन्ध से न उस कारागार में मुझे भोजन शयनादि का कोई क्लेश रहा और न मेरे परिवार के लोगों को ही अन्न-कष्ट भोगना पड़ा[1]।"

'हिन्दी-बंगवासी', जिस के सम्पादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती थे, की भाषा-शैली की चर्चा करते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है, "बहुत सी ऐसी बातें उसमें छपने लगीं, जो किसी और हिन्दी अखबार में न होती थीं। केवल एक ही दोष उसमें था कि उसकी भाषा बंगला ढंग की होती थी। इसका कारण यही था कि उसका सम्पादक बंगाली था, उस समय वह बहुत साफ हिन्दी नहीं लिख सकता था और हिन्दी के अदब कायदे भी कम जानता था। इससे हिन्दी के दो चार सुलेखक उसकी किसी किसी बात से नाराज हुए[2]।" पं० अमृतलाल चक्रवर्ती की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि "बंगाली होने पर भी आपने सम्पादन हिन्दी समाचारपत्रों का किया है[3]।" हिन्दी की यह एक बहुत बड़ी सेवा थी जिस के उत्तर के रूप में हिन्दी संसार ने उन्हें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बना कर अभिनन्दन किया था।

चक्रवर्ती जी के अवदान का मूल्यांकन करते हुए पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है, "षोडश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति ने अपने जीवन में अनेक

---

१. पं० अमृतलाल चक्रवर्ती : 'बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक ग्रन्थ,' पृ० २८०।
२. बाबू बालमुकुन्द गुप्त : 'गुप्त-निबन्धावली,' पृ० ३९४।
३. वही, पृ० ३९३।

व्यवसाय और अनेक काम किये हैं, पर आप की प्रवृत्ति-हिन्दी-पत्र-सम्पादन की ओर ही रही है। आप की जीवन-परिधि का केन्द्र जर्नेलिज़्म ही रहा है। सन् १८८५ से ले कर, जब कि आप 'हिन्दुस्थान' के सम्पादकीय विभाग में काम करने के लिए कालाकांकर गये थे, सन् १९२५ तक यानी इन चालीस वर्षों में आप ने हिन्दी-जर्नेलिज़्म का खूब अनुभव प्राप्त किया। मातृभाषा बंगला होने पर भी राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो सेवा आप ने की उस के लिए हम सब आप के ऋणी हैं। महात्मा गान्धीजी, माधवरावजी सप्रे और अमृतलालजी चक्रवर्ती को, जिन की मातृभाषाएँ क्रमशः गुजराती, मराठी और बंगला थीं, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति निर्वाचित कर हिन्दी-जनता ने अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया। हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का इससे उत्तम प्रमाण और क्या मिल सकता है[1] ?"

प्रसिद्ध शैलीकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त

रोहतक जिले के गुड़ियानी नामक ग्राम में कार्तिक शुक्ल ४, १९२२ विक्रमाब्द को गुप्तजी का जन्म हुआ था। गुप्त जी जन्मना वैश्य और कर्मणा ब्राह्मण थे। किशोरवय में ही उन्हें पारिवारिक चिन्ता ने घेर लिया था, तथापि वे उस से आक्रान्त न हो सके और अपने विद्याव्यसन को निरन्तर संवर्द्धित करते गये।

हिन्दी के श्रेष्ठ औपन्यासिक मुन्शी प्रेमचन्द की तरह बालमुकुन्द गुप्त भी उर्दू की दुनिया से हिन्दी में आये थे। उन की शैली में जो एक वेगवती शक्ति है उस में उर्दू का भी निश्चित रूप से योग है। अपने अनन्य मित्र पं० दीनदयालु जी की सलाह से उन्हों ने चुनार से निकलने वाले 'अख़बारे चुनार' का सम्पादन किया था। उर्दू में 'शाद' नाम से गुप्त जी लिखा करते थे।

गुप्त जी की पत्रकारिता के आदर्श-स्वरूप की विस्तृत विवेचना 'भारत-मित्र' के सन्दर्भ में पूर्ववर्ती पृष्ठों में की गयी है। हम ने देखा है कि अपनी देशभक्ति और औचित्य के आग्रह के कारण 'हिन्दुस्थान' और 'हिन्दी बंगवासी' की नौकरी उन्हों ने छोड़ दी थी।

१६ जनवरी, सन् १८९९ का 'भारतमित्र' पहली बार बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सम्पादन में निकला था। इसी दिन से ले कर साढ़े आठ वर्ष तक 'भारतमित्र' के माध्यम से उन्हों ने हिन्दी और हिन्दुस्तान की सेवा की।

गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना बड़ी प्रखर थी। लॉर्ड कर्जन-जैसे अत्याचारी गवर्नर जनरल के शासन काल में गुप्त जी के हाथों में 'भारतमित्र' जैसा तेजस्वी अस्त्र था जिस से उन्हों ने लॉर्ड कर्जन पर खुल कर प्रहार किया था। गुप्त जी 'भारतमित्र' के सर्वेसर्वा थे, इस लिए पूरी स्वेच्छा और स्वतन्त्रता से अपनी बात कहते थे। 'सारसुधानिधि' के माध्यम से पं० सदानन्द मिश्र ने लॉर्ड लिटन-जैसे अत्याचारी गवर्नर

१. बनारसीदास चतुर्वेदी : 'रेखाचित्र,' पृ० ३२५।

जनरल का जिस तेजस्विता से विरोध किया था उसी राष्ट्रीय अन्दाज में गुप्त जी ने भी लॉर्ड कर्जन पर प्रहार किया था। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' और 'शाइस्ता खां के खत' का उल्लेख किया जा चुका है और गुप्त जी की निर्भीकता और राष्ट्रीयता का स्वरूप भी देखा जा चुका है, उस की पुनः आवृत्ति आवश्यक नहीं। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' हिन्दी गद्य का श्रेष्ठ उदाहरण है जिस पर टिप्पणी करते हुए भारतेन्दु युगीन साहित्य के मर्मज्ञ समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "ये व्यंग्यपूर्ण निबन्ध भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र की परम्परा का अनुकरण कर के लिखे गये हैं। भँगेड़ी शिवशम्भु के दिवास्वप्नों के बहाने गुप्त जी ने विदेशी शासन पर खूब फब्तियाँ कसी हैं[1]।" हिन्दी भाषा के वैशिष्ट्य-विज्ञापन के उद्देश्य से गुप्त जी ने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में 'भारतमित्र' में अनेक लेख लिखे थे। देवनागरी लिपि के उन्नायक जस्टिस सारदाचरण मित्र से उन का स्नेह सम्बन्ध था और वे मित्र महाशय के सक्रिय सहयोगियों में थे।

भाषा और व्याकरण को एक परिनिष्ठित व्यवस्था देने के छिए उन्हों ने 'भारतमित्र' के माध्यम से हिन्दी के पण्डितों से संघर्ष भी किया था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ गुप्त जी का जो ऐतिहासिक विवाद हुआ था उस के मूल्य-महत्त्व की विवेचना पूर्ववर्ती पृष्ठों में की गयी है। स्मरणीय है कि गुप्त जी परम वैष्णव थे। ब्राह्मण-भक्त और धर्मभीरु थे। आचार्य श्री द्विवेदी जी के प्रति उन के मन में बड़ा सम्मान था, द्विवेदी जी के समसामयिक और समवयस्क होते हुए भी गुप्त जी द्विवेदी जी का चरण-स्पर्श करते थे।[2] किन्तु सैद्धान्तिक धरातल पर द्विवेदी जी का जैसा विरोध गुप्त जी ने किया, किसी दूसरे को वैसा साहस नहीं हुआ। द्विवेदी जी को प्रणम्य मानते हुए भी गुप्त जी ने उन की 'पण्डिताई' पर तीखे व्यंग्य छोड़े थे जिस से द्विवेदी जी तिलमिला उठे थे। मात्र एक शब्द—'अनस्थिरता'—को ले कर हिन्दी के दो प्रख्यात धौरन्धरिकों में जो लड़ाई हुई थी, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है।

हिन्दी अखबारों का इतिहास लिख कर गुप्त जी ने एक बहुत बड़े ऐतिहासिक अभाव की पूर्ति की थी। यद्यपि उन के इतिहास में आज कई त्रुटियाँ दिखाई देती हैं तथापि उस का साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व आज भी असन्दिग्ध है।

हिन्दी के साथ ही गुप्त जी हिन्दुत्व के भी हिमायती थे। पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे ने लिखा है कि 'गुप्त जी के अन्दर स्वधर्म-प्रीति की एक ज्योति थी। स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान उसी की ज्वाल-मालाएँ बन कर उन का व्यक्तित्व विकसित कर रही थीं। 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' इस मन्त्र-महान् के गुप्त जी एक साधक थे।[3]"

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : 'भारतेन्दु युग', पृ० ११३।

२. द्रष्टव्य, 'बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ', पृ० ३५८।

३. वही, पृ० ३५८।

गुप्त जी के घनिष्ठ व्यक्तियों में पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, पं० देवीसहाय शर्मा, लक्ष्मणदत्त जी शास्त्री कलकत्ते के ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें गुप्त जी अपना गुरुजन मानते थे। बंगाली मित्रों में प्रमुख थे ए० चौधरी, जे० चौधरी, बाबू मोतीलाल घोष, माननीय सर गुरुदास बन्द्योपाध्याय, जस्टिस सारदाचरण मित्र, बा० पांचकौड़ी बनर्जी, पं० सुरेशचन्द्र समाजपति, पं० राजेन्द्रचन्द्र शास्त्री, कविराज ज्योतिर्मय सेन, डॉ० प्यारी-मोहन मुकर्जी और पं० सखाराम गणेश देउस्कर। इन के अलावे पं० दीनदयालु शर्मा, पं० मदनमोहन मालवीय, पं० छोटूलाल मिश्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० उमापतिदत्त शर्मा, पं० अक्षयवट मिश्र और पं० माधवप्रसाद मिश्र गुप्त जी के घनिष्ठ मित्र थे।[1]

गुप्त जी के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "ये अपने समय के सब से अनुभवी और कुशल सम्पादक थे। पहले उन्होंने दो उर्दू पत्रों का सम्पादन किया था, पर शीघ्र ही कलकत्ते के प्रसिद्ध संवादपत्र 'बंगवासी' के सम्पादक हो गये। बंगवासी को छोड़ते ही ये 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक बनाये गये[2]।" उन की भाषा-शैली की चर्चा करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि "किसी प्रकार का विषय हो, गुप्त जी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के अच्छे लेखक थे, इस से उन की हिन्दी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेट कर रखते कि उन का आभास बीच-बीच में ही मिलता था। उन के विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे रहते थे[3]।" डॉ० रामविलास शर्मा का मत है कि "बालमुकुन्द गुप्त का भाषा पर असाधारण अधिकार है। वह हास्य रस से क्षण में ही दूर हट कर शैली को गम्भीर बना सकते थे। उन की गम्भीर शैली में एक प्रकार की कविता है जिस से गद्य भी कविता की भांति सरस हो उठता है।[4] अस्तु। स्पष्ट है कि हिन्दी गद्य शैली के निर्माण में पत्रकार गुप्त जी का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

गद्य के साथ ही गुप्त जी अच्छी कविता भी लिखते थे और वे अच्छे अनुवादक भी थे।

हिन्दी के वे एक तेजस्वी पत्रकार थे जिन्हों ने अन्याय-अत्याचार का बड़ा विरोध कर औचित्य का पक्ष-समर्थन किया था। 'लॉर्ड कर्जन के सन् १९०३ के दिल्ली दरबार में भारतमित्र-सम्पादक गुप्त जी अँगरेजी पत्रों की भांति निमन्त्रित हो कर सम्मिलित हुए थे। हिन्दी पत्रों में उस समय यह सम्मान 'भारतमित्र' को मिला था। सन् १९०४ ई० में न्याय निर्धारणार्थ कलकत्ता हाईकोर्ट में गुप्त जी सादर

---

१. द्रष्टव्य, बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० २११।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४७३।
३. वही, पृ० ४७३–४७४।
४. डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु युग, पृ० ११३।

स्पेशल जुरी मनोनीत हुए थे।[1] गुप्त जी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उन की मृत्यु (१८ सितम्बर १९०७) पर हिन्दी पत्रों और साहित्यकारों के साथ ही अँगरेजी और बंगला के पत्रों ने भी शोक-टिप्पणियाँ प्रकाशित की थीं[2]।

पत्रकार की हैसियत से ही गुप्त जी ने साहित्य-रचना की। उन का कृतित्व आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक बड़ी उपलब्धि है जिस का गम्भीर अनुशीलन आरम्भ हो गया है और उस की साहित्यिक महत्ता दिनों-दिन स्पष्ट और प्रतिष्ठित होती जा रही है।[3]

सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

उन्नीसवीं शताब्दी मानस-मनीषाके जागरणकी शती है। जातीय चरित्र और चिन्ता-को पराधीनता से उबारनेकी एक महत् प्रेरणा सम्पूर्ण देश में जगी और परवर्तीकाल के इतिहास-लेखकों ने इसे इतिहास के पृष्ठों पर टाँका कि वाणी की उन्मुक्तताका ऐसा प्रबल आग्रह और अनौचित्य-निरसन का ऐसा जोखिम-भरा उपक्रम पराधीन भारत में नहीं दिखा था—विशेषतः वैचारिक स्तर पर। वैचारिक क्रान्ति में सक्रिय सहयोग वही दे सकता था जिसकी दृष्टि में व्यक्ति-सुख की चिन्ता से राष्ट्र-हित की चिन्ता बड़ी थी या कि सच्चे व्यक्ति-सुख के लिए भी जो राष्ट्रीय कल्याण को शीर्षमहत्त्व की आवश्यकता समझता था। स्व० पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी इसी चिन्ताधारा से सम्पृक्त उस परम्परा के पत्रकार थे जो लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पॉल, अरविन्द घोष और लाला लाजपतराय की परम्परा थी—उग्र राष्ट्रीय-स्वर के साधकों की परम्परा हिन्दीभाषी प्रदेश में अपनी उग्र वाणी के लिए बैसवाड़ा की भूमि प्रसिद्ध है। इसी भूमि ने—यानी प्रतापनारायण मिश्र, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी की साधना-भूमि कानपुर ने—३० सितम्बर १८८० को हिन्दी पत्रकारिता के पितामह सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी को जन्म दिया। अन्याय और अन्धकार से लड़ते वाजपेयी जी का शरीर जब सर्वथा थक गया तो अवध की अपनी प्रियभूमि लखनऊ में उन्होंने २१ मार्च १९६८ को अपनी जीवन-कथा पूरी की।

वाजपेयी जी उन तपस्वी पत्रकारों में थे जिन्हों ने पत्रकारिता को पेशा के रूपमें नहीं बल्कि धर्म के रूप में अपनाया था, और बड़ी निष्ठा के साथ अपनाया था। कदाचित् यही कारण है कि आर्थिक उपलब्धि की चिन्ता छोड़ कर वाजपेयी जी अपने इस धर्म पर दृढ़ रहे, किसी भी प्रकार की कठिनाइयों में वे विचलित न हो सके। तिलक

---

१. द्रष्टव्य, बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० ८७।

२. वही, पृ० १७६–१८३।

३. गुप्त जी के सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य : (क) गुप्त निबन्धावली (ख) बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक-ग्रन्थ (ग) गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त—जीवन और साहित्य : नत्थन सिंह (घ) बालमुकुन्द गुप्त : एक पुनर्मूल्यांकन—सं० श्री कल्याणमल लोढ़ा एवं श्री विष्णुकान्त शास्त्री

युग के तेजस्वी हिन्दी पत्रकारों में उन का बहुत ऊँचा स्थान है। वे बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों की हिन्दी पत्रकारिता के उन्नायकों में अप्रतिम थे।

पत्रकारिता सम्बन्धी अपने अनुभव बताते हुए उन्हों ने सितम्बर १९३१ के 'विशालभारत' में लिखा था कि "वंग-भंग के आन्दोलन के समय पं० शिवविहारीलाल वाजपेयी के द्वारा मैंने 'हिन्दी वंगवासी' के सम्पादकीय विभाग में प्रवेश किया और इसी समय से मैं पत्र-सम्पादन क्षेत्र में आ गया।" उस समय उन्हें मात्र तीस रुपये वेतन मिलता था। २० नवम्बर १९०५ से ३१ जुलाई १९०६ तक वह 'हिन्दी वंगवासी' में रहे। भाषा और व्याकरण के प्रश्न को लेकर 'भारतमित्र' के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त और 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी में जो संघर्ष हुआ था उस में हिन्दी के कई अन्य पत्रों ने भी भाग लिया था। 'हिन्दी वंगवासी' में पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेखमाला प्रकाशित करायी थी और अयाचित रूप से द्विवेदी जी का पक्ष-समर्थन किया था। इस लेखमाला की पहली क़िस्त ६ जनवरी १९०६ को प्रकाशित हुई। वाजपेयी जी भी इस संघर्ष में पूरी रुचि ले रहे थे। वे अप्रकट रूपसे गुप्त जी के पक्ष में थे।

'हिन्दी वंगवासी' से हटने के कुछ समय बाद उन्हों ने एक अमेरिकन सैंडन कम्पनी में नौकरी कर ली थी और कुछ रुपया एकत्र कर के पुनः पत्रकारिता के क्षेत्र-में प्रवेश किया था। उन का यह प्रवेश १९०७ में मासिक 'नृसिंह' के रूप में हुआ। 'नृसिंह' राजनीतिक पत्रिका थी। इस सम्बन्ध में उन्हों ने लिखा है, "मेरे पास कुछ रुपये एकत्र हो गये थे, इसलिए मुझे पत्र निकालने की सूझी। अनेक मासिकपत्र हिन्दी में निकलते थे परन्तु उन में कोई राजनीतिक पत्र न था, इसलिए इस अभाव की पूर्ति का ठेकेदार मैं बना। पत्र का नाम 'नृसिंह' रखा। १९०७ के नवम्बर में पहली संख्या निकली। मैं ही लेखक, सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक, क्लर्क और दफ़्तरी सब कुछ था। बड़े आग्रह और प्रार्थना पर पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने अवतरणिका और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने उद्देश्य लिखवा दिया था। पं० दुर्गाप्रसाद जी का वीरभद्र देव शर्मा के नाम से एक लेख पण्डितों की चाटुकारिता के सम्बन्ध में बाद को छपा, पर पं० गोविन्दनारायण जी ने फिर कुछ लिखा-लिखाया नहीं।" अपनी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है, "रुपये का प्रबन्ध करना, पत्र के लिए काग़ज लाना, छपाना, प्रूफ़ देखना और डिस्पैच करना मेरा ही काम था। इन सब कार्यों से मुझे जितना कष्ट नहीं हुआ, उस से कहीं अधिक आर्थिक चिन्ता से रहा और आफ़त की मार कि आगे भी इस चिन्ता ने मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा।"

आर्थिक कठिनाइयों से हारकर वाजपेयी जी ने 'नृसिंह' का प्रकाशन एक वर्ष के बाद बन्द कर दिया। इस के बाद बाबू रूड़मल्ल गोयनका के अनुरोध से उन्हों ने 'श्रीसनातनधर्म' का सम्पादन-भार अपने ऊपर लिया। किन्तु आठ अंकों के बाद ही वे उस पत्र से हट गये, क्योंकि कट्टरतावादी संकीर्ण सनातनी नीति उन्हें पसन्द न थी।

इस के वाद वाबूराव विष्णु पराड़कर के प्रयत्न से नेशनल कॉलेज में वाजपेयी जी हिन्दी अध्यापक हो गये। पराड़कर जी की अनुपस्थिति में उन्हें 'हितवार्ता' का भी सम्पादन करना पड़ता था। १९१० में कॉलेज-अधिकारियों की नीति पसन्द न आने के कारण देउस्कर जी और पराड़कर जी के साथ वाजपेयी जी भी उस कॉलेज से अलग हो गये।

जनवरी १९११ में वाजपेयी जी 'भारतमित्र' के सम्पादक पद पर नियुक्त हुए। 'भारतमित्र' के मालिक थे वावू जगन्नाथदास। वे देश-सेवा के व्रती थे, इसलिए वाजपेयी जी को विशेष कठिनाई न हुई। उस समय के कठोर परिश्रम की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है, "दिन-रात में अठारह घण्टे काम मुझे करना पड़ता था। १७ जनवरी १९१२ को अस्थायी दैनिक का प्रकाशन वन्द कर के जव मैं 'भारतमित्र' ऑफ़िस से निकला तव मेरे पैर कांपते थे। इसी समय से शरीर अस्वस्थ रहने लगा, जिसके प्रभाव से जल्द बुढ़ापा आ गया।

इस अधिकार-वोध के क़ारण वाजपेयी जी संकट में भी पड़ गये थे। 'भारतमित्र' की आर्थिक क्षति का सारा दायित्व उन्हीं पर आ गया था। इस संकट के वावजूद उनकी निष्ठा नहीं टूटी। उन्हों ने लिखा है कि "मुझमें एक पागलपन था और वह यह कि यदि दैनिक 'भारतमित्र' वन्द हो गया तो फिर हिन्दी में बहुत दिनों तक 'दैनिक' न निकल सकेगा। इसीलिए मैं चाहता था कि वह चले।" और वह चला; किन्तु वाजपेयी जी उस के साथ न चल सके। 'भारतमित्र' छोड़ने का कारण वताते हुए उन्हों ने लिखा है, 'भारतमित्र' छोड़ने का एक यह भी कारण था कि 'भारतमित्र' के लिए मैंने अपने को एक प्रकार से वलिदान कर दिया, परन्तु जब उसकी उन्नति के विषय में मैं ने पांच या सात रुपये का एक विज्ञापन वेकरकी डायरेक्ट्री में दिलाया तो मैनेजर से यह कहा गया कि 'वे सम्पादक हैं, उन की वात प्रवन्ध के विषय में आप ने क्यों मानी ?' जव मुझे यह वात मालूम हुई तो वड़ा दुःख हुआ, क्योंकि जिसे मैं ने अपने ख़ून से सींचा था उस की उन्नति के लिए जब मेरे कहने पर सात रुपये भी ख़र्च नहीं किये जा सकते तो मेरा उस से सम्बन्ध रखना व्यर्थ है, यह सोच मैं ने ७ अगस्त १९१९ को गर्देजी को सम्पादक बना कर, 'भारतमित्र' से अपना नाता तोड़ लिया।"

इस के वाद ४ अगस्त १९२० को वाजपेयी जी ने दैनिक 'स्वतन्त्र' का प्रकाशन किया। यह पत्र देश की वर्तमान राजनीति का पूरा समर्थक था। गान्धीजी के व्याख्यान इस में विशेष रूप से प्रकाशित होते थे। असहयोग-आन्दोलन से यह पत्र वहुत सम्पृक्त था। यों तो वाजपेयी जी तिलक के उपासक थे, किन्तु जब देश की राजनीति ने महात्मा गान्धीको अपना एकमात्र नेता मान लिया तव वाजपेयी जी ने भी अपने पत्र द्वारा महात्मा गान्धी का और कहना चाहिए गान्धी-युग की राष्ट्रीय चेतना का साथ दिया।

एक दीर्घकाल तक वाजपेयी जी ने भिन्न-भिन्न पत्रों के सम्पादन-द्वारा देश-सेवा की है। पत्रकारिता सम्बन्धी अपनी उपलब्धि का मूल्यांकन करते हुए उन्हों ने लिखा है

कि "मैं ने 'हिन्दी बंगवासी' में प्रवेश करने के समय ही स्थिर कर लिया था कि यही काम करूँगा, परन्तु जब तक कुछ पूँजी न हो ली तब तक चित्त की चंचलता दूर न हुई। बाद को तो शारीरिक और आर्थिक कष्टों की परवाह न कर मैं ने पत्रकार का ही काम किया। परन्तु यह काम बड़ी पित्तमारी का है। धन तो नहीं के बराबर मिलता है और परिश्रम और जोखिम बहुत है। प्रायः बीस वर्ष तक दैनिक पत्र-सम्पादन के अपने अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि योग्य सहकारी प्रायः नहीं मिलते। जो मिलते हैं वे बेगारी की तरह काम करते हैं। उत्तरदायित्व समझनेवालों का अभाव-सा ही है। जो लोग राजनीतिक विषयों से अनुराग नहीं रखते वे अच्छे पत्रकार नहीं हो सकते।" कहने की आवश्यकता नहीं कि वाजपेयी जी को यह कठोर परिश्रम स्वास्थ्य की चिन्ता छोड़ कर करना पड़ा था जिस के परिणाम-स्वरूप वे पक्षाघात से पीड़ित हो गये। किन्तु यह सच है कि इस आत्म-पीड़ा को झेलने में उन्हें उतना कष्ट नहीं हुआ जितना हिन्दी पत्रकारिता को उन्नत करने में उन्हें प्रतिकूलता से जूझते हुआ था।

वाजपेयी जी ने देश की और हिन्दी भाषा की सेवा अनेक कोणों से की है। वे पत्रकार, वैयाकरण, भाषाशास्त्री, साहित्यकार, अध्यापक, सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता और अपने परिवेश को अहर्निश आलोक-प्रेरणा देने वाले गृहस्थ थे। उन्होंने विविध विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं, जैसे अनेक पत्रों का कुशलतापूर्वक सम्पादन-संचालन किया है। 'भारतीय शासन-पद्धति', 'हिन्दुओंकी राजकल्पना', 'हिन्दीपर फ़ारसी का प्रभाव', 'चीन और भारत,' 'अमेरिका और अमेरिका,' 'हिन्दी कौमुदी,' 'शिक्षा' (अनुवाद), 'अभिनव हिन्दी व्याकरण,' 'अँगरेज़ी की वर्त्तनी और उच्चारण', 'रामायण सार', 'श्राद्ध-प्रकाश' आदि इनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं। और एक ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तक है 'हिन्दी समाचार-पत्रों का इतिहास' जो अतीत हिन्दी पत्रकारिता की शक्ति का साक्ष्य प्रस्तुत करती है।

यह चर्चा पीड़क है कि हिन्दी पत्रकारिता के वर्तमान से वाजपेयी जी असन्तुष्ट थे। उन्हों ने काफ़ी व्यथित हो कर लिखा भी था कि 'पत्रकारिता के क्षेत्र से निष्ठा और योग्यता मिटती जा रही है।' एक बार मेरे एक पत्रकार मित्र ने उन के लखनऊ आवास पर भेंट की थी, वाजपेयीजी ने उन की सूझ-समझ की सराहना करते पीठ ठोकी थी। मेरे मित्र ने अपने अनुभव सुनाते जब काशी दिल्ली के दो प्रमुखतम हिन्दी दैनिकों के सम्पादकों के अग्रलेख लिखने की आशु पद्धति की चर्चा उन से की तो वाजपेयी जी गहरी उदासी में डूब गये। वे उदास और कभी-कभी निराश भी होते थे—पत्रकारिता की व्यावसायिकता की मार खाते और पत्रकारों की निष्ठा को ढहते देख कर। किन्तु उन की आस्था बड़ी पुष्ट थी और मनोबल बड़ा मज़बूत था तभी वे अपने को न तो वृद्ध महसूस करते थे और न अस्वस्थ। अपनी आस्था के ही बल पर वे बुढ़ौती में बंगलोर से हिन्दी दैनिक निकालने की योजना बना रहे थे। अब तो उन के आदर्श ही हमें प्रेरणा और दिशा-निर्देश देंगे!

उग्र राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर

पराड़कर जी ने एक बार कहा था कि कलकत्ता जाने का मेरा मुख्य उद्देश्य पत्रकारिता न थी प्रत्युत क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो कर देश-सेवा का कार्य करना था। परिवार का खर्च चलाने तथा पुलिस की नजरों से बचने के लिए मैं ने 'हिन्दी-बंगवासी' में सहायक सम्पादक का कार्य स्वीकार किया था। 'हितवार्त्ता' और 'भारतमित्र' के सम्पादन के साथ-साथ चन्द्रनगर की गुप्त समिति का कार्य भी मैं कर रहा था।[1]

पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर की जन्मभूमि काशी है। पराड़कर जी के संस्कृतज्ञ पिता पं० विष्णु शास्त्री महाराष्ट्र प्रदेश से आ कर काशी में बस गये थे। यहीं १६ नवम्बर सन् १८८३ को पराड़कर जी का जन्म हुआ और इन का सम्पूर्ण जीवन हिन्दी-प्रदेश में हिन्दी-हित की सक्रिय चिन्ता करते बीता।

बंगला भाषा के तेजस्वी लेखक सखाराम गणेश देउस्कर ने पराड़कर जी का राजनीतिक संस्कार किया था। देउस्कर जी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और पराड़कर जी के मामा लगते थे। उन पर लोकमान्य तिलक के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव था। पराड़कर जी को उन्हों ने 'केसरी' पत्र पढ़ने की सलाह दी थी। सन् १९०५ ई० के कांग्रेस अधिवेशन में पराड़कर जी ने तिलक के दर्शन किये थे और उन के तेजस्वी व्यक्तित्व को उपास्य मान लिया था।

'हिन्दी बंगवासी' के कार्य में उन्हें विशेष रुचि नहीं थी, क्यों कि वह पत्र उन की दृष्टि से प्रतिक्रियावादी था। पराड़कर जी उग्र राष्ट्रीयता के हिमायती थे। इसी लिए 'हिन्दी बंगवासी' में वे अधिक समय न टिक सके। देउस्कर जी की प्रेरणा से 'हितवार्त्ता' का प्रकाशन कलकत्ता में ही हुआ था और सम्पादक के रूप में ४०) वेतन पर पराड़कर जी की नियुक्ति हुई थी। इस के साथ ही वे नेशनल कॉलेज में अध्यापन कार्य भी करते थे। 'हितवार्त्ता' की नीति पराड़कर जी के अनुकूल थी। कुछ दिनों के लिए इस पत्र के सम्पादन का भार पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने भी सँभाला था। वाजपेयी जी ने लिखा है, "पराड़कर जी दो महीने की छुट्टी पर चले गये, इस लिए 'हितवार्त्ता' का सम्पादन-भार भी मेरे ही ऊपर आ पड़ा।''''हितवार्त्ता' के काम में अधिक आनन्द मिलता था क्यों कि उस की नीति सर्वथा अपने अनुकूल थी।"

राष्ट्रीय आदर्श से प्रेरित हो कर ही पराड़कर जी ने नेशनल कॉलेज में अध्यापन-कार्य आरम्भ किया था। देउस्कर जी तो वहाँ अध्यापक थे ही, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी को भी पराड़कर जी ने हिन्दी अध्यापन के लिए बुला लिया था। किन्तु जब नेशनल कॉलेज पर भी गवर्नमेण्ट का प्रभाव हो गया तब इन सब व्यक्तियों ने वहाँ का

---

१. पराड़कर जी और पत्रकारिता, पृ० ३४–३५।

कार्य छोड़ दिया। इस सम्बन्ध में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "कॉलेज के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं ने न जाने क्यों यह विचारना प्रारम्भ किया कि राजनीतिक सभाओं में विद्यार्थी सम्मिलित हों या नहीं। बाबू हीरेन्द्रनाथ दत्त और मि० ए० (अनन्तर सर आशुतोष) चौधरी राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् के मन्त्री थे। चौधरी साहब का विचार था कि जिस सभा में सरकार की निन्दा की जाये उस में विद्यार्थी न शामिल हों। ऐसा ही कुछ अन्य लोगों का भी मत था। इस लिए हम लोगों ने सोचा था कि विद्यार्थियों के लिए अन्य स्कूल-कॉलेजों से इस में कौन-सी विशेषता रही? गवर्नमेण्ट का दबाव नेशनल कॉलेज पर हो गया। अस्तु, हम लोग नेशनल कॉलेज से चले आये।"

परा़ड़कर जी के जीवनी-लेखक श्री लक्ष्मीशंकर व्यास ने लिखा है कि 'महर्षि अरविन्द घोष का नेशनल कॉलेज एक प्रकार से तत्कालीन क्रान्तिवादियों का एक प्रधान केन्द्र बन गया था। पराड़कर जी इस कॉलेज में हिन्दी-मराठी का अध्यापन-कार्य करते थे, साथ ही यहाँ उन का क्रान्तिदल वालों से भी सम्पर्क होता था। अध्यापन के समय पराड़कर जी छात्रों को फ्रान्स तथा रूसी क्रान्ति का इतिहास बताते हुए इस बात पर विशेष बल देते थे कि देश के युवकों पर भारतमाता की स्वतन्त्रता का भारी उत्तरदायित्व है। हमारा देश परतन्त्र है। इसे स्वतन्त्र करना चाहिए।[1]" वकील श्री भूपेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, महर्षि श्री अरविन्द घोष पराड़कर जी का बहुत ध्यान रखते थे और अपनी शिष्य-मण्डली से उन का उल्लेख कर बराबर कहते थे कि देखो—अन्य प्रान्त के हमें यही विश्वस्त सहयोगी मिले हैं। इन से व्यवहार में कभी कोई त्रुटि न होने पाये।[2] पराड़कर जी प्रच्छन्न रूप से सक्रिय क्रान्तिकारी थे, किन्तु सम्पादकीय हैसियत से क्रान्तिकारियों का विरोध भी करते थे।[3] राजनीतिक सुरक्षा के लिए उस समय यह आवश्यक था।

स्मरणीय है कि 'भारतमित्र' के सम्पादन काल में पराड़कर जी क्रान्तिकारी दल के साथ थे। 'भारतमित्र' में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के साथ उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता था। इन दोनों तपस्वियों ने मिल कर 'भारतमित्र' के स्तर को बहुत उन्नत किया था। प्रतिदिन यह ४००० की संख्या में छपता था। किन्तु १ जुलाई १९१६ ई० को क्रान्तिकारी-दल में कार्य करने के अपराध में पराड़कर जी को साढ़े तीन वर्ष का कारावास हो गया, और 'भारतमित्र' का सारा दायित्व वाजपेयी जी के कन्धे आ गया।

सन् १९२० ई० में पराड़कर जी जब जेल से मुक्त हुए तो 'भारतमित्र' के तत्कालीन सम्पादक पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे ने उन से 'भारतमित्र' के सम्पादन का अनुरोध किया। किन्तु पराड़कर जी काशी आ गये और ज्ञानमण्डल से सम्बद्ध हो गये

---

१. पराड़कर जी और पत्रकारिता, पृ० ३६।
२. वही, पृ० ३६।
३. वही, पृ० ३८।

जहाँ से 'आज' निकला और पराड़कर जी उस के सम्पादक बने। इस से पराड़कर जी का सम्बन्ध कई बार टूटा, किन्तु जीवन के अन्तिम दिन और कहना चाहिए कि पत्रकार-जीवन का अधिक समय 'आज' में ही बीता। 'संसार' का भी उन्हों ने सम्पादन किया था और 'रणभेरी' का प्रकाशन भी काशी से काशी-क्रान्तिकारी-काल में किया था।

हिन्दी के पुराने पण्डितों से इन का सम्बन्ध था। इतना ही नहीं हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ लेखकों के निर्माण में पराड़कर जी का योग रहा है। हिन्दी के सभी पुराने-नये श्रेष्ठ लेखक पराड़कर जी का सम्मान करते थे। पराड़कर जी केवल हिन्दी के पत्रकार ही नहीं थे बल्कि अहिन्दी भाषी परिवार में जन्म ले उन्हों ने हिन्दी का जो समर्थन किया और हिन्दी भाषा और साहित्य को अपनी अनवरत साधना-द्वारा जो समृद्धि दी उस के लिए हिन्दी-संसार-पर उन का अशेष ऋण है। चूँकि उन का कई देशी भाषाओं पर अधिकार था इस लिए हिन्दी का वे अधिक उपकार कर सके। हिन्दी की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का पक्ष-समर्थन करते हुए पराड़कर जी ने लिखा था कि "यह सारे देश की भाषा है। इस में प्रान्तीय अभिमान बिलकुल नहीं है, जो बात अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। यही नहीं हिन्दी में प्रान्तीय अभाव के साथ-साथ इस में अन्य प्रान्तों के सम्बन्ध में अवज्ञासूचक कोई शब्द भी नहीं है, यह भी इस की राष्ट्रीयता का एक प्रमाण है। इस के लेखकों का लक्ष्य हिन्द होता है कोई प्रान्त विशेष नहीं। हिन्दी, राष्ट्र के लिए, राष्ट्र के मुँह से बोलती है क्यों कि वह राष्ट्र की भाषा है।"[1]

पराड़कर जी ने पत्रकारिता को देश-सेवा के माध्यम के रूप में अपनाया था। देश-सेवा और राष्ट्रोत्थान की भावना पर ही उन की पत्रकारिता का आदर्श आधृत था। ५ सितम्बर, १९२० को, 'आज' की सम्पादकीय टिप्पणी में उन्हों ने लिखा था, "हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सर्व प्रकार से स्वातन्त्र्य उपार्जन है। हम हर बात में स्वतन्त्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य है कि हम अपने देश के गौरव को बढ़ावें, अपने देशवासियों में स्वाभिमान-संचार करें, उन को ऐसा बनावें कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो, संकोच न हो। यह अभिमान स्वतन्त्रता देवी की उपासना करने से मिलता है।"[2] हम जानते हैं कि पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने जो भी कार्य किया उस के मूल में स्वतन्त्रता देवी की उपासना ही थी और उन का प्रत्येक उपक्रम राष्ट्रीय स्वाभिमान को जागृत करने के लिए हुआ था। इतना ही नहीं बल्कि ऊपर की पंक्तियों में जिस लक्ष्य की चर्चा की है उसे उन्हों ने अपने जीवन में प्राप्त कर लिया था।

पराड़कर जी १९२५ में प्रथम सम्पादक सम्मेलन के सभापति थे और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्ताईसवें अधिवेशन (१९३८ ई०) के सभापति चुने गये थे।

---

१. पराड़कर जी और पत्रकारिता, पृ० २२६।

२. वही, पृ० २५८।

सन् १९५३ में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा ने पराड़कर जी को हिन्दी-सेवा के लिए १५०१ रु० का 'महात्मा गान्धी' पुरस्कार दिया था। यह हिन्दी साहित्य-द्वारा पराड़कर जी का सम्मान था जो उन की हिन्दी-सेवा को देखते हुए बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता।

"पूरे पचास वर्ष तक पत्र-जगत् की निरन्तर सेवा करने वाले किसी दूसरे हिन्दी पत्रकार का हमें पता नहीं और इस विषय में पराड़कर जी निस्सन्देह अद्वितीय थे[1]।"

पराड़कर जी की हिन्दीसेवा का मूल्यांकन करते हुए डॉ० सम्पूर्णानन्द ने लिखा है, "दुःखमय कौटुम्बिक जीवन, अच्छिद्र आर्थिक कष्ट, निरन्तर राजनीतिक संघर्ष—इन सब के बीच में रहते हुए पराड़कर जी ने हिन्दी पत्रकारिता को जो अमूल्य निधि प्रदान की उस से हिन्दी-जगत् जल्दी उऋण नहीं हो सकता।"[2]

स्वदेशी आन्दोलन की प्रेरणा और पत्रकार पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे

'सम्पादकीय आत्मपरीक्षण' करते हुए 'विशाल भारत', अक्टूबर १९३० में पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे ने लिखा था कि "पत्र-सम्पादन के कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने का, मेरे लिए प्रत्यक्ष कारण 'स्वदेशी-आन्दोलन' हुआ। सन् १९०६-७ में मैं मराठी समाचार पत्र (विशेषकर 'केसरी', 'काल' और 'भाला') बहुत पढ़ा करता था। समाचारों की अपेक्षा अग्रलेखादि पढ़ने में अधिक रुचि थी, जो विचार पढ़ता था, उन विचारों को प्रकट करने की भी बड़ी प्रबल इच्छा होती थी।...सन् १९०९ में स्व० पितृतुल्य पं० सखाराम गणेश देउस्कर और पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर की तथा अपनी भी इच्छा से मैं कलकत्ता आ कर 'हिन्दी बंगवासी' में काम करने लगा। यथार्थ में यहीं से मेरे सम्पादकीय जीवन का प्रारम्भ होता है।"

गर्दे जी हिन्दी के दूसरे तेजस्वी पत्रकार हैं जो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और जिन्हों ने देश-सेवा के लिए हिन्दी पत्रकारिता को उपयुक्त माध्यम माना था। गर्दे जी का यह निर्णय उन की उदारता के साथ ही हिन्दी की राष्ट्रीय ख्याति को भी द्योतित करता है।

पराड़कर जी की ही तरह पत्रकारिता गर्दे जी का पेशा नहीं बल्कि नियति थी[3]। 'भारतमित्र' में गर्दे जी पराड़कर जी के बाद पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के अनुरोध से गये थे। वाजपेयी जी ने लिखा है कि दिल्ली कांग्रेस में पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे

---

१. पं० बनारसीदास चतुर्वेदी : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ फरवरी, १९५५।
२. पराड़कर जी और पत्रकारिता, पृ० १०।
३. अपनी जीवनी लेखक श्री लक्ष्मीशंकर व्यास से एक दिन पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने कहा था कि, "मैं ने पत्रकारिता अपनायी नहीं, अपितु पत्रकारिता मेरे गले पड़ी।...मैं कलकत्ता में पत्रकार होने नहीं बल्कि देश को शीघ्र स्वतन्त्र देखने और क्रान्तिकारी समितियों के साथ कार्य करने के उद्देश्य से गया था। 'आजकल' मार्च १९५५, पृ०५६।

से मैंने कहा, "मैं 'भारतमित्र' से अलग होना और उसे आप के हाथों सौंपना चाहता हूँ। इस लिए आप आ जायें तो अच्छा हो।" वाजपेयी जी का अनुरोध स्वीकार कर गर्दे जी 'भारतमित्र' में आ गये थे और १९२० में जब पराड़कर जी जेल से लौटे तो गर्दे जी ही 'भारतमित्र' के सम्पादक थे। बड़ी कुशलता से गर्दे जी ने 'भारतमित्र' का सम्पादन किया।

अपने दायित्व के प्रति वह बहुत सचेत रहते थे। "एक दिन गर्दे जी जब 'भारतमित्र' के लिए अग्रलेख लिख रहे थे कि पत्र के व्यवस्थापक स्व० श्री यशोदानन्दन अखौरी आये और कहने लगे, भारतमित्र की बिक्री तो रोज-रोज घट रही है।' गर्दे जी के मुख से इस का उत्तर यह निकला, 'आप को अपने काम से इतना अवकाश मिलता है कि आप यह शिकायत ले कर मेरे पास आये? जाइए, आप अपना काम देखिए और मुझे अपना काम करने दीजिए।'.........दूसरे दिन से सारी स्थिति बदल गयी। रोज-रोज ग्राहक-संख्या बढ़ने लगी, रोज-रोज बिक्री भी बढ़ने लगी। केवल कलकत्ते में ही नहीं, बल्कि कलकत्ते से पेशावर तक 'भारतमित्र' का प्रचार जोर-शोर से बढ़ा। पंजाब के कई स्थानों से यह खबर मिली कि वहाँ के लोगों ने 'भारतमित्र' के लेख छाप-छाप कर बाँटे हैं।[1]"

डॉ० एस० के० वर्मन की ओर से गर्दे जी के सम्पादकत्व में २७ सितम्बर १९२५ ई० को 'श्रीकृष्ण सन्देश' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ था। 'श्रीकृष्ण सन्देश' के पहले अंक में गर्दे जी की एक टिप्पणी सम्पादकीय वक्तव्य के पहले ही प्रकाशित हुई थी। " 'भारतमित्र' और उस के बाद" शीर्षक उक्त टिप्पणी का एक स्थल द्रष्टव्य है—" 'भारतमित्र' हमारा सार्वजनिक जीवन था और जिस का इतिहास अत्यन्त पवित्र और स्वदेश-स्वधर्म की निःस्वार्थ सेवा से परिपूर्ण है। 'भारतमित्र' के हम ऋणी हैं—हम ने 'भारतमित्र' की जो यथाशक्ति सेवा की उसे निश्चय ही उस के पूर्वेतिहास और पुण्यबल का सहारा था।.....'भारतमित्र' से सम्बन्ध-विच्छेद होने के पश्चात् हमारा यह विचार था, जैसा कि हम ने श्रावण कृष्ण दशमी के अपने अन्तिम निवेदन में लिखा है कि 'भारतमित्र' की सेवा में जो कार्य हम कर रहे थे उस कार्य को करने का कोई अन्य साधन निर्माण करें। एक दैनिक अथवा साप्ताहिक पत्र निकालने की प्रवृत्ति हुई थी।.....हम ने देखा कि हमारे और वर्मन जी के विचारों में कोई मतभेद नहीं है। इस लिए पृथक् उद्योग का विचार आगे न बढ़ा, हम ने वर्मन जी के इस उद्योग में ही सम्मिलित होना निश्चय किया। तदनुसार 'वर्मन समाचार' की पूर्व योजना का समावेश कर के 'श्रीकृष्ण सन्देश' का आविर्भाव हुआ है। भगवदधिष्ठान में लोक संग्रह साधन करने के संकल्प का ही यह समारम्भ है। उन्हीं आनन्दघन नन्दनन्दन श्री कृष्णचन्द्र की कृपा और गुरुजनों के आशीर्वाद से यह समारम्भ 'धर्म संस्थापन' रूप 'श्रीकृष्ण सन्देश'

---

१. श्री गौरीशंकर गुप्त : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २० जुलाई, १९५८।

के कार्य का साधन ही यही प्रार्थना है।"

गर्दे जी में राजनीतिक प्रखरता तो थी ही, वे एक आध्यात्मिक पुरुष भी थे। धार्मिक ग्रन्थों का वे निरन्तर अनुशीलन करते रहते थे। श्री अरविन्द और पाण्डीचेरी की श्री माँ के नाम लिखे गये उन के पत्रों की प्रतिलिपियां उन की डायरी में अंकित हैं जिस से उन की आध्यात्मिक रुचि की विज्ञप्ति मिलती है।

गर्दे जी पर तिलक और देउस्कर जी का बहुत अधिक प्रभाव था। उन के सम्पादकीय दृष्टिकोण में यह प्रभाव अत्यन्त मुखर है। गीता उन का आदर्श ग्रन्थ था और हिन्दू संगठन तथा राष्ट्रीय उन्नयन के वे आकांक्षी थे।

हिन्दी गद्यशैली के निर्माण में उन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन की बौद्धिक प्रौढ़ता और चारित्रिक दृढ़ता की हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानों ने प्रशंसा की है।[1] श्री रामनाथ 'सुमन' ने गर्दे जी का नामोल्लेख हिन्दी के विशिष्ट उन्नायकों में सर्वज्ञ के रूप में किया है, "यह हिन्दी के लिए बड़े आश्चर्य और गौरव की बात है कि उस के पुराने पत्रकारों—उन्नायकों में सर्व श्री माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती, बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मणनारायण गर्दे, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, लज्जाराम मेहता-जैसे अहिन्दी भाषी थे। कदाचित् यही उस की राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय भाषा होने का प्रमाण है।"

अपने कृतित्व के प्रति सन्तोष प्रकट करते हुए गर्दे जी ने कहा था, "मुझे यह सोच कर हार्दिक सन्तोष रहा है कि मैं ने अपने विचार को कभी धन पर नहीं बेचा है। आज के युवक पत्रकारों से भी मुझे यही कहना है।[2]"

विश्वमित्र के संचालक-पत्रकार बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल

बाल्यकाल से ही प्रतिकूलता से लड़ते-लड़ते बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल को कठिनाइयों में जीने का सहज अभ्यास हो गया था।

पराड़कर जी के प्रयत्न से उन्हें माहेश्वरी विद्यालय के प्रधानाध्यापक का पद प्राप्त हो गया था। उस समय वे 'कलकत्ता समाचार' में भी काम करते थे। उन दिनों का संस्मरण मूलचन्द्र जी ने इस प्रकार लिखा है, "मैं बहुपरिश्रम और थकावट नाम की चीज से एकदम अनभिज्ञ था। रात को भी 'कलकत्ता समाचार' पहुँच जाता और जब रात के ८-९ बजे फोरमैन महाशय कुँवरजी के पास डरते हुए अग्रलेख माँगने पहुँचते, तो मामूली वार्तालाप में व्यस्त कुँवरजी उनसे पूँछते कि मूलचन्द्रजी हैं या नहीं। यदि उन्हें पता चलता कि मैं मौजूद हूँ, तो रात के ९ बजे मुझसे ही अग्रलेख ले लेने का

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १४९।
२. 'अवन्तिका', वर्ष २, अंक ४ में प्रकाशित श्री गंगानारायण त्रिपाठी 'अनल' की टिप्पणी से उद्धृत।

आदेश दे देते। उसी समय ध्यानपूर्वक समाचारपत्र पढ़ कर अग्रलेख तैयार कर देना पड़ता और रात के ११-१२ बजे घर वापस आता।"

'विश्वमित्र' के संचालन के बारे में उन्हों ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "अधूरी सम्पादकी तो की थी, परन्तु प्रबन्ध या पत्र-संचालन का कोई अनुभव न था। यदि थोड़ा भी अनुभव होता, तो श्रद्धेय वाजपेयी जी के शब्दोंमें कलकत्ता महानगरी में दैनिक 'विश्वमित्र' खोलने का दुस्साहस वास्तव में नहीं कर सकता था। अनुभवशून्यता ही मेरी सच्ची सहायक हुई। दुस्साहस तो बचपन से मेरे जीवन का प्रधान अंग बन चुका है और लाख पश्चात्ताप कर लेने पर भी वह मेरा पीछा नहीं छोड़ता।" यदि दुःसाहस की प्रवृत्ति उन में न होती तो कदाचित् बहुत अल्प पूंजी के बल पर तीन-तीन पत्रों का संचालन वे न कर पाते और न तो पत्र-संचालन से लाखों रुपये ही प्राप्त कर पाते।

बाबू मूलचन्द्र जी का जन्म वैश्य परिवार में हुआ था, इस लिए व्यवसाय उनके संस्कार के अधिक अनुकूल था। व्यवसाय के लिए दुस्साहस करना या खतरा मोल लेना पड़ता है। मूलचन्द्र जी इस में निष्णात थे। कदाचित् यही कारण है कि पत्रकारिता के द्वारा उन्होंने स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध किये। लाखों रुपये कमाये और आज उन के वंशजों की गणना श्रीमन्त वर्ग में होती है।

भारतीय पत्रकारिता के विकास की चर्चा करते हुए पं० कमलापति त्रिपाठी ने लिखा है कि, " 'भारतमित्र' से दैनिकों की जिस परम्परा का आविर्भाव हुआ उसे दैनिकत्व की नयी कल्पना और प्रवृत्ति से ओतप्रोत किया श्री मूलचन्द्र अग्रवाल के 'विश्वमित्र' ने जो सन् १९१६ ईसवी से प्रकाशित होने लगा।...अब तक हमारे दैनिकों का काम केवल इतना था कि अँगरेज़ी भाषा के दैनिकों में प्रकाशित हुए संवादों का अनुवाद करके अपने कलेवर को भर दें।...आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में न कोई अपनी दृष्टि होती थी और न किसी लक्ष्य से उत्प्रेरित होकर के अपना प्रकाशन करते थे। यह स्थिति तब बदली जब 'विश्वमित्र' का प्रकाशन श्री मूलचन्द्र अग्रवाल के प्रयास से होने लगा। श्री मूलचन्द्रजी ने इस पत्र को वास्तविक अर्थ में दैनिक बनाया और उसे अँगरेज़ी पत्रों के परावलम्बन से मुक्त किया। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से तारों को लेना आरम्भ किया, पत्र में नवीनता और मौलिकता भरी वाणिज्य तथा सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से लेखादि प्रकाशित करना आरम्भ किया। 'विश्वमित्र' की विविधता और स्वतन्त्रता वास्तव में हिन्दी दैनिकों के नये स्तर की द्योतक है।"[1]

बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल की हिन्दी पत्रकारिता को बहुत बड़ा अवदान है जिस के लिए वे सदैव स्मरण किये जायेंगे।

---

१. पं० कमलापति त्रिपाठी : पत्र और पत्रकार, पृ० १२१।

'हिन्दी-भूषण' आचार्य शिवपूजन सहाय

पत्रकारिता के माध्यम से साहित्य-सेवा करने वाले हिन्दी लेखकों में आचार्य शिवपूजन सहाय अन्यतम थे। वे एक निर्वैर पुरुष थे उन में ऋजुता ऐसी थी कि विद्यालय में अपने कनिष्ठ को भी विनम्र हो कर प्रणाम करते थे। यह उन को व्यावहारगत विशेषता थी। विचार में वे बड़े कड़े थे। उन्हों ने बड़े साफ़ शब्दों में कहा था, "समाज की नंगी तसवीर खींचने वाले लेखकों की कुत्सित कृति पर फोकस की रोशनी डाल कर दुनिया को दिखाना ही हिन्दी में सबसे बड़ा साहित्यिक आन्दोलन है। ऐसे आन्दोलन में जो सफल हो वही हिन्दी का सबसे बड़ा पत्रकार है।""साहित्य-क्षेत्र में जितने लोग बिना नकेल के ढूंढ़े फिरते हैं, उन्हें पकड़-पकड़ कर नाथना ही सफल और महान् पत्रकार का लक्षण है, और सर्वश्रेष्ठ पत्र भी वही हो सकता है, जो साहित्यक्षेत्र से निरंकुशता को निर्मूल कर डालने का दावा रखता हो।"[1] यही आदर्श था पत्रकार बाबू शिवपूजन सहाय का। और इसी आदर्श को ले कर उन्हों ने हिन्दी की अनेक श्रेष्ठ पत्रिकाओं का सम्पादन किया। नवम्बर, १९३० में उन्हों ने अपने पत्रकार-जीवन के बारे में लिखा था, "पहले-पहल मैं ने लगातार दो साल तक आरा से प्रकाशित एवं सम्प्रति समाविस्य सचित्र मासिक पत्र 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादन किया था। उस के बाद मैं कुछ दिन कलकतिया 'मतवाला' के सम्पादकीय विभाग में रहा और कुछ दिन लखनवी 'माधुरी' के, तथा फिर दुबारा कुछ दिन 'मतवाला' के भी। उन दिनों, कलकत्ता में रहते हुए, मैं ने छः छः महीनों तक 'आदर्श' और 'उपन्यास तरंग' नामक मासिक पत्रों का सम्पादन किया था। अन्त में एक साल तक अस्तंगत 'समन्वय' के सम्पादकीय विभाग में खट कर मैं काशी चला आया, जहां लगभग चार-पाँच वर्ष तक लगातार 'हिन्दी-पुस्तक-भंडार' (लहेरिया सराय) का साहित्यिक कार्य सम्पादन करता रहा हूं, बल्कि पांचवें साल में सात महीनों तक मुझे 'बालक' सम्पादन का सौभाग्य भी प्राप्त रहा है। इस प्रकार 'सात घाट का पानी' पीने के बाद आज मैं 'गंगा' के घाट पर पहुँचा हूं।"[2] कलकत्ते के 'मौजी' और 'गोलमाल' का सम्पादन भी शिवपूजन जी ने ही किया था।

'मतवाला,' जो एक युग का प्रतीक था, के प्रमुख सम्पादक बाबू शिवपूजन सहाय ही थे। कलकत्ता-प्रवास के संस्मरण लिखते हुए उन्हों ने इस की चर्चा इस प्रकार की है, आरम्भ में निर्णय हुआ कि मुखपृष्ठ के लिए निराला जी प्रति सप्ताह अपनी कविता देंगे,—मैं अग्रलेख (सम्पादकीय) और 'चलती चक्की' नामक स्तम्भ के लिए विनोदपूर्ण टिप्पणियां भी लिखा करूंगा, मुन्शी जी 'मतवाला की बहक' नामक स्तम्भ के लिए व्यंग्यात्मक टिप्पणियां लिखा करेंगे, समालोचनाएँ भी निराला जी ही

---

१. धर्मयुग, २४ फ़रवरी, १९६३ ई०।

२. शिवपूजन रचनावली, खंड ४, पृ०३८१-८२।

लिखेंगे, अन्य सारी सामग्री का सम्पादन और पूरे पत्र का प्रूफसंशोधन मुझे करना पड़ेगा, सम्पादक की जगह सेठजी का नाम छपेगा। इसी निर्णय के अनुसार सन् १९२३ ईस्वी सावन में 'मतवाला' निकला।....'वहक' का बोझ भी मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मुन्शी जी भी कभी-कभी यथावकाश कुछ लिख दिया करते। वे और सेठ जी जब अखबार पढ़ने का अवसर पाते तब उस में निशान लगा कर मेरे पास उस पर टिप्पणी जड़ने के लिए भेज देते।"[1] इस प्रकार बाबू शिवपूजन सहाय पर 'मतवाला' के सम्पादन का अधिक दायित्व था। मतवाला के प्रसंग में इन की सम्पादन-कुशलता की चर्चा की गयी है। मतवाला, वर्ष २, अंक १ की 'आत्मकथा' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में हिन्दी-भूषण बाबू शिवपूजन सहाय की चर्चा इस प्रकार है, "यहाँ हम उन सज्जनों का आभार अंगीकार करना भी अपना कर्तव्य समझते हैं जिन के सहृदयतापूर्ण सहयोग से हमारी यात्रा सानन्द सम्पन्न हुई है।....उन में सर्वप्रथम उल्लेख योग्य हैं हिन्दी-भूषण बाबू शिवपूजन सहाय। ये वास्तव में हिन्दी साहित्य के भूषण हैं। उन्हों ने इस जाँच को सफल बनाने में जिस अथक परिश्रम और विचक्षणता का परिचय दिया है उसे दृष्टि में रखते हुए हम यह बिना किसी प्रकार की अत्युक्ति के कह सकते हैं कि इनका सहयोग प्राप्त न हुआ होता तो यह जाँच हजार चेष्टा करने पर भी अधूरी ही रहती।"

आचार्य शिवपूजन सहाय कोरे पत्रकार ही नहीं श्रेष्ठ साहित्यकार भी थे और साहित्यकारों के निर्माता भी। कहें तो बिहार के वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। उन्हों ने हिन्दी की एक उग्र पीढ़ी का साहित्यिक संस्कार किया था।

धर्मभीरु होते हुए भी वे असहिष्णु नहीं थे, इसी लिए सम्मानित थे। हिन्दी के नये-पुराने सभी लेखकों का आदर उन्हें प्राप्त था। पं० रामगोविन्द त्रिवेदी के शब्दों में "शिवजी मज़ाक़ पसन्द, हास्यप्रिय और प्रसन्नवदन पुरुष थे। उन्मुक्त हास्य करते करते कमल की तरह खिल उठते थे। कभी-कभी तो हँसते-हँसते अपने गुरु ईश्वरी-प्रसाद शर्मा के समान लोट-पोट हो जाते थे। उन की दृष्टि विशद थी, हृदय विशाल था" दरियादिल ऐसे थे कि अपने मतवाला-मण्डल के साथी स्व० मुन्शी नवजादिक लाल की कन्याओं के विवाह के पीछे ऋणग्रस्त हो गये थे। निर्मल हृदय इतने थे कि किसी से भी बातें करते-करते उत्कट उत्कण्ठा के साथ बच्चों की तरह प्रश्न-पर-प्रश्न करने लगते थे। उन में शीलता और शालीनता इतनी थी कि अपने सत्सिद्धान्त का खण्डन सुन कर भी उत्तर तक नहीं देते थे—केवल खिन्न, विषण्ण और अवसन्न हो चुप्पी मार बैठते थे। वे किसी भी प्राणी को स्वप्न में भी दुःख देना नहीं चाहते थे।"

वे हिन्दी के अप्रतिम उन्नायक थे। जीवन-भर सम्पादन करते रहने पर भी उन-की सृजन-शक्ति अकुण्ठित थी। हिन्दी से उन्हें अनन्य प्रेम था और इस की उन्नत-

---

१. नई धारा, जून, १९५२, पृ०७२।

सम्भावना के प्रति वे पूर्ण आश्वस्त थे। वे हिन्दी को 'विश्व-व्यापिनी-भाषा' देखना चाहते थे। उन का विश्वास था कि संसार के सभी प्रख्यात विश्वविद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा दी जायेगी और एक दिन राष्ट्रसंघ की भी भाषा हिन्दी हो कर रहेगी। वे खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, बोलते-बतराते, सदा-सर्वदा हिन्दी के उन्नयन और विकास की चिन्ता किया करते थे।

उन्हें हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों से कोई शिकायत नहीं थी। नाना प्रकार की झंझटों से लड़ते हुए भी वे मधुर और उदार थे। उन की मृत्यु का समाचार सुन कर हिन्दी के श्रेष्ठ आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा था, "आचार्य शिवपूजन सहाय अत्यन्त निष्ठावान, सहृदय और निरन्तर कर्म करते रहने में विश्वास करने वाले महान् साहित्यकार थे। कठिन परिस्थितियों में भी उन्होंने ऊँचे आदर्शों और साहित्यकार के गौरवपूर्ण आत्माभिमान को कभी झुकने नहीं दिया। उन की साहित्य-सेवाएँ बहुमूल्य थीं। वे नम्रता, शालीनता और कर्मठता के मूर्तिमान रूप थे।"

गान्धी युग के मूर्धन्य हिन्दी पत्रकार आचार्य शिवपूजन सहाय सच्चे अर्थों में हिन्दी-भूषण थे जिन के साहित्यिक कृतित्व का स्वतन्त्र अनुशीलन अपेक्षित है।

हिन्दी के विश्रुत पत्रकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

"उन्मुक्त कण्ठ ही हमारी सब से मूल्यवान सम्पत्ति है। स्वयं अपने लिए और लोकहित के लिए उस का उपयोग हो, बस साहित्यिक का यही युगधर्म है।" ये शब्द हैं हिन्दी के विश्रुत पत्रकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के जो उन के दृष्टिकोण को घोषित करते हैं। जिस सम्पत्ति की बात चतुर्वेदी जी ने कही है उस की रक्षा के लिए उन्हें भारी से भारी खतरा मोल लेना पड़ा है।

चतुर्वेदी जी की निष्ठा और निर्भीकता को लक्ष्य कर एक व्यक्तिगत वार्ता में स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय के सुयोग्य पुत्र स्व० केदारनाथ चट्टोपाध्याय ने मुझ से कहा था कि पण्डित जी (यानी चतुर्वेदी जी)-जैसे तेजस्वी और निर्भीक पत्रकार और मेरे पिता श्री-जैसे उदार पत्र-संचालकों की पीढ़ी अब शेष हो गयी। इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक प्रसंग स्मरण हो आया। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय की राजनीतिक दृष्टि की आलोचना उन्हीं के पत्र 'विशाल भारत' में की थी। रामानन्द बाबू ने उस का उत्तर दिया था जो 'विशाल भारत' में ही छपा था। इस की चर्चा करते हुए चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि "बड़े बाबू का वह करारा उत्तर 'विशाल भारत' में छपा था और अपनी धृष्टता के लिए मुझे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा गुरुवर पण्डित पद्मसिंह शर्मा से खासी फटकार मिली थी। द्विवेदी जी ने कहा था, 'रामानन्द बाबू तो हमारे भी गुरु हैं। सम्पादकीय टिप्पणियां लिखना हम ने भी उन्हीं से सीखा है। चौबे जी, तुम्हें बहुत सोच-समझ कर और सावधानी से उन के

बारे में लिखना चाहिए था।' पूज्य पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा ने भी इसी आशय का एक पत्र लिखा था।

स्वयं बड़े बाबू ने, जो सम्पादकीय स्वाधीनता के प्रबल पक्षपाती थे, कुछ भी बुरा न माना। जब मैंने उन से पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा की चिट्ठी का जिक्र किया तो उन्हों ने सिर्फ़ इतना ही कहा, 'अपनी स्वाधीनता के लिए मैं ने कायस्थ पाठशाला के प्रिन्सिपल का पद छोड़ दिया था, भला मैं किसी की स्वाधीनता का अपहरण कैसे कर सकता हूँ?' 'विशाल भारत' के सम्पादन में आप को उतनी ही स्वाधीनता है, जितना मुझे 'मॉडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' में।[1]" यह स्वतन्त्रता-प्रेम आज दुर्लभ है।

'विशाल भारत' के द्वारा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी पत्रकारिता का स्तर उन्नत किया। इस पत्रिका में विविध विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे और हिन्दी-जगत् में इस को बड़ी चर्चा और बड़ा सम्मान था। इस पत्रिका का वैशिष्ट्य-विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठों में की गयी है।

चतुर्वेदी जी ने इस पत्र में पत्रकारिता के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की थी। ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय का हिन्दी के पुराने पत्रों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक लेख इसी में प्रकाशित हुआ था। कहना न होगा कि इस लेख ने हिन्दी-पत्रकारिता के एक नये अध्याय का निर्माण किया। इसी प्रकार पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० विष्णुदत्त शुक्ल और गर्दे जी के अनुभव-संस्मरण और लेख प्रकाशित हुए थे जिन के प्रेरक 'विशाल-भारत'-सम्पादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ही थे।

हिन्दी के अधिकांश श्रेष्ठ लेखकों का सहयोग उसे प्राप्त था। राजनीतिक और सामाजिक लेख भी उस में प्रकाशित होते थे। इन सब के मूल में सम्पादक का व्यक्तित्व ही प्रधान था। चतुर्वेदी जी का सम्बन्ध देश के अधिकांश महापुरुषों से था और इन सम्बन्धों का उन्हों ने 'विशाल भारत' के लिए लाभ उठाया। चतुर्वेदी जी के सम्पादन-काल में 'विशाल भारत' हिन्दी की दो-चार विशिष्ट पत्रिकाओं में था।

पत्रकारिता ही चतुर्वेदी जी का धर्म रहा। यद्यपि देश-सेवा के लिए उन्हों ने अन्य सम्भव मार्गों का भी अवलम्बन किया, किन्तु मूलतः वे पत्रकार ही रहे। सम्प्रति चतुर्वेदी जी ने अस्वास्थ्य और वार्धक्य के कारण अवकाश ले लिया है।

'नया समाज' के नवम्बर, १९५४ के अंक में चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि "दोनों अभिलाषाओं की पूर्ति साथ-साथ नहीं हो सकती—बैंक में हमारे नाम मोटी रक़म भी जमा हो जाये और हमारा कण्ठावरोध भी न हो। कबीर को पत्रकारिता का कुछ अनुभव नहीं था, पर उन्हों ने एक बात बड़े पते की कही, जो पत्रकारों के लिए आज भी बड़े काम की है—'जो खायेगा चूपड़ी, सो बहुत करेगा पाप।' आज के युग में और आगे चल कर भी, जब तक कि वर्गहीन समाज क़ायम नहीं हो जाता

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी : संस्मरण, पृ० ६१।

और शासन-मात्र सूखी पत्तियों की तरह झड़कर नष्ट नहीं हो जाते, सजीव साहित्यिकों का जीवन संघर्षमय ही रहेगा। यह ऐसा युद्ध है, जिसमें विश्राम नहीं। अन्यायों, अत्याचारों, और अनाचारों के विरुद्ध डटकर संग्राम करना (चाहे वे किसी की ओर से भी क्यों न किये गये हों—सरकार की ओर से या मूर्ख जनता की ओर से) तो उस की जन्मपत्री में लिखा गया है।" इसी नियति को चतुर्वेदी जी जीवन-भर झेलते रहे हैं।

ऊपर कलकत्ते के जिन हिन्दी पत्रकारों की चर्चा की गयी है वे विशिष्ट पत्रकार हैं जिन्हों ने हिन्दी गद्यशैली का निर्माण किया और उन्हीं में से एक को लक्ष्य कर श्रीराम शर्मा ने लिखा था कि "....वे अपने युग के सफल और युग-निर्माता पत्रकार थे। उन की पत्रकारिता में चार चांद इसलिए और लग गये थे कि वे उस समय की उग्र राजनीति के पोषक थे। वे कोरे क़लम-तोड़ पत्रकार न थे जो टकों की खातिर अपने विचारों को बेचते हैं। जीवन का मूल्यांकन गुप्त जी रुपये-पैसे से न करते थे वरन् करते थे चरित्र गठन, कर्तव्य परायणता, सचाई और सक्रिय ईमानदारी से। उन की लेखनी-द्वारा देश की आत्मा की अन्तर्ध्वनि—आज़ादी की पुकार—लिपिबद्ध होती थी। अहंकार, ढोंग और ग़ुलामी के गढ़ों पर उन के लेख गोले उगला करते थे।" यह बात उपरोक्त प्रायः सभी पत्रकारों के बारे में कही जा सकती है।

■

साम्प्रतिक पत्रकारिता

आदर्शों में विघटन और मनोबल का ह्रास

साम्प्रतिक परिवेश

जातीय स्वाधीनता आधुनिक भारत की सब से बड़ी उपलब्धि है। यह एक आधार है जिस से हमारी राष्ट्रीय इकाई को अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर नयी प्रतिष्ठा मिली है।

विज्ञान ने भूगोल को छोटा कर दिया है और हम एक-दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं। नये मूल्यों की नये सन्दर्भों में प्रतिष्ठा हो रही है। सजातीय-विजातीय विचार से विरत हो कर हम उदारता की उस भूमिका की ओर उन्मुख हैं जो शुद्ध मानवीय भूमिका है और जहाँ पहुँचने के लिए साम्प्रदायिक कलुष-प्रक्षालन एक अनिवार्य शर्त है। समस्त मानसिक सीमाओं और संकोचों को तोड़ कर शुद्ध मानवीय धरातल को पाने की हमारी अभीप्सा आज प्रबल हो गयी है। और विडम्बना है कि इस महती अभीप्सा के बावजूद हम भीतर से टूटते-बिखरते और छोटे होते जा रहे हैं। मानव-मूल्यों में विघटन शुरू हो गया है जो नये मूल्यों के आविर्भाव की शुभ सूचना देने के साथ ही हमारी सनातन उपलब्धियों पर भी एक प्रश्नचिह्न लगाता है।

स्वाधीनता मिलते ही हमारा संघर्ष ठण्डा हो गया और हमारे सामने एक गतिरोध आ गया। हमारा आदर्श बदल गया और राष्ट्र की ओर से एक अंश तक उदासीन हो कर हम निजी अस्तित्व की चिन्ता में डूब गये। दीर्घ पराधीनता से उबरने के बाद राष्ट्र-निर्माण की जिस आकुल आकांक्षा और कर्मठता की अपेक्षा थी वह दिखाई न पड़ी और हम इस तरह आश्वस्त हो गये जैसे हमारा दायित्व शेष हो गया हो।

इस स्वातन्त्र्योत्तर जातीय परिवेश ने भारतीय पत्रकारिता को भी प्रभावित किया और पराधीनता-काल की पत्रकारिता का आदर्श टूट गया, सारी तेजस्विता धूमिल हो गयी। इस के लक्षण कुछ और पहले ही दिखाई पड़े थे जिन्हें लक्ष्य कर श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने कहा था : "जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना काम बना रखा है उन में बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का अवसर देते हों कि हमें सचाई की भी लाज रखनी चाहिए, केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन-भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं। इस देश में भी दुर्भाग्य से

समाचारपत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है।........यहाँ भी अब बहुत से समाचारपत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उन के प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं।....इस देश में भी समाचारपत्रों का आधार धन हो रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उन में काम करने वाले बहुत से पत्रकार भी धन की ही अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहाँ पूरा अन्धकार नहीं हुआ है किन्तु लक्षण वैसे ही हैं।........व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफ़तों को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जायगा केवल खिंची हुई लकीर पर चलना।" कहना न होगा कि वर्तमान पत्रकारिता आदर्श-च्युत हो कर एक खिंची हुई लकीर पर मशीन की तरह चल रही है। स्वतन्त्रता-दिवस (१५ अगस्त १९४७) को पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने 'आज' के अग्रलेख के माध्यम से सचेत किया था कि "स्वतन्त्र होने के साथ-साथ हमारे कन्धों पर जितना भारी उत्तरदायित्व आ गया है उसे हमें न भूलना चाहिए। हमारी लेश-मात्र की असावधानी का परिणाम घातक हो सकता है। हम ज़रा चूके नहीं कि सर्वनाश हमारे सम्मुख उपस्थित है।" क्रान्तद्रष्टा पत्रकार की बात पर ध्यान न दिया गया और हम चूक गये। हमारी सब से बड़ी चूक यह है कि हम ने उस अग्नि-तत्त्व को छोड़ दिया जिस के बल पर हम ने स्वतन्त्रता की लड़ाई जीती थी। हम जानते हैं, इसी चूक के चलते आज कई संकट उत्पन्न हो गये हैं।

पूर्ववर्ती जातीय परिवेश इस प्रकार बदला है कि बिलकुल पहचान में ही नहीं आता। देशी सरकार को लक्ष्य कर पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है: "देश में स्वराज्य तो हो गया परन्तु स्वराज्य सरकार ब्रिटिश सरकार की उत्तराधिकारिणी ही नहीं उस की अनुगामिनी भी बन गयी। जिस रौलट ऐक्ट के विरुद्ध महात्मा गान्धी ने सत्याग्रह आरम्भ किया था, उसी को 'डिटेंशन ऐक्ट नाम से इस ने पास कर दिया। शान्तिकाल में स्वराज्य सरकार-द्वारा इस तरह का क़ानून बनाना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की विडम्बना नहीं तो क्या है? इसी प्रकार नया प्रेस ऐक्ट स्वराज्य सरकार ने भारत भर के पत्रों के एक स्वर से विरोध की उपेक्षा कर पास ही नहीं किया, अब आर्डिनेन्स या अध्यादेश-द्वारा उस का कार्यकाल बढ़ाते हुए उस में संशोधन भी कर डाला। जिन्हों ने वर्तमान शासकों का ब्रिटिश सरकार-द्वारा बनाये ऐसे क़ानून के विरोध का रूप देखा होगा, वे इनकी इस कलाबाज़ी को क्या समझते होंगे? अच्छा होता कि ये स्पष्ट कह देते की शासन का ढंग यही है। उस समय का आन्दोलन विदेशियों के विरुद्ध था और सब से बड़ी बात है कि तब हमें शासन का अनुभव न था। इस लिए तब जिन बातों का विरोध करते थे, आज उन्हीं का समर्थन और अनुकरण करते हैं। यदि समाचारपत्र स्वतन्त्रता के आन्दोलन को आगे न बढ़ाते तो क्या इतनी जल्दी शासन की बागडोर इन नेताओं के

हाथ आती और इन की कथनी और करनी की यह आलोचना करनी पड़ती ? एक दूसरे प्रसंग में स्वर्गीय बाबू विपिनचन्द्र पाल की यह बात घटती है कि 'हम जब नदी पार कर लेते हैं, तब माझी को साला कहते हैं'।' यह एक दारुण स्थिति है जिसे राष्ट्र झेल रहा है। "राजनीति के क्षेत्रों में जिस प्रकार देश-सेवकों ने अपने त्याग और कष्ट सहन का भुगतान पदों और सत्ता-केन्द्रों के क्षेत्र में कर लिया, वही बात पत्रकारिता के क्षेत्र में हुई। सरकारी विज्ञापनों की गाढ़ी कमाई, धारासभाओं और पार्लमेण्ट की सीटों तथा विदेश-यात्रा के डेलीगेशनों की चकाचौंध ने पत्रकारिता के जगत् पर भी प्रभाव डाला। फलस्वरूप जो बात राजनीतिक क्षेत्र में हुई, वह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी हुई—यानी नैतिक मूल्यों का ह्रास, आदर्शवादिता का क्षय।" आज की पत्रकारिता की यही स्थिति है।

सरकारी सहायता : देशी सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति

पत्रकारिता को, या कहना चाहिए, पत्रों को आर्थिक अवलम्बन के लिए विज्ञापन की बड़ी अपेक्षा रहती है। इस के अभाव में आर्थिक भित्ति निश्चित रूप से कमज़ोर हो जाती है और आर्थिक बल टूट जाने पर पत्रों का प्रकाशन अवरुद्ध हो जाता है। हिन्दी के पहले पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' का प्रकाशन आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही बन्द हो गया था। हिन्दी के आदि पत्रकार पं० युगुलकिशोर शुक्ल को सरकारी आर्थिक सहायता की बड़ी आशा थी जिस से उत्साहित हो कर उन्होंने 'उदन्तमार्तण्ड' का प्रकाशन शुरू किया था। स्मरणीय है कि उस समय अन्य पत्रों को सरकारी साहाय्य उपलब्ध था। मिशनरी पत्रों को सरकारी सहायता सहज ही प्राप्त थी। 'उदन्तमार्तण्ड' के अन्तिम अंक में बड़ी व्यथापूर्वक सम्पादक ने लिखा था : "सरकार अँगरेज़ कम्पनी महाप्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर पड़ी वैसे पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मेटे।" इस प्रकार हिन्दी पत्रकारिता के प्रति आदिकाल से ही सरकारी नीति पक्षपातपूर्ण बनी रही। हिन्दी पत्रकारिता की यही 'करम की रेख' या नियति है जो स्वाधीन भारत में भी एक अशुभ ग्रह के रूप में उस के साथ लगी हुई है। यह एक विचित्र राजनीतिक विडम्बना है कि पराधीनता-काल में जिस अनौचित्य का हम खुल कर विरोध करते थे, आज उसी पर हमारी नीति खड़ी है। विदेशी सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति से स्वदेशी सरकार की नीति बहुत अंशों में प्रभावित है। देशी सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति का एक प्रत्यक्ष उदाहरण इस प्रकार है : भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मन्त्रालय की १९६३-६४ की रिपोर्ट के अनुसार १२ महीनों में, जनवरी से दिसम्बर ६३ की अवधि में, कुल ५६ लाख ८२ हज़ार रुपये का प्रदर्शन और वर्गीकृत विज्ञापन दिया गया। इस में से ३१ लाख ८२ हज़ार का विज्ञापन मिला अँगरेज़ी के पत्रों को और २५ लाख का मिला हिन्दुस्तानी भाषाओं के पत्रों को। हिन्दी के पत्रों

को ८ लाख २७ हज़ार का विज्ञापन मिला। यह घृणित, अपमानजनक और शर्मनाक स्थिति विज्ञापन की दर के मामले में और उभर कर आती है। अँगरेज़ी पत्रों के कुल ६ लाख १ हज़ार कॉलम सेण्टीमीटर का दाम दिया गया ३१ लाख ८२ हज़ार यानी औसत ५ रुपये २९ पैसे प्रति कालम सेण्टीमीटर, जब कि ग़ैर अँगरेज़ी बेचारी भारतीय भाषाओं के कुल ११ लाख २९ हज़ार कॉलम सेण्टीमीटर का दाम दिया गया २५ लाख, यानी औसत २ रुपये २१ पैसे प्रति कॉलम सेण्टीमीटर।

स्वायत्त संस्थाओं के विज्ञापन के बारे में तो स्थिति और भी दयनीय है। उपर्युक्त रिपोर्ट के अनुसार १२ महीनों में उसी अवधि में कुल १० लाख ५८ हज़ार रुपये का प्रदर्शन और वर्गीकृत विज्ञापन १ लाख ७१ हज़ार कॉलम सेण्टीमीटर में दिया गया, इस में अँगरेज़ी के हिस्से में आये ८ लाख ४५ हज़ार रुपये और भारतीय भाषाओं के पल्ले पड़े सिर्फ़ २ लाख १३ हज़ार रुपये। अँगरेज़ी के पत्रों के कुल १ लाख १४ हज़ार कॉलम सेण्टीमीटर इस्तेमाल किये गये—यानी ७ रुपये ४१ पैसे प्रति कॉलम सेण्टीमीटर, जब कि भारतीय भाषाओं के प्रति कॉलम सेण्टीमीटर का दाम हुआ ३ रुपये ७३ पैसे। यह है देशी सरकार का न्याय! और इसी के आधार पर नव राष्ट्र के निर्माण की नयी-नयी योजनाएँ बन रही हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि जैसे समष्टि की बात करते हुए हम व्यष्टि-गुहा में सिमटते और डूबते जा रहे हैं, वैसे ही विकास योजनाओं की क्रियान्विति के बावजूद हमारा अपेक्षित विकास नहीं हो रहा है क्यों कि हम उस के लिए उचित और अपेक्षित प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। और यह इस लिए नहीं हो रहा है कि हमारे राष्ट्रीय संस्कार में ही कहीं दोष है जिस का सही निदान नहीं हो रहा है या सही निदान हो कर भी अपेक्षित उपचार नहीं हो रहा है। विडम्बना है कि स्वदेशी का आग्रह आज साम्प्रदायिकता का पर्याय माना जाने लगा है।

औद्योगिक प्रगति : उपलब्धि और अवरोध

औद्योगिक विकास के साथ मुद्रण-कला पर्याप्त विकसित हुई है जिस से पत्रों का संघटन-पक्ष पुष्ट हुआ है और रूप-विन्यास में सुरुचि दिखाई पड़ने लगी है। विविधता आयी है, किन्तु निष्ठा और लगन का ह्रास हुआ है। इस प्रकार पर्याप्त सँवर कर भी आज के पत्रों की शक्ति जाती रही। पत्र महत् उद्देश्य का साधन न बन कर व्यवसाय का माध्यम बन गया। आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा है कि "... जब जनता साक्षर हो जाती है तो समाज में कुछ ऐसे समाचारपत्रों का भी आविर्भाव होता है जिनका उद्देश्य जनता को शिक्षित करना नहीं बल्कि अपनी अर्थ-सिद्धि होता है। वे प्रेम, हत्या तथा अन्य अपराधों के उत्तेजनापूर्ण और सनसनीदार समाचार प्रकाशित करते हैं और इस प्रकार मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को जगा कर अपना घृणित स्वार्थ-साधन करते हैं। ऐसे पत्रों से भयंकर प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। इससे

मानव-प्रकृति का पतन होता है न कि उत्थान और उदात्तीकरण। जनशिक्षा में उन्हें कोई रुचि नहीं होती और न उनका यह उद्देश्य ही होता है। वे मानव-प्रकृति की कमज़ोरियों से अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहते हैं।''''यहाँ के उद्योग-पतियों की ओर से इधर बहुत से समाचारपत्र प्रकाशित हुए हैं और राजनीतिक पार्टियों के लिए अपने पत्रों का संचालन दिन-प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। विज्ञापनदाताओं में भी वर्ग-चेतना बढ़ती जा रही है और अब वे वामपक्षी दलों को विज्ञापन देना पसन्द नहीं करते।" प्रजातन्त्र के उन्नयन में यह एक बड़ा अवरोध है। उद्योगपतियों की आर्थिक शक्ति अनेक स्वतन्त्र पत्रों का गला घोंट देती है। उन के पत्र देश-सेवा के लिए नहीं बल्कि स्वार्थ-साधन के लिए हैं। और चूंकि इन के पत्रों के सम्पादक वेतन-भोगी नौकर हैं, इस लिए चाह कर भी वे सत्य का पक्ष-समर्थन और अनौचित्य का विरोध नहीं कर सकते। यह उन की लाचारी है और यह वर्तमान पत्रकारिता का एक बहुत बड़ा प्रश्न है। इस प्रश्न की ओर संकेत करते हुए स्व० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा था कि पूंजीपतियों के हाथों में पत्रों के चले जाने से पत्रों की स्पष्टवादिता और सत्यनिष्ठा कुण्ठित हो गयी है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि "अपने मालिक का हुक्म बजानेवाले पत्रकारों को हम सजीव नहीं मानते।" वर्तमान पत्रकारों की यही नियति है कि वे अपने मालिकों का हुक्म बजायें। औद्योगिक युग का कदाचित् यह सब से बड़ा अभिशाप है।

वर्तमान पत्रकारिता और वाक्-स्वातन्त्र्य

ऊपर जिन दो वर्तमान शक्तियों की हम ने चर्चा की है उन से पत्रों की स्वतन्त्रता में बड़ी बाधा पड़ी है। सरकारी सहायता—विज्ञापनादि—लेनी है तो सरकार को प्रीत रखना आवश्यक है। रोटी की समस्या का समाधान पाना है तो व्यवसायी पत्रों की पूर्वनिर्धारित नीति से समझौता करना एक विवशता है। और इस विवशता के नीचे आज पत्रकार की आवाज़ दबती जा रही है। हिन्दी के विश्रुत पत्रकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि "कण्ठ की स्वाधीनता पत्रकार के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सती के लिए सतीत्व जितना आवश्यक है उससे कहीं अधिक आवश्यक है पत्रकार के लिए उन्मुक्त कण्ठ। और जनमत के हामी देशों में तो स्वाधीन पत्रकारों की अत्यन्त आवश्यकता है।" भारत जैसे प्रजातन्त्र में स्वाधीन पत्रकारों का अभाव सामान्य बात नहीं है। असल में "हमारी समस्या यह है कि हम किस प्रकार प्रेस की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखते हुए समाचारपत्रों का सदुपयोग जनता की शिक्षा के लिए कर सकते हैं। हम को प्रेस को जनता की शिक्षा के लिए उत्तरदायी बनाना है और साथ-साथ प्रेस की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करनी है। हम को मनुष्य के उत्तम 'स्व' को जगाना है और जो व्यापारी पत्र मनुष्य की अधम मनोवृत्ति को जागरूक करते हैं और उस की कुरुचि को व्यापार के लाभ के

लिए उत्तेजित करते हैं उन को हमें रोकना है। हम को इस की भी व्यवस्था करनी है कि जनता के सामने उभय पक्ष उपस्थित किये जा सकें जिस में वह विचार कर उचित निर्णय पर पहुँच सके, ऐसा नहीं कि केवल पूँजीपतियों का ही पक्ष उस के सम्मुख हो।" यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम अपनी स्वतन्त्रता के प्रति सचेत रहें और उसे क़ायम रख सकें। किन्तु वर्तमान पत्रकार अपने मालिक के प्रति प्रतिश्रुत हैं, इस लिए स्वाभाविक है कि उन्हीं के इंगित पर वे चलें। उन्हें अपने महत् दायित्व का बोध नहीं रह गया है और सुभीतावाद के साथ उन्हों ने गठबन्धन कर लिया है। इस लिए अपने मार्ग के ख़तरों का उन्हें ज्ञान नहीं होता और कभी जानबूझ कर भी उस ओर से उन्हें उदासीन रहना पड़ता है क्यों कि उन के निराकरण के लिए जिस चरित्र-बल की आवश्यकता है उस का उन में अभाव है। भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ के पाँचवें वार्षिक अधिवेशन का उद्‌घाटन करते हुए श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने पत्रों की स्वतन्त्रता के महत्व की चर्चा की थी: "भारत के समाचारपत्र सरकारी प्रवक्ता नहीं बल्कि जनता की आवाज़ हैं। इस प्रकार यहाँ के पत्रकार गणतन्त्रात्मक राज्य की नैतिकता के संरक्षक हैं। समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता से ही विभिन्न प्रकार के विचारों का समुचित अभिव्यक्तीकरण हो सकता है और राज्य की असीमित शक्तियों के मुक़ाबले व्यक्ति की रक्षा हो सकती है।" इसी भाषण में श्री मुन्शी ने सम्भावित ख़तरे के प्रति पत्रकारों को सचेत किया था: "जहाँ पत्रकारों को अपने पेशे का स्तर ऊँचा बनाये रखना है, वहीं उन्हें उन ख़तरों का भी ध्यान रखना है जो उनकी स्वतन्त्रता के लिए घातक हैं। यह ख़तरा दो तरफ़ से है। एक तो उन लोगों से जो प्रत्यक्ष कार्रवाई के ज़रिये संविधान की अवहेलना करना चाहते हैं और दूसरे उन लोगों से जो जनता की भावनाएँ उभाड़ कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। यदि पत्रकारों को अपने पेशे के उच्च आदर्शों के प्रति वफ़ादार रहना है, तो उन्हें उपर्युक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना होगा। इन में से दूसरा ख़तरा सर्वाधिक अहितकर है।"

पत्रकार का दायित्व : वर्तमान स्थिति

उपर्युक्त दो ख़तरों के अलावा एक तीसरा भी ख़तरा है जो इन दोनों की अपेक्षा कहीं बड़ा है। यह ख़तरा है पत्रकारों की दायित्वहीनता का। यह एक नया ख़तरा है। पुराने समय में भी कम ख़तरे न थे। "उन दिनों पत्रकारिता में ख़तरे ही ख़तरे थे। विदेशी सरकार तेजस्वी पत्रों को ज़मानत की मोटी रक़में जमा करने का हुक्म देकर बन्द करा देती थी। तेजस्वी पत्रकारों के लिए जेल का दरवाज़ा प्रायः खुला रहता था। इसलिए जिन लोगों में उज्ज्वल देशभक्ति होती, या जिनके हृदय में इन्सानियत के लिए कलमसाहट होती वे ही पत्रकारिता के पेशे की ओर बढ़ते।" इतना ही नहीं, "उस समय के पत्रों के प्रतिज्ञावाक्य भी विचित्र हैं। 'सम्पादक'

मानो ललकार कर साहित्य क्षेत्र में उतरते थे। और अपने-अपने काम में प्राणों की बाज़ी लगा देते थे।''''राजनीतिक वातावरण में जो रूढ़िप्रियता, अन्य-परम्परा-प्रियता, शासकों की ख़ुशामद और अपनी सभ्यता के प्रति हीन भावना फैली हुई थी, उसे देखते हुए हिन्दी पत्रकारों की निर्भीक लेखन-शैली और भी चमक उठती है। उनमें पर्याप्त साहस था और उस साहस का उपयोग वे बेपर की बात करने में न करते थे वरन् दिन-पर-दिन की देश तथा विदेश सम्बन्धी समस्याओं के विवेचन में उसका उपयोग करते थे।" पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे ने लिखा है कि "अनेक कठिनाइयों में भी हमें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करनेवाली एक ही चीज़ थी—वह थी हमारी स्पिरिट। हमारे समय के अधिकांश हिन्दी पत्रकार इस क्षेत्र में केवल इसलिए आये कि वे देश की कुछ सेवा करना चाहते थे।" "कोई अच्छी जीविका मिल नहीं रही है, तो चलो पत्रकारिता ही सही—आज यह भावना जो शिक्षित युवकों में प्रायः पायी जाती है उन दिनों ऐसी भावना का अभाव था, या कहिए इसके लिए कोई गुंजाइश ही नहीं थी।" किन्तु वर्तमान स्थिति सर्वथा भिन्न है। "पैसों पर विचार-विक्रय करने का रोग हिन्दी पत्रकारिता में भी घुस रहा है।" इसी के चलते कण्ठा-वरोध की समस्या सामने आयी है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसी स्थिति को लक्ष्य कर लिखा है कि "दोनों अभिलाषाओं की पूर्ति साथ-साथ नहीं हो सकती—बैंक में हमारे नाम मोटी रक़म भी जमा हो जाय और हमारा कण्ठावरोध भी न हो।" आज के पत्रकारों में यही भूख प्रबल है, इसलिए वे पीड़ित हैं और ख़तरों से घिरे हुए हैं। उनमें आदर्श नहीं बल्कि स्वार्थ की चिन्ता है। वे व्यवसाय-बुद्धि से चालित हैं। पुराने पत्रकारों में इस व्यवसाय-बुद्धि का ही अभाव था। और चूँकि वे व्यवसाय बुद्धि नहीं बल्कि एक महत् इच्छाशक्ति से चालित थे, इस लिए स्वाभाविक रूप से उन्हें आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी। "अपने देश में श्री मोतीलाल घोष, लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द घोष, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, श्री सी० वाई० चिन्तामणि, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी आदि सभी पत्रों के सम्पादक थे। जो नेता स्वयं सम्पादक न थे उन के भी अपने पत्र थे। इन पत्रों को सदा घाटा रहा करता था। सार्वजनिक चन्दे से ही इनका काम चलता था।" आज पत्रकारों में अर्थ-लिप्सा के बढ़ जाने से निष्ठा का लोप हो गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार और उद्योगपतियों के साथ ही पत्रकारों की दुर्बल इच्छा-शक्ति और व्यवसाय-बुद्धि भी वर्तमान पत्रकारिता के स्तर-विघटन के प्रमुख कारण हैं। पत्रकारिता को चलतू पेशे के रूप में अपनाने के कारण हम उसे अपेक्षित साधना नहीं दे पाते। 'प्रेस इन्स्टीच्यूट ऑव इण्डिया' और 'इण्डिया इण्टर-नेशनल सेण्टर' के तत्वावधान में आयोजित एक परिसंवाद की समापन-गोष्ठी में श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि भारत में यह एक अजीब विडम्बना है कि सामान्य बौद्धिक विकास होते ही लोग पत्रकार बन जाते हैं। पहले की स्थिति इस के सर्वथा

हिन्दी समाज और वर्तमान पत्रकारिता

हिन्दी पत्रकारों के प्रति सामान्य दृष्टि वह नहीं है जो अँगरेजी पत्रकारों के प्रति है। यह एक विडम्बना है कि एक कार्यालय के दो पत्रों के सम्पादकों का वैयक्तिक स्वर भिन्न-भिन्न है। अँगरेजी पत्र के सम्पादक के प्रति जो भाव रहता है वह हिन्दी पत्र-सम्पादक के प्रति नहीं रहता। दोनों के वेतन में भी बहुत अन्तर रहता है। दीर्घ पराधीनता का यह सहज परिणाम है। स्मरणीय है कि पत्रकारिता के विकास का यह एक अवरोधक तत्त्व है।

पत्रकारों की कठिनाइयों को यथार्थ दृष्टि से न देख कर उन से केवल आदर्श की अपेक्षा करना उचित नहीं है। हिन्दी की वर्तमान पत्रकारिता में यह अनौचित्य बहुत साफ़ दिखाई पड़ता है।

अपेक्षित सुविधा और सम्मान न मिलने से वर्तमान पत्रकारों में अपने कार्य और दायित्व के प्रति अरुचि बढ़ती जा रही है।

हिन्दी पत्रकारिता ने एक वह युग भी देखा है जब हिन्दी समाज पत्रकारिता का अर्थ भी नहीं समझता था। पत्रकारों के विशेष अनुरोध पर ग्राहक बन जाते थे, परन्तु पत्र पढ़ने की उन में रुचि न थी। पुराने पत्रकारों के ऊपर समाज-संस्कार का दायित्व था। उन के पत्र बिकते थे, इतना ही उन के सन्तोष के लिये पर्याप्त नहीं था। उन्हें इस की अधिक चिन्ता थी कि हिन्दी पत्रों के पाठक बनें और नयी उपलब्धियों का वे स्वागत करें। उन में बड़ी निष्ठा थी और अपार धैर्य था। अपने ग्राहकों को वे पत्र पढ़-पढ़ कर सुनाया करते थे। इस के पीछे मुख्य रूप से दो बातें थीं। पहली यह कि उन के ग्राहक बने रहें और दूसरी यह कि पत्रों में उन की रुचि उत्पन्न हो। इस कठिन आयास-द्वारा उन पत्रकारों ने हिन्दी लोकरुचि का परिमार्जन और उन्नयन किया। किन्तु इस युग की विडम्बना ऐसी है कि इस कठिन तपस्या के बावजूद हिन्दी समाज में हिन्दी पत्रों के प्रति वैसी रुचि नहीं उत्पन्न हुई जैसी अन्य भारतीय भाषाओं में देखी जाती है। यह स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है जैसी इस युग के दो महान् भारतीयों—रवीन्द्र और गान्धी के प्रयत्नों की हुई। वे अपने आचरण और साधना-द्वारा निरन्तर यह प्रयत्न करते रहे कि नागर संस्कृति ग्रामोन्मुख हो जाये ताकि भारतीय संस्कृति के मूल वैशिष्ट्य की रक्षा हो सके, गाँवों को उचित प्रतिष्ठा और संवर्धन मिल सके, किन्तु उन की साधना का प्रतिकूल परिणाम आज हमारे सामने स्पष्ट है। गाँव टूटते जा रहे हैं और गाँव की उपलब्धि नगर की समृद्धि बन रही है। इसी प्रकार हिन्दी पत्रकारिता के पुराने पुरस्कर्ताओं की तपस्या आज निष्फल हो रही है। युग की विडम्बना है कि हिन्दी समाज के बुद्धिजीवी अँगरेजी पत्रों के प्रेमी हैं और हिन्दी का मौखिक समर्थन करते हुए भी वे दिल से अँगरेजी के हिमायती हैं। यह स्थिति कदाचित् अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं है। स्व० रामानन्द चटर्जी के पुत्र श्री केदारनाथ चटर्जी ने मुझे बताया

था कि हिन्दी समाज में हिन्दी भाषा के प्रति वह अनुराग नहीं है जो एक बंगाली के मन में बंगला भाषा के प्रति है और हिन्दी भाषा तथा हिन्दी पत्रकारिता के गतिरोध के मूल में यही कारण है। केदारनाथ बाबू की उक्त बात में एक विशिष्ट इंगिति है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी साहित्य के ऐसे अनेक धुरन्धर हैं जो हिन्दी का पत्र देखते ही नहीं।

हिन्दी के सामान्य पाठकों में अभी वह विवेक नहीं है जिस के बल पर वे यह निर्णय कर सकें कि कौन पत्र उन्हें नयी अभिज्ञता दे सकेगा, रुचि का परिमार्जन कर सकेगा और विवेक को संवर्धित कर सकेगा। इस लिए वे अत्यन्त कुरुचिपूर्ण पत्रों में ही उलझ जाते हैं और उसी में उन्हें रस मिलता है। यह हिन्दी समाज का अभाव पक्ष है।

हिन्दी पत्रकारिता के गतिरोध के कारणों की संक्षिप्त चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की गयी है। ये कारण इतने साफ़ हैं कि उन की ओर अनायास ही सब की दृष्टि जाती है। वैज्ञानिक और शैक्षणिक प्रगति के बावजूद हिन्दी पत्रकारिता—विशेष रूप से कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता जो इस की जन्मभूमि है—बंगला की तुलना में बहुत पीछे है।

हिन्दी पत्रकारिता में बाढ़ आ गयी है। नाना प्रकार के विभिन्न रुचियों और विषयों के अनेकानेक पत्र प्रकाशित हो रहे हैं, लेकिन वह आधार नहीं उभरता जिस पर खड़े हो कर हम हिन्दी पत्रकारिता की समृद्धि का दावा कर सकें। इस वर्तमान स्थिति के प्रति पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने बहुत पहले आशंका प्रकट की थी : "भावी हिन्दी समाचारपत्रों में भी ऐसा ही होगा। पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों अथवा सुसंघटित कम्पनियों के लिए ही सम्भव होगा। पत्र सर्वांग सुन्दर होंगे। आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, गम्भीर गवेषणा की झलक होगी। और मनोहारिणी शक्ति भी होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जायेगी। यह सब-कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे। पत्रों की नीति देश-भक्त, धर्म-भक्त अथवा मानवता के उपासक महाप्राण सम्पादकों की नीति न होगी—इन गुणों से सम्पन्न लेखक विकृत मस्तिष्क समझे जावेंगे, सम्पादक की कुरसी तक उन की पहुँच भी न होगी। वेतनभोगी सम्पादक मालिक का काम करेंगे और बड़ी खूबी के साथ करेंगे। पर आज भी हमें जो स्वतन्त्रता प्राप्त है वह उन्हें न होगी।" यही आज की यथार्थ स्थिति है। पत्रों में सब-कुछ है, किन्तु पत्रकारों में सत्य-निष्ठा और आदर्श की कमी है। पत्र-संचालकों में शुद्ध व्यवसाय-बुद्धि है। वर्तमान स्थिति से निराश हो कर स्व० आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा था : "हिन्दी में अनेक सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी हैं जिन के सम्पादक यदि शुद्धता, स्वच्छता और सुन्दरता पर खास तौर से ध्यान देना भी चाहते हैं, तो पत्र-संचालक अथवा प्रकाशक की उदा-

सीनता के कारण नहीं दे पाते। हमारे अधिकतर पत्र-संचालक जितना आर्थिक लाभ का ध्यान रखते हैं उतना अपने पत्र के गौरव का नहीं। यदि कोई साहित्यिक सम्पादक स्वयं ही पत्र-संचालक भी होता है तो पूँजी के अभाव में वह अपने पत्र को मन-चाहे ढंग से सर्वांग सुन्दर नहीं बना पाता। और यदि बनाने का दुस्साहस करता भी है तो आर्थिक हानि के कारण पत्र को नियमित एवं स्थायी नहीं बना सकता। फिर एक बात यह भी है कि कोई पूँजीपति अथवा धनाढ्य प्रकाशक अगर सर्वांग सुन्दर एवं सुसम्पादित पत्र निकालता और चलाता भी है तो उसके शान-गुमान का कभी अन्दाज़ ही नहीं मिलता, उसके मिज़ाज और दिमाग़ का पारा हमेशा चढ़ा ही रहता है, वह धरातल पर खड़े साहित्यिक सम्पादक पर सातवें आसमान से नज़र डालता है। ऐसे संकुचित दृष्टिकोण के पत्राध्यक्षों से हिन्दी पत्रों की मर्यादा नहीं बढ़ सकती। वर्तमान परिस्थिति से यही अनुमान होता है कि हिन्दी में अब न कोई चिन्तामणि घोष होगा, न महावीरप्रसाद द्विवेदी, न शिवप्रसाद गुप्त, न बाबूराव विष्णु पराड़कर, न शिवनारायण मिश्र, न गणेशशंकर विद्यार्थी, न रामानन्द चटर्जी, न बनारसीदास चतुर्वेदी। पत्र-संचालक और सम्पादक का आदर्श सम्बन्ध उन्हीं लोगों के साथ चला गया। सम्पादक की वास्तविक प्रतिष्ठा समझने वाले पत्र-संचालक अब नहीं रहे, यदि कहीं एकाध हों भी तो उन से केवल अनामिका सार्थवती होती है।"

नयी जागृति की अपेक्षा

किन्तु इस गतिरोध के सामने अपने को चुपचाप समर्पित कर देने से पत्रकार के दायित्व की इतिश्री नहीं हो जाती। उसे अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए स्वयं उद्योग करना पड़ेगा। सरकारी और व्यावसायिक स्वार्थ-बुद्धि के निराकरण के लिए पत्रकार को ही आवाज उठानी पड़ेगी। उन्हें सचेत रहना है अपने दायित्व के प्रति कि "समाचारपत्र जनता के सेवक हैं। वे न अपने मालिकों के प्रति उत्तरदायी हैं और न किसी सरकार या अधिकारी के प्रति सिर झुकाने को बाध्य हैं। वे यदि जवाबदेह हैं तो जनता के सम्मुख हैं और उस के हित के रक्षक होने के नाते यदि कभी अपने कामों में ग़फ़लत करें तो उन्हें उस के सामने जवाब देना होगा। कभी-कभी जैसे कुछ करना अपराध होता है वैसे ही कभी-कभी कुछ न करना भी अपराध हो जाता है। जनाधिकार, जनहित और जनस्वत्व के लिए जब कभी खतरा या संकट उपस्थित हो उस समय यदि पत्र मौन रह जायँ अथवा भय, प्रलोभन या किसी कारण से उस की उपेक्षा कर जायँ तो यह उन के लिए अक्षम्य अपराध की बात होगी।" इसी अपराध से बचना पत्रकार के लिए अपने दायित्व का पालन करना है। उन का धर्म है कि इस दायित्व का पालन करें और इस दायित्व के कारण पत्रकारों का यह कर्तव्य हो जाता है कि प्रतिदिन की घटनाओं और समस्याओं पर निरन्तर सतर्क दृष्टि रखें और उत्कृष्ट तथा सुरुचिपूर्ण पत्रकारिता की परम्परा को बनाये रखें।

पत्रकारों को अपने अध्ययन की सीमा को बढ़ाना होगा। साहित्य और भाषा के साथ ही राजनीति, अर्थशास्त्र और अन्य शास्त्रों की अभिज्ञता रखनी होगी। टूटती परम्परा और नये मानव-मूल्यों की सही परख रखनी होगी। अपनी परम्परा के प्रति अपेक्षित आग्रह रखते हुए साम्प्रतिक चेतना के प्रति प्रतिश्रुत रहना होगा। मानसिक संकीर्णताओं और व्यक्तिगत कुण्ठाओं से मुक्त होकर सत्य को सीधे देखना होगा।

हमें उदारता की उस सीमा पर नहीं जाना है जहाँ जातीय धरातल हम से छूट जाता है और हम कृत्रिम पंख खोंसकर फ़ैशन के रंग में उड़ने लगते हैं। अपनी धरती पर खड़े हो कर ही हमें सब को देखना, समझना और उपयोगी वस्तुओं को अपनाना है। ऐसी वस्तुओं को और विचार-दर्शनों को अपनाना है जो हमारी जातीय उपलब्धि पर प्रश्न-चिह्न न लगायें वल्कि उसे समृद्धि दें। स्व० पराड़कर जी ने कहा था कि "हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि अन्य देशों में वहाँ की परिस्थिति और लोक-प्रवृत्ति के कारण जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्त उत्पन्न होते हैं उन के अन्धानुकरण से हमारा हित न होगा।···पश्चिम में उत्पन्न और किसी-किसी देश में वहुजन मान्य होने पर भी कोई 'वाद' भारत के लिए भी हितकर ही होगा यह कहना दुस्साहस मात्र है। सब वाद भिन्न अवस्थाओं, समाज-विकास की भिन्न-भिन्न स्थितियों में हितकर हो सकते हैं और विपरीत स्थिति में अहितकर। अतएव हम न पूँजीवाद, समाजवाद या साम्यवाद किसी एक को अपने देश के लिए हितकर अथवा अहितकर ही समझते हैं। अभी हमें सब वादों से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम लेना होगा। एक 'वाद' के पीछे पड़ जाने से हानि के सिवा लाभ नहीं हो सकता है।" इस सत्य के प्रति सजग रहना है। आँख खोल कर अपने परिवेश को देखना है ताकि यथार्थ के प्रति हम ग़लत धारणा न बना लें। पत्रकारों को समन्वय की उस भूमिका की अवतारणा करनी है जहाँ विदेशी विचार-दर्शन हमारे जातीय वैशिष्ट्य के साथ एकाकार हो सके और हम विद्या के क्षेत्र में अधिकाधिक विकास कर सकें। हमें अपने विवेक को संवर्धित करना है और पुरातन तथ्यों को नये सन्दर्भ में नयी अर्थवत्ता देनी है। और सब से बड़ी बात यह है कि आज पत्रकारों को पूर्वग्रह-मुक्त होना है ताकि औचित्य के पक्षसमर्थन और सत्य की प्रतिष्ठा में उन से कोई त्रुटि न हो।

■

हिन्दी गद्य के निर्माण में कलकत्ते की पत्रकारिता का योग

आधुनिक साहित्य के माध्यम के रूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा ऐतिहासिक घटना हो चुकी है। ब्रजभाषा के उन्नत और समृद्ध माध्यम को अपदस्थ कर के खड़ी बोली अनेक राजनीतिक और सामाजिक कारणों से सांस्कृतिक विचार-विनिमय की भाषा बन गयी। खड़ी बोली का गद्य जो आज हिन्दी-क्षेत्र में सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के शिक्षण, राजव्यवस्था-संचालन तथा अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय का माध्यम है, कुल सौ वर्ष का ही जीवन व्यतीत कर सका है। संसार के भाषावैज्ञानिक इतिहास में यह सम्भवतः पहली घटना है कि इतने अल्पकाल में किसी भाषा का गद्य इस गति से विकसित और परिमार्जित हुआ हो और देखते-ही-देखते वह एक बृहत् क्षेत्र में उस के सभी सारस्वत कार्यों के समर्थ माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित हो गया हो, किन्तु भाषाशास्त्र का विद्यार्थी एक ओर जहां इस विकास-क्षिप्रता को देख कर आश्चर्य-चकित होता है वहीं जब वह अनेकानेक हिन्दी गद्य-निर्माताओं के बलिदानी श्रम को देखता है तो वह एक सहज आत्म-श्लाघा का अनुभव भी करता है।

१८वीं और १९वीं शताब्दी के बीच हिन्दी के लड़खड़ाते हुए बाल-गद्य को जिन लोगों ने पाला-पोसा, चलना सिखाया और उस में एक समर्थ गत्वरता का संयोजन किया उन के तपश्चरण और परिश्रम को कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता। यह हिन्दी गद्य एक ओर मुसलमानी शासकों की छत्रछाया में विकसित हुआ तो दूसरी ओर फोर्ट विलियम कॉलेज के तत्त्वावधान में इस के निर्माण का भगीरथ प्रयत्न किया गया। जहाँ इस के व्यक्तित्व में आर्यसमाजी गद्य-निर्माताओं के वाक्पाटव का ओज है वहीं ईसाई मिशनरियों के त्याग और औदार्य का स्वर भी। अर्थात् हिन्दी गद्य जातीय सम्मिश्रण और संस्कृतियों के परस्परावलम्बन का जीवित प्रतीक है, किन्तु हिन्दी गद्य के निर्माण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग आरम्भिक हिन्दी-पत्रकारों का है। जीवन के नानाविध उलझे और निरन्तर विकसमान प्रवाह को पत्रकारिता संक्षेप में सम्पुटित कर जन-जन के पास भेजने का कार्य करती है।

कलकत्ते के हिन्दी-पत्रकारों ने इस आरम्भिक गद्य को जिस प्रकार सजाया-सँवारा और उसे पुनर्जागरणकालीन भारतीय राष्ट्र की समस्त आकांक्षाओं और सम्भावनाओं के समर्थ माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया वह एक बृहद् विश्लेषण और

विवरण की वस्तु है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में हम इस निरन्तर विकसनशील गद्य के कतिपय विशिष्ट रूपों का ही परिचय देंगे।

गद्य की विकास-दिशाएँ

वैसे तो खड़ी बोली का गद्य बीजांकुर रूप में ही सही, बहुत पहले से मिलने लगता है। अनेक विद्वान् गोरखपन्थी ग्रन्थों की टीकाओं में हिन्दी गद्य का सन्धान कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल ने १४०७ वि० सं० के आसपास लिखे एक ग्रन्थ से गद्य के उद्धरण दिये हैं[१]। इन नमूनों को वे ब्रजभाषा गद्य का नमूना कहते हैं और ये हैं भी, किन्तु इन में भी खड़ी बोली के तत्त्व यत्र-तत्र झलक जाते हैं। सच तो यह है कि १९वीं शताब्दी के पहले तक खड़ी बोली को, चाहे वह गद्य या पद्य के माध्यम के रूप में हो, सार्वजनिक स्वीकृति नहीं मिली थी। खुसरो खड़ी बोली के प्रशंसक हो सकते हैं, किन्तु हाब्सन जाब्सन के उद्धरणों से स्पष्ट मालूम होता है कि हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली को एक गँवारू बोली से अधिक महत्त्व का दरजा प्राप्त न था।[२]

मुसलमान बादशाहों का मुख्य गढ़ दिल्ली था इस लिए यह स्वाभाविक था कि वहाँ की बोली से उन का निकटतर सम्पर्क होता। खड़ी बोली के क्षेत्रीय ढाँचे को ले कर उस में फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों को भर मुसलमानों ने जिस कामचलाऊ भाषा का निर्माण किया वह 'ज़बाने उर्दू' कहलायी। उर्दू का अर्थ सेना का शिविर या छावनी होता है। यह नयी भाषा मुसलमानी सेना की छावनियों की भाषा थी। मुसलमानों के निरन्तर आधिपत्य और देश के विभिन्न कोनों में बिखराव के साथ-ही-साथ यह भाषा विजेताओं की भाषा के रूप में चतुर्दिक् फैलने लगी। दिल्ली से मुर्शिदाबाद और दिल्ली से हैदराबाद इस के प्रसार की दिशाएँ बनीं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है, "१७वीं शताब्दी के अन्त से नहीं तो १८वीं शताब्दी के आरम्भ से मुसलमानों-द्वारा बोली जाती तथा विकसित इस उत्तर भारतीय हिन्दी भाषा के लिए एक नया नाम प्रयुक्त होने लगा। वह नाम था हिन्दुस्तानी।[३]" इसी हिन्दुस्तानी

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४०३।

२. After this he (Tom coryate) got a great mastery in the Indostan or more vulgar language. There was a woman a landress belonging to my lord Ambassador's household who had such a freedom and liberty of speech that she would sometimes scould from the sun rising to the sun set. One day he undertook her in her own language and by eight of the clock he so silenced her own language and by eight of clock he so silenced her that she had not one word to speak. Tery extracts Relating to T. C. (Hobson-Jobson, pp. 317).

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० २०२।

का पद्यगत रूप रेख्ता नाम से प्रसिद्ध था। "तब की भाषा पश्चकालीन उर्दू की तरह फ़ारसी से बिलकुल लदी हुई न थी। फ़ारसी के शब्द अपेक्षाकृत कम संख्या में मिलाये जाते थे। एक पंक्ति में कहीं-कहीं छितरे हुए (रेख्ता) रहते थे। इस लिए आधुनिक उर्दू हिन्दुस्तानी पद्य की भाषा का आदि रूप रेख्ता कहलाता था[1]।" रेख्ता से मिलती-जुलती एक भाषा हैदराबाद के आस-पास मुसलमानी शासकों-द्वारा प्रतिष्ठित की जा कर दक्खिनी हिन्दी का रूप ग्रहण कर रही थी। किन्तु यह भाषा अभी तक गद्य का सशक्त माध्यम नहीं बन सकी थी। "उन्नीसवीं शती के आरम्भ तक पत्रों या एतादृश अन्य दस्तावेज़ों के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी में गद्य की रचना नहीं हो पायी थी। अतएव साहित्यिक कला के विकास की कोई गुंजाइश ही न थी[2]।"

अविकसित गद्य रूप और कलकत्ते के हिन्दी पत्र

खड़ी बोली के इसी अविकसित गद्य को पत्रकारिता का माध्यम बनाया गया। यह गद्य चूँकि आरम्भ में मुसलमानों के विचार-विनिमय या सामान्य राजकीय कार्यों के लिए प्रयुक्त होता था, इस कारण जो समर्थ गद्य दिखलाई भी पड़ता था वह फ़ारसी का भारतीय रूप-जैसा ही प्रतीत होता था। कलकत्ते के हिन्दी पत्रकारों का अब यह कर्त्तव्य हुआ कि वे इस गद्य को भारतीय सांस्कृतिक जीवन का माध्यम बनायें। भारतीय जीवन एक ओर प्राचीन ह्रासशील परम्परा से उबर रहा था दूसरी ओर अँगरेज़ी आधिपत्य के शिकंजे निरन्तर कसते जा रहे थे। एक ओर युरॅपीय सम्पर्क के कारण युरॅपीय ज्ञान-विज्ञान का प्रवेश हमारे देश में हो रहा था दूसरी ओर यातायात के अनेक साधन तथा अँगरेज़ी राज्य-व्यवस्था के तौर-तरीक़े हमारे जीवन को नयी दिशा में बदल रहे थे। इन सभी परिस्थितियों की समुचित अभिव्यक्ति के लिए खड़ी बोली के गद्य को नये सिरे से निर्मित और विकसित करने की आवश्यकता थी और यह कार्य १८०० से ले कर १९०० के भीतर कलकत्ते की पत्रकारिता ने बड़े मनोयोग के साथ पूरा किया। इस अवधि के विभिन्न स्तरों की भाषा के निम्नलिखित पाँच नमूने इस प्रयत्न के साक्ष्य हैं। और इन के विश्लेषण से हम खड़ी बोली गद्य के ऐतिहासिक विकास के रूप का संक्षेप में आकलन भी कर सकते हैं।

३० मई सन् १८२६ ई० के 'उदन्त मार्तण्ड' में प्रकाशित 'इस कागज के प्रकाशक का इश्तिहार' शीर्षक विज्ञापन की भाषा से कुछ नमूने दिये जा रहे हैं[3]—

१. हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया।

२. पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बंगाले

३. जो समाचार का कागज छपता है

---

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० २०१।

२. वही, पृ० २०३।

३. सम्पूर्ण इश्तिहार परिशिष्ट (क) पर उद्धृत है।

४. उन वोलियों के जान्ने ओ पढ़नेवालों

५. सब लोग पराये सुख सुखी होते हैं

६. पराये धन धनी होना ओ अपनी रहते पराई आंख देखना

७. आंखों को व्यर्थ माथे चटखते हैं

८. आप पढ़ ओ समझ लेंय

९. दयावान करुणा ओ गुणनि के निधान

१० जैसे साहस में चित्त लगाय के

११. वाहर के रहनेवाले डांक पर कागज पाया करेंगे

१२. महसूल की तेहाई लिई जायगी

१३. उनको यहां रुपये की मनौती कर देनी होयगी

१४. कोई कारण पाप करके

रेखांकित अंशों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा में तरह-तरह की व्याकरणिक शिथिलताएँ थीं। साथ ही ब्रजभाषा के प्रभाव के कारण प्राचीन रूपों को ज्यों-का-त्यों या कभी-कभी किंचित् परिवर्तित कर के अपना लिया गया था। परसर्गों का पूर्ण विकास नहीं हो सका था। लिये के लिये हेतु का प्रयोग बहुत बाद तक होता रहा है। 'सुख सुखी' और 'धनधनी'-जैसे प्रयोग में तृतीया विभक्ति का लोप दिखाई पड़ता है। चटखते, लेय, गुणनि, लगाय के, पाय कर के आदि पूर्वकालिक क्रियाएँ और संज्ञा के बहुवचन रूप ब्रजभाषा प्रभाव के द्योतक हैं।

इस गद्य की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इस में फ़ारसी के प्रभावों से बचने का प्रयत्न किया गया है साथ ही लोकजीवन में प्रचलित अनेक तद्भव और देशी शब्दों को निस्संकोच अपनाया गया है। किन्तु काग़ज़, डाक, महसूल, रसीद ख़र्चा जैसे आमफ़हम विदेशी शब्दों को हटाया नहीं गया है।

बंगदूत (सन् १८२९) की भाषा के नमूने प्रथम-सम्पादकीय टिप्पणी से दिये जा रहे हैं[1]—

१. सब देश के समाचार और देशान्तरनि की विद्या

२. विद्या और सुघरता के प्रसंगनि के प्रसंगनि के शास्त्रार्थ युक्त

३. प्रति सत वारे छपेगा जिस करके वहु भ्रान्ति के प्रयोजन के मूल सजीव होने की सम्भावना है

४. कलकत्ते की वड़ी बाजार के आवते

५. इस समाचार के साथ अंगरेजी भाषें और एक में समाचार

६. वड़ों की भलाई की रक्षा हेत

१. सम्पूर्ण टिप्पणी परिशिष्ट (क) में उद्धृत की गयी है।

७. माली और मुलकी कामों के विषय जो चर्चा रहेगी उस मध्ये

८. यही आठ पिठौता ऊपर की लिखी भाषों में

९. अपने अपने ढब पर

इस गद्यांश में भी स्पष्ट ही 'देशान्तरनि' 'प्रसंगनि' आदि ब्रजभाषा बहुवचन के रूप हैं। तृतीया से के स्थान पर करके पद को जोड़ कर करण व्यापार सूचित किया गया है यानी 'जिससे' के स्थान पर 'जिस करके' का प्रयोग। 'आते' के स्थान पर 'आवते' ब्रजभाषा प्रभाव का ही द्योतक है। 'रक्षा' के लिए 'रक्षाहेत' यहाँ भी प्रयुक्त है। 'माली औ मुलकी' 'ढब'-जैसे शब्द के प्रयोग भी वैहिचक किये गये हैं। सप्तमी परसर्ग 'में' के स्थान पर 'मध्ये' का प्रयोग गद्य की शिथिलता का द्योतक है।

हिन्दी के प्रथम दैनिक समाचारपत्र, १८५४ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित 'समाचार सुधावर्षण' के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

१. पहाड़ियों का अत्याचार बड़ा भारी भया है

२. सांउताल नामक पहाड़ियों को दमन करने के लिये

३. पहाड़ियों के मन्दिर में घुसकर उन्हन की कामा नामक ठाकुर की मूरत

४. मूरत लेकर जब फिरि आवते थे

५. राजसेना दल को भी उन्हों ने भगाय दिया

६. छ छ बेत मार के उन्हन को छोड़ दिया

'भया है,' 'फिर आवते', 'भगाय दिया' आदि प्रयोग भी इस बात के द्योतक हैं कि खड़ी बोली अभी भी ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकी थी। इस गद्य में सर्वनाम उन्हें के स्थान पर 'उन्हन को' का प्रयोग है। यह प्रयोग पूर्वी हिन्दी अर्थात् भोजपुरी के प्रभाव का द्योतक है।

'भारतमित्र' (१८७८ ई०) के प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी से कुछ विशिष्ट भाषा-प्रयोग नीचे दिये जाते हैं[1] —

१. ये वो चीज है

२. घर में कोठड़ी भीतर बैठ के

३. प्रार्थना करने का ये ही मुख्य उपाय है।

४. यदि समाचार पत्र नहीं होय तो

५. अच्छी तरह से नहीं हो सक्ता

६. इस्से राजा प्रजा दोनों को सुख प्राप्त होता है

७. वाणिज्य की उन्नति बंबई वालों ने करी है

८. इस द्वारा देश देशान्तर के माल का भाव

१. पूरी टिप्पणी परिशिष्ट 'क' में द्रष्टव्य।

९. वाणिज्य का भविष्यत अनुमान होय है

१०. हियां के हिन्दुस्तानी लोग

११. खटिया पर से उठा के ज्ञान की किरण

१२. अभाव को दूर कर्ने की चेष्टा करेंगे

१३. चित्त को उत्साहित कर्ती थी

१४. परन्तु अन्त को कइ एक मित्रों की सहायता से

इस गद्यांश में 'वह' और 'यह' के लिए 'वो' और 'ये' का प्रयोग हुआ है। लेखक ने 'सकता' के लिए 'सक्ता', 'इससे' के लिए 'इस्से', करने के लिए 'कर्ने', 'करती' के लिए 'कर्त्ती' का प्रयोग किया है। ये सभी प्रयोग खड़ी बोली के ही प्रयोग हैं, किन्तु साहित्यिक खड़ी बोली के प्रयोग न हो कर खड़ी बोली के क्षेत्रीय प्रयोग हैं। 'बैठ के' (बैठ कर), 'होय' (हो), करी है (की है), 'होय है' (होता है) आदि प्रयोग ब्रज प्रभावित हैं। 'अन्त में' के लिए 'अन्त को' भी पुराने प्रभाव का ही द्योतक है।

'उचितवक्ता' (१८८० ई०) के एक गद्यांश से भाषा के विशिष्ट नमूने यहाँ दिये जाते हैं।

१. भारतवर्ष शासन करते हैं

२. कुछ सहाय नहीं हो सकती

'उचितवक्ता' के २२ जनवरी १८९५ के सम्पादकीय वक्तव्य से कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये जाते हैं—

१. स्थिरता ही नहीं देख पड़ती।

२. शब्दों को मिलाने में उतारू हो गये

३. वैसे ही डामाडोल हैं

४. इतना हौरा धूम और उन्नति की पुकार

५. इस सिवाय प्राचीन इतिहास

६. प्रत्येक नाटकों का अभ्यास करेगी

इस समय तक आते-आते हिन्दी का गद्य काफ़ी सुगठित और श्रम अर्जित प्रौढ़ि को प्राप्त कर चुका था। मनोवांछित अर्थ की अभिव्यक्ति में यह गद्य अपने पूर्वज 'उदन्तमार्तण्ड' के गद्य की तरह शिथिल नहीं दिखाई पड़ता। परसर्गों के प्रयोग काफ़ी निश्चित हो गये हैं और वाक्यों की क्रमबद्धता पहले से कहीं अधिक पुष्ट हो चुकी है। 'उचितवक्ता' के इन गद्यांशों से यह ज़रूर लगता है कि हिन्दी गद्य में तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। विशेषतः २२ जनवरी १८९५ की सम्पादकीय टिप्पणी संस्कृत बहुल दिखाई पड़ती है।

पहले के गद्य पर शब्दावली और विन्यास दोनों में ब्रज या उर्दू के वाक्य-

विन्यास का प्रभाव दिखाई पड़ता है, किन्तु 'उचितवक्ता' के गद्य पर अँगरेजी वाक्य-विन्यास का प्रभाव आने लगा है। यह प्रवृत्ति आधुनिक गद्य में बहुत प्रबल हो गयी। उदाहरण के लिए 'अँगरेज भारतवर्ष शासन करते हैं' (इंगलिशमैन रूल इण्डिया)। कहीं-कहीं प्राचीन प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। अवधी और ब्रज में सहायक के लिए 'सहाय' का प्रयोग होता है। 'उचितवक्ता' में भी 'कुछ सहाय नहीं हो सकता' जैसा प्रयोग मिलता है। दीख पड़ना के लिए 'देख पड़ना', इस के सिवा के लिए 'इस सिवाय' जैसे कुछ शिथिल प्रयोग भी हैं, किन्तु इन गद्यांशों को देखने से इतना तो स्पष्ट परिलक्षित हो ही जाता है कि हिन्दी का गद्य खड़ी बोली के परिनिष्ठित रूप का सबल प्रमाण हो चुका था। यह गद्य आधुनिक हिन्दी गद्य की तरह लचीलेपन और संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग के कारण उन सभी सम्भावनाओं को सुरक्षित कर चुका था जो आज की हिन्दी गद्य में विकसित दिखाई पड़ती हैं।

गद्य की प्रौढ़ता का मुख्य आधार निरन्तर विकसमान सन्दर्भों के लिए शब्दावली के चयन पर निर्भर करता है। उस समय देशी-विदेशी शब्दों के परिग्रहण पर काफ़ी गहराई से विचार किये गये। ये पत्रकार भाषा की शुद्धता और सहजता के आग्रही थे। हिन्दी के आदि सम्पादक पं० युगुलकिशोर शुक्ल ने भाषा की शुद्धता के प्रश्न को ले कर 'उदन्तमार्तण्ड' के आश्विन वदि ३ के अंक में 'अशुद्धता' शीर्षक से एक 'एडिटोरियल रिमार्क' दिया था। 'समाचार दर्पण' में लाहौर के रनजीत सिंह का नाम गोरक्ष सिंह छपता था। उसे ही लक्ष्य कर सम्पादक ने लिखा था कि 'समाचार-दर्पण' में नये समाचार न मिलें इस का कुछ दुःख नहीं है पर लाहौर के रनजीत सिंह के समाचार में गोरक्ष सिंह जो लिखा जाता है यह जैसे श्रीरामपुरी भाषा व्याकरण के विभक्ति में कुकुर शब्द साधा है वैसा ही तात्पर्य हो तो चिन्ता नहीं। और कदाचित् जो भूल हो तो भूल इसका खड्ग सिंह जो ए महाराजा के बड़े कुमार हैं। इतनी विनय और है कि अंगरेजी गवर्नमेन्ट गैजेट में भी शोध देवें काहे से कि सन्देह होता है कि इसी खबर की परछांही दर्पण में पड़ी होगी।" इस टिप्पणी के उत्तर में 'समाचार दर्पण' ने जो लिखा था उस का बड़ा व्यवस्थित उत्तर 'उदन्त-मार्तण्ड'-सम्पादक ने 'और भी नई अशुद्धता' शीर्षक से दिया था।[1]

शुद्धता और सहजता के प्रश्न को ले कर परवर्ती काल के पत्रों में भी विवाद होते रहे हैं। कलकत्ते के प्रसिद्ध पत्र 'भारतमित्र' की भाषा पर 'विहारबन्धु' ने टिप्पणी की थी कि "इसकी लिखावट अभी इतनी उम्दे न है लेकिन उम्मीद है कि थोड़े दिनों के बाद लिखावट अच्छी हो जायेगी।" इस आलोचना की गहरी प्रतिक्रिया हुई और अंक ५ में 'भारतमित्र'-सम्पादक ने 'विहारबन्धु' का उत्तर देते हुए भाषा विषयक एक लम्बी टिप्पणी प्रकाशित की।

---

१. द्रष्टव्य, अध्याय ३।

उक्त टिप्पणी का एक स्थल द्रष्टव्य है, "सच्च तो ये है कि जब तक संस्कृत जो कि सब भाषाओं कि माता स्वरूप है इस्को (संस्कृत को) न जाने तब तक भाषा के लक्षण और माधुर्य्य, प्रासाद, प्रांजक, सरल और ललित आदि गुणों को समझना असम्भव है। और भाषा को इन्हीं सब गुणों के साथ सम्पन्न करना पुरुषार्थ है। हमलोगों की हिन्दी भाषा है यद्यपि ये प्राकृत से उत्पन्न हुई है तथापि संस्कृत का अखंड भंडार इसकी समृद्धि वृद्धि करे है। और जो इस्में कहीं कहीं सूरसैनी, मागधी, माथुरी, फारसी, अरबी और अंगरेजी भी सरक भाव से मिल गई हैं, तो क्या इस्को बिगाड़ती है ? हमारी समझ में तो स्वभाव सुन्दरी हिन्दी को वरन अलंकृत करती हैं। परन्तु ऐसा कहने से ये नहीं समझना कि अब हम अरबी, ईरानी, तुर्की और युनानी आदी से हिन्दी को ढांक दें और मूल को आघात करें। इन सब भाषाओं के शब्द तो वो ही रखने चाहियें जो सब कि इस्मे मिल गये हैं। जैसा कि मालूम, नक्सा, तारीख, तीर, तरहाँ, स्टेशन, गेश और फैशन आदि दूसरी दूसरी भाषा के हैं। और भाषा को ललित करने के लिए तो एक हम क्या पहले से बड़े बड़े प्रसिद्ध कवियों ने भी दूसरी भाषा के शब्द कहीं कहीं रक्खें हैं सम्पादक जी !" 'भारतमित्र' का भाषा-विषयक यह आदर्श था। अपनी भाषा के मूल वैशिष्ट्य को अक्षत रखते हुए दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनाने की यह सहज प्रवृत्ति भाषा-समृद्धि की बलवती चेष्टा को द्योतित करती है। उस युग की भाषा में एक विशिष्ट कोटि की वक्रता भी थी। 'बिहारबन्धु' के एक वाक्य पर व्यंग्य करते हुए 'भारतमित्र'-सम्पादक ने लिखा था, "और इतनी उमदे' का क्या तात्पर्य था 'इतनी' कितनी ? क्या आप जितनी ?"

इस युग के दूसरे पत्र 'सारसुधानिधि' ने भी भाषा के प्रश्न को काफ़ी महत्त्व दिया था। हिन्दी शिक्षा के प्रचार के लिए इस पत्र में कई टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं। हिन्दी के परिशुद्ध रूप के प्रति 'सारसुधानिधि' का विशेष आग्रह था। वर्ष २, अंक १२ की सम्पादकीय टिप्पणी का एक स्थल द्रष्टव्य है, "एक विशुद्ध साधु हिन्दी भाषा की सर्वत्र एक ही पुस्तक पढ़ायी जाना उचित है। किन्तु विशेष दुःख का विषय है की जिस हिन्दी भाषा का अधिकार इतना बड़ा है कि भारतवर्ष के प्रायः आधे दूर तक परिव्याप्त है। उस भाषा के विषय में विश्वविद्यालय की सिनेट सभा ऐसी उदासीन रहे कि उस ओर भ्रम से भी कभी न देखे !!!......एक सिनेट सभा के उदासीन रहने के कारण हिन्दी भाषा का अभी तक एक स्वरूप ही स्थिर नहीं हो सका है। इस दशा में भाषा का सुधरना और उन्नत होना निःसन्देह असम्भव है। और यह तो निश्चय है कि जब तक हिन्दुस्तान प्रधान हिन्दी भाषा विशुद्ध और साधु रूप धारण नहीं करेगी साधारण उन्नति कदापि नहीं हो सकेगी। अतएव हिन्दुस्तान की उन्नति का मूल जब यह ठहरा कि हिन्दुस्तान की प्रधान भाषा हिन्दी परिशुद्ध हो कर सर्वत्र एक ही रूप से प्रचार होय, तब अवश्य गवर्नमेन्ट की सहायता आवश्यक है।"

हिन्दी-भाषा का आन्दोलन भी उस युग में चल रहा था और उसे राष्ट्रीय आन्दोलन की ही एक सम्पृक्त धारा के रूप में देखा जाता था। इस आन्दोलन में 'सारसुधानिधि' ने खुल कर भाग लिया था क्यों कि उस ने आरम्भ में ही 'प्रतिज्ञा' की थी कि 'यथासाध्य देश प्रतिनिधि' स्वरूप हो कर 'कर्तव्य-साधना में नियुक्त रहेगा और उस की निश्चित प्रतीति थी कि "आर्यावर्त में हिन्दी भाषा का भी ऐसा कार्य्य कारणता सम्बन्ध है कि बिना मातृभाषा की उन्नति के साधारण देशोन्नति होना असम्भव है।" देवनागरी लिपि का पक्ष-समर्थन करते हुए वर्ष २ अंक ३५ के सम्पादकीय लेख में सम्पादक ने लिखा है कि "·········'आर्यावर्त' के पक्ष में जैसी उपयुक्त देवनागरी वर्णमाला है ऐसी और दूसरी वर्णमाला आजतक कि सुसभ्य देश में नहीं बनी और न बन सकती है। ऐसी सम्पन्न वर्णमाला को छोड़ के जो व्यर्थ कल्पना करना है, वह केवल वातुलता का काम है।" रोमन लिपि के समर्थकों को लक्ष्य कर यह बात कही गयी है। इस युग के पत्रकारों का विश्वास था कि 'निर्दोष सभ्यता' के विकास के लिए निर्दोष भाषा का विकास अनिवार्य शर्त है। उन की धारणा थी कि यह 'निर्दोषभाषा' हिन्दी है। इस लिए उन का आग्रह था कि "पहिले भारतवर्ष की प्रधान और प्रसिद्ध चाँद वे गहन हिन्दी की उन्नति करें।"

हिन्दी-भाषा के स्वरूप पर उन पत्रकारों का विशेष ध्यान था। साहित्य में भाषा सम्बन्धी प्रयोगों की शिथिलता उन्हें सह्य न थी। 'हिन्दी साहित्य' पर विचार करते हुए १२ जनवरी १८९५ ई० को 'उचितवक्ता'—सम्पादक ने भाषा की शिथिलता की ओर संकेत किया था, "आज कल हिन्दी साहित्य की विचित्र दशा वर्तमान है। इसकी कुछ स्थिरता ही नहीं देख पड़ती। विविध प्रकार के रंगबिरंग लेख प्रकाशित होते हैं। कोई तो आज संस्कृत शब्दों के प्रति झुक रहे हैं और ज्यों ही किसी ने कह दिया कि, आप की भाषा कठिन होती है, कुछ सरल कीजिये कि चट पलट कर उर्दू की खिचड़ी पकाने लग गये, फिर ज्यों हीं किसी ने कह दिया कि, केवल संस्कृत शब्दों के मिलाने से वा उर्दू शब्दों के प्रयोग से भाषा पुष्ट न होगी, बस चट बदल गये और दोनों प्रकार के शब्दों के मिलाने में उतारू हो गये। सारांश यह कि ग्राहकों की खोज में भाषा को भी भटकाते रहते हैं और लेख प्रणाली को स्थिर नहीं रख सकते। हिन्दी के वर्तमान लेखकों में यही दोष वर्तमान है।" इस दोष तथा भाषा-सम्बन्धी अन्य स्वेच्छाचार और शिथिल प्रयोगों के प्रति उस समय के पत्रकार सदैव सचेत रहते थे। उन में भाषा को एक परिनिष्ठित व्यवस्था देने की आकुल आकांक्षा दिखाई पड़ती है। स्मरणीय है कि पुराने पत्रकार भाषा की सहजता के अधिक आग्रही थे। यही उन का आदर्श था। १३ जनवरी १८८३ ई० के 'उचितवक्ता' में 'हिन्दी पत्र-सम्पादक और उन की भाषा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था जिस की एक पंक्ति इस प्रकार है, "भाषा के विषय में सम्पादक का उद्देश्य यह दिखता है कि जिसमें लोगों की समझ में आया करे ऐसी सहज शैली पर भाषा लिखना योग्य है·······

निस्सन्देह प्रचलित शब्दों में हिन्दी का यथार्थ सौन्दर्य रक्ख कर सहज रीति से अपने मन की बातों का प्रकाश करना ही समस्त सम्पादकों को उचित है।" यहाँ तक कलकत्ते की उन्नीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता के भाषा-स्वरूप और पत्रकारों के भाषा-विषयक आदर्श की चर्चा की गयी।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की बंगीय हिन्दी पत्रकारिता का भी भाषा-निर्माण की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। हिन्दी के श्रेष्ठ शैलीकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस समय 'भारतमित्र' के सम्पादक थे। भाषा और व्याकरण के असाधारण पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र कलकत्ते में ही थे और 'हिन्दी-बंगवासी' में लिखते थे। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० माधवप्रसाद मिश्र और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी भी कलकत्ते में ही थे। 'अनस्थिरता' शब्द को ले कर 'भारतमित्र' के माध्यम से गुप्त जी और आचार्य द्विवेदी जी में जो वादविवाद हुआ था वह हिन्दी का ऐतिहासिक वाद-विवाद है। इस की शुरूआत द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक उस लेख से हुई थी जो 'सरस्वती' के ११ नवम्बर १९०५ ई० के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मण्डल के अनेक लेखकों की भाषा की *अशुद्धियाँ दिखाई थीं। द्विवेदी जी का यह उपक्रम कुछ लोगों को पसन्द नहीं आया।* बालमुकुन्द गुप्त ने 'आत्माराम' के नाम से 'भारतमित्र' में कई लेख लिख कर द्विवेदी जी का विरोध किया। इसी विरोध ने उक्त वादविवाद को जन्म दिया। इस वादविवाद में भाग लेने वाले पत्रों में 'भारतमित्र', 'सरस्वती', 'हिन्दी बंगवासी', 'समालोचक' और 'वैश्योपकारक' प्रमुख थे। द्विवेदी जी और गुप्त जी के अलावे इस में भाग लेने वाले पण्डितों में प्रमुख हैं—पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी और पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी। यद्यपि इस वाद-विवाद में व्यक्तिगत आक्रोश भी दिखाई पड़ता है और एक-दूसरे ने एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर भी आक्रमण किये, किन्तु इस संघर्ष की उपलब्धि यह है कि व्याकरण-व्यवस्था को एक नया आयाम मिला जो समृद्धिसूचक है। यह भाषा और व्याकरण का विवाद था जिस से भाषा और व्याकरण को तो एक नयी व्यवस्था मिली ही, साथ ही इस से उस युग की साहित्यिक जागृति और पत्रकारों की तेजस्विता की सूचना मिलती है। भाषा-सम्बन्धी ऐसे अनेक ऐतिहासिक महत्त्व के कार्यों को 'भारतमित्र' ने सम्पन्न किया। देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में उसे देशव्यापी प्रतिष्ठा दिलाने के लिए 'भारतमित्र' में कई लेख बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखे थे। देवनागरी लिपि की उन्नायिका-संस्था 'एक लिपि विस्तार-परिषद्' के अन्दोलन को 'भारतमित्र' ने शीर्ष महत्त्व दिया था। भाषा-निर्माण और उन्नयन की ही यह एक स्वस्थ चेष्टा थी।

देवनागरी लिपि का उन्नायक पत्र 'देवनागर' कलकत्ते से ही १९०७ ई० में निकला था। इस पत्र की वैशिष्ट्य-विवेचना करते हुए हम ने पूर्ववर्ती अध्याय 'हिन्दी पत्रकारिता का तिलक युग' में देखा है कि देवनागरी लिपि के साथ ही हिन्दी भाषा

को अन्तर्प्रान्तीय प्रतिष्ठा दिलाने का महत् अनुष्ठान 'देवनागर' के माध्यम से सम्पन्न हुआ था। हिन्दी व्याकरण के सम्बन्ध में पण्डित-प्रवर रामअवतार शर्मा के अनेक लेख देवनागर में प्रकाशित हुए थे। लिपि-उन्नयन और प्रसार का जैसा अचूक उपक्रम 'देवनागर' ने किया वह भाषा की दृष्टि से कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता की निःसन्देह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कलकत्ता आधुनिक हिन्दी गद्य शैली की जन्मभूमि ही नहीं बल्कि इस के क्रमिक विकास और उन्नयन में भी इस का महत्त्वपूर्ण योगदान है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस महत्त्व का अधिकांश श्रेय कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता को है।

उपसंहार

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी भाषा-साहित्य के अन्वेषी-अध्येताओं ने हिन्दी-पत्रकारिता की विकास-धारा के अनुशीलन को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया है। यद्यपि इस के महत्त्व को स्वीकारने की अनिवार्यता उन के सामने थी; किन्तु उन के सामने कदाचित् यह स्पष्ट न था कि हिन्दी-पत्रकारिता आधुनिक चेतना और ज्ञान-विज्ञान की द्युति-संवाहिका रही है, लोक-रुचि के परिष्कार और विकास का सशक्त माध्यम रही है, भाषा-साहित्य और संस्कृति की उन्नायिका रही है तथा जातीय चेतना-प्रवाह को इस ने एक विशेष कोटि की गत्वरता दी है। चूँकि पत्रकारिता का यह वैशिष्ट्य उन अध्येताओं के सामने स्पष्ट नहीं था, इस लिए भाषा, साहित्य और आधुनिक संस्कृति की समस्या का अध्ययन करते पत्रकारिता की बाह्य रेखाओं को स्पर्श कर लेना ही उन के लिए अलम् था। कहना न होगा कि सत्य-सन्धान की यह सुगम पद्धति (!) एक अधूरी और ग़लत पद्धति थी। इसी लिए भारी-भरकम पोथियों से भी सही तथ्य और मूल बात उजागर न हो सकी। विशेषतः हिन्दी पत्रकारिता के सम्बन्ध में और उस से सम्पृक्त सन्दर्भ के बारे में।

इसी सन्दर्भ के सारस्वत महत्त्व को कलकत्ते की हिन्दी-पत्रकारिता के अनुशीलन के माध्यम से उद्घाटित करने की चेष्टा पिछले अध्यायों में की गयी है।

चूंकि कलकत्ता हिन्दी-पत्रकारिता की जन्मभूमि है, इस लिए हिन्दी-पत्रकारिता की चर्चा कलकत्ते के सन्दर्भ से ही उठनी चाहिए। सन् १६९० ई० में कलकत्ता की नींव पड़ी थी। अपनी सुख-सुविधा के लिए लोग उसे निरन्तर सजाते-सँवारते और आधुनिक साधन से सम्पन्न करते गये। पश्चिमोत्तर प्रदेश से बहुत से हिन्दी भाषा-भाषी भी नौकरी-धन्धा के उद्देश्य से कलकत्ता आ गये थे। उन में कुछ अँगरेजी पढ़े-लिखे भी थे जो धीरे-धीरे आधुनिक चेतना को ग्रहण कर रहे थे और हिन्दी-समाज को आधुनिकता से सम्पृक्त करने की महत्त्वाकांक्षा उन के मन में उठ रही थी। इसी बलवती प्रेरणा का परिणाम था हिन्दी के प्रथम (साप्ताहिक) पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' (३० मई, सन् १८२६ ई०) का प्रकाशन। इस के बाद और प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम (सन् १८५७ ई०) के पूर्व कलकत्ते से हिन्दी के अनेक पत्र प्रकाशित हुए जिन में 'बंगदूत', 'प्रजामित्र', 'साम्यदन्त मार्तण्ड' और हिन्दी के प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' की अभिज्ञता है; और जो प्रमाण है इस बात का कि हिन्दी-पत्रकारिता का जन्म ही नहीं बल्कि नींव-निर्माण का ऐतिहासिक कार्य भी कलकत्ता में ही हुआ। स्मरणीय है कि यह

कार्य उस युग में हुआ था जब क़दम-क़दम पर प्रत्यूह थे। पत्रकारों को एक ओर सरकारी दमन-नीति से लड़ना था, दूसरी ओर हिन्दी-समाज की कूपमण्डूकता से जूझना था। लड़ाई बड़ी कठोर थी। प्रचार-प्रसार के साधन अविकसित थे। प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व सम्पादक पर ही था। लेकिन उन की निष्ठा बड़ी पुष्ट थी और प्रतिकूल परिस्थिति से लड़ने का उन में अदम्य उत्साह था। इसी बल पर वे एक अहिन्दी-भाषी अंचल से सारी प्रतिकूलताओं से लड़ते हिन्दी का इतना महत् कार्य कर सके। इसी उपलब्धि को लक्ष्य कर स्व० पं० विष्णुदत्त शुक्ल ने 'माधुरी' में लिखा था कि "कलकत्ता में हिन्दी पत्रों के सम्बन्ध में जब इतना कार्य हो चुका था, तब तक दूसरे स्थान पर हिन्दी का एक भी समाचारपत्र प्रकाशित नहीं हो सका था। कलकत्ते के लिए यह गौरव की बात है कि हिन्दी जिस प्रान्त की प्रधान भाषा, उस प्रान्त में भी जब हिन्दी के समाचारपत्र प्रकाशित नहीं हुए थे, तब उस ने एक नहीं, अनेक समाचारपत्र निकाले।" इतना ही नहीं उत्तर उन्नीसवीं और पूर्व बीसवीं शताब्दी में कलकत्ता से हिन्दी के कई ऐसे तेजस्वी पत्र निकले जिन से न केवल हिन्दी पत्रकारिता और पत्रकारकला उन्नत हुई बल्कि खड़ी बोली के विकास को गति और परिनिष्ठित रूप मिला, खड़ी बोली साहित्य को राष्ट्रीय भूमिका मिली।

राष्ट्रीय चेतना के उन्नायक पत्रों की वस्तु-विवेचना के पूर्व उस जातीय परिवेश का—पुनर्जागरण की विविध धाराओं का मूल्यांकन आवश्यक था जिस के बीच सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा था, सामाजिक और नैतिक कलुष-प्रक्षालन के उपक्रम हो रहे थे और राष्ट्रीय चेतना का विकास हो रहा था। हिन्दी-पत्रकारिता के द्वितीय चरण की पृष्ठिका-चर्चा के रूप में इसी का विस्तृत विवेचन है।

राजा राममोहन राय से ले कर महात्मा गान्धी तक की भारतीय राष्ट्रीयता के बदलते स्वर का हिन्दी-पत्रों ने किस रूप में साथ दिया है, इस की प्रामाणिक अभिज्ञता पूर्व अध्येताओं-द्वारा अप्रस्तुत ही रह गयी थी। विस्तृत विवेचना के साथ पहली बार यह तथ्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है कि हिन्दी-पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की कहानी है। हिन्दी-पत्रकारिता के आदि उन्नायक जातीय चेतना, युग-बोध और अपने महत् दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत थे। कदाचित् इसी लिए विदेशी सरकार की दमन नीति का उन्हें शिकार होना पड़ा था, उस के नृशंस व्यवहार की यातना झेलनी पड़ी थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य-निर्माण की चेष्टा और हिन्दी प्रचार आन्दोलन अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थिति में भयंकर कठिनाइयों का सामना करते हुए भी कितना तेज और पुष्ट था इस का साक्ष्य 'भारतमित्र' (सन् १८७८ ई०), 'सारसुधानिधि' (सन् १८७९ ई०) और 'उचितवक्ता' (सन् १८८० ई०) के जीर्ण पृष्ठों पर मुखर है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक का पत्र है—'हिन्दी बंगवासी' जिस के माध्यम से अनेक पत्रकारों ने अपनी क़लम माँजी। इस ने अनेक तेजस्वी पत्रकार प्रस्तुत किये।

हिन्दी-पत्रकारिता का तीसरा चरण बीसवीं शताब्दी के साथ ही आविर्भूत हुआ। राष्ट्रीय स्वर काफ़ी स्पष्ट हो गया। विदेशी बहिष्कार और स्वदेशी-प्रचार-आन्दोलन को अपेक्षित दिशा-दृष्टि देने वाले महापुरुषों का आविर्भाव हुआ। बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय और अरविन्द घोष भारतीय राजनीति का नेतृत्व कर रहे थे। स्वदेशी भाषा और स्वदेशी साहित्य का प्रचार राष्ट्रीय चेतना के विकास का ही एक रूप माना गया। हिन्दी साहित्य का द्विवेदी युग, जो अपनी कट्टर राष्ट्रीयता के लिए प्रसिद्ध है, इसी समय शुरू हुआ था। हिन्दी साहित्य का नेतृत्व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों में था और कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता में सब से ओजस्वी स्वर था बाबू बालमुकुन्द गुप्त का। द्विवेदी जी के हाथ में 'सरस्वती' की शक्ति थी और गुप्त जी की वाणी में 'भारतमित्र' का बल। 'सरस्वती' और 'भारतमित्र' के माध्यम से पत्रकारिता का समग्र उद्देश्य अर्थात् भाषा, विचार, साहित्य और राजनीति का कार्य पूरा हुआ। 'भारतमित्र'-सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त ने एक ओर लॉर्ड कर्जन-जैसे अत्याचारी और असहिष्णु गवर्नर को ललकारा तो दूसरी ओर आचार्य द्विवेदी-जैसे प्रभावशाली और शक्तिशाली पण्डित के व्याकरण-ज्ञान पर सन्देह प्रकट किया और भाषा विवाद ले कर उलझ गये। उक्त विवाद की यह ऐतिहासिक उपलब्धि है कि व्याकरण-व्यवस्था को एक नयी दृष्टि मिली। स्मरणीय है कि इस विवाद में हिन्दी के विशिष्ट वैयाकरणों और पण्डितों ने सक्रिय रुचि ली।

उग्र राष्ट्रीयता तिलक युग की पत्रकारिता की मुख्य विशेषता है। इस युग के विशिष्ट हिन्दी पत्र हैं, 'भारत मित्र,' 'मारवाड़ी बन्धु' और 'नृसिंह'। विशिष्ट पत्रकार हैं दुर्गाप्रसाद मिश्र, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और बाबूराव विष्णु पराड़कर। लक्ष्मण नारायण गर्दे भी इसी युग के पत्रकार हैं जिन्हों ने स्वीकारा था कि "पत्र-सम्पादन के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने का मेरे लिए प्रत्यक्ष कारण—'स्वदेशी आन्दोलन' हुआ।" इसी युग का पत्र है—'देवनागर' जो 'एक लिपि विस्तार परिषद्,' कलकत्ता से सन् १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ था। और जो अपने स्वरूप-उद्देश्य में भारतीय पत्रकारिता में एक नया प्रयोग था। सम्पूर्ण देश की भाषा के लिए देवनागरी लिपि को सामान्य लिपि की मान्यता दिलाने के उद्देश्य से प्रकाशित इस पत्र का सांस्कृतिक और राष्ट्रीय महत्त्व असन्दिग्ध है। महत्त्व की बात यह है कि 'देवनागर' लिपि के साथ ही अन्य राष्ट्रीय प्रश्नों को भी बड़ी गम्भीरता से उठाता था जिन में मुख्य था भाषा का प्रश्न। देवनागरी लिपि के साथ ही 'देवनागर' ने हिन्दी भाषा का पक्ष-समर्थन किया था। हिन्दी के पक्ष में देश-विदेश के अनेकानेक अहिन्दी-भाषी मूर्धन्य पण्डितों के मत उद्धृत कर इस पत्र ने हिन्दी भाषा की राष्ट्रीय महत्ता उद्घाटित की थी। 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के संस्थापक और 'देवनागर' के संचालक थे बंगीय महापुरुष न्यायपति श्री शारदाचरण मित्र।

गान्धी-युग की पत्रकारिता के साथ ही साहित्यिक पत्रकारिता का अध्याय शुरू

होता है। 'सरस्वती' की शक्ति ज्यों की त्यों थी। उस की राष्ट्रीय संसक्ति और आदर्शवादी स्वर अम्लान था। 'माधुरी', 'सुधा', 'मतवाला', 'हंस' और 'विशाल-भारत' का प्रकाशन इसी युग में हुआ। इस युग की पत्रकारिता की सब से बड़ी साहित्यिक उपलब्धि है आधुनिक काव्य की स्वच्छन्द धारा। कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता का यह अध्याय 'मतवाला' से महिमान्वित हुआ। 'मतवाला' के माध्यम से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ स्वच्छन्दतावादी कवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का नाम उजागर हुआ। 'मतवाला मण्डल' के ही प्रमुख सदस्य थे आचार्य शिवपूजन सहाय जो प्रथम श्रेणी के गद्यकार थे। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के 'विशाल भारत' के माध्यम से कई साहित्यिक विवाद उठे जिस में शीर्षस्थ लेखकों ने भाग लिया। 'विशालभारत' में विविध रुचियों का गम्भीर साहित्य प्रकाशित होता था। कई ऐतिहासिक महत्त्व के लेख प्रकाशित हुए जिन में एक है हिन्दी के प्रथम पत्र के सम्बन्ध में बंगला साहित्य के सुधी अन्वेषी ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी का लेख, और दूसरा है प्रख्यात भाषाविद् डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय महाशय का वह वक्तव्य जो हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में पूर्वग्रह-मुक्त हो कर उन्हों ने दिया था। पहले लेख ने एक नया तथ्य प्रस्तुत किया था, दूसरे ने एक राष्ट्रीय समस्या का समाधान। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी की देख-रेख में रामकृष्ण मिशन से 'समन्वय' नाम की अध्यात्म-साहित्य की पत्रिका इसी युग में निकली। इसी युग के पत्र हैं 'हिन्दू-पंच' और 'सेनापति' जिस के माध्यम से उग्र हिन्दू राष्ट्रीयता मुखर हुई। कलकत्ते के यशस्वी हिन्दी-पत्रकार मुन्शी नवजादिक लाल 'मतवाला मण्डल' के ही सदस्य थे जिन के सम्पादन में 'सरोज' नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन इसी युग में हुआ था जिसे नये-पुराने विशिष्ट साहित्यिकों का सहयोग प्राप्त था। पं० रामगोविन्द त्रिवेदी के सम्पादकत्व में प्रकाशित होने वाले 'सेनापति' के शीर्ष पृष्ठ पर तथा 'सरोज' और 'हिन्दू पंच' में उन दिनों छपने वाली पं० केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की कविताएँ राष्ट्रीयता की सांस्कृतिक धारा को गतिशील कर रही थीं। कलकत्ते से बाहर 'माधुरी', 'सुधा' और 'हंस' के द्वारा नयी संचेतना और नया गद्यरूप प्रकाश में आ रहा था।

हिन्दी गद्य के निर्माण में अनेक दिशाओं से प्रयत्न हुए हैं और गद्य का वर्तमान रूप असंख्य साधनाओं का परिणाम है। किन्तु सब से बलवती साधना पुराने पत्रकारों की है। कलकत्ते के हिन्दी पत्रकारों ने इस गद्य के आरम्भिक रूप को किस प्रकार सजाया-सँवारा और उसे पुनर्जागरण-कालीन भारतीय राष्ट्र की समस्त आकांक्षाओं और सम्भावनाओं के समर्थ माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया, इस का संकेत यथास्थान किया गया है और हिन्दी गद्य के निर्माण में कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता के योगदान का मूल्यांकन एक स्वतन्त्र अध्याय में किया गया है।

पुराने पत्रकार अपना सब-कुछ होम कर हिन्दी भाषा, साहित्य और संस्कृति के उन्नयन की आकांक्षा रखते थे। उन की निष्ठा बड़ी पुष्ट थी, इस लिए प्रतिकूलता की मार उन्हें विचलित और आदर्श-च्युत नहीं कर सकती थी। कुछ विशिष्ट पत्रकारों

के व्यक्तित्व-विवेचन-द्वारा पुरानी आलोकवर्षी परम्परा का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

एक बड़ी बात सामने आती है कि जिस प्रकार राजा राममोहन राय से ले कर डॉ० राममनोहर लोहिया तक भारतीय राष्ट्रीय चेतना का प्रायः प्रत्येक पुरस्कर्ता पत्रकार भी रहा है, इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य के अधिकांश कृती लेखक कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में पत्रकार रहे हैं। जहाँ तक कलकत्ते के हिन्दी पत्रकारों का प्रश्न है, छोटूलाल मिश्र, दुर्गाप्रसाद मिश्र और सदानन्द मिश्र की प्रतिभा-शक्ति 'भारतमित्र', 'उचित वक्ता' और 'सारसुधानिधि' के पृष्ठों पर अंकित है। रुद्रदत्त शर्मा भी कलकत्ते के ही तपस्वी पत्रकारों में थे। परवर्ती काल के पत्रकारों में कुछ ऐसे नाम हैं जो सच्चे अर्थों में हिन्दी के गौरव हैं। बालमुकुन्द गुप्त, बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मणनारायण गर्दे, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, शिवपूजन सहाय, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी और सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' हिन्दी साहित्य के ऐसे विशिष्ट नाम हैं जो किसी समय कलकत्ते में हिन्दी के पत्रकार थे।

इन ऐतिहासिक उपलब्धियों की विस्तृत विवेचना, कदाचित् पहली बार, पिछले अध्यायों में की गयी है।

परवर्ती काल में औद्योगिक विकास के साथ ही मुद्रण-कला में अपेक्षित विकास हुआ जिस से पत्रों का संघटन पक्ष पुष्ट हुआ है और रूप-विन्यास में सुरुचि दिखाई पड़ने लगी है। विविधता आयी है, किन्तु पत्रकार की निष्ठा और मनोबल में ह्रास हुआ है। रूप सजा-सँवरा है और दृष्टि मन्द पड़ी है, क्यों कि साम्प्रतिक पत्रकारिता व्यावसायिकता के चंगुल में फँस गयी है। और सरकारी पुरस्कार-अलंकार पाने की ललक तथा सरकारी खेवे-खर्चे पर विदेश-यात्रा की हमारी रंगीन भूख हमें मजबूर करती है ग़लत बातों का समर्थन करने के लिए। हमारी साधना का एकान्त उद्देश्य है उस मौक़े की तलाश जो वाकचिक्य की स्पर्द्धा में हमें आगे बढ़ा दे। पूरी पीढ़ी के साथ ही पत्रकार और साहित्यकार भी देश-निर्माण की चिन्ता से नहीं देश को भोगने की भूख से पीड़ित हैं। और बड़ी विडम्बना है कि हम विकास और समृद्धि का दावा करते हैं। यह दावा शायद इस लिए है कि हम देश की सीमा लाँघ कर विदेशी विचार-दर्शन से प्रतिबद्ध हो गये हैं। पूर्वग्रह को दृष्टि मानते हैं और अनास्था की दर्शन-रचना में ही अपनी रचनात्मक शक्ति की सार्थकता दिखाई पड़ती है। सारांश यह कि हिन्दी-पत्रकारिता का अतीत जोखिम से भरा था, क्यों कि वह देश-सेवा का एक सशक्त सक्रिय माध्यम था और आज वही स्वार्थ-साधन का कदाचित् सब से निरापद और सस्ता माध्यम बन गया है। शायद इसी लिए इस ओर निरापद जीवन के अभिलाषियों या कि अतिरिक्त आत्म-विज्ञापन की आकांक्षा से पीड़ित लोगों की

भीड़ बढ़ती आ रही है। यह अवरुद्ध जातीय चेतना का प्रमाण है कि जब हमारे ऊपर राष्ट्र-निर्माण का दायित्व आया है, हम व्यक्ति सुख की आकुल आकांक्षा से पीड़ित हैं कि अपने बाहर का उतना ही संसार दिखाई पड़ता है जो हमारी सुख-सुविधा की सामग्री जुटाने में सहायक है। इस प्रकार पत्रकारों की उस पीढ़ी से हम बहुत दूर चले गये हैं जिन की पूरी श्रमसाधना देश के उद्धार-उन्नयन के लिए थी। इसी पीढ़ी की स्वस्थ परम्परा की वैशिष्ट्य-विवेचना इस प्रबन्ध-द्वारा प्रस्तुत की गयी है। जातीय-जागरण में पुराने पत्रकारों के ऐतिहासिक अवदान और कृती भूमिका की विस्तृत विवेचना करते साम्प्रतिक युग की अभाव-उपलब्धि का भी मूल्यांकन एक स्वतन्त्र अध्याय में किया गया है और अन्ततः यह सुझाव-संकेत दिया गया है कि चूंकि पत्रकार का दायित्व है देश-दशा को सही दिशा की ओर प्रेरित करना, दृष्टि देना, इसी लिए आवश्यक है कि साम्प्रतिक चेतना के साथ ही वह अपनी परम्परा की सही अभिज्ञता रखे, मानसिक संकीर्णता और व्यक्तिगत कुण्ठाओं से विरत हो कर राष्ट्रीय प्रश्नों पर अपनी राय दे, लेकिन उदारता की उस सीमा पर न पहुँच जाये जहां जातीय धरातल छोड़ने की विवशता आ जाये और फ़ैशन नियति बन जाये। सब से बड़ी बात यह है कि आज पत्रकारों को पूर्वग्रह से मुक्त होना है ताकि औचित्य के पक्ष-समर्थन और सत्य की प्रतिष्ठा में उन से कोई त्रुटि न हो और उन के चलते पत्रकारों की प्राचीन आलोकवर्षी परम्परा बदनाम न हो जाये।

■ ■

परिशिष्ट : क

'उदन्त मार्तण्ड', 'वंगदूत', 'भारतमित्र', 'सार सुधानिधि', 'उचितवक्ता', 'देवनागर', और 'मतवाला' के प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी का अविकल उद्धरण-संकलन

उदन्त मार्तण्ड

इस का पहला अंक ३० मई सन् १८२६ ई० को प्रकाशित हुआ था। फुलस्केप साइज के इस साप्ताहिक पत्र के मुख्य पृष्ठ पर 'उदन्तमार्तण्ड' शीर्षक के नीचे संस्कृत की दो पंक्ति इस प्रकार मुद्रित रहती थीं—

उदन्त मार्तण्ड

अर्थात्

'दिवाकान्तकान्ति विनाध्वान्तमन्तं
न चाप्नोति तद्वज्जगत्यत्र लोकः।
समाचार सेवामृते ज्ञत्वमाप्तं
न शक्नोति तस्मात्करोमीति यत्नं॥

आरम्भ में ही प्रकाशकीय विज्ञप्ति 'इस कागज के प्रकाशक का इश्तिहार' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है जो इस प्रकार,—'यह उदन्तमार्तण्ड अब पहले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आजतक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जान्ने ओ पढ़नेवालों को ही होता है और सब लोग पराये सुख सुखी होते हैं जैसे पराये धन धनी होना ओ अपनी रहते पराई आंख देखना वैसे ही जिस गुण में जिस की पैठ न हो उसको उसके रस का मिलना कठिन ही है और हिन्दुस्तानियों में बहुतेरे ऐसे हैं कि पराई चाल देखकर अपनी यहाँ तक भुले हैं कि परायों में जो बुद्धिमन्त हैं वे अपनी तो बनाई है पर पराई पर भले बुरे का बराव करने का बाना बान्धते हैं ऐसी को धन कहा चाहिये जो इसमें वे बड़े कायर हैं जो इतने पर भी भाग टटोलते हैं बांह जो आंखों से सहज में देख सकेंगें उसको धोखे भी न देख कर आंखों को व्यर्थ माथे चढ़ावते हैं ऐसी ऐसी बातों के विचार से नाना देश के सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेंय ओ पराइ अपेक्षा ओ अपने भापे के उपज न छोड़े इसलिये बड़े दयावान करुणा ओ गुणनि के निधान सबके कल्यान के विषय श्रीमान् गवरनर जेनेरल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाटठाटा जो कोई प्रशस्त लोग इस खबर के कागज से लेने की इच्छा करें तो अमड़ातला की गली ३७ अंक मार्तण्ड छापाघर में अपना नाम ओ ठिकाना भेजने ही से सतवारे के सतवारे यहां के रहने वाले घर बैठे ओ बाहर के रहने वाले डांक पर कागज पाया करेंगे इसका मोल—महीने में दो रुपया ओ ओ डाक के

महसूल की तेहाई लिई जायगी और यहां से बाहिर रहते हैं उन को यहां रुपयेकी मनोती कर देनी होयगी काहे से कि महीने महीने के अन्तर रुपये भर पावने की रसीद भेजने में किसी जगह डेढ़ औ कहीं एक रुपया डाक का महसूल लगेगा औ कोई कारण पाय करके उस मध्ये फिर लखना पड़े तो फिर उतना खरच बैठेगा। इसमें दो रुपये के पटने में दो तीन रुपया महसूल का देना लगेगा इससे यहां की मनोती रहने से इतना खरच औ अबेर औ कलेश न होयगा।"

वंगदूत

राजा राममोहन राय के प्रसिद्ध पत्र 'वंगदूत' की उपलब्ध फ़ाइल में मुझे जो हिन्दी अंश मिला है उसे अविकल उद्धृत किया जा रहा है—

"बंगदूत ॥
दूतनि की यह रीति बहुत थोरे में भाषैं।
लोगनि को बहुलाभ होय वाही ते लाखैं॥
बंगला के दूत पूत यहि वायु को जानौ।
होय विदित सब देश क्लेश को लेश न मानौ॥

भारत खण्ड की ठकुराई औ राजनीति औ बनज वैपार औ विद्या अभ्यास के प्रकार औ सब देश के समाचार औ देशान्तरनि की विद्या औ सुघरता के प्रसंगनि के प्रसंगनि के शास्त्रार्थ युक्त यह समाचार पत्र बंगला औ काम पड़े से पारसी औ हिन्दी भाषा में प्रति सतवारे छपेगा जिस करके बहु भ्रान्ति के प्रयोजन के मूल सजीव होने की संभावना है अधिक करके इस देश औ पछाही वैपारियों के वैपार का उपकार विचार नगर कलकत्ते की बड़ी बाजार के आवते बानों की अरघौती बाजार भाव बंगले औ देवनागर अक्षरों में छपैगी जिस उपलक्ष से वैपारी लोग अपने गाँ के बानों का भाव समय पर जान सुचित हो लेने बेचने का जाच विचार कर अपने अपने धन्धे की घटी से बच बढ़ी के भागी हुआ करैं और इस समाचार के साथ अंगरेजी भाषैं और एक में समाचार ऊपर के लिये ब्योरों साथ छपेगा।

ज्ञानी गुणियों के छापे के कल की बढ़ती छोटे औ बड़ों की भलाई की रक्षा हेतु संग्रह की है उससे बधुजनों के समीप जैसा उपकार उपयोगी समझ पड़ा है जो उसका वर्णन अधिक है और योरोप की विद्या औ उपविद्या और इस औ उस देश के लोगों में रीति भान्त अच्छे प्रकार दृढ़ रहेगी औ विद्या सीखने की रीति से भी बृद्धि औ ज्ञान दिन प्रति बढ़ै औ उपकार होगा।

इन समाचारों के बीच माली और मुलकी कामों के विषय जो चर्चा रहेगी उस मध्ये बड़ा प्रण यह है कि पक्षपात रहित और उचित सहित होगा तो सहज ही यथार्थ आप से आप प्रकाश को पावैगा ॥

ए समाचार अैसे ही रायल क्वार्टो चौडे कागज पर छपेंगे और यही आठ पिठौता ऊपर की लिखी भाषों में औ सोलह पिठौते अंगरेजी भाषा में छपेंगे। सर्व किसी पर छिपी न रहे कि इन सब भाषों में जो समाचार और वृत्तान्त छपेगा वैसा ही उसका उलथा नहीं होगा पर भाषा की लिखावट अपने-अपने ढब पर अलग-अलग होगी फिर भी काम पड़ने से कभी उलथा भी होगा।

यह समाचार छपने का ठौर थी श्रीयुक्त गवरनर जेनरल बहादुर के आगार के पूर्व बांसतले की गली के ७ नम्बर के घर में ठहरा।

यह समाचार नित शनिवार की रात को छपवा भोर हो कर एतवार को उसके गांको को बांट दिया जावेगा इस कागज के अधिकारी मिष्टर आर यम् मार्टीन साहिब औ राम मोहन राय और द्वारकानाथ ठाकुर औ प्रसन्न कुमार ठाकुर औ नील-रत्न हालदार औ राजकृष्ण सिंह और राजनाथ मित्र ठहरे हैं।

दूसरा नियम यह है कि।

जो कोई इस समाचार लेने के लिये अपना नाम सबस क्रिप्शन की वही पर सही करैं जबतक उसके न लेने को सूचक चिट्ठी न भेजेंगें सही करनेवालों के समुदाय में लेखे जायेंगे और दोनों भान्त इस समाचार के चलने के लिए बंगला आदि भाषा में बंगदूत और अंगरेजी भाषा में अलग सही होता है और उसमें मोल महीना एक रुपया सब भाषों का और अंगरेजी भाषे का दो रुपया ठहरा औ सही करने वालों को आगे औ निरूपे समय पर जैसा उसका मोल लेना उचित समझा जायगा इस पिठौता के अन्त में लिखा जायगा।

इस समाचार के निवाहक नगर कलकत्ते में निधि अर्प मेकिन् टास कम्पनी औ नगर लन्दन में मिष्टर जेम्स रिचार्डसन नम्बर २३ कार्नहिल।

निज समाचार यह है कि।

जिस हेतु करके इस समाचार अध्यक्षों के यह मान्ने योग्य है कि बंगदूत नामका कागज एशिया संज्ञा पृथ्वी के इस प्रसिद्ध खण्ड में जो कुछ बीते औ होय लिपि की रीति से लिखैं इसलिये इस सम्बन्ध के प्रयोजन के उपयोगी समाचार जो कोई भेजेंगे वह बड़ा उपकार मान करके लिया जायगा।

सही का नियम ॥

मासिक मोल ३ तीन रुपया

तेमाही मोल (अगौता) ८ आठ रुपया।

साम्बतसरिक मोल (अगौता) ३० तीस रुपया।

भारत मित्र

भारतमित्र

मूल्य दो पयसा मूल्य दो पयसा

जयोऽस्तु सत्य निष्टानां येषां सर्व्वे मनोरथाः।

१ म खण्ड] कलकत्ता, संवत् १९३५ ज्यष्टै कृष्ण प्रतिपद शुक्रवार १७ मे १८७८ ई०
[१ म संख्या

भारतमित्र।

समाचार पत्रों से जो उपकार होता है, वो बम्बइ और बंगाले को देखने से साफ जान पड़ेगा; इस लिये इस विषय में बहोत लिखने का कुछ प्रयोजन नहीं है। क्योंकि जहांतक जिस देश में जिस भाषा में और जिस समाज में समाचार पत्र का चलन नहीं है तबतक उसकी उन्नति की आशा भी दुराशा मात्र है, कारण ये वो चीज है कि जिसे घर में कोठड़ी भीतर बैठके सारी दुनिया को हथेली पर देख लो अर्थात भूमण्डल में जहां जो कुछ विशेष बात होती है वो इसी के द्वारा प्रकाश होती है और अपना दुःख सुख प्रधान राज्याधिकारियों को सुनाने और प्रार्थना करने का ये ही मुख्य उपाय है यदि समाचार पत्र नहीं होय तो राजा को अपने प्रजा का कुछ हाल नहीं मालुम हो सके ऐसी दशा में राज्य शासन भी अच्छी तरह से नहीं हो सक्ता इसीलिए सुसभ्य प्रजाहितैषी राजा लोग समाचार पत्रों को स्वाधीनता दे के उत्साहित करते हैं।

इस्से राजा प्रजा दोनों को सुख प्राप्त होता है, कारण राजा को बिना परिश्रम वेतन के संसार के दूत मिल जाते हैं जो कि सर्वदा राजा को नाना तरह की खबरों से सावधान किया रहैं हैं और प्रजा की राजा तक अपना कष्ट और अभाव के निवेदन कर्ने का मुख्य उपाय और सुगम रास्ता यही है, क्योंकि समाचार-पत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होता है और मुख्य तो हृदय संस्कार करने को जैसा ये समर्थ है वैसा तो और कोई भी नहीं है।

प्रथम तो समाचार पत्र राज्य का प्रधान मंत्री और मध्यस्थ होता है, दूसरे वाणिज्य का तो जीवन स्वरूप है, जो कुछ वाणिज्य की उन्नति और बढ़ती दिखाई देती है वो इसी के प्रसाद से है, क्योंकि आज कल हिन्दुस्तान में सबसे बढ़ कर वाणिज्य की उन्नति बंबइ वालों ने करी है, यद्यपि कलकत्ता राजधानी है, और वाणिज्य

भी होता है तौ भी नफा और लाभ उन्हीं लोगों को है जिनकी भाषा में समाचार पत्र प्रचलित है यहां के वनज व्योपार में जितना लाभ अंगरेज यहूदी पारस लोगों को होता है इस्का क्या कारण है ? हमारी समझ से तो खबर का कागज ही इस का प्रधान कारण है। क्योंकि इस द्वारा देश देशान्तर के माल का भाव और आमदनी रफ्तनी की खबरों से माल की स्थिति और (इस्टाक) जानने से और सब देश और समय की घटना मालुम होने से वाणिज्य का भविष्यत अनुमान होय है, और तदनुसार काम करने से विशेष लाभ होना संभव है।

तीसरे इसे प्राय कृतविद्य देशहितैषी लोग अपने अपने चित्त का भाव लिख के प्रकाश करते हैं उस द्वारा विना पूछे भी अच्छे लोगों की परामर्श और सलाह मिलती है।

चौथे इस में वहोत से ऐसे विषय रहते हैं जिस्को पा मनुष्य वहुदर्शी और गुणवान हो जाते हैं। इसलिये उनको सभी काम सुगम हो जाये हैं और क्रम से उन्नति होके वहोत लाभ होता है।

परंतु वड़े दुःख का विषय है कि ऐसा उपकारी और देशहितकारी समाचार पत्र हिन्दुस्तान की राजधानी जो कि अब कलकत्ता है इसमें हिन्दुस्तानी महाजनों के पढ़ने लायक कोई भी नहीं है इससे हमलोगों की वहोत हानी होती है।

वड़े आश्चर्य की वात यह है कि आजतक ऐसा कोई समाचार-पत्र नहीं प्रचारित हुआ जिससे हियां के हिन्दुस्तानी लोग भी पृथ्वी के दूसरे लोगों को तरह अपने अक्षर अपने वोली में पृथ्वी की समस्त घटना को जान सकें क्या यह वड़ी पछतावे की वात नहीं है जब कि इस १९ वीं सदी में वंगाली तथा अन्यान्य जाति के आदमी अपनी २ वोली में केवल एक समाचार पत्र की उन्नति से विद्या में ज्ञान में दिन दिन उन्नत हुए जाते हैं और हमारे हिन्दुस्तानी भाइ केवल अज्ञान खटिया पर पैर फैलाये हुए पड़े हैं और ऐसा कोई नहीं जो इनको उस खटिया पर से उठा के ज्ञान की किरण उनके अन्तःकरण में प्रकाश करे वहोत दिनों से हम आशा कर्त्ते थे कि कोई विद्वान वहुदर्शी आदमी इस अभाव को दूर कर्ने की चेष्टा करेगें परंतु यह आशा परिपूर्ण न हुई।

इस आशा के परिपूर्ण न होने से और वहोत से हिन्दुस्तानियों को सांसारिक खबर जानने के लिये वंगालियों का मुंह ताकते देख कर हमारे चित्त में यह भाव उत्पन्न हुआ कि यदि एक ऐसा समाचारपत्र प्रचलित हो कि जिसको हमारे हिन्दुस्तानी और मारवाड़ी लोग अच्छी तरह पढ़ सकें और समझ सकें तो इस से हमारे समाज की अवश्य उन्नति होगी।

दूसरे कइ एक मित्रों ने भी हम को इस भारी काम को कर्ने की परामर्श दी और उन्ही की परामर्श से हमने इसको सर्वसाधारण के समीप भेजने के लिये स्थिर किया।

किन्तु एक वार यह चिन्ता हमारे चित्त को उत्साहित कर्त्ती थी दूसरी वार यह चित्त में आता था कि इस भारी काम में प्रवृत्त होना हमारे ऐसे अयोग्य और मूर्ख

का केवल सर्वसाधारण के आगे अपनी हंसी कराना है परंतु अंत को कई एक मित्रों की सहायता से और सर्वसाधारण की सहायता पाने की आशा से हम इस भारत मित्र को सर्वसाधारण के पास प्रेरणा कर्त्ते हैं (और जिसमें सब आदमी इसको ले सकें इस लिये इसका मूल्य केवल दो पैसा है) अब सबसे हमारी यह प्रार्थना है कि इस भारतमित्र को अपना देशी समझ कर ग्रहण करें।

सार सुधा निधि

सार सुधा निधि

कुमुद रसिक मनमोदकर हरि दुरद तम सरवत्र।
जगपथ दरसावैं अचल सारसुधानिधि पत्र ॥
काव्य रसायन यत्र तत्र सुदर्शन नृप चरित। सार सुधानिधि पत्र दोष व्यसन ज्वर विषम हर ॥

१ भाग] कलकत्ता सम्वत् १९३५ ता० १ माघ चन्द्रवार १३ जनवरी सन् १८७९ ई० [अंक १

'सारसुधानिधि' सम्बन्धीय विशेष नियम।

१/ "सारसुधानिधि" दाम केवल वार्षिक नियत रहेगा एक बरस के लिये पहिले देने वालों से ५) रुपै और विदेश विदेश वालों से डाक व्यय समेत ६॥=) छय रुपै दश आने।
और पीछे देनेवालों से ७) सात रुपै और पीछे देने वाले विदेशियों से ८॥=) आठ रुपै दश आने लिये जायेंगे। परन्तु तीन महीने के बाद देने वालों से पीछे देने वालों के हिसाब से लिया जायगा। राजा महा-

२/ "सारसुधानिधि" बिना दाम के नहीं दिया जायगा पर स्थल विशेष में विशेष आवश्यक होने से दाम की न्यूनाधिकता हो सकेगी।
३| विज्ञापन का दाम प्रति-पंक्ति =) दो आने परन्तु ज्यादा और बहुत दिनों के लिये देने वालों से अलग बन्दोवस्त किया जायगा।
४| दाम जिसको जिस प्रकार सुबीता होय भेजे पर प्टाम्प का टिकट केवल चिट्ठी का)॥ आध आने वाला लिया जायगा और

विशेष सूचना—
जिन लोगों को "सारसुधानिधि" लेने की इच्छा होय वो लोग अपना-अपना नाम धाम और पता ठिकाना अच्छे स्पष्ट अक्षरों में मेरे पास लिख भेजे। जिसमें "सारसुधा-निधि" ठिक-ठिक पहुँच सके।
कार्य्य सम्पादक
शम्भुनाथ मिश्र
कलकत्ता बड़ाबाजार
सुता पट्टि नं ६५।

राजाओं के सम्मान रक्षा के निमित्त साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उनलोगों से (राजा महाराजाओं से) दूना दाम लिया जायगा।

किसी प्रकार का टिकिट नहीं लिया जायगा।
और जो आध आने के टिकट में दाम भेजेगें उनको रूपै पीछे आध आना बट्टे का वेसी भेजना पड़ेगा।
और चिट्ठी पत्री भी टिकट वाली (stamped) ली जावेंगी वेरिं पत्रादि नहीं लिये जावेंगे।
५। "सारसुधानिधि" सम्बन्धीय चिट्ठी पत्रि सार सुधानिधि कार्य्य - सम्पादक शम्भुनाथ मिश्र के नाम में भेजनी होवेगी।

सारसुधानिधि।
ता० १३ जनवरी सन् १८७९ इ०।

—

अथ मङ्गलाचरणम्।

श्री हरिचरण प्रसाद तें,
जगमग जगत, प्रसिद्ध।
अक्षर नभ शुभ शरद में,
सार सुधानिधि सिद्ध।
सार सुधानिधि सिद्ध
शम्भु दुर्गा श्रुति शारद।
गणपति गणपति ब्रह्म,
ब्राह्म बुध बुद्धि विशारद।
गणपति गणपति सूर्य्य,
सुरसवर देहिं विजयश्री।
नमो ओम् गोविन्द,
सदानन्द मङ्गल जयश्री
स्वस्ति भवन्तोऽपि ब्रवन्तु।

आर्य्यों की ये प्रसिद्ध प्रथा रही है कि चाहे कोई भी कार्य्य प्रारम्भ करें सब के प्रथम मङ्गलाचरण करेंगे। कोई कठिन या सङ्कट का काम तो क्या, यदि किसी मित्र से मिलने भी चलेंगे तो अवश्य अभीष्ट देवता का नामोच्चारण कर लेंगे। इस से यह तो निःसन्देह प्रतीति होती है कि आर्य्य प्रधान हिन्दुओं जैसी पृथिवी में और कोई भी आस्तिक जाति नहीं है।

ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण करना इस देश का शिष्टाचार है, केवल शिष्टाचार ही नहीं प्राचीन आर्य्यों का मत है कि प्रथम मङ्गलाचरण करने से ग्रन्थ समाप्ति के प्रतिबंधक जो सब विघ्न हैं उनका नाश होता है तथा उसके पढ़ने वालों को भी सुख-समृद्धि वृद्धि होती है और ग्रन्थ या लेख पढ़ने का सम्पूर्ण फल प्राप्त होता है। ये मङ्गलाचरण वस्तु-निर्देशात्मक नमस्कारात्मक और आशीर्वादात्मक तीन प्रकार का होता है। हम लोगों ने भी अपने पूर्वाचार्य्यों की चिराचरित रीति अनुसार 'सारसुधा-निधि' जिस का कि महत् उद्देश्य है इसके प्रारम्भ

में श्री हरि नामोच्चारण पूर्वक त्रिविध मङ्गलाचरण करा है। अर्थात् श्री हरिचरण प्रसाद से ये सारसुधानिधि सिद्ध है अर्थात् चन्द्रमा जैसा सिद्ध है, क्योंकि अक्षर रूप शरदकालीन शुभ आकाश में जगमग जगत प्रसिद्ध है। और पुनः सार सुधानिधि चन्द्रमा, सिद्ध, दुर्गा, शम्भु, श्रुति, शारदा, गणपति मगनादि आठ गणों के पति सब पृथक-पृथक और सम्पूर्ण मगनादि २१ मात्रा वर्णावृत्त के पति ब्रह्मप्रजापति और मरीचि आदि ब्राह्म ऋषि बुध पण्डित, बुद्धि विशारद कवि और गणपति गणेश जी और उन के गण तथा पति अर्थात् राजा और सूर्य्य, सुरश्रवर देहि विजयश्री यहाँ तक मङ्गलमय वस्तु निर्देश द्वारा निर्देशात्मक मङ्गलाचरण कर इनके प्रति और गोविन्द तथा ओंकार स्वरूप सदानन्द, सच्चिदानन्द परब्रह्म को नमस्कारपूर्वक नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण और मङ्गल जयश्री शब्द द्वारा आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण सिद्ध हुआ। हम लोगों के बाहुल्यरूप से त्रिविध मङ्गलाचरण करने का विशेष अभिप्राय ये है कि संसार सदा आनन्द मङ्गल विराजमान रहे, अर्थात् जिस उद्देश्य से "सारसुधानिधि" ने जन्म ग्रहण करा है वो-बाधित होय।

आज हमलोगों का चिर संकल्पित सारसुधानिधि प्रकाश और प्रारम्भ हुआ, अतएव पाठक ! आप लोग भी सारसुधानिधि की मंगलकामना कर के स्वतिः स्वस्तिः स्वतिः कह कर स्वस्ति वाचन करिये।

प्रयोजन

अन्तिम अंश ही स्पष्ट है। वह इस प्रकार है।

दूसरा। जब तक देश की भाषा उन्नत नहीं होती, तब तक तो सम्पूर्ण उन्नति को कौन पूछता है क्रमोन्नती भी नहीं होती। हिन्दुस्तान की प्रधान हिन्दी भाषा की ये दशा है कि बहुत तो जानते ही नहीं हैं कि हिन्दी किसे कहते हैं। और हिन्दी लिखने वालों की संख्या अत्यंत ही कम है। विशुद्ध हिन्दी भाषा को सर्वादेयन करना आवश्यक है जिसमें कि थोड़े दिनों के बाद हिन्दी भी संस्कृत और अंग्रेजी जैसा आशानुरूप फल प्रसव करे। इस लिये यथार्थ हिन्दी भाषा का प्रचार करना और हिन्दी लिखने वालों की संख्या वृद्धि करना सारसुधानिधि का दूसरा प्रयोजन है।

तीसरा। देश देशान्तर की प्राचीन और नवीन, सामयिक घटना प्रकाश करके स्वदेशियों को बहुदर्शन कराना तीसरा प्रयोजन है।

चौथा। भारतवासियों की मानसिक तथा शारीरिक शक्ति नितान्त हीन और एकान्त जीर्ण हो गई है इसकी यथोचित औषधी द्वारा मनस्विता तेजस्विता और ओजस्विता आदि गुणों का संचार करना चौथा प्रयोजन है।

पञ्चम। इस देश के लोग वाणिज्य व्यापार करते हैं तथापि लाभ नहीं होने के कारण और ईश्वर दुर्विपाक से अतिवृष्टि—अनावृष्टि जनित घड़ी घड़ी दुर्भिक्षादिकों से महँगी के कारण प्रायः सभी क्रम से निर्धन होते जाते हैं इसलिये इनका प्रतिविधान करना, एका स्थापन, सामयिक व्यवहार, और सत्परामर्श देना आदि सारसुधानिधि का पञ्चम प्रयोजन है।

प्रतिज्ञा।

उपर्युक्त विषयों से पूर्ण "सारसुधानिधि" प्रति सप्ताह में प्रकाशित होयगा।

"सारसुधानिधि" यथासाध्य देश प्रतिनिधि स्वरूप हो कर सत्परामर्शदान द्वारा कर्तव्य साधन में नियुक्त रहेगा।

विचारकाल में पक्षपातशून्य विचार, और ग्रन्थादिकों की समालोचना करी जायगी। परन्तु ग्लानी और निन्दासूचक शब्दों से ग्रन्थकार किसी प्रकार अपमानित नहीं होयगे।

उचितवक्ता

उचितवक्ता

"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।"

१ भाग
१ अंक
कलकत्ता, सम्वत् १९३७ श्रावण शुक्ल प्रतिपद शनिवार ७ अग॰ सन् १८८० ईसवी

आगामि वार्षिक १॥)
डाक व्यय सहित २=)

किसी के दिन भी सदा एक से नहीं रहते, सुधाकर पहले अनन्त आकाश के एक कोने में रेखामात्र ही उदित होते हैं परन्तु क्रम से एक कला कर बढ़ते बढ़ते शेष सर्वावयन सम्पन्न हो अपना सर्वाङ्ग सुन्दर जगमोहन चन्द्रमुख दिखला प्राणीमात्र को विमोहित कर जिस समय अमृतस्रावी किरणों द्वारा वसुधा पर अजस्र सुधा वर्षण करते हैं, उस समय सभी के हृदय आनन्दोन्मत्त हो स्वाभाविक नृत्य करने लगते हैं, और सभो सौ सौ मुँह से पूर्णचन्द्र को सराहते हैं। परन्तु देखिये सुधानिधि की यह समृद्धिशाली उन्नत अवस्था सदा नहीं रहती केवल एक रात्रिमात्र, दुःख का विषय है कि इस एक रात्रि का भी निश्चय नहीं कभी कभी राहू जी आकर पूर्ण सुधानिधि के

सौन्दर्य मदोन्मत्त मुख में उसी रात को करखा लगा जाते हैं और साथ ही आकाश पट में ये भी लिख जाते हैं कि "किसी के दिन भी सदा एक से नहीं रहते" "अत्युत्थानं हिपतनाय"

पाठक ! जिस तरह सुधाकर इस सुविस्तीर्ण अनन्त आकाश की गोद में बैठ कभी सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित अत्युन्नत अवस्था को प्राप्त हो मदमत्त सरीखे हँसते और मुक्तहस्त हो कर अपने करों से अमृतदान करते दिखते हैं, और कभी कलाहीन हो मारे लज्जा के अपना मुँह छिपाने को आकाश ही में विलीन हो जाते हैं, उसी तरह भारत के सुधाकर भी इस अनन्त वसुधा तल पर समुदित हैं और कला की वृद्धि क्षय आदि का बखेड़ा बरवर ही से लगा हुआ है। जिस समय यह पृथ्वी अमावस की रात्रि के सदृश घोर अज्ञान तिमिर में डूबी हुई थी साम्हने अनगिनत पदार्थों के रहते भी मोह तम के प्रभाव से किसी को कुछ नहीं सूझता था कि कहाँ क्या है भारत चन्द्र भी उस समय वसुधाकाश ही में छिपे हुये थे। परन्तु किसी के दिन भी सदा एक से नहीं रहते हैं इसी कारण अज्ञान तिमिरावृत्त वसुधाकाश से असभ्यतारूप अमावस्या का अन्तर्ध्यान हुआ और भारत सुधानिधि के उदय होने का समय आया। इस समय के उपस्थित होते ही सुसभ्य आर्य्यकला[1] भारत सुधाकर के पंजाब प्रान्त में समुदित हुई और इस कमनीय सरल बंकिम मूर्ति की ज्ञान चन्द्रिका के प्रभाव से आप से आप ही अज्ञान तिमिर का नाश होने लगा सुतरां दिन पर दिन आर्य्यकला की वृद्धि होने लगी और भारत चन्द्र सर्वथा पुष्ट हो कर अपूर्व शोभा विस्तार करने लगे। कुछ काल में आर्य्यकला ने भारत चन्द्र बिम्ब का उत्तरार्द्ध (आर्य्यावर्त्त) हस्तगत कर लिया पर अभी भारत कला निधि का दक्षिणार्द्ध-भाग (दक्षिणात्य) तमसाच्छन्न ही था इस अंश में आर्य्यकला इस समय पर्य्यन्त भी वर्द्धित हो प्रवेश नहीं कर सकी थी तात्पर्य्य यह कि "आधे भारतविधु" तो आर्य्यकला सुशोभित और ज्ञानचन्द्रिका से आलोकित अर्थात् सब प्रकार से समृद्धिशाली और उन्नत थे, बाकी आधे सो अभी भी मोहतमाच्छन्न, मूर्ख हृदय सदृश असभ्य अवस्था ही में पड़े थे। ऐसे समय में रघुकुल केशरी यावदार्य्य कुल मुकुटमणि राजा रामचन्द्र की तेजोमय अपूर्व कलाओं ने भारत चन्द्र के अन्धकारावृत दक्षिण अंश में भी अपना विक्रम प्रकाश किया और भयङ्कर राक्षसाकार अज्ञानतम का नाश कर आर्य्यकला की वृद्धि के सहित दक्षिण अंश में भी ज्ञान चन्द्रिका का प्रकाश शनैः शनैः फैला दिया। पाठक ! उस समय स्वाधीन, उन्नत, समृद्धशाली, भारत सुधाकर की अपूर्व प्रभाविशिष्ट किरणों से समग्र वसुधाकाश आलोकित होता था और कृष्णपक्ष के कारण आजकल जो सब तारे इस वसुधाकाश में अपने प्रकाशों ही को सब से अधिक उज्ज्वल समझ उग्रभाव से चारों ओर चमचमाते दिख रहे हैं उस समय अपूर्व प्रभावशाली इस भारतकलानिधि के प्रकाश के साम्हने

---

१. यहाँ आर्य्यकला उस समय को समझना चाहिए जब कि आर्य लोग हिन्दूकुश पार हो भारत वर्ष प्रविष्ट हुए थे।

इन में से एक भी अपना मुंह नहीं दिखा सकता था। बिजली की रोशनी में जुगनू की जो दशा होती है, इन की उस समय वैसी ही दुर्दशा थी।

भारत चन्द्र की उन्नति का प्रवाह इस समय से अत्यधिक प्रबल होता चला भारत चन्द्र की कला दिन पर दिन बढ़ती चली अन्त को कुरु पाण्डवों के समय में आकर भारत चन्द्र की कलाओं का बढ़ना बन्द हो गया भारत चन्द्र पूर्णचन्द्र की शोभा धारण करने लगे कुरु पाण्डवों का समय भारत सुधाकर के पक्ष में मानों पूर्णिमा की सन्ध्या थी, परन्तु बड़े ही दुःख का विषय है कि इस पूर्णिमा की सन्ध्या को समग्र कलाओं कर के पूर्ण भारत कलानिधि वसुधाकाश में समुदित हुए तो सही परन्तु दुर्भाग्य के प्रभाव से दो घड़ी के बीतते न बीतते ही महाभयङ्कर भारत युद्ध राहू ने इस पूर्ण चन्द्र को आगिरासा देखते-देखते भारत चन्द्र की कलायें घटने लगीं प्रभा जाती रही, मुख मलीन हो गया, उस उज्वल चन्द्रमुख को राहू ने तवे सा काला कर दिया बस जो होना था हो लिया भारत के बुरे दिन आ गये, समग्र भारत में रोना मच गया उन्नति लक्ष्मी भी भारत सुधानिधि का मुँह काला देख मारे डर के यहाँ से ऐसी भागीं कि आज तक आने का नाम ही नहीं लेती हैं, पाठक! देखिए जो भारतचन्द्र वसुधाकाश में एक ही दिखाई देता था, हा! शेष उस की अब क्या दशा हुई, सत्य है, "किसी के दिन भी सदा एक से नहीं रहते" "अत्युत्थानं हि पतनाय।"

"जब तक श्वांसा तब तक आशा" भारतचन्द्र की ऐसी घोर दुर्दशा देख भारतवासी मृतवत हो गए थे सही, परन्तु आशा ने सो इन का पीछा तब भी नहीं छोड़ा था, ये लोग केवल एक मात्र आशा के बल पर अनिमेष नयनों से राहूग्रस्त भारतचन्द्र को देखते ही रहे और साथ ही साथ आशा भी उन के कानों में यह कहती रही कि "क्या हुआ देखो अभी फेर भारतचन्द्र राहू निर्मुक्त हो तुम्हारी आंखों को ठण्डा करते हैं।"

यों ही देखते-देखते बहुत दिनों के बाद विक्रम भोज आदि कलायें भारतचन्द्र मण्डल में झलकती दिखीं, देखते ही भारतवासियों के हृदय कुमुद खिल गये और आनन्द सर में हिल-हिल कर लगे नृत्य करने परन्तु सुख का समय अधिक स्थायी नहीं होता और यह भी प्रवाद है कि "सम्पत् सम्पत् का और विपत्ति विपत् का अनुसरण करती हैं, इस कारण उस आनन्दमय समय का तो प्रारम्भ होते ही नाश हो गया और भारत सुधाकर की अति प्रबल आकर्पणी शक्ति द्वारा आकृष्ट हो महाप्रलयकालीन प्रचण्ड महासमुद्रवत् उद्धत स्वभाव मुसलमान शत्रुरूप उद्दण्ड उदधि ने पुनः भारतचन्द्र को गर्भ में धारण कर लिया और कहीं फेर न निकल भागे इस लिए भारत के पाओं को पराधीनता की बेड़ी से सुशोभित कर दिया बस चलो स्वाधीन भारत का तो जो होना था वह यहाँ ही शेष हो गया। अनन्तर इंगलण्ड स्वर्ग से योरोपीय देवताओं ने आकर मुसलमान समुद्र को मथन करना प्रारम्भ कर दिया उस का फल यह हुआ कि सुधाकर भारत इन के हाथ लगा अब इन द्वारा भारत की फेर से उन्नति हो रही है, परन्तु पहिली

उन्नति और अब की उन्नति में अन्तर इतना ही है कि वह स्वाधीन भारत की उन्नति थी, उस उन्नति में उन्नतिमना स्वाधीनताप्रिय भारत सन्तानों का गौरव था, और यह पराधीन भारत की उन्नति हो रही है इस उन्नति में पदानत निवीर्य्य हम भारत कुल-तिलकों की अगौरव के सहित गर्दन नीची होती जाती है परन्तु एक यह तो निःसन्देह सौभाग्य का स्थल है कि भारतवासी सिर झुकाये हुये भी देवतुल्य अंगरेजों का अनेक विषयों में अनुकरण करने लगे हैं, इसी अनुकरण के प्रभाव से हिन्दुस्तानियों में अब थोड़े दिनों से समाचार-पत्रों का चलन हो गया है और अब करके यहाँ के लोगों को समाचार पत्रों के पढ़ने का भी कुछ-कुछ शौक हुआ दिखता है। इसी से आज दिन भारत में जितने पत्र प्रकाश होते हैं क्या बंगला, क्या हिन्दी, क्या पारसी, क्या गुजराती, क्या महरठी सभी पत्रों में प्रभाशाली अंगरजी पत्रों ही का प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हो रहा है उन्हीं के प्रकाश में इन पत्रों के दर्शन होते हैं। एक समाचार पत्र ही नहीं पूर्वोक्त अनुकरण वृत्ति के बल से प्रायः सभी कामों में हम लोग सुसभ्य अंगरेजों का अनुकरण करने लगे हैं, योरोपीय सभ्यता के अनुकरण से निःसन्देह उन्नति का जो प्रारम्भ हो गया है परन्तु जिन गुणों कर के अंगरेज देवतुल्य प्रतिष्ठित हो गये और सब से उन्नत सुसभ्य अवस्था को प्राप्त हुए हैं उन हितकर उदार गुणों का यथोचित अनुकरण यहाँ वाले यद्यपि नहीं कर सकते कारण अच्छे और उचित कार्य्यों का सम्पन्न करना बड़ा ही कठिन होता है, परन्तु कठिन समझ अच्छे विषयों का न सीखना यह बड़ा ही भारी दोष है जिस से यह दोष जाता रहे ऐसा कोई उपाय विधान करना अत्यन्त ही उचित है।

अब देखना चाहिये कि दोषनाशक सब से अच्छा उपाय कौन सा है? पाठक! अपना दोष चाहे कैसा ही भारी क्यों न हो अपनी आँखों के आगे तो अवश्य ही रहता है। अतएव बिना दूसरे के दिखाये, कहे, समझाये उन दोषों के नाश होने की सम्भावना नहीं रहती परन्तु इस के साथ ही दोष दिखाने वाले को भी उचितवक्ता और समदर्शी होना उचित है अन्यथा झूठे दोष दिखाकर अकारण ही किसी को आक्रमण करने से सिवाय झगड़ा बढ़ा कर गाली खाने के और कुछ फल नहीं होता अतएव ऐसे स्थल में यथार्थ समदर्शी उचित परामर्शदाता उचितवक्ता का अत्यन्त ही प्रयोजन है। पाठक! इस निमित्त आज यह उचितवक्ता आप लोगों के सम्मुखीन है। पूर्वोक्त दोषों का निवारण करना ही इस का एक मात्र उद्देश्य है। अपने यथार्थ दोषों को इस में अंकित देख कर भी यदि कोई इस पर क्रुद्ध होंगे तो इस विषय में इस का कुछ दोष नहीं कारण "हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।"

॥ श्रीः ॥

देवनागर

श्री मद्भारतवर्ष भूति भरितैर्नाना विधै मोपणैः ।
पूर्णं भारत भव्य मानव मनो वन्धाय सूत्रं दृढ़म् ॥
श्री देवाक्षर दक्ष मेक लिपि विस्तारै कवीरं नवं ।
पत्रं राजति "देवनागर" मही ! गृह्णन्तु तत्कोविदः ॥

वत्सर १] मेष, ५००९ कल्पब्द [अङ्क १
हिन्दी]

आविर्भाव

मनुष्य स्वभाव से ही एकताप्रेमी है। अद्वितीय परमात्मा का अंश होने के कारण चित्र विचित्र पटावलम्बित संसार को एकता के सूत्र में गूंथने की इच्छा उसे सदा बनी रहती है। वह यही चाहता है कि अपना मण्डल दूर तक फैले; इसी में विविध वस्तुओं का समागम हो; उच्च, नीच, सम तथा बाल, युवा, वृद्ध, आदि अपने स्थान पर इसी मण्डल में सुशोभित हों और सब भेदभावों को भूल कर परस्पर के प्रेम से प्रेमानन्द स्वरूप अद्वैत ईश्वर में एक हो जायँ। मनुष्य की यही स्वभावजात अभिलाषा भाषाओं को एक करने के विषय में भी चरितार्थ होती है।

जगद्विख्यात भारतवर्ष ऐसे महाप्रदेश में जहाँ जाति, पाँति, रीति, नीति, मत आदि के अनेक भेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, भाव की एकता रहते भी भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण एक प्रान्तवासियों के विचारों से दूसरे प्रान्तवालों का उपकार नहीं होता। इस में सन्देह नहीं कि भाषा का मुख्य उद्देश्य अपने भावों को दूसरे पर प्रगट करना है इस से परमार्थ ही नहीं समझना चाहिये अर्थात् मनुष्य को अपना विचार दूसरों पर इसी लिये प्रगट नहीं करना पड़ता है कि उस से दूसरे का भी लाभ हो किन्तु स्वार्थसाधन के लिये भी भाषा की बड़ी आवश्यकता है। इस समय भारतवर्ष में अनेक भाषाओं के प्रचार होने के कारण प्रान्तिक भाषाओं से सर्वसाधारण का लाभ नहीं हो सकता। भाषाओं को शीघ्र एक कर देना तो परमावश्यक होने पर भी दुस्साध्य-सा प्रतीत होता है। परन्तु इस अवस्था में भी जब यह देखा जाता है कि अधिकांश लोग काश्मीर से कुमारिकाअन्तरीप और ब्रह्मदेश से गान्धार पर्यन्त हिन्दी या इस के रूपान्तर का व्यवहार करते हैं, तब आशा है कि सब की चेष्टा अभिरुचि होने से

कालान्तर में प्रान्तिक भाषाओं के सम्मिलन से एक सार्वजनिक नूतन भाषा का आविर्भाव हो जायगा। कारण यह कि भारत की सभी प्रान्तिक भाषायें एक ही जननी संस्कृत से उत्पन्न हैं। यह कार्य थोड़े समय में सिद्ध नहीं हो सकता इस के लिये प्रत्येक प्रान्त के निवासियों को तन मन धन से चेष्टा करनी होगी। इसे प्रारम्भ में ही असम्भव या हास्यास्पद कह कर त्याग देना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। संसार का नियम है कि कठिन से कठिन कार्य भी अभ्यास और परिश्रम से सिद्ध हो जाता है। उन्नतिशील देश में अच्छे कार्य के अङ्कुर लगा देने पर साधारण सिंचाई से भी वह फल देता है। कई प्रकार की उन्नति की चेष्टायें इस समय इस देश में हो रही हैं। ब्रिटिश शासन का यह शान्तिमय सुसमय पा कर एक ऐसा वृक्ष भी रोपना चाहिये जिस में एक भाषारूपी सर्वप्रिय फल फले। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्त की भिन्न-भिन्न बोलियों को एक लिपि में लिखना ही उस आशानुरूप फल का देने वाला प्रधान अङ्कुर है। क्योंकि अनेक प्रान्तिक बोलियों के सरल करने की पहली सीढ़ी उन्हें एक सामान्य सर्वसुगम लिपि का वस्त्र पहनाना है जिस रूप में वह अपने चित्र विचित्र लिपियों का परिच्छद छोड़ कर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के निवासियों के सन्मुख आने पर सहज में पढ़ी जा सकें और थोड़े ही परिश्रम से समझी जा सकें। यह बात निर्विवाद है कि भाषा का प्रचार बढ़ने से उस की उन्नति भी अवश्य होती है। इस से साहित्य के पाठक तथा लेखक आदि सभी का लाभ होता है। किसी बुद्धिमान की युक्तियुक्त तथा पक्षपातशून्य ऐसी सम्मति नहीं हो सकती कि लिपि के परिवर्तन से प्रान्तिक बोली पर आघात पहुँचता है। इस के लिये सभ्य जगत उदाहरण है जहाँ की भिन्न-भिन्न बोलियाँ एक सामान्य लिपि में लिखी जाती हैं। जैसे जर्मन लिपि लिखने पढ़ने में आंख के लिये अत्यन्त हानिकारक है। अतएव विज्ञान आदि की पुस्तकें सब रोमन लिपि में छापी जाती हैं।

बहुतेरे प्रचलित अक्षरों में से चुन कर एक को सर्वसम्मत बनाने के लिये कई बातों का विचार कर लेना अवश्य है जिन में प्रधान यह है कि कौन सी लिपि उस देश के प्रायः सभी प्रान्तों में प्रचलित है अर्थात् किस एक लिपि के प्रचार करने से सभी प्रान्तों के लोगों को अपनी-अपनी प्रान्तिक भाषाओं के लिखने में विशेष कष्ट नहीं होगा। सौभाग्यवश भारत के पढ़े-लिखे लोगों में भी कोई एक लिपि प्रचलित हो सकती है? यदि हो सकती है तो कौन सी लिपि है जो भारत की सभी बोलियों को अपने रूप में ले कर सुधार देगी। इन प्रश्नों के समाधान करने से यही सिद्धान्त स्थिर हुआ कि देवनागराक्षर में ही यह विशेषता है कि वह भारतीय सभी भाषाओं के शब्दों को शुद्ध-शुद्ध स्पष्ट प्रगट कर सकती और पढ़ने में व्यर्थ समय भी नष्ट नहीं होने देती। इस में सन्देह नहीं कि एक प्रान्त के रहने वाले अपनी ही लिपि को सरल समझते हैं किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि सभी भाषाओं के लिये एक ही लिपि चलाना अभीष्ट है इस विचार से देवनागराक्षर की ही भारत में उपयुक्तता मानी जाती है। इस के सीखने में अधिक समय भी नहीं लगता और इस की लिखावट

ऐसी स्पष्ट है कि बच्चा और बुड्ढा सभी बिना कठिनाई के इसे बांच ले सकते हैं और अभ्यास करने से बहुत शीघ्र लिख भी सकते हैं। भारत में बहुत सी लिपियां ऐसी प्रचलित हैं जिन से काम चलता है और वह बहुत तेज लिखी जाती है किन्तु परिणाम यह होता है कि लिखने में शीघ्रता करने से पढ़ने के समय अत्यन्त कठिनाई झेलनी पड़ती है। यहाँ तक कि लिपि द्वारा अपने भावों को प्रगट करना जो लिखने का उद्देश्य था वह भी निष्फल हो जाता है। इन दोषों से रहित होने के कारण ही भारत में देवनागरी पक्षपाती बहुत हैं।

इन्हीं विचारों से उत्तेजित हो राजधानी कलकत्ते में कतिपय सुशिक्षित बुद्धिमानों ने "एक लिपि विस्तार परिषद" नाम की एक सभा स्थापित की है जिस का उद्देश्य है भारत की भिन्न-भिन्न प्रान्तिक भाषाओं को यथासाध्य यत्नों द्वारा देवनागराक्षर में लिखने और छापने का प्रचार बढ़ाना जिस से कुछ समय के अनन्तर भारतीय भाषाओं के लिये एक सामान्य लिपि प्रचलित हो जाय—अर्थात् इस का अभीष्ट यही रहे कि बंगला, मराठी, सिन्धी, बलूची, पश्तू, बर्मी, गुजराती, तैलंगी, तामिल, कनाड़ी, मलयालम, तुलू, पंजाबी, नैपाली, गुरमुखी, मारवाड़ी, सन्ताली, आसामी, उड़िया, हिन्दी आदि भाषाओं की पुस्तकों का प्रचार भारत के एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्त तक फैलाना जो पुस्तकें अपनी-अपनी प्रान्तिक लिपियों में लिखी रहने से प्रचलित नहीं हो सकतीं। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये परिषद् का यह पत्र "देवनागर" का आविर्भाव हुआ है।

इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है। इस से किसी प्रान्तिक पाठक के चित्त में यह भ्रम न उत्पन्न हो कि प्रान्तिक लिपि विलुप्त हो जायगी या उन की साहित्योन्नति में प्रतिबन्ध होगा क्यों कि सब प्रान्तों में प्रान्तिक लिपि के अतिरिक्त सुशिक्षित लोगों को रोमन तथा देवनागरी लिपियों का सीखना भी बहुधा आवश्यक है और भारतीय अन्य लिपियों की अपेक्षा देवनागराक्षर का प्रचार विदेश में भी अधिकतर है।

यह बात मुक्त कंठ से स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि इस समय प्रान्तिक लिपि और भाषा के साथ-साथ दूसरी लिपि और भाषा का ज्ञान भी मनुष्य जीवन का प्रधान अंग बन गया है। प्रचलित दो—लिपियों में—रोमन और देवनागर में—भारतवासियों का चित्त किस ओर झुकेगा यह दिखलाने की आवश्यकता नहीं है जब अंग्रेज और मुसल्मान आदि भी देवनागर की स्पष्टता और उपयोगिता सराहते हैं। भारतीय लिपियों की जननी देवनागरी लिपि ही है जैसे भाषाओं की जननी संस्कृत। देवनागर का व्यवहार चलाने में किसी प्रान्त के निवासी का अपनी लिपि वा भाषा के साथ स्नेह कम नहीं पड़ सकता। हाँ, यह अवश्य है कि अपने परिमित मण्डल को बढ़ाना होगा।

इस पत्र में साहित्य विषयक रोचक लेख तथा विज्ञान आदि विषय के भी उत्तम लेख प्रकाशित किये जायेंगे। कालान्तर में उन का भाषान्तर भी कर दिया

जायगा। प्रत्येक अङ्क में किसी न किसी प्रान्तिक भाषा के व्याकरण सम्बन्धी लेख अवश्य रहेंगे। और कुछ शब्दकोश भी। जिन से अन्य भाषाओं के समझने में सरलता हो और इस पत्र के पढ़ने में पाठकों का चित्त लगे। पहले इस पत्र को पढ़ने में पाठकों को बड़ी नीरसता जान पड़ेगी किन्तु इन की दूरदर्शिता, उपयोगिता तथा आवश्यकता का विचार कर सहृदय पाठकगण अनन्त भविष्यत के गर्भ में पड़े हुए पचास वर्ष के अनन्तर उत्पन्न होने वाले शुभ फल की आशा से इस क्षुद्र भेंट को अङ्गीकार करेंगे।

इस देश की वर्तमान दशा में जब मनुष्य अपनी ही मातृभाषा का यथाविध ज्ञान तथा व्यवहार नहीं रखता, बहुभाषी पत्र का निकालना दुष्कर जान पड़ता है। बहुभाषी पुरुष का मिलना तो दूर रहे उत्तरीय भारत की भाषा के साथ दक्षिणी भाषा का जानने वाला भी मिलना कठिन है। प्रायः दो वर्ष से इस की चेष्टा की गई, अच्छे-अच्छे भारतहितैषियों के साथ पत्र व्यवहार किया गया, कई समाचारपत्रों में विज्ञापन दिये गये और स्वयं मिल कर आजकल के शिक्षितों से सहायता माँगी गई किन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुए। निदान अपने ही पुरुषार्थ पर भरोसा कर अपने इस देवनागर को सर्वसाधारण के सन्मुख रखा है जिस के लिये कतिपय देश-हितैषियों की आँखें उत्सुकता से लगी हुई थीं और जिन्हों ने यथाशक्ति धन द्वारा सहायता भी की है।

इस वृहत् कार्य में साहित्य प्रेमी लेखकों को प्रान्तिक भाषाओं में लेख भेज कर सहायता देना उचित है। इन्हीं की सहायता पर इस की उन्नति निर्धारित है। इस अङ्क को तो परिषद ने टिड्डी की नाईं अपने वक्षस्थल पर अनन्त आकाश को उठाने का साहस करने के समान येन केन प्रकारेण प्रकाशित कर दिया है। इसी से इसे क्षुद्र अंकुर कहा है जिसकी पूर्ण वृद्धि तथा फलागम की आशा जगदीश्वर तथा पाठकों के हाथ में है।

इन कारणों को विचार कर बुद्धिमान पाठक "बह्वारम्भे लघुक्रिया" की प्रसिद्ध लोकोक्ति को देवनागर के इस प्रथम अङ्क पर चरितार्थ नहीं करेंगे प्रत्युत तन मन धन से इस के अभावों को दूर कर पूर्णतया सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेंगे।

देवनागर वत्सर १ (५००९ कल्पाब्द) से वत्सर ३ (५०११ कल्पाब्द) यानी तीन वर्ष की पूरी फ़ाइल स्व० जस्टिस शारदाचरण मित्र के पुस्तकालय में उपलब्ध है। इन के अलावे एक और फ़ाइल है जिस में पांच अंक है और जिस की रूप-रेखा परिवर्तित है। इस जिल्द के पहले अंक का पहला पृष्ठ इस प्रकार है—

श्रीः

देवनागर

नवपर्याय।

भारतीय भिन्न भिन्न भाषाओं के लेखों से विभूषित एक अद्वितीय सचित्र मासिक

श्रीमद् भारतवर्ष भूमि भरितैर्नानाविधैर्भाषणैः।
पूर्ण भारत भव्य मानव मनो बन्धाय सूत्रं दृढम् ॥
श्री देवाक्षर दक्ष मेक लिपि विस्तारक वीरं नवम्।
पत्रं राजति "देवनागर" महो! गृण्हन्तु तत्कोविदाः ॥

भाग १] कार्तिक १८३३ शकाब्द [संख्या १

नवीन व्यवस्था।

कई अनिवार्य्य कारणों से देवनागर के प्रकाश होने में आज कल इतना अधिक विलम्ब होता रहा कि, वह प्रायः वर्ष डेढ़ वर्ष पीछे पड़ गया था। इसके लिये हम अत्यंत दुखित हैं; पर बात हमारे अधिकार के बाहर की थी। इस देर के कारण देवनागर के संचालकों की जो हानि हुयी है, उसका उल्लेख कर हम अपने पाठकों का समय वृथा नष्ट करना नहीं चाहते। पर हमें उन से इस बात का दृढ़ आशा है कि आज तक उन्हों ने जिस प्रकार हमें आश्रय दिया है वैसा ही भविष्यत् में भी देगें। जिस में भविष्य में देवनागर ठीक समय पर प्रतिमास प्रकाश होता रहे, इस की पूर्ण व्यवस्था की गयी है। परमात्मा की कृपा और पाठकों का आश्रय पा कर देवनागर द्विगुण उत्साह के साथ एक-लिपि-प्रचार के लिये प्रयत्न करेगा।

इस अंक में पाठक कई नयी बातें पायेगें। प्रथमतः इस का आकार पहले से घटा दिया गया है, पर साथ ही पृष्ठ संख्या बढ़ा दी गयी है। पहले प्रति अंक में डेमाई चार पेजी पाँच फार्म रहा करते थे पर भविष्यत् में क्राउन चार पेजी छः फार्म रहेगें। पहिला आकार बहुत बड़ा होने के कारण अनेक पाठक उस से असन्तुष्ट थे। इसी से अब इस का आकार घटा कर हिन्दी के अन्यान्य मासिक पुस्तकों के बराबरी का कर दिया गया है। द्वितीय और बड़े महत्व का परिवर्तन यह किया गया है कि अब से इस के प्रत्येक अंक में चार फार्म भारतीय भाषाओं के और दो अंगरेजी के रहेगें।

एक लिपि का प्रश्न इस समय भारत व्यापी हो गया है, यह आनन्द की बात है। इसलिये देवनागर में कुछ स्थान ऐसी भाषा में लिखित लेखों को देना आवश्यक हुआ है जिसे भारतवर्ष के प्रत्येक प्रदेश के ऐसे शिक्षित सज्जन समझ सकें जो एक लिपि-प्रचार के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। हमारी भावी राष्ट्र भाषा हिन्दी अभी इस योग्यता को प्राप्त नहीं हुयी है कि उस के द्वारा भारत व्यापी आन्दोलन किया जा सके। वह शुभ समय जितना शीघ्र आवेगा उतना ही अच्छा है। पर जब तक वह नहीं आया है, तब तक हमें, इच्छा न रहते हुए भी, पर देशी भाषा से कुछ सहायता लेनी पड़ेगी। यूरोप की भी एक समय ऐसी ही अवस्था हुयी थी। पहले वहाँ राष्ट्रभाषा "लैटिन" पर यह भाषा केवल विद्वान ही समझ सकते थे और वे अपने भाव इसी के द्वारा प्रकट करते थे। इस से ज्ञान का प्रचार जैसा होना चाहिये था वैसा नहीं होता था। यह देख कर कुछ दूरदर्शी महानुभावों

ने देशी भाषा के प्रचारार्थ प्रयत्न करना आरम्भ किया। पर यह प्रयत्न उन्हें "लैटिन" भाषा के द्वारा ही करना पड़ता था! उन के सभी प्रयत्न का फल यह हुआ कि आज फ्रेञ्च भाषा (Lingua franca) यूरोप की राष्ट्रभाषा बन गयी है तथा अंग्रेजी भाषा की इतनी उन्नति हुयी है। इसी तरह हमें भी अपनी राष्ट्र-भाषा का पथ निष्कंटक करने में अंग्रेजी से सहायता लेनी पड़ेगी। यह सहायता लेने का एक और कारण है। कुछ लोग "रोमन" लिपि को भारत की राष्ट्रलिपि चाहते हैं। आजकल मदरास के पादरी नोलेस इस के लिये यथासाध्य प्रयत्न कर रहे हैं। आपने खास इंगलैंड भी यह आन्दोलन प्रारम्भ किया है। वहाँ के लोगों के सामने देवनागरी तथा अन्यान्य भारतीय लिपियों को अयोग्य सिद्ध करना तथा रोमन लिपि के प्रचारार्थ वहाँ के अधिवासियों से सहायता मांगना, आप का उद्देश्य है। यदि रेवरेण्ड मि० नोलेस का यह उद्देश्य सिद्ध हो गया तथा इंगलैंड के लोगों ने रोमन लिपि का प्रचार करना आवश्यक समझ लिया तो हमारी सरकार को भी उस के प्रचार में सहा-यता करनी पड़ेगी। उस अवस्था में नागरी का प्रचार करना और भी कठिन हो जायेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए जिस में प्रारम्भ में ही हम नागरी की उपयोगिता और श्रेष्ठता अंगरेजों को समझा सकें, इस के लिये देवनागर में अंगरेजी लेखों को भी स्थान देना आवश्यक हुआ है। इच्छा न रहते हुए भी हमें यह काम करना पड़ा है; इस के लिये हम पाठकों से क्षमा ही नहीं वरं उन की सहानुभूति भी चाहते हैं।

देवनागर के प्रकाशित होने में अधिक विलम्ब हो जाने के कारण, एक वर्ष में एक-लिपि-प्रचार के काम में जो उन्नति हुई है, उस की आलोचना हम नहीं कर सके। आनन्द की बात है कि, भारत वर्ष के प्रत्येक प्रदेश में एक लिपि की आवश्यकता अनु-भूत होने लगी है। श्रीमान् बड़ोदा नरेश और मद्रास गवर्नमेण्ट की प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य माननीय श्रीयुक्त कृष्ण स्वामी ऐयर बी० ए०, बी० एल० महोदय नागरी प्रचार के लिए यथासाध्य प्रयत्न कर रहे हैं। प्रयाग की नागरी प्रवर्द्धिनी सभा के उत्साही सदस्य भी इस के प्रचारार्थ यथासाध्य प्रयत्न कर रहे हैं। इस सभा के और हमारी परिषद् के प्रयत्न से गत दिसम्बर मास में प्रयागराज में एक-लिपि प्रचार के लिए एक कानफरेन्स भी की गयी थी। इस के अध्यक्ष का स्थान माननीय मिष्टर कृष्ण स्वामी ऐयर महोदय ने (आप उस समय मदरास हाईकोर्ट के विचार-पति थे) ग्रहण किया था। इस कानफरेन्स ने नागरी को ही भारतीय भाषाओं की एक लिपि होने योग्य बतलाया और इस के प्रचारार्थ प्रयत्न करने की आवश्यकता स्वीकार की। "नागरी में कौन कौन से चिन्ह और अक्षर बढ़ाने से उस में भारतीय सब भाषाएँ शुद्धता पूर्वक लिखी जा सकेंगी ?"—इस विषय पर जो सब से उत्तम लेख लिखेगा उसे सौ रुपया पुरस्कार देना श्रीयुक्त कृष्ण स्वामी ऐयर ने स्वीकार किया है। माननीय ऐयर महोदय का यह कार्य्य प्रशंसनीय है तथा आशा की जाती है कि

आप के प्रशंसनीय प्रयत्न और अदमनीय अध्यवसाय से हमारी नगरी में आवश्यक सुधार शीघ्र ही हो जायेगा। अस्तु। सारांश यह कि एक-लिपि प्रचार का आन्दोलन धीरे-धीरे पर दृढ़ता के साथ अधिकाधिक जड़ पकड़ता जा रहा है।

अन्त में हम यह कहकर यह लेख समाप्त करते हैं कि, देवनागर के लिए एक स्वतन्त्र प्रेस की व्यवस्था की गयी है तथा इस के लिए निर्णय सागर के उत्तम टाईप भी मँगाये गये हैं। इसे समय पर प्रकाश करने और सर्वांग सुन्दर बनाने में हमारी ओर से कोई भी बात उठा नहीं रखी जायगी। परमात्मा हमारे सहायक हों!"

मतवाला

मतवाला

(साप्ताहिक पत्र)

"अमिय गरल शशि-शीकर, रवि-कर राग-विराग भरा प्याला।
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह 'मतवाला'॥"

(प्रति प्याला दो पैसा नगद) (वार्षिक बोतल दो रूपया पेशगी)

वर्ष १] कलकत्ता, श्रावणी पूर्णिमा १९८० रविवार [संख्या १

मेरा पितल कोड !

(१) प्रति शनिवार को शनैश्चर की तलाश में मैं बाहर निकला करूँगा और दो पैसा नगद नारायण ले कर अस्थायी भक्तों को दर्शन दिया करूँगा।

(२) जो लोक दो रूपया डाक-व्यय सहित सालाना सलामी मेरे पण्डे के पास पेशगी जमाकर देंगे उन के घर ठीक समय पर बिना रोक-टोक सीधे पहुंच जाऊँगा।

(३) नक़दा नक़द का पक्षपाती होने के कारण वी० पी० की अपेक्षा मनी-

"रक्षा-बन्धन"

परिमल युत मृदु मन्द मलय वह गुञ्जत छन-छन मत्त मधुप गन,
उठत बीन झंकार चतुर्दिसि चढ्यो मदन जनु-करन कतहुँ रन।
पन-पिय-अवरन चूम चाँदनी, अलस चुवत तन सुधा-स्नेह-कन,
प्रकृति-पुरूष कर मिलन मनोहर अति सुखकर यह 'रक्षा-बन्धन'॥

—पुराने महारथी।

२ बढ़ गई शोभा सखी सावनी सलोनी हुई
बड़े भाग्य भारत के गये दिन आये फिर!
रक्षा से बँधे हैं भारतीयों के कोमल कर,

आर्डर द्वारा वार्षिक दक्षिणा लेना ही मुझे अधिक पसन्द है। इस से मेरा और मेरे भक्तों—दोनों का लाभ है।

मंगल मनाती क्यों न, रहा क्यों कलेजा चिर?
तारों इन सुनहलों के आगे सितारे सात
अथवा प्रकाश रहा बादल-दलों से घिर?
देख करतूत ऐसी वीरवर सपूतों की
भारत का गर्व से उठेगा या झुकेगा सिर?
कंगालों का कत्ल अहो इस 'राखी' के रंग में दिया,
भूत, वर्तमान, भविष्यत् है दोनों का तीनों लिया।
—"निराला"

चेतावनी

(१) लेख, कविता, समालोचनार्थ पुस्तकें और परिवर्तनार्थ पत्र आदि सम्पादक—'मतवाला' और मूल्य तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्रादि मैनेजर—'मतवाला' के पास नीचे लिखे पते से भेजना चाहिए—वाल कृष्ण प्रेस; २३ शंकर घोष लेन, कलकत्ता।

(२) कोई मुहर्रमी महाशय 'मतवाला' के लिए लेख भेजने का दुस्साहस न करें।

विज्ञापन दर।

जो सज्जन एक वर्ष के लिए छपवाना चाहेंगे उन से प्रति इन्च प्रति सप्ताह चार आने के हिसाब से छपाई पेशगी ली जायगी। ६ महीने के लिए उक्त दर का डेढ़ा—तीन महीने के लिए दूना और एक महीने के लिए तिगुना लिया जायेगा। एक महीने से कम का विज्ञापन नहीं लिया जायेगा। विज्ञापन की छपाई हर हालत में पेशगी ही ली जायगी।

मैनेजर—
"मतवाला"
वाल कृष्ण प्रेस;
२३ शंकर घोष लेन कलकत्ता।

दूसरे पृष्ठ पर 'आत्म-परिचय' है। दूसरा पृष्ठ भी अविकल उद्धृत किया जाता है।

"मतवाला"

"खींचो न कमानों को न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल है तो अखबार निकालो॥"
—अकबर।

श्रावण पूर्णिमा १९८०, रविवार तारीख २६ अगस्त १९२३

आत्म-परिचय।

एक दिन शिव-पार्वती कैलास-शिखर पर बैठे हुए थे। एक ओर लम्बोदर गजानन अपना सूँढ़ और कान हिला रहे थे, दूसरी ओर भीमोदर नन्दी पूँछ डुला कर मक्खियां उड़ाते हुए बड़े गौर से पागुर कर रहे थे। सामने बड़े-बड़े विकटानन और

विकृतानन बैठे हुए थे। शिव-पार्वती की शोभा भी निराली ही थी। वे भस्म रमाये और ये अङ्गराग लगाये ! ये सर्प लपेटे और वे जटा समेटे। ये बाघाम्बर ओढ़े और ये पीताम्बर पहने। उन की मद-भरी आंखे, इन की रस-भरी आखे ! उधर मुण्डमाला, इधर मुक्तामाला ! मालूम होता था मानो प्रलय के साथ सृष्टि बैठी हो, त्याग की बग़ल में शान्ति शोभती हो और विश्वास के साथ उपासना विराज रही हो। कुन्देन्दु-धवल कैलास ऐसा जान पड़ता था मानों पुण्यात्माओं की यशोराशि हो। बातों ही बातों में पार्वती ने पूछा—भगवन् ! प्रलय होने को अब कितने दिन बाकी हैं ? सवाल सुन कर शंकर जी बड़े जोर से ठठाकर हँसे और बोले,—'देवि ! क्या आज ही सृष्टि की तैयारी करोगी ?' पार्वती—मैं खेती करना चाहती हूँ। आप अपना नन्दी बैल दीजिए और कोई दूत भेज कर द्वारका से बलदेव जी का हल मँगा दीजिए तथा भैरव के कुत्ते को खलिहान की रखवाली के लिए नियुक्त कर दीजिए।' शंकर जी अट्टहासपूर्वक बोले—यह आज तुम्हें क्या सूझा है ? तुम्हें क्या कमी है जो खेती करने पर उतारू हुई हो ? पार्वती ने कहा—मेरे पीहर के निवासी भारतवासी अन्न बिना भूखों मर रहे हैं। मैं स्वयं हल चलाकर पृथ्वी की लुप्त उर्वरा शक्ति को पुनरूजीवित करना चाहती हूँ।' शिव जी फिर हँस कर बोले—"पहले खेत में खाद डालने की तैयारी करो, जोतने की चिन्ता पीछे करना। अनन्त शक्तिमयी काली बन कर रक्त-सिक्त कर डालो। फिर तो मांस मज्जा की खाद से मेदिनी खिल उठेगी। रक्त खारा होता है, खाद भी खारी ही होनी चाहिए। पार्वती खिलखिला उठी और बोली—मैं आप का असली मतलब ताड़ गयी। आप अपने भूत बैतालों को भोज देना चाहते हैं। —देवासुर-संग्राम में ली हुई पुरानी मुण्डमाल को बदलना चाहते हैं। किन्तु अब मैं भूल कर भी दुर्गा न बनूँगी।" शिव जी ने मुस्कुराते हुए कहा—"तो फिर काशी में अन्नपूर्णा के पास सम्वाद भेजो।" पार्वती—"उन्हे तो अपने ही पेट से फुर्सत नहीं है। वे तो रोज ही छप्पन प्रकार का भोग गपकती हैं। उन्हें दूसरों के पेट की क्या चिन्ता है ?" शिव जी—"अच्छा तो मैं वीरभद्र को भारतवर्ष की सच्ची दशा का पता लगाने के लिए तैनात करता हूँ और सख्त ताकीद किये देता हूँ कि, वहाँ जा कर वह असली हालत की जांच कर के मुझे खबर दें तो मैं शीघ्र सारी व्यवस्था कर दूँ। गणेश ! जरा वीरभद्र को भेजना तो।" पिता की आज्ञा पाते ही एकदन्त तुन्दिलकाय गजानन ने चिघाड़ते हुए कहा,—"वीरभद्र !"

मैं तो पास ही बैठ कर भर-भर खप्पर मदिरा पी रहा था। गजेन्द्र बन्दन से निकली हुई कर्कश ध्वनि बड़ी ही कर्कशता से एकाएक आकर मेरे कानों के पर्दे पर टकरा गयी। मैं चौंक पड़ा। योगिनी ने कहा जाओ दौड़ो; गणनायक पुकार रहे हैं। मैं दौड़ा हुआ उनके पास गया तो उन्होंने कहा कि तुम्हें पिताजी ने अभी पुकारा था, उन्हीं के पास जाओ। वहाँ गया तो उन्होंने कहा कि तुम्हें पार्वती ने बुलाया है।, मैं तो बेढ़प घपले में पड़ गया कि 'भगवती कहीं और किसी के पास न भेज दें। मालूम

नहीं इस बुलाहट का सिलसिला कहाँ जाकर खत्म होगा।' खैर जब मैं भगवती, पार्वती के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हुआ, तो वे बोलीं, तुम्हें गजानन के ननिहाल जाना होगा।" मैं—"क्या दक्ष प्रजापति की तरह आप के पिता जी भी कोई यज्ञ कर रहे हैं? भगवती—'यह पूछने से तुम्हें क्या गरज?" मैं—शायद यज्ञ विध्वंस करने के लिए मुझे जाना पड़े, क्योंकि सती के पिता का यज्ञ मैंने ही विध्वंस किया था।" भगवती—"तू बड़ा अमंगलवादी है। बिना समझे बूझे बीच में ही क्यों बुद्धि लड़ाने लगता है? भगवान शंकर ने हँस कर कहा,—वीरभद्र तो ठीक ही कह रहा है। उस पर बेकार लाली-पीली क्यों हो रही है? वीरभद्र! तुम इन के पीहर के पड़ोसी भारत-वासियों की वास्तविक स्थिति जांचने के लिए जाओ, वहाँ की हालत देख कर मेरे पास लगातार खबर पहुँचाओ।, फेंकने पर जहाँ तुम्हारा त्रिशूल गिर जाय वहीं आसन जमाओ, और सब श्रेणी के लोगों का हाल जानने के लिए घर-घर चक्कर लगाओ।"

आज्ञा पाते ही मैं भूतनाथ को सष्टांग दण्डवत किया और योगिनी के पास आया और वहाँ झटपट कर अस्सी सात सतासी खप्पर मदिरा चढ़ा गया। जिस तरह मरु-भूमि की यात्रा करने से पहले ऊँट एक ही बार सात दिन के लिए जल अपने पेट में भर लेता है उसी प्रकार भारतवर्ष की लम्बी यात्रा से पूर्व मैं ने भी खूब कस कर जमा लिया। अच्छी तरह ढाल कर जब मैं त्रिशूल ले कर खड़ा हुआ तब मालूम होने लगा कि, "पूर्व दिशा से एक भीषण हाहाकार क्रमशः गम्भीर होता हुआ हिमालय की दरियों को प्रतिध्वनित करता हुआ आ रहा है। मैं ने समझा कि कोई दैत्य है। मैं ने उस का संहार करने के लिए सरोष त्रिशूल फेंका। फेकने पर मुझे भगवान भूतेश की बात याद पड़ी। मैं ने सोचा, "हाय, अब अपने हेडक्वाटर का स्थान कैसे निश्चित करूँगा?,, इतना ही सोच कर मैं त्रिशूल की तलाश में अन्धाधुन्ध दौड़ा। न जाने, कितनी देर और कितनी दूर दौड़ने के बाद मैं ने अचानक देखा कि, "भागीरथी के तीर पर 'कलि कात्ता नगरी के मध्य, त्रिशूल खड़ा गड़ा पड़ा हुआ है।" फिर क्या था, देवाधिदेव 'महादेव' का नाम ले कर मैं ने वहीं आसन जमा दिया। मेरे डमरू निनाद द्वारा प्रतिध्वनित 'शंकर घोष' से समस्त नगरी गूँज उठी। किन्तु जिस दैत्य के लिए मैं ने त्रिशूल छोड़ा था उसका आज तक पता न लगा। उसकी आभा तो देखी किन्तु वह मायावी नजर न आया। उसकी छाया तो देखी पर वह छायापुत्र कहीं दिखाई न पड़ा। अतएव, उसकी तलाश में आज मैं कलकत्ते से बाहर निकला हूँ। मैं तो अपनी धुन का 'मतवाला' हूँ। जब उसकी तलाश करने पर तुल गया हूँ तो सारा संसार छान डालूँगा—कहाँ जायगा? किधर जायगा? एक न एक दिन पकड़ पाऊँगा, तो फिर 'मृत्युञ्जय का जप' भी रक्षा न कर सकेगा, क्योंकि मैं भी तो मृत्युञ्जय का मुसाहब हूँ और उन्हीं की प्रेरणा से आया हूँ।

शिव! शिव! नशे की झक में मैं क्या-क्या बक गया। अच्छा लहर ही तो है। लेकिन इस लहर में आप न पड़ियेगा। सिर्फ मेरी यात्रा का लक्ष्य स्मरण रखियेगा।

मैं अपनी यात्रा की रिपोर्ट नियमित रूप से प्रकाशित करता रहूँगा। उस में सच्ची और स्वाभाविक सूचना रहेगी। उस के द्वारा मैं यथेष्ट रीति से इस देश की आन्तरिक दशा बतलाऊँगा। लेकिन बतलाने का ढ़ंग निराला होगा। जो मेरी ही तरह स्वयं 'मत' वाला होगा, वहीं उस ढंग को समझने वाला होगा। राष्ट्र, जाति, सम्प्रदाय, भाषा, धर्म, समाज, शासन प्रणाली, साहित्य और व्यवपार आदि समस्त विषयों का निरीक्षण और संरक्षण ही मेरी योजना का अभिसन्धान है। मैं उसे पूरा करने के लिए संकोच, भय, ग्लानि, चिन्ता और पक्षपात का उसी प्रकार त्याग कर दूँगा जिस प्रकार यहाँ के नेता निजी स्वार्थ का त्याग करते हैं। इसी अभिवचन के साथ अब मैं अपने इष्टदेव का स्मरण करते हुए यात्रा-पथ पर आरूढ़ होता हूँ—

"सीस जटा गङ्ग वारे, भूख न भुजङ्ग वारे
गौरी अरधङ्ग वारे चन्द दुति वारे हैं।
खभ तुरङ्ग वारे मरदन अनंङ्ग वारे
अड़वङ्ग ढ़ंगवारे मुण्डमाल धारे हैं।
महा 'मतवारे' त्यों दाता हैं उमङ्गवारे
भूतन के संङ्गवारे नैन रतनारे हैं।
तान के तरङ्गवारे डमरू उपङ्गवारे
भङ्ग रङ्गवारे सो हमारे रखवारे हैं॥"

मतवाले की वहक, चलती चक्की, सर की दवा, कसौटी, सुलभ ग्रन्थ, प्रचारक-मण्डल की नई पुस्तकें। अन्तिम पृष्ठ पर विज्ञापन है—The complete works of swami Vivekanande) अनामिका लेखक पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी, ओटो भूतनाथ, भूतनाथ तेल।

अन्तिम पृष्ठ के एकदम अन्त में अंगरेजी में छपा है—Printed at the "Balkrishna Press"–23 Shankar Ghose lane Calcutta; by Mahadeo Prasad Seth and edited and published by the same from the "MATWALA OFFICE" 23 Shankar Ghose Lane Calcutta.

मतवाले की वहक !

(ऊपर के दो स्थल)

हिन्दुओं की संख्या उत्तरोत्तर घटती जा रही है, तो घटने दीजिए। सनातन धर्म को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा कीजिए। क्योंकि "ईमान सलामत है तो है आस खुदा से। मरती है अगर जाति तो मर जाय बला से !"

■ ■

परिशिष्ट : ख

विषयानुक्रमणिका

देवनागर

वत्सर–१–अंक १

१. आविर्भाव (हिन्दी)
२. देवनागरान्योक्ति पंचक (हिन्दी कविता) लेखक सैयद अमीर अली (देवरी–कलां–सागर)
३. आत्मज्ञान (बंगला) पं० दामोदर मुखोपाध्याय, कलकत्ता
४. माननीय सर गुरुदास बनर्जी, केटी० डी० एल्० (मराठी सचित्र)–ले०–सोमनाथ झाड़खण्डी, बी०ए०, कलकत्ता
५. भारतीयांची मातृलिपि (मराठी)–ले० पं० अनन्त वायु शास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
६. उर्दू जबान और हरूफतहज्जी (उर्दू) ले० बाबू प्यारे लाल नारायण (होशियापुर, पंजाब)
७. तारे (पंजाबी कविता) ले० बाबू निहाल सिंह (कलकत्ता)
८. कन्नड़ मार्ग दर्शिका (कनाड़ी) ले० पं० अनन्त वायु शास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
९. ग्रंथ माहात्म्य (नैपाली) गोर्खा पत्र से उद्धृत
१०. पद्माकर कवि (हिन्दी) अनजान कवि लिखित
११. हिन्दी मराठी शब्दबोध
१२. श्लोकेर जन्म (बंगला–कविता सचित्र)–शिल्प पुष्पांजलि से उद्धृत
१३. बुद्ध कालत्तिय तमिज्ह (तामिल) ले० चरक्केराम स्वामी ऐयंगार बी०ए०
१४. कर्नल फिलट का परिचय (हिन्दी सचित्र)
१५. पर्य्यवेक्षण (उर्दू) ले० लाला बाल मुकुन्द गुप्त
१६. चित्रविचित्र

अंक २

१. आविर्भाव (गुजराती) ले० पं० चतुर्भुज औदीच्य (कलकत्ता)
२. वीर रस (हिन्दी) ले० पं० अक्षयवट मिश्र (डुमरांव, आरा)
३. हिन्दी मराठी शब्दबोध : ले० पं० चतुर्भुज औदीच्य (कलकत्ता)

४. डॉक्टर राजेन्द्र लाल मित्र, सी० आई०, ई० (गुजराती, सचित्र) ले० पं० श्यामसुन्दर कृष्ण हरगोविन्द, बन्धु समाज, अहमदाबाद (कलकत्ता)
५. दण्डी कवि (कनाड़ी) ले०–पं० अनन्त वापु शास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
६. तुकाराम बोवी (मराठी) ले० पं० सोमनाथ शाड़सेड़ो बी०ए० (कलकत्ता)
७. नीतिर मूलतत्त्व कि ? (बंगला) नव्य भारत, अष्टादश खंड, हइते उद्धृत
८. कविता और वनिता (हिन्दी)
९. दैव भक्ति (तैलंगी) ले० पं० वि० कृष्ण स्वामय्य
१०. काठुरिया ओ यम (बंगला, कविता, सचित्र) स्वर्गीय राजकृष्ण राय द्वारा रचित
११. ग्रामग्राम (हिन्दी)
१२. पर्य्यवेक्षण (हिन्दी)
१३. चित्रविचित्र (हिन्दी)

अंक २

१. आविर्भाव (तैलंगी)
२. नीतिर मूल तत्व कि ? (बंगला) श्री नगेन्द्रनाथ चटोपाध्याय (नव्यभारत अष्टादश खण्ड हइते उद्धृत)
३. विश्वामित्र (मराठी) गोपालराय रंगनाथ (नागपुर)
४. समुद्र वर्णन (कनाड़ी कविता) ले० अनन्तवापु शास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
५. ग्रीष्म वर्णन (हिन्दी) ले० पं० अक्षयवट मिश्र (डुमराँव, आरा)
६. एक दृश्य (पंजाबी कविता) ले० बाबू नेहाल सिंह (कलकत्ता)
७. विद्या (नैपाली) ले० पं० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय (बनारस)
८. व्रजनिधि को पद (ढूंढाड़ी हिन्दी कविता) राय देवी प्रसाद, जोधपुर द्वारा प्राप्त।
९. ओड़िया भाषा (ओड़िया) ले० श्री कामता प्रसाद गुरु (रायपुर)
१०. बादशाहों को अपना शिनाख्त कराना मुस्किल पड़ता है (उर्दू) ले० सैयद अमीर अली मीर (देवरी कलाँ)
११. स्वर्गवासी राय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय बहादुर, सी० आइ० ई० (हिन्दी सचित्र)
१२. हिन्दी मराठी शब्दबोध ले० पं० चतुर्भुज औदीच्य (कलकत्ता)
१३. वेडराजन कथै (तामिल) ले० पं० राय स्वामी शास्त्री काव्यतीर्थ (कलकत्ता)
१४. दारा तथा औरंगजेब (हिन्दी सचित्र)
१५. संस्कृत साहित्य (गुजराती) केलवणी, माघ १९६३
१६. व्यापार विंशति (मलयालम कविता)–शिवलिंग स्वामी रचित
१७. पर्य्यवेक्षण (हिन्दी)
१८. चित्रविचित्र (हिन्दी)

अंक–४

१. आविर्भाव (तामिल)
२. श्री श्री दयानन्द चरित (बंगला सचित्र) ले० श्री सत्यबन्धुदास (कूच विहार)
३. राष्ट्रीय भाषा (मराठी) ले० पं० अनन्तवायुशास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
४. बांगला औ ओड़िया (ओड़िया) ले० श्रीयुक्त सत्यबन्धुदास (कूच विहार)
५. इतिहास (ओड़िया) ले० श्री चन्द्रमोहन महाराणा (श्री सत्यबन्धुदास द्वारा प्राप्त)
६. भक्ति पद्धति (कनाड़ी कविता) ले० पं अनन्तवायु शास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
७. वैदिक सृष्टि तत्व (बंगला) ले० श्रीयुक्त कोकिलेश्वर भट्टाचार्य, विद्यारत्न, एम०ए०, (कूच विहार)
८. नव रत्नेर अन्यतम रत्न (बंगला) ले० महामहोपाध्याय पं० सतीशचन्द्र आचार्य, विद्याभूषण, एम०ए०, एम० आर०ए०एस० (कलकत्ता)
९. कमाऊंनी हिन्दी ले० पं० तारादत्त शर्मा (सतगांव, दाराहाट, रानीखेत)
१०. हिन्दी व्याकरण (हिन्दी) साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ पं० राम अवतार शर्मा, एम०ए० (कलकत्ता)
११. अजामिल चरितम् (तामिल) ले० श्रीयुक्त एन० कृष्ण स्वामि, ऐयंगार (चय्यामपेट, तंजौर)
१२. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी सचित्र)
१३. केसरी (नैपाली)–सुन्दरी वर्ष १, लीला ९।१०
१४. संस्कृत साहित्य (गुजराती) केलवणी, माघ–फाल्गुन, १९६३।
१५. व्यापार विंशति (मलयालम कविता)
१६. भूषण जी जीवनी (हिन्दी) ले० पं श्यामबिहारी मिश्र, एम०ए० और शुकदेव बिहारी मिश्र बी०ए० (इटावा)
१७. पूर्व्वीय पंचरत्न (भोजपुरी कविता) स्व० पं० रामचरित्र तिवारी कवि (राजधानी, डुमरांव)
१८. हिन्दी मराठी शब्दबोध–ले० पं० चतुर्भुज औदीच्य (कलकत्ता)
१९. पर्य्यवेक्षण (बंगला-हिन्दी)
२०. चित्रविचित्र (हिन्दी-अंशतः सचित्र)

अंक–५

१. आविर्भाव (मराठी) ले० पं अनन्तवायु शास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
२. देवनागरी लिपि वर्णमाला (हिन्दी सचित्र)
३. व्यापार विंशति (मलयालम कविता)
४. पुरुषार्थ (पंजाबी) ले० पं० प्रभुदत्त शास्त्री, एम०ए० बी० टी० (सीनियर इंगलिश प्रोफ़ेसर–गवर्नमेण्ट ट्रेनिंग कॉलेज, लाहौर)

५. श्री स्वामी वारु राम उदासीन (हिन्दी सचित्र) ले० पं० अलयवट मिश्र (डुमरांव, आरा)
६. कवि प्रशंसा (नैपाली) ले० पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय (बनारस)
७. इन्दिया राजस्थान नङ्गल् (तामिल) श्री वाणी विलासिनी, वा० १, नं० ५
८. भारतवर्ष में बौद्ध धर्म (बंगला) ले० माननीय जस्टिस सारदा चरण मित्र, एम०ए०, बी०एल (जज, हाईकोर्ट, कलकत्ता)
९. हिन्दी व्याकरण (हिन्दी) ले० पं० रामावतार शर्म्मा पाण्डेय, काव्यतीर्थ, व्याकरणाचार्य, एम०ए०, (कलकत्ता)
१०. दान (सिन्धी) ले० बाबू छबोलदास मथुर (शिकारपुर, सिन्ध)
११. श्री श्री दयानन्द चरित (बंगला) ले० श्री सत्यबन्धुदास (कूच बिहार)
१२. पर्य्यवेक्षण (हिन्दी)
१३. चित्रविचित्र (हिन्दी-सचित्र)

अंक–६

१. आविर्भाव (बंगला)
२. एक भाषा व एक लिपि (मराठी) ले० पं० अनन्तबाबू शास्त्री जोशी (धारवाड़, बम्बई)
३. बुड़ी मायो मार्थी कै को हाथ (कूर्माचली) ले० पं भवानीदत्त जोशी, बी०ए० (मेयो कॉलेज–अजमेर)
४. स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त (हिन्दी) ले० पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (कलकत्ता)
५. सांख्य दर्शनेर आख्यायिका (बंगला) पं० श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य, विद्यारत्न, एम०ए० (कूचबिहार)
६. हिन्दी व्याकरण (हिन्दी) ले० पं० रामावतार शर्मा पाण्डेय, साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, एम०ए० (कलकत्ता)
७. जमान : के अजायबात (उर्दू) अखबार फैज आम ८ सितम्बर, १८९७ ई०
८. भारतवर्ष बौद्धधर्म (बंगला) ले०–माननीय जस्टिस सारदाचरण मित्र, एम०ए०, बी०एल० (जज-कलकत्ता हाई कोर्ट)
९. प्रहलादनुम् हिरण्य कशियुम् (तामिल) ले० एन० कृष्णस्वामी ऐयंगर
१०. श्री श्री दयानन्द चरित (बंगला) श्री सत्यबन्धु दास (कूच बिहार)
११. वनस्पति तेल (मराठी) ले० सैय्यद अमीर अली (मीर) (देवरी कला)
१२. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी)
१३. हिन्दी मराठी शब्दबोध–ले० पं० चतुर्भुज औदिच्य
१४. सात्विकी शारदीय पूजा (बंगला) ले० पं० शरच्चन्द्र शास्त्री (कलकत्ता)
१५. श्रीमान् शामशास्त्री (हिन्दी, सचित्र)
१६. पर्य्यवेक्षण (हिन्दी)

१७. चित्रविचित्र (हिन्दी)

अंक–७

१. प्रार्थना (हिन्दी)
२. आविर्भाव (कनाड़ी) पं० अनन्त वायु शास्त्री
३. मक़सद हयात (उर्दू) ले० दीवान-चन्द 'जमाना' कानपुर से उद्धृत
४. प्रश्नोत्तर माला (संस्कृत-हिन्दी) ले० लाला रामजैन ('जैनमित्र' वम्बई से उद्धृत)
५. क— वरसाद माटे प्रार्थना (गुजराती सचित्र)
   ख— रेन गिविंग इन्वोकेशन (इंग्लिश विथ पिक्टनेस)
   ग— पावसावर तोडगे (मराठी, सचित्र) ले० बालकृष्ण आत्माराम गुप्ते, एम०ए० जेड, एस राव साहब (भूतपूर्व नायब दीवान, इन्दौर। वर्तमान एसिस्टेण्ट सेक्रेटरी, विक्टोरिया मेमोरियल, गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया, कलकत्ता)
   घ— दृष्टिर निमित्त प्रार्थना (बंगला सचित्र)
   ङ— वृष्टि के लिए प्रार्थना (हिन्दी सचित्र)
६. दर्शन दर्शनम् (तामिल) ले० तिरु० ई० श्री निवासा चारियार (मद्रास)
७. विप्रवल्लभ कवि (हिन्दी-सचित्र) ले० पं० अक्षयवट मिश्र (सीनियर संस्कृत प्रोफिसर, मेरठ कॉलेज)
८. कन्नड़ विभक्ति रूप गण्ड (कनाड़ी) ले० पं० अनन्त वायु शास्त्री
९. दार्शनिक सृष्टि तत्त्व (बंगला) ले० पं० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य, विद्यारत्न, एम० ए० (कूच विहार)
१०. हिन्दी कनाड़ी शब्दबोध—ले० अनन्त वायु शास्त्री जोशी
११. उदेनवत्थु (पाली) ले० धम्मानन्द कोसम्बी (पाली अध्यापक एवं परीक्षक, कलकत्ता—विश्वविद्यालय)
१२. शुर्फा की औलाद (उर्दू कविता) सैयद अमीर अली द्वारा प्राप्त (देवरी, सागर)
१३. प्राकृत व्याकरण (हिन्दी) ले० पं० शिवनन्दन त्रिपाठी (भूतपूर्व संस्कृत प्रोफेसर, विहार नेशनल कालेज, बांकीपुर)
१४. श्री गुह्यकाली स्तुतिः (नैपाली कविता)—'सुन्दरी'—लीला ६, वनारस से उद्धृत।
१५. स्त्री जाति ओबुद्धदेव (उड़िया) ले० श्रीकृष्ण प्रसाद चौधरी।
१६. जापानियों का देशप्रेम (हिन्दी) ले० वाबू वैद्यनाथ नारायण सिंह, एम० ए०, बी० एल० (प्रोफेसर, भूमिहार ब्राह्मण कालेज, मुजफ्फरपुर)
१७. अ—वुक्के (जापानी) ले० एम० यामाकामी, एम० ई० (कलकत्ता) अ—बुद्धदेव (हिन्दी)
१८. विल्हण कवि (हिन्दी) ले०—पं० अम्बक गुरुनाथ कावे (हुवली, वम्बई)

१९. श्री श्री दयानन्द चरित (वंगला) श्री सत्यवन्धुदास (कूचविहार)
२०. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी सचित्र)
२१. पर्य्यवेक्षण (हिन्दी)
२२. चित्रविचित्र (हिन्दी)
२३. विशेष द्रष्टव्य (हिन्दी-अँगरेजी)

चित्रफलक आदि

१. वर्णमाला फलक
२. भारत का भाषा मानचित्र
३. श्री विश्ववल्लभ कवि
४. मन्दिर
५. ऋष्य शृंग
६. शिर पर शिव का अर्घ लिये बालक
७. फलक नं० ३
८. फलक नं० ४

अंक—८

१. आविर्भाव (सिन्धी) ले० वावू छवीलदास 'मधुर' (शिकारपुर, सिन्ध)
२. मातृभाषा (हिन्दी कविता) ले० वावू व्रजकिशोर वकील (हरदोई, युक्तप्रान्त)
३. श्री स्वामी वालराय उदासीन (मराठी) ले० पं० अनन्त वायु शास्त्री जोशी
४. हिन्दु विधवा (वंगला—कविता) ले० श्री अखिल चन्द्र पालित (कूचविहार)
५. मुँहदेखी (हिन्दी) ले० सय्यद अमीर अली (देवरी, सागर)
६. तत्त्व (मराठी—कविता) ले० पं० अनन्त वायु शास्त्री जोशी (वारवाड़, वम्बई)
७. भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र (गुजराती-सचित्र) ले० वावू छवीलदास 'मधुर' (शिकारपुर, सिन्ध)
८. हिन्दीर विनय (उड़िया—कविता) ले० पाण्डेय लोचनप्रसाद (विलासपुर, मध्य प्रदेश)
९. प्राकृत व्याकरण (हिन्दी) ले० पं० शिवनन्दन त्रिपाठी (भूतपूर्व संस्कृताध्यापक विहार नेशनल कॉलेज, बाँकीपुर)
१०. बी० ए० दी तीनी (पंजाबी-कविता) ले० वावू छवीलदास 'मधुर' (शिकारपुर सिन्ध)
११. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी सचित्र)
१२. गंगाजी (उर्दू कविता) प्रसिद्ध उर्दू मासिक पत्र 'जमाना' सितम्बर १९०७ से उद्धृत (कानपुर)

१३. सांख्य दर्शनेर आख्यायिका (वंगला) ले० पं० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य विद्यारत्न, एम० ए० (कूच विहार)
१४. पर्य्यवेक्षण (हिन्दी)
१५. चित्रविचित्र

अंक—९

१. आविर्भाव: (संस्कृत)—अक्षयवट मिश्र
२. सांख्य दर्शनेर आख्यायिका (वंगला) कोकिलेश्वर भट्टाचार्य
३. आधुनिक मराठी कविता (मराठी) गोपालराव रंगनाथ
४. प्राकृत व्याकरण (हिन्दी)
५. व्यापार विंशति (संस्कृत)
६. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी)
७. सेवावृत्तिर विगर्हण (उड़िया) लोचनप्रसाद पाण्डेय—महावीर प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी कविता का अनुवाद।
८. वच्चूमलिक (संगीताचार्य, सचित्र हिन्दी)—ले० अक्षयवट मिश्र
९. मौत मनहोला उम्दातुल्मुल्क राजा टोडरमल (उर्दू) 'दरवार अकवरी' सेनाल किशोर गुप्त।
१०. निरोंली हेवानां नियमो (गुजराती) राजवैद्य नारायण जी केशव जी (क्रमशः)
पर्यवेक्षण (हिन्दी)
चित्रविचित्र (वंगला-हिन्दी)

चित्रफलक आदि

१. देवनागरी वर्णमाला फलक सं० ७
२. ,, ,, सं० ८
३. संगीताचार्य्य वच्चू मलिक का चित्र

अंक—१०

१. आविर्भाव (पाली)—पं० धम्मानन्द कोसम्वी (कलकत्ता)
२. दि कन्स्टीट्यूशन अव मैटर इन एप्लाइड मैथमेटिक्स (अँगरेजी) (स्पेशली रीटेन फार दि 'देवनागर') ले० डॉ० गणेशप्रसाद (काशी)
३. करुणा सप्तक (उड़िया कविता) ले० पाण्डेय लोचनप्रसाद मालगुजार (वालापुर)
४. देव समाज में हिन्दी (हिन्दी) ले० एक हिन्दी (लाहौर)
५. वांगलार भाषार प्रकृति (वंगला) साहित्य पत्रिका
६. प्राकृत व्याकरण (हिन्दी) ले० शिवनन्दन त्रिपाठी

७. शतघ्नी ह्यणजतोफज (मराठी) समालोचक
८. पाली व्याकरण (हिन्दी) ले० बाबू जगन्नाथप्रसाद बी० ए० (कलकत्ता)
९. युद्ध यात्रा (बंगला) संजीवनी
१०. शब्दों का उत्थान और पतन (हिन्दी) हिन्दी बंगवासी
११. हिन्दी मराठी शब्दबोध
१२. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी सचित्र)
१३. उमैयवल पदिकम् (तामिल—कविता) श्री वाणी विलासिनी
१४. देवनागर पंचक (हिन्दी कविता) ले० रामभरोस पाण्डेय
१५. पर्य्यवेक्षण
१६. चित्रविचित्र

अंक–११

१. आविर्भाव (मलयालम)—म० रा० रा० ग० सुब्बाराव (कैलिकट, मद्रास)
२. एक नसीहत (फार सी० हिन्दी) ले० सैयद अमीर अली (मीर)—देवरी-सागर
३. वहि कमचन्द्र (मराठी) ले० पं० अनन्तबापु शास्त्री जोशी
४. टोडरमल (उर्दू) दरबारे अकबरी से बाबू नवलकिशोर गुप्त द्वारा उद्धृत
५. मदह मुल्क हिन्दोस्तान (उर्दू) 'अखबार हिन्द' से उद्धृत सैयद अमीर अली
६. पाली व्याकरण (हिन्दी) ले० बाबू जगन्नाथ प्रसाद बी० ए० (कलकत्ता)
७. निरोग रहेवानां नियमो (गुजराती) ले० राजवैद्य नारायण जी केशवजी
८. शोकोक्ति (अँगरेजी—हिन्दी) ले० पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (कलकत्ता)
९. प्राकृत व्याकरण (हिन्दी) ले० पं० शिवनन्दन त्रिपाठी
१०. बांगला भाषार प्रकृति (बंगला) ले० पं० भगटकुमार गोस्वामी
११. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी-सचित्र)
१२. पर्य्यवेक्षण (हिन्दी)
१३. चित्रविचित्र (हिन्दी)

फलक चित्र आदि

१. देवनागरी वर्णमाला फलक सं० १०
२. आजाद का चित्र

अंक–१२

१. आविर्भाव (उड़िया) ले० पाण्डेय लोचनप्रसाद
२. देवनागरी वर्णमाला (हिन्दी सचित्र)
३. प्राकृत व्याकरण (हिन्दी) ले० पं० शिवनन्दन त्रिपाठी

४. मातृभूमि (उड़िया) ले० पाण्डेय लोचन प्रसाद
५. श्री श्री दयानन्द चरित (बंगला) ले० सत्य बन्धुदास
६. विष्णुशास्त्री चिमलूणकर (हिन्दी सचित्र) पं० अनन्तवायु शास्त्री जोशी
७. कर्त्तव्य (उड़िया) पाण्डेय लोचन प्रसाद
८. विभक्त्यर्थ निर्णय (नैपाली) ले० साहित्योपाध्याय श्री देवीदत्त पराजुली
९. ब्रह्मचर्य (मराठी) ले० विनायक सदाशिव वाकसकर
१०. कैलास यात्रा (हिन्दी) पं० बद्रीनारायण मिश्र, बी० ए०, डिप्टी इन्स्पेक्टर स्कूल्स ।
११. निरोग रहेवाना नियमो (गुजराती) ले० वैद्यशास्त्री नारायण जी केशवजी
१२. पाली व्याकरण (हिन्दी) ले० पाण्डेय जगन्नाथ प्रसाद बी० ए० काव्यतीर्थ
१३. हिन्दसों की कहानी (उर्दू) बाबू नारायणदास खन्ना द्वारा प्राप्त
१४. क—मध्यप्रदेश के मूल निवासी और वहाँ की प्रचलित भाषा
ख—मध्यप्रदेशेर आदिनिवासी एवं तहिर प्रचलित भाषा (उड़िया)
ले० पाण्डेय लोचन प्रसाद
१५. पर्य्यवेक्षण
१६. चित्रविचित्र

चित्र फलक

१. विष्णुशास्त्री चिपलूणकर
२. देवनागरी वर्णमाला का उत्पत्ति क्रम

देवनागर में प्रकाशित होनेवाली हिन्दी भाषा और लिपि के प्रचार-प्रसार के प्रयत्नों की कुछ मुख्य सूचनाओं के उद्धरण—

क—वत्सर १, अंक १ में लेफ्टिनेण्ट कर्नल डी० सी० फिलट का परिचय दिया गया है— "समर विभाग में रह कर इन्होंने जैसी कीर्ति पायी है वैसी ही साहित्य-क्षेत्र में भी। बाजनामए-न सीरी फ़ारसी तथा नफ़हतुल एमन अर्बी के ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद किया है। समर सम्बन्धी बहुतेरे उपयोगी ग्रंथों का अंग्रेजी से उल्था कर भारतीय प्रचलित भाषाओं का भांडार बढ़ाया है। यह भारत में देवनागराक्षर-प्रचार के नितांत पक्षपाती हैं। गतवर्ष यह कलकत्ता 'एक लिपि विस्तार परिषद्' के उपसभापति थे। फिलट साहब अपने इस साहित्य-प्रेम के कारण हम भारतवासियों के धन्यवादार्ह हैं।"

ख—वत्सर १, अंक ३ में चित्रविचित्र की दूसरी टिप्पणी का शीर्षक है—"फीजी में हिन्दी पत्र—हिन्दी : फीजी द्वीप भारतवर्ष के अग्निकोण पर है। यहाँ हिन्दुस्तानियों की संख्या ३०००० तीस सहस्र हो गयी है। बड़े हर्ष का विषय है कि यहाँ से एक हिन्दी पत्र निकालने का निश्चय हुआ है। यह देवनागरी में रहेगा। गुणगुन

आगरी नागरी अपना अधिकार बढ़ाती ही जाती है। सूवा के प्रसिद्ध पत्र 'वेस्टर्न पैसिफिक हेरल्ड' के स्वामी इसके लिये चेष्टा कर रहे हैं। सौभाग्य की बात है।"

ग—वत्सर १, अंक ५ के 'चित्रविचित्र' स्तम्भ के अन्तर्गत देवनागरी के सम्बन्ध में सूचनाएँ हैं—(१) "कोटा में हिन्दी—कोटा के श्रीमान् महारावजी ने भी आज्ञा दी है कि हमारे राज्य में राजकीय सब प्रकार की लिखा-पढ़ी का काम हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि में हुआ करे। कोटिशः हार्दिक धन्यवाद।"

२. "आनन्द की बात है कि सुठालिया के महाराज श्रीमान् शंभू सिंह जी बहादुर ने अपने राज्य में देवनागरी प्रचार का आदेश दे दिया है। उक्त महाशय को हम आन्तरिक धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि और रजवाड़े भी इनका अनुकरण कर कृतज्ञता पात्र बनने का यश प्राप्त करेंगे।"

३. गुजरात में देवनागरी—"हाल में अहमदाबाद की 'गुजराती साहित्य परिषद्' का एक वार्षिक अधिवेशन बम्बई में हुआ है। आनन्द और सौभाग्य की बात है कि इसमें कई वक्ताओं ने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के श्रेष्ठत्व पर अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करके सप्रमाण सिद्ध किया है कि यदि भारतीय भाषाओं में कोई राष्ट्रभाषा होने योग्य है तो वह हिन्दी है और लिपियों में कोई राष्ट्रीय लिपि होने योग्य है तो वह देवनागरी है। वक्ताओं में एक हैं श्रीयुक्त रतन जी फराम जी सेठना और दूसरे हैं श्रीयुक्त जमशेद जी बिलिमोरिया। हम इन लोगों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं और अपनी नितांत कृतज्ञता प्रकट करते हैं। विशेषकर श्रीमती मनगा पानाचन्द को तो हमारा बार-बार धन्यवाद है जिन्होंने स्त्री होकर अपने उदार हृदय का परिचय देते हुए देवनागरी से विमुख हर्नोले विद्वान का कान काटा है। देवनागरी हितैषी महाशयों को, विशेषकर हिन्दी भाषियों को, इन गुजराती महाशय और महाशया का परम कृतज्ञ होना और इन्हें जी जान से उत्साह और साहाय्य देना चाहिये।"

घ—वत्सर १, अंक ११ की एक सम्पादकीय सूचनापरक टिप्पणी 'नागर' शीर्षक से है—"नागर-सर्व्वगुण आगरी नागरी लिपि की उपकारिता को स्वीकार कर कर्मवीर सुदक्ष महाराष्ट्र लोग तो बहुत दिनों से इसको अपनाते आते हैं। मराठी भाषा की सभी पुस्तकें तथा समाचारपत्र आदि इन्हीं देवनागराक्षर में छपते हैं। किन्तु एक नयी बात गुजरात देश में हुयी है। देवनागर का वहाँ भी प्रभाव फैलने लगा। हाल में "नागर" नाम का एक मासिक पत्र निकलने लगा है जो गुजराती भाषा और देवनागराक्षर में छपता है। हमें इससे बड़े लाभ की आशा होती है। यह पत्र अहमदाबाद से निकलता है। अपने ढंग का अनूठा पत्र है। वार्षिक मूल्य १) मात्र।"

ङ—इसी प्रकार वत्सर ३, अंक १ के 'चित्रविचित्र' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित "हिन्दी की सार्वभौम" शीर्षक टिप्पणी द्रष्टव्य है, "गत चैत्र की अमावस्या तिथि को बंबई

के नेशनल यूनियन के सभा भवन में वहां के अनेक प्रतिष्ठित गुजराती मराठे, मदरासी, बंगाली, पारसी विद्वानों ने भी अपने-अपने व्याख्यानों में पुष्टतर प्रमाणों से सिद्ध किया कि भारत की सार्वभौम भाषा और सार्वभौम लिपि होने की उपयुक्त यदि कोई भाषा और लिपि है तो वह 'हिन्दी' और 'देवनागरी' है। श्रीयुक्त गिरिधर लाल गोविन्द जी ने तो हिन्दी में ही व्याख्यान दिया था। इसी व्याख्यान का गुजराती सारांश उक्त नेशनल यूनियन के मन्त्री महाशय के अनुरोध से 'हिन्दुस्थान माटे सामान्य भाषा अने लिपि' शीर्षक से इस अंक में दिया जाता है। यूनियन के मंत्री ने इन कई व्याख्यानों का सारांश 'राष्ट्रमत' से उद्धृत कर मराठी में भी भेजा है जो इस अंक में स्थानाभाववश प्रकाशित न हो सका। यथासम्भव अगले अंक में जायेगा।"

इस प्रकार की छोटी-मोटी सूचनाओं के अतिरिक्त बड़ोदा साहित्य सम्मेलन की पूरी रिपोर्ट भी प्रकाशित की गयी है जिस में 'हिन्दी कान्फ्रेन्स' भी हुई थी और जिस में बम्बई के प्रसिद्ध वकील श्रीयुक्त महादेव राजाराम बोडस एम०ए०, एल० एल०बी० महोदय ने निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया था—

"इस कान्फरेन्स का मत है कि देवनागरी वर्णमाला भारतवर्ष के अधिकांश स्थानों में सामान्य वर्णमाला के तौर पर व्यवहृत हो तथा स्कूलों में नागरी अक्षरों के प्रचारार्थ और उक्त अक्षरों में अच्छी पुस्तकें प्रकाश करने के काम में महाराष्ट्र साहित्य परिषद्, गुजराती साहित्य परिषद्, नागरी प्रचारिणी सभा तथा कलकत्ते के एक लिपि विस्तार परिषद् से मिलकर काम करें।

सामान्य राष्ट्रीयता के बन्धन सामान्य भाषा से ही सुदृढ़ हो सकते हैं, इससे परस्पर के विचारों के प्रचार में सहायता मिलती है और यही भ्रातृत्व का निदर्शन स्वरूप भी है। जैसे प्राचीन काल में विद्वानों की भाषा संस्कृत थी और आज अफसरों और व्यवहारजीवियों की लिखा पढ़ी की भाषा अंग्रेजी है, वैसे ही सर्वसाधारण के लिये भी एक ही भाषा की आवश्यकता है।"

अंक १० में 'राष्ट्रभाषा' शीर्षक के अन्तर्गत श्रीयुक्त माधव राजाराम बोडस की वक्तृता का हिन्दी 'मर्म्मानुवाद' दिया गया है, जिस का निष्कर्ष एक वाक्य में इस प्रकार है, "भारत के एकदम दक्षिण प्रदेशों के सिवाय और सब प्रदेशों में आपस के कामकाज के लिये हिन्दी ही सबसे उपयुक्त भाषा है, और अधिकांश लोग इसे ही ग्रहण भी करेंगे।"

च—वत्सर-३ अंक ३ में एक सम्पादकीय टिप्पणी—'महाराष्ट्र साहित्य परिषद् में हिन्दी' :—"....बड़े आनन्द की बात है कि इस वर्ष महाराष्ट्र साहित्य सेवियों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की ओर ध्यान दिया है। आशा है इस पर विचार कर वे भारत व्यापिनी हिन्दी को केवल राष्ट्रभाषा कह कर स्वीकार ही नहीं करेंगे वरन् उसकी सर्व्वांग पूर्ण उन्नति करने की ओर यथोचित ध्यान देंगे। इसके

सिवाय बड़ोदा राज्य के दफ्तरों में नागरी लिपि का प्रचार हो, इसके लिये केवल महाराष्ट्र ही नहीं वरन् गुजराती साहित्य सेवियों को भी अवश्य ध्यान देना चाहिये। हम श्रीमान् महाराज सयाजी राव गायकवाड़ की इस उदारता के लिये अनेक धन्यवाद देते हैं।"

हिन्दी के सम्बन्ध में इस प्रकार की और भी अनेक छोटी-मोटी सूचनाएँ देवनागर में प्रकाशित हुई हैं।

हिन्दी भाषा और लिपि के पक्ष-समर्थन में अन्य भाषाओं में लिखे गये जो निबन्ध 'देवनागर' में प्रकाशित होते थे, उन से कुछ मुख्य उद्धरण—

वत्सर—१, अंक ४ का मराठी लेख 'राष्ट्रीय भाषा' की कुछ पंक्तियाँ उद्धरण योग्य हैं—'भारतीय साम्राज्याची एक सामान्य लिपिजर पाहिजे असेलतर ती 'देव-नागरी' क तसेंच स्वराष्ट्र करितां एक सामान्य भाषे ची आवश्यकता असेल तर ती 'हिन्दी' च होय यांत शङ्का नाहीं। 'देवनागरी लिपि' लिहिण्याला जशी सोयी आहे, तशीच 'हिन्दी' भाषा बोलण्याला सोपी आहे, आणि विशेष गुण या भाषेंत हा आहे कीं, ही स्वभावतः मोठी गम्भीर, प्रौढ़ व जोरदार अशी आहे। हींत ईश्वरानें एक तहेंची नवोत्पादक शक्ती मोठ्या कुशल तेनें ओतली आहे। ही सर्वाङ्ग सुन्दर व बहुगुणी हिन्दी भाषा मोठ मोठ्या विद्वांस, मोठ मोठ्या तत्व वेत्यांस, मोठ मोठ्या मुत्सध्यांस व मोठ मोठ्या शूर शिपायांस ही सारखी शोभण्या सारखी आहे। एकूण रावा पासून रङ्गपर्यन्ता, ब्रह्मापासून थोरा पर्यन्त या भारतवर्ष ति सारखी लागू पडण्या जोगी उत्तम व जोरदार भाषा ही एकच आहे। परमेश्वरानें आपल्या अलौकिक चातुर्यानें आर्य भूमीचीं मातृभाषाजी 'संस्कृत' तिची सरवळी वहीण आर्यवीर ज्ञाता 'हिन्दी' भाषा आपल्या हिन्दी देशजननीच्या सत्पुत्रां करितां व स्वदेशाच्या उत्कर्ष करितांच म्ह म्हणून निर्माण केली अहि कीं काय कोण जाणे।

हिन्दी भाषेंत ग्रन्थ संग्रह मोठा आहे। तींत उत्तम कोश आहे। उत्तम व्या-करण आहे। सर्व्वसामग्री तयार आहे। विद्वान लोकांनी उत्कृष्ट ग्रन्थ रचून भाषा-पूर्णावस्थेस आणाली आहे। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू दुर्गाप्रसाद मिश्र, बाबू प्रताप नारायण मिश्र, बाबू व्यासनारायण शर्मा या सारख्या विद्वद्वन्तांनीं हिन्दी भाषा वधूस शृंगारून सुस्वरूप केलें। पीयूष प्रवाह, ब्राह्मण, भारतेन्दु दिनकर प्रकाश, विद्यावर्द्धिनी वगैरे मासिक पुस्तकानीं तसेंच भारतमित्र, भारत जीवन भारतबन्धु, मित्र विलास, सज्जनकीर्ति सुधाकर, धर्मप्रचारक, काशी पत्रिका, ज्ञान प्रदायिनी, क्षत्रिय पत्रिका, भाषा प्रकाश, क्षत्री हितकारी, उचितवक्ता वगैरे वृन्त पत्रांनी हिन्दी भाषेस रमणीय स्वरूप आणिलें। या शिवाय इतर विद्वान हिन्दी लेखकांनीं पत्रांत व मासिक पुस्तकांत सुन्दर लेख लिहून हिन्दी भाषेस सजविलें। आर्यसमाज,

ब्रह्मसमाज, नागरी प्रचारिणी सभा वगैरे विद्वत् समाजनीं हिन्दी भाषा महोदधींत उत्तम उत्तम ग्रन्थाची भर घातली। तुलसीदास सारख्या भगवद् भक्तांनीं व कवि-शिरोमणी नीं आपल्या रसाल वाणी ने हिन्दी भाषेस रमणीयता आणि ली। हिन्दी भाषा आपल्या उदात्त कल्पना, गम्भीर विचार, रसालवाणी, आलौकिक सौन्दर्य व अपूर्व क्षत्रिय तेज, व अतुल वीर श्री या सुविहित गुणीनीं मण्डित झाली आहे।"

उक्त निवन्ध के उपसंहार की पंक्तियां इस प्रकार हैं—"असो। तूर्त एव दें च पुरे। यावरील उत्कृष्ट उताह्या वरून हिन्दी भाषेंत किती सुबोधपणा, सरलपणा, रसपरिपाक, मृदुत्व, सौन्दर्य सामर्थ्य, नैसर्गिक चिरस्थायी तेज व निरन्तर वृद्धिमाण होणारें घतनत्व इत्यायनेक सद्गुणालंकृत शोभायमान अशी हिन्दी भाषावधू सर्वतापरी यशस्वी होऊन स्वविजयध्वज फड़कावीत आहे। तिकडे आमच्या स्वदेश हितैषी देश-वान्ववानीं लक्ष्य देऊन या उत्कृष्ट भाषे चा प्रसार करण्याचें श्रेय घेतल्यास एक मोठें राष्ट्रीय कार्य केल्यासार रवें होऊन स्वदेशोन्नतीचे मोठें साधन होणार आहे म्हणूनच हिन्दी वीर माते ची निरन्तर सेवा करणें अत्यावश्यक आहे। शेवटीं जगन्नियंत्या परमे-श्वरास भारतवर्षीय सर्वदेशवान्धवांकरितां आमजी सविनय प्रार्थना वेद मंत्रावीं अशी आहेतो सफल होवो :—

"शिक्षेय मिन्महयते दिवे दिवे राय
आ कुह चिद्विदेमहि त्वदन्यम्म धवन्न
अर्प्य वस्यो अस्ति पिताचन ॥ ऋ० अ० ५, अ० ३, म० २०,
सं० १८ अनन्त वायु शास्त्री।"

वत्सर १—अंक ६ में अनन्त वायु शास्त्री दोशी का ही मराठी लेख 'एक भाषा व एक लिपि' द्रष्टव्य।

वत्सर १—अंक ८ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पर गुजराती में एक लेख है जिसमें भारतेन्दु बाबू के साहित्यिक और राष्ट्रीय अवदान की चर्चा की गई है और यह सूचना दी गयी है कि भारतेन्दु बाबू गुजराती में भी कविता करते थे। उनकी एक गुजराती कविता भी उद्धृत की गयी है।

इसी अंक में पाण्डेय लोचनप्रसाद की उड़िया कविता है 'हिन्दी विनय'। वत्सर १, अंक १० में गुजराती में एक लेख है, 'हिन्दी भाषानुं साहित्य'।

वत्सर—३, अंक २ में 'कैलासवासी पं० शंकर दा जी शास्त्री पदे के सम्बन्ध में एक लेख है। वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा और नागरी लिपि को भारतव्यापी बनाना चाहते थे। "इसके लिये उन्होंने हजारों रुपये खर्च किये हैं। कोई ११ वर्ष से वे त्रिभाषी 'भारतधर्म' पत्र कभी मासिक, कभी पाक्षिक, कभी साप्ताहिक के स्वरूप में निकालते रहे हैं। ऐसे पत्र को जरा यथेष्ट ग्राहक मिलना कठिन होता है तो भी घाटे पर घाटा सहते और मुफ्त में ही पत्र बांटते हुए वे उसे मरते दम तक चलाते ही गये। मरते समय भी वे अपने इस उद्देश्य को नहीं भूले। मरने के दो दिन

पहले आपने लड़खड़ाती जबान में कहा, 'हे अखिल भारत के निवासियो, सुनो। मैंने भारत की भाषाओं को एक करने का प्रयत्न किया। परन्तु''''अब इसे तुम सम्भालो।"

इसी अंक में 'राष्ट्रमत' से मराठी टिप्पणी 'एक भाषा व एक लिपि' उद्धृत की गयी है जो हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के समर्थन में है।

वत्सर ३, अंक १ में 'हिन्दुस्थान माटे सामान्य भाषा अने लिपि' शीर्षक गुजराती लेख है जिस में बहुत खुल कर हिन्दी का पक्ष-समर्थन है। उक्त लेख की कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं : "हिन्दी भाषाज एकमात्र आ हिन्दुस्तान नी सामान्य भाषा थवा सर्व रीते योग्य छे। वली आ देशना नाम व हिन्दुस्थान 'नी साथे पण आ भाषा 'हिन्दी' घणोज वजोकनो संबंध धरावे छे ए पण स्पष्टज छे। तुलसीदास कृत रामायणनो हिन्दी भाषानो ग्रन्थ जे सर्वदेशनी अन्दर घणो प्रचार पामेलो छे ते पण हिन्दुस्थानी भाषाय ही वाथी हिन्दी भाषाना प्रचार माटे रस्तो सुगम बनाव वामं सहायभूत थई थके छे।

मात्र लिपी एकत्र थवाथी आपणुं संपूर्ण प्रयोजन सिद्ध थशे नहीं। जुदी जुदी भाषाओ बोल माटो असंख्य को मोने एक सामान्य भाषा रूपी एकताना मजबूत सूत्र थी बांधी आचार, अने व्यवहार मां एक कावानी खास जरूर है। देशनी सामान्य भाषा एक ज थवाथी देशना गये ते भागना लोको गमेते अन्य स्थलना लोको मां विचार बहुज सहेलाई थी समजी शक शे। एकज सरली रीते पोतानो अनुभव अने लागी सहेलाई थी बतावी शकशे। कोनग्रेस अने कनफरंस जेती देशना महान संस्थाओ पण देशनी कोई पण सामान्य भाषानी अन्दरज पोताला महान विषयो चर्चतो होय तो गमे तेवो गरीब अने अभण माणस पणते केटलेक दरज्जे समजी तेनो लाभ उठावी शके। आवी आवी महान संस्थाओ पण देशनी सामान्य कोई एक भाषा होवाने लीधे उपर जणावया प्रमाणोना महान लाभ मेलववाथी दूर रही छे। युरोप अने बीजा महान् देशोनी माफक फ्रेंच अने अंग्रेजी नी माफक आ हिन्दुस्थान जेवा देशने माटे कोई थवा एक सामान्य भाषा होवानी जरूरत छे अने ते जरूरियात बीजी कोई पण भाषा थी नहीं पण एकमात्र हिन्दी भाषा थीज पुरी पडी शके तेम छे।

आ देशनी एक सामान्य भाषा थवाने माटे जेटली अनुकूलता, योग्यता अने साधनो हिन्दी भाषा धरावे छे ते—मांना एक आना जेटली पण अंग्रेजी भाषा धरावतो न थो। हिन्दी भाषा सामान्य भाषा थवाथी देशनी अन्दर विचारोनी एक सामान्य एकलता बंधाशे अने एकतानां बीज रोपाशे।"

वत्सर ३, अंक ११-१२ में 'एक लिपि प्रचार शीर्षक से बड़ौदा सम्मेलन में प्रस्तुत श्रीयुत माधव राजाराम बोडस की अँगरेजी वक्तृता का हिन्दी मर्म्मानुवाद प्रकाशित हुआ था। उस की कुछ मुख्य पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"हिन्दी ही भावी (राष्ट्रीय) भाषा जान पड़ती है और देवनागरी या नागरी ही ऐसी लिपि है जो भारत में बहुत फैली हुयी है। पर इसके पक्ष में यह बात कही जा सकती है कि यह

संस्कृत की स्वीकृत वर्णमाला है, जो भारत की आर्यभाषाओं की माता है और हमारे लिये परम पवित्र भाषा है। वह देववाणी है, पाणिनि के व्याकरण की आधार रूपा है, अशोक के शिलालेखों की प्रणाली है, उसी से हिन्दी, मराठी, बिहारी, नेपाली और कश्मीरी भाषायें लिखी जाती हैं। सचमुच संसार में देवनागरी ही सबसे पूर्ण और त्रुटिरहित वर्णमाला कही जा सकती है।""कदाचित् देवनागरी ही ऐसी वर्णमाला है जिसमें लिखने और बोलने की भाषाओं में कुछ भी प्रभेद नहीं है और हिज्जे में तो गड़बड़ बिल्कुल हो ही नहीं सकती। यही हिन्दुस्तानियों के वाग्यंत्रों के योग्य है और वर्तमान हिन्दुस्तानी भाषाओं के व्याकरण उसी के आधार पर बने हैं।"

एक लिपि विस्तार परिषद् के आदि संचालक स्व० जस्टिस सारदाचरण मित्र के वक्तव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश पहले उद्धृत किया जा चुका है। उसी वक्तव्य की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं, "इस समय हम लोग अन्य प्रदेश के साहित्य में निपट अनभिज्ञ हैं, इस समय कितने ही विद्वान बंगाली लोग तुलसीदास के भी प्रबन्ध नहीं पढ़ सकते। यह क्या सामान्य दुःख की बात है? महाकवि चन्द के ग्रन्थों को बड़े-बड़े काव्यों के साथ तुलना की जाती है। यह राजपूत लोगों का 'इलियड' है, किन्तु कितने ही इसे जानते तक नहीं।

"इधर राजनीतिक विषय लेकर समस्त भारतवर्ष को आलोड़ित करने की कामना तो हम लोग करते हैं, किन्तु आपस की भाषाओं को समझने के लिये कोई प्रधान उपाय ग्रहण करने के विषय में हम लोग कुछ भी चेष्टा नहीं करते। यही उपाय 'एक लिपि' है।"

'देवनागर' के चौथे वर्ष अर्थात् 'नवपर्याय' के भाग १ संख्या १ में दि आनरेबुल वी० कृष्ण स्वामी ऐयर का अँगरेजी लेख 'एक कामन स्क्रिप्ट फ़ॉर इण्डिया' द्रष्टव्य है।

इसी वर्ष के अंक २ का लेख 'ह्वाट इज मोस्ट सुटेबुल स्क्रिप्ट फ़ॉर इण्डिया' और 'हिन्दी ऐज लिंगुआ इण्डिका' महत्त्वपूर्ण और द्रष्टव्य हैं। विस्तार-भय से उद्धरण देना सम्भव नहीं है।

वत्सर—१, अंक १० में प्रकाशित 'देवसमाज में हिन्दी' द्रष्टव्य है।

वत्सर—२, अंक १२ में 'साहित्य परिषत् पत्रिका के लेख' शीर्षक एक सम्पादकीय टिप्पणी है जिस में 'साहित्य परिषत् पत्रिका' में प्रकाशित बाबू योगेशचन्द्र राय, एम० ए० के हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि विरोधी लेख 'राढ़ेर भाषा' का बड़े कड़े शब्दों में प्रतिकार किया गया है।

बड़ौदा साहित्य सम्मेलन में हिन्दी कान्फ्रेंस हुई थी। सभा की अध्यक्षता डॉ० भण्डारकर ने की थी। उसी सभा में दीवान श्रीयुक्त रमेशचन्द्र दत्त ने कहा था, "उत्तर भारत की भाषाओं का एक ही लिपि में लिखा जाना साधारणतः जितना मालूम होता है, उस से कहीं अधिक महत्त्व का है। उत्तर भारत में प्रधानतः हिन्दी और उर्दू बोली

जाती है, इन दो भाषाओं का उच्चारण एक ही है पर वर्णमाला अलग-अलग है। जैसे अंग्रेजी के दो प्रकार हैं, एक ग्रीक, और लैटिन बहुल अंग्रेजी और दूसरी ट्यूटोनिक भाषा बहुल अंग्रेजी, वैसे ही यह भी दो भेद हैं। एक संस्कृत बहुल हिन्दी और दूसरी अरबी-फारसी बहुल हिन्दी अथवा उर्दू। पर वास्तव में इन दो भाषाओं में भेद कुछ भी नहीं है।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अधिवासी परस्पर से हिन्दी में ही बोलते हैं। अन्य भाषा-भाषियों में हिन्दी समझ सकते हैं बहुत, पर बोल सकते हैं बहुत कम। जब मैं पहले-पहल गुजरात में आया, तब गुजरातियों से हिन्दी में बोलता था तथा वे भी मेरी बातें समझ जाया करते थे। यदि ऐसी कोई भाषा हो जो भारत के अधिकांश स्थानों में चल सकती है, तो वह भाषा हिन्दी ही है।"

उक्त सभा के सभापति डॉ० भण्डारकर ने ऐतिहासिक और भाषा-वैज्ञानिक आधार पर देवनागरी का पक्ष-समर्थन किया था और हिन्दी भाषा के बारे में उन्हों ने बड़े साफ़ शब्दों में कहा था, "भिन्न-भिन्न प्रदेशों की एक सामान्य भाषा बनने का सम्मान हिन्दी को ही मिलना चाहिए। मैं भाषा शुद्ध रखने का बड़ा पक्षपाती हूँ। सो, मेरे मत से, अलवर के मुन्शी जगमोहन लाल जिस हिन्दी में बोलते हैं वही राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। हमलोग भी हिन्दी से अपरिचित नहीं हैं। कारण हमारे यहाँ के हरिदास गण (हरिकीर्तन करने वाले) अपने कीर्तन में बहुत से हिन्दी दोहरों का प्रयोग किया करते हैं। सो हिन्दी का भारतवर्ष भर में प्रचार करना कठिन नहीं होगा। यदि हम स्कूलों में द्वितीय भाषा के तौर पर हिन्दी पढ़ाया करें तो यह काम हो सकता है। एम० ए० की परीक्षा में मराठी की बहुत-सी पुस्तकें हैं। उन में से थोड़ी-सी किताबें घटा कर उनके स्थान पर हिन्दी की रखी जा सकती हैं। इसी प्रकार हाई स्कूलों में भी हिन्दी का प्रचार करना होगा।" (देवनागर वत्सर—२, अंक ५-८ तक, से उद्धृत)।

देवनागर पर विशिष्ट व्यक्तियों तथा पत्रों की सम्मतियाँ

वत्सर १, अंक-१ के अन्तिम पृष्ठ पर अँगरेजी में सम्मतियाँ मुद्रित हैं—

"Only a few extracts about the "Devanagar"

(Received in English)

कुछ इस प्रकार हैं—

His Excellency the Viceroy's Private Secretary, Viceroy's Camp, 8.11.07 : The scheme is full of interest"''

Dr. A.F. Rudolf Hoernle, M.A., Ph.D.,C.I.E. Oxford, England, 3.11.07. : I fully sympathize with your object of bringing the Devanagari character more commonly in use in India; and I wish it every success.

The Hon'ble Mr. G.K.Gokhale, C.I.E., Servants of India Society, Poona, 5.6.07 : I certainly feel greatly interested in the movement and I shall be glad to co-operate with you in any one I can.

The Central Hindu College Magazine, Benares, October 1907 : ····The editor of the 'Devanagar' is to be congratulated on his welcome contribution towards Indian Unity. His well printed, well edited paper in Devanagari characters, contained articles in all kinds of vernaculars, Guzarati, Hindi, Urdu, Marathi, Banagali etc. and the reader will be delighted to find that by the simple use of the one alphabet, three quarters of the articles within the other vernaculars become intelligible to him. A good map on the covers shows that Hindi can be understood from Kashmir's northern bounds to far below the line of the Krishna river and from the borders of Afghanistan to those of Burmah, so that only a small southern portion of the Penisula is beyond its way. It is a great saving of energy to grasp this means of intercommunication and to make it our own···We wish the movement all success.

The Hindustan Review, Allahabad, October and November 1907. :···We are glad to find that a powerful organisation has at last been established in Calcutta in furtherance of the cause under the name of Ekalipivistarparishad. This institution has recently started an illustrated monthly magazine called the 'Devanagar' the main object of which is to print contribution in all the Indian languages–both Aryan and Dravidian-in one uniform script, viz. the Devanagaree in which Sanskrit is usually written. In its own way the 'Devanagar' is a unique polyglot monthly and it should appeal to all educated Indians who are striving after creating a sense of healthy national spirit in the land. Nor is it that its contents have no intrinsic merit apart from the fact of their being printed in one character, on the contrary, most of the contributors are well-known writers in their respective languages and handle their subjects with remarkable ability, fullness of

knowledge and literary skill. Altogether, the 'Devanagar' is a notable addition to our vernacular periodical literature and we would earnestly commend it to the sympathy and support—both literary and pecuniary—of all educated Indians···the annual subscription···is by no means excessive considering the excellent get up of the magazine."

The Amrita Bazar Patrika, edited by Shreeyut Motilal Ghose, Calcutta. 20.11.07 It is, no doubt, laudable attempt at teaching the various languages of India through a common medium.

The "Bengalee" Edited by Shreeyut Surendranath Banerjee, 5.12.07 :···We have been duly receiving a high class polyglot-illustrated monthly journal·······The aim of this society is to popularise the use of Devanagari character as the common script for all the Indian languages. That the scheme is quite practical is proved by the articles in different languages printed in Devanagari in this journal. An excellent article from the pen of Mr. Justice Saroda Charan Mitra on 'Budhism in India' is worth perusal and the illustrations are also above the common. We wish it every success.

Rai Bahadur Shree Sarat Chandra Das C.I.E. the greatest Tibbetan Scholar, Lhasavilla, 6.11.07. :···The views of the Parishad on this all important and vital question accord with those of mine ······the Devanagari should be one and only one lipi in which we should easily understand each others expressions, I advocate the work of the Parishad with all my heart. In the Budhist text Society's Journal I published the Budhist Text of Pali in Devanagari and they were welcomed in Ceylon, Burmah, Guzarat and Kashmere·······the Parishad··········will surely succeed in its noble object of uniting all India by one homogeneous method of writing. Throughout the Empire of China there is only one character. Numerous provincial dialects are written in that same one character. Why should, then, there be numerous different lipis in

India. I rejoice that such an undertaking should have been undertaken. In the fullness of time, India, with Ekalipi as the chief vehicle of thoughts and expressions of her (India's) many-tongued-millions, will be one and not many as it is now the case with us·······

President of Theosophical Society, Dharwar, Bombay, 29.9.07 :····Another most important thing I noted in the 'Devanagar' is that the articles in other different languages are so correctly printed that none could find fault with. It is very laudable on your part and your friends on the editorial staff of the 'Devanagar' for it is not an easy task to print articles of other different languages correctly····No doubt the magazine is very ably edited and is sure to win the approbation of learned men of different countries in Bharatkhande····

Mr. Rangacharyya Esqr., M.A., Professor of Sanskrit, Govt. Presidency College, Madras, 14.6.07. :····The beautiful picture on the cover is exceedingly well conceived and is inspiring and instructive··········It appears to my mind that India can now have no greater benefactors than those who aim of unification. That the different members of the same great Indian civilization should, through the want of adequate understanding be indifferent to each other, if not be at logger heads with each other has indeed, been too long, one of the most pitiable features of Indian life. Mutual understanding and friendly conciliation are more than ever, needed in our country' a history now; and the Ekalipivistar Parishad is certainly calculated to be helpful in a marked way in supplying such a used····

'मतवाला'

एक वर्ष के 'मतवाला' की सम्पादकीय टिप्पणी और उस में प्रकाशित 'निराला' की कविता की सूची यहाँ दी जा रही है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में यानी 'मतवाला' को

वैशिष्ट्य-विवेचना करते हुए निवेदन किया गया है कि 'मतवाला' के मुख पृष्ठ पर 'निराला' की कविता छपती थी और उन का श्रेष्ठ पूर्ववर्ती काव्य 'मतवाला' के ही माध्यम से हिन्दी-संसार के सामने आया। निम्नांकित सूची से इस बात की पुष्टि होती है—

वर्ष ५ अंक १–मुख्य पृष्ठ : रक्षा बन्धन—निराला
सं० टि० : आत्म परिचय
,, २– सं० टि० : "जाके घर में नौ लाख गाय।
सो क्या छाँछ पराई खाय?"
,, ३– मु० पृ० : 'गये रूप पहचान'—निराला
सं० टि० : 'नीम-गुड़-वटिका'
,, ४– सं० टि० : चुटिया ने लुटिया डुबो दी।
,, ५– मु० पृ० : दिव्य प्रकाश—निराला
सं० टि० : औवड़ों ने थूक कर चाटा।
,, ६– मु० पृ० : नयन—निराला
सं० टि० : "हासा-तमासा"।
,, ७– मु० पृ० : चुम्बन—निराला
सं० टि० : नाटकों का पितरपख।
,, ८– मु० पृ० : उसकी स्मृति में—निराला
सं० टि० : भैंसासुर की नानी।
,, ९– मु० पृ० : कविप्रिया—निराला
सं० टि० : चूड़ी साड़ी की जय बोलो।
,, १०–मु० पृ० : भारत की विधवा—निराला
सं० टि० : आख थू
,, ११–मु० पृ० : दो कवितायें हैं—देवि! कौन वह? 'शोहर' अब पहचान!—निराला
,, १२–मु० पृ० : हरिऔध जी की कविता—दीवाली
सं० टि० : "सदा 'दिवाली' साधक की, जो घर गेहूं होय।"
,, १३–मु० पृ० : भिक्षुक—निराला
सं० टि० : जोगी जोगी लड़ै, खप्परों की हानि।
,, १४–मु० पृ० : सन्ध्या सुन्दरी—निराला
सं० टि० : चहिय अमिय जग जुरै न छांछी।
,, १५–मु० पृ० : शरद पूर्णिमा की विदाई में।—निराला
सं० टि० : मुखड़ा क्या देखो दरपन में?

वर्ष १ अंक १६–मु० पृ० : खंडहर के प्रति—निराला
सं० टि० : बैठे से बेगार भली

,, १७–मु० पृ० : प्रार्थना—निराला
सं० टि० : काजल की कोठरी

,, १८–मु० पृ० : जूही की कली—निराला
सं० टि० : एकहिं बार आस सब पूजी।

,, १९–मु० पृ० : धारा—निराला
सं० टि० : मुख में राम बगल में छुरी

,, २० मु० पृ० : आत्म समर्पण—मैथिलीशरण गुप्त
आवाहन—निराला
सं० टि० : का चुप साधि रहा बलवाना ?

,, २१–मु० पृ० : वन-कुसुमों की शय्या—निराला
सं० टि० : 'अपने मुंह मियां मिट्ठू।"

,, २२–मु० पृ० : प्रलाप—निराला
सं० टि० : राजनीति की अंतड़ी।

,, २३–मु० पृ० : रास्ते के मुरझाये हुए फूल से—निराला
सं० टि० : ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती।

,, २४–मु० पृ० : तत्पर—निराला
सं० टि० : जीना हो तो मरना सीखो।

,, २५–सं० टि० : दूज का चांद।

,, २६–मु० पृ० : यहीं—निराला
सं० टि० : 'ढकोसला का ढोल क्यों पीटते हो ?'

,, २७–मु० पृ० : स्वप्न में, वीणावादिनी—निराला
सं० टि० : अंधा बांटै रेवड़ी फिर फिर आपुहिं देय।

,, २८–मु० पृ० : हमारी बहू—निराला
सं० टि० : कोमलकान्त पदावली की बाढ।

,, २९–मु० पृ० : पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' की कविता है
'वन्देमातरम्'।
दिल्ली के साहित्य सम्मेलन में 'मतवाला' मण्डल के
वरिष्ठ सदस्य 'निराला' द्वारा यह गायन गाया गया था।
सं० टि० : चुल्लू भर पानी में डूब मरो।

,, ३०–मु० पृ० : होली—हरिऔध
विफल वासना—निराला
सं० टि० : फोटो लेकर चाटो

वर्ष १, अंक ३१–मु० पृ० : स्याही का बूंद—श्री सुमित्रानंदन पंत
प्रिया से—श्री निराला

सं० टि० : अजहूँ न बूझ अबूझ।

„ ३२–मु० पृ० : प्रगल्भ प्रेम—निराला

सं० टि० : पतलून ढीली हो गई।

„ ३३–मु० पृ० : गा अपने संगीत—निराला

सं० टि० : महा अन्धेर ! महा अन्धेर !

„ ३४– ज्येष्ठ—निराला

सं० टि० : 'है अजब आंधी तुम्हारी खोपड़ी।'

„ ३५– खोज और उपहार—निराला

सं० टि० : 'होश आवेगा उन्हें मौत की बेहोशी में।'

„ ३६– क्यों हंसती हो ?—कहां देश है ?—निराला

सं० टि० : क्यों न कद्र जान की कुरबां किए बग़ैर !

„ ३७–मु० पृ० : भ्रमरगीत—पं० श्रीधर पाठक
तरंगों से—निराला

सं० टि० : "सर्राफ़ की नजर ने तुमको परख लिया है।"

„ ३८–सं० टि० : मुख में राम बगल में छुरी

„ ३९–मु० पृ० : क्या है ?—निराला

सं० टि० : अब क्या हो ?

„ ४०–मु० पृ० : गाता हूं गीत मैं तुम्हें सुनाने को—निराला
द्वारा अनूदित विवेकानन्द की कविता।

सं० टि० : "हक़ तो यूं है कि हक़ अदा न हुआ।"

„ ४१– प्रपात के प्रति } निराला
प्रथम प्रभात }

सं० टि० : कूप मण्डूक

„ ४२–मु० पृ० : सिर्फ़ एक उन्माद
जागो—निराला

सं० टि० : दाढ़ी और चोटी का मेल

„ ४३–मु० पृ० : (१) उन्मत्त (२) भर देते हो (३) आदान
प्रदान—निराला

सं० टि० : "परपंच करे पर पंच कहावे।"

„ ४४–मु० पृ० : कण—निराला

सं० टि० : अति भली न चुप्प।

,, ४५–मु० पृ० : दिल्ली—निराला

इसी अंक में है निराला की—यमुने !

,, ४७–मु० पृ० : दिल्ली—निराला

सं० टि० : अब भी तो चेतो !

,, ४८–मु० पृ० : बादल राग—निराला

यमुने–निराला

सं० टि० : भारी भ्रम !

,, ४९–मु० पृ० : दो कवितायें (१) वोट—भिक्षुक—पं० नाथूराम शंकर शर्मा

(२) बादल राग—निराला

सं० टि० : बच गई बेचारी।

,, ५०–मु० पृ० : बादल राग—निराला

सं० टि० : देहरादून—सम्मेलन।

अंक ५० के सम्पादकीय स्तम्भ के शीर्ष पर एक व्यवस्थापकीय विज्ञप्ति है कि इस अंक के साथ वर्ष पूरा हो गया। एक. फ़ाइल में ५० अंक हैं।

'सरोज'

वर्ष २ अंक १

१. दुख-दर्द (कविता) : श्री पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
२. असावधाना (कविता) : श्री मैथिलीशरण गुप्त
३. पैतृक सम्पत्ति में पुत्री का भाग : श्री पं० शकलनारायण शर्मा
४. अभिलाषा (कविता) : श्री कृष्णविहारी मिश्र
५. मानस-मानसर (कविता) : श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'
६. समझ की भूल (गल्प) : श्री पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी
७. व्रत-भंग (गल्प) : श्री जयशंकर प्रसाद
८. अनुरोध (कविता) : श्री प्रभात
९. गई है (कविता) : 'चकोरी'
१०. दिलदारी (नाटक) : श्री 'उग्र'
११. हिन्दी-लिपि और सम्मेलन : श्री जगमोहन 'विकसित'
१२. निष्ठुर यह ले रे ! (कविता) : श्री चरण लाल 'फूल'

१३. श्रीपुर में प्राप्त महाराज जयराज देव की मुद्रा : श्री पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय
१४. मधुप के प्रति (कविता) : श्री सुमंगल प्रकाश
१५. प्रतिभा और साहित्यिक बाजार : श्री गुलाबराय एम० ए०
१६. कामना (कविता) : श्री 'अनूप'
१७. आधुनिक खड़ी बोली की कविता की प्रगति : श्री कृष्णदेव गौड़ एम० ए०
१८. माया (कविता) : श्री अनन्त विहारी माथुर
१९. जंजाल (गल्प) : श्री ऋषभचरण
२०. अरे सकर्पक (कविता) : श्री 'मिलिन्द'
२१. हिन्दी शार्ट हैंड : श्री लालबहादुर शास्त्री
२२. किलोल (कविता) : श्री सत्यव्रत शर्मा
२३. सपना (गल्प) : श्री मुक्त
२४. खादी की प्रगति : श्री कन्हैया लाल
२५. अनन्त वेकली (कविता) : श्री 'प्रभात'
२६. हम पराधीन क्यों हैं ? : श्री राजाराम पाण्डेय
२७. पहिचान (गल्प) : श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
२८. तू (कविता) : कविवर लाला भगवानदीन 'दीन'
२९. लतखोरी लाल : श्री जी० पी० श्रीवास्तव
३०. क्या हम सज्ञान प्राण हैं ? : श्री राधामोहन गोकुल जी
३१. हिन्दी-वन्दना (कविता) : श्री अरविन्द
३२. ग्रामोफोन (गल्प) : श्री सुमंगल प्रकाश
३३. कवि और कविता : श्री रत्नचन्द्र दन्तपति, बी० ए०
३४. सन्ध्या के बाद (कविता) : श्री वाचस्पति पाठक
३५. आंसू की बूंद (नाटक) : श्रीमती चन्द्र कुमारी मिश्र
३६. भारी भूले (कविता) : श्री 'रसिकेन्द्र'
३७. हिन्दी साहित्य का भविष्य : श्री शिवधेपर द्विवेदी
३८. हिन्दी हिन्द की है जान (कविता) : श्री गंगा विष्णु पाण्डेय 'विष्णु'
३९. अन्तिम मनुहार (कविता) : श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'
४०. मेरी जीवन नौका : (कविता) श्री बांकेबिहारी लाल 'कृष्ण' बी० ए०
४१. समस्या पूर्ति का सुयोग ।
४२. सरोज-सौरभ-पृ०१३३

वर्ष २ अंक १ की चित्र सूची

१. बाबू किशोरीलाल चौधरी की द्वितीय वार्षिक स्मृति—रंगीन
२. माल्यश्री ”

३. प्रार्थना	रंगीन
४. चिन्ता	"
५. वियोग-विधुरा	"
६. हमारा प्यारा चरखा	"
७. झूलन	"
८. पीर पंचाल (काश्मीर) के कुछ दृश्य	—एकरंगा
९. न्यूयार्क बन्दर (अमेरिका)	"
१०. अरब का एक दृश्य	"
११. सूम-सम्राट्	व्यंग्य-चित्र
१२. भूखी शेरनी	एकरंगा
१३. बालीगंज लेक का एक दृश्य	"
१४. चूड़ीवाला	व्यंग्य-चित्र
१५. तरकारी-वाली	व्यंग्य-चित्र

हिन्दू पञ्च

(बलिदान—अंक)

विषय-सूची

प्राचीन भारत के बलिदान

१. विचित्र बलिदानी वीर
२. बलिवेदी पर (सम्पादकीय)
३. बलि-दान
४. सत्याग्रही प्रह्लाद
५. महाराज शिवि
६. दधीचिका देह-दान : श्रीयुत नरोत्तम व्यास
७. श्री रामचन्द्र ! : श्री युत ब्रजविहारी लाल
८. विदुला : देवतास्वरूप भाई परमानन्द जी
९. योगिराज श्रीकृष्ण : श्री गोविन्दलाल मिश्र
१०. पक्षिराज जटायु : श्रीयुत दण्डक वासी
११. भीष्म-प्रतिज्ञा : श्रीयुत सत्यसन्ध्य
१२. महाराज हरिश्चन्द्र : श्रीयुत हरिकृष्ण शुक्ल

१३. दाता कर्ण : श्रीयुत एन० पी० शास्त्री
१४. वेदों की रक्षा के लिए बलिदान—कुमारिल भट्ट का अग्नि-प्रवेश : श्रीयुत विष्णु-कुमार भट्टाचार्य
१५. वीरबालक अभिमन्यु : श्रीयुत कामता प्रसाद 'विद्यार्थी'

मध्यकालीन भारत के बलिदान

१. महाराणा प्रताप सिंह : कृष्णनारायण कौल
२. महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी : देवकृष्ण त्रिपाठी
३. चण्ड का राज्य-त्याग ! : तेग बहादुर सिंह
४. राणा संग्राम सिंह : नारायण राव राठे।
५. महाराणी लक्ष्मीबाई : देवनारायण वर्मा
६. महारानी पद्मिनी : मोहनलाल चौधरी
७. वीरांगना रानी दुर्गावती : मुरली मनोहर सहाय
८. वीर-धात्री पन्ना : कृष्ण कुमार भट्ट
९. विद्युल्लता का बलिदान : लक्ष्मीप्रसाद चौधरी
१०. महारानी जिन्दाँ के साथ भारी विश्वासघात : शमशेर सिंह
११. वीरवर हमीर : रामप्रसाद त्रिपाठी
१२. गोरा और बादल : रामानन्द द्विवेदी
१३. महावीर वन्दा वैरागी : लक्ष्मीनारायण वाजपेयी
१४. वीरमती : श्रीमती सरस्वती देवी
१५. कृष्णकुमारी का विषपान : श्रीमती राधिका देवी
१६. हाडा रानी : एस० एन० अम्बस्ट
१७. वीर मुरली मनोहर : राजनारायण चतुर्वेदी 'आज़ाद'
१८. गदर का पहला विद्रोही सिपाही : स्व० मंगल पाण्डेय : तेजनारायण गुप्त
१९. टण्ड्रा या तातिया भील : श्रीकान्त तिवारी
२०. गुरु अर्जुनदेव का अपूर्व बलिदान : सरदार बुटा सिंह
२१. गुरु तेग बहादुर का बलिदान : सरदार बसन्त सिंह
२२. पीर अली को फाँसी : डॉ० के० सी० मिश्र, एम० बी० एच०
२३. हरिकिशन सिंह : श्रीमती सुशीला देवी
२४. नाना साहब : रामकृष्ण मेहरोत्रा
२५. हकीकत राय का बलिदान : मानिक लाल 'शहीद'
२६. नाना साहब की पुत्री देवी मैना को भस्म कर दिया गया : श्रीमती चपला देवी
२७. मनिपुर का हत्याकाण्ड : श्री युत 'मनिपुरी'
२८. गुरु गोविन्द सिंह : सरदार पद्मसिंह

२९. विहार-केसरी वावू कुँवर सिंह : ध्यान दास चौवे
३०. राजा नन्दकुमार को फांसी : मुरलीधर प्रसाद।

वर्तमान भारत के बलिदान

१. राष्ट्र और बलिदान : श्री जनार्दन राय नागर 'अकिंचन'
२. श्री उपेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय : श्री मथुरानन्द चौवे
३. वारीन्द्र कुमार घोष : नलिनी भूषण बनर्जी
४. रण-आंकुरा स्व० यतीन्द्रनाथ मुकर्जी : श्रीयुत 'अफीज'
५. श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल' : श्री युत 'अज्ञात'
६. उल्लासकर दत्त : राधानाथ नागर
७. मास्टर अमीर चन्द : चुन्नीलाल शर्मा
८. श्री पुलिन बिहारी दास : वटुक प्रसाद
९ अश फाक उल्ली खाँ : 'राष्ट्रोपासक'
१०. श्री रोशन सिंह : बलदेव प्रसाद अवस्थी
११. शैलेन्द्रनाथ घोष : अमरेन्द्र नाग
१२. योगेश चन्द्र चटर्जी : निरंजन देश शर्मा
१३. देशभक्त लाला हरदयाल का 'गदर' दल।—बंगाल में जर्मन—षड्यन्त्र का सूत्र-पात : ले० भाई ज्ञान सिंह
१४. श्री शचीन्द्र नाथ सान्याल : बालकृष्ण पन्त
१५. श्री ढींगरा के अन्तिम हृदयोद्गार
१६. श्री मन्मथनाथ गुप्त : अवधविहारी मिश्र
१७. श्री रामकृष्ण खत्री : गणेश प्रसाद शर्मा
१८. श्री मुकुन्दी लाल : जटाधारी प्रसाद
१९. श्री राजकुमार सिनहा : वृन्दावन दास
२०. श्री गोविन्द चरण कर : शिवचन्द्र त्रिपाठी
२१. श्री प्रेमकिशन खन्ना।
२२. पंजाब में वेगुनाहों का खून : ख्वाजा अब्बास अली बेग।
२३. श्री रामदुलारे त्रिवेदी : 'हरेन्द्र'
२४. विष्णु शरण दुबलिस : श्री सुरेन्द्र
२५. श्री सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य : श्री युत महेन्द्र
२६. श्री रामनाथ पाण्डेय : श्री युत 'वीरेन्द्र'
२७. श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल : श्री युत 'रमेश'
२८. विप्लवी आन्दोलन की एक झलक : श्री युत 'धनंजय'
२९. स्व० लाला लाजपत राय : श्रीयुत ए० के० शुक्ल

३०. स्व० स्वामी श्रद्धानन्द : श्रीयुत राजनारायण सिंह

३१. स्व० यतीन्द्र नाथ दास।

विषय सूची के बाद सम्पादकीय 'भूमिका' इस प्रकार है—

भूमिका

पंच के प्रेमी—पाठक-पाठिकाओं!

यह एक अत्यन्त आन्दोलनकारी समय है। इस समय न केवल इस देश में, बल्कि समग्र भूमण्डल पर और समस्त देशों और जातियों में एक अभूतपूर्व अति क्रान्ति की उत्ताल तरंग उठी है। प्राचीन परम्पराओं और दासता की जकड़ने वाली रूढ़ियों के विरुद्ध एक घोर विप्लव मचा है।

ऐसे उथल-पुथलकारी युग में लाहौर राष्ट्रीय कांग्रेस के शुभ अवसर पर हम सहर्ष आपकी सेवा में यह विप्लवकारी 'बलिदान-अंक' सादर समर्पित करते हैं। यह अंक कैसा हुआ है, हम अपनी मनोकामनाओं में कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय आप स्वयं ही इसे पढ़कर कर सकेंगे। पर पढ़ने और इस अंक का मनन करने के समय आपको यह भी अवश्य विचार कर लेना होगा, कि हमलोग आज किस परिस्थिति में हैं और हमें कितनी कठिनाइयों तथा विघ्नों में काम करना पड़ता है? हमें स्वतः इन कठिनाइयों की परवाह नहीं है, क्योंकि हम तो जाति और समाज की सेवा करने के लिये प्राणपन से तत्पर हैं। इस समय, जब कि हमारी राष्ट्र महासभा कांग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास करने के लिये उद्यत है—सरकार की ओर से 'राउण्ड टेबल' का चारा है और बड़े-बड़े राजनीतिक और सामाजिक उलट-फेर की आशंका है, तब ऐसी मनोरंजक घड़ी में, हमारा आपको यह विशाल विशेषांक समर्पित करना कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस अंक में उन भीमव्रती वीरों तथा हुतात्माओं का स्वर्णमयी स्मृतियों और साहसी कार्यों का रोचक दिग्दर्शन है, जिन्होंने मातृभूमि की स्वतन्त्रता और रक्षा के लिये निज प्राणों की बलि चढ़ा दी, पर अपने उज्ज्वल उद्देश्य का कोई अंश भी न छोड़ा। उनके जीवन का सत्संग समस्त मानव जाति का स्वाभाविक अभिमान है और निश्चय ही हमारा भारतवर्ष भी उस अभिमान से वंचित नहीं है। हमें पूर्ण आशा और विश्वास है कि वीरों का बलिदान हमारे देशवासियों को उत्साहित करेगा। हम निःसंकोच यह भी स्वीकार करने में न हिचकेंगे कि यह अंक हमारी आन्तरिक इच्छाओं के सर्वथा अनुकूल नहीं हो सका है, तो भी अल्प समय के भीतर ही हमने इसे सब तरह सुन्दर, चित्रित और रुचिकर बनाने का प्रयास किया है। इस अंक के निकालने में अपने कतिपय लेखकों, सुकवियों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों से जो अमूल्य सहायता मिली है, उसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं। इस उद्योग में और इस विशाल अंक को सर्वांग सुन्दर बनाने में प्रायः १५०००) रुपये व्यय हुए हैं। कागज, स्याही, छपाई आदि खर्चों के साथ प्रेस की झंझट भी मौके बे

मौके दुःखप्रद हो जाती थी, पर तो भी हमें सन्तोष है कि यह अंक ठीक अवसर पर आपकी सेवा में पहुँचकर आपको आनन्दित करेगा।

जहांतक जो कर्तव्य था उसे पूर्ण करने का हमने यथार्थ उद्योग किया है। हमारी कठिनाइयों को कम करने में यदि हमारे प्रेमी पाठक भी हमारा थोड़ा हाथ बटायें, और प्रत्येक पाठक यदि दो दो ग्राहक बढ़ाने की कृपा करें, तो हम उनके हृदय से आभारी होंगे और समझेंगे कि 'हिन्दू पंच' की सफल कामनाओं के लिये आप भी हमारे साथ हैं।

'बलिदान अंक' के खर्चे का व्योरा इस प्रकार है—

५७० रीम कागज	....	५१३०) रु०
कम्पोजिंग छपाई	....	३४२०) ,,
ब्लाक डिजाइन बनवाने में	....	१०००) ,,
१०५ रीम आर्ट पेपर	....	१५७५) ,,
कवर की छपाई व कागज	....	३५०) ,,
प्रचार कार्य में	....	८००) ,,
सम्पादकीय विभाग में व्यय	....	१०००) ,,
टिकट अधिक लगेगा	....	१८७५) ,,
		१५१५०) रु०

—सम्पादक

सहायक आधार

व्यक्ति

स्व० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रो० कल्याणमल लोढ़ा, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, डॉ० विजयशंकर मल्ल, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, श्री शिवनाथ चौबे, श्री राधागोविन्द पाण्डेय, श्री रंगनाथ दुबे, श्री अवधेश्वर नाथ मिश्र, श्रीमती विद्या पाठक, श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', श्री नसीब जी, श्री दीनानाथ काश्यप, श्री विष्णुकान्त शास्त्री, श्री कृष्णचन्द्र बेरी, श्री दामोदर विनायक खन्ना, श्री शुभनारायण सिन्हा, प्रो० आनन्दमूर्ति और श्री मंगलमूर्ति, श्री सुधाकर पाण्डेय तथा नागरी प्रचारिणी सभा के अन्य अधिकारीगण, श्री केशवप्रसाद मिश्र, श्री कामेश्वर मिश्र, श्री मदनमोहन चौबे, श्री वेदप्रकाश तिवारी, श्री जयप्रकाश खत्री, श्री छबिनाथ मिश्र, श्री लक्ष्मीशंकर व्यास, श्री दीनानाथ पाण्डेय, सत्यनारायण स्टुडियो, कलकत्ता, श्री जगदीश, श्री जगदीश खनेजा, श्री पद्मधर त्रिपाठी।

संस्था

भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता विश्वविद्यालय पुस्तकालय, आर्यभाषा पुस्तकालय नागरीप्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, भारती भवन प्रयाग, राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता, ब्रिटिश काउन्सिल बड़ा बाजार पुस्तकालय, श्री हनुमान पुस्तकालय, कुमार सभा पुस्तकालय, मारवाड़ी पुस्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का गायकवाड़ पुस्तकालय, वंगीय साहित्य परिषद् पुस्तकालय, श्री अरविन्द पाठ मन्दिर।

साहित्य

हिन्दी पुस्तकें

हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास .... श्री राधाकृष्ण दास

गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग ... सं० श्री झाबरमल्ल शर्मा, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक ग्रन्थ .... श्री झाबर मल्ल शर्मा

हिन्दी साहित्य का इतिहास .... आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

समाचारपत्रों का इतिहास ... पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

पत्र और पत्रकार .... पं० कमलापति त्रिपाठी

हिन्दी साहित्य की भूमिका .... आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी ... आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

उन्नीसवीं शताब्दी .... डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास .... डॉ० श्रीकृष्ण लाल
हिन्दी समाचारपत्र निर्देशिका .... श्री वेंकट लाल ओझा
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका ... डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त .... डॉ० नत्थन सिंह
'निराला' अभिनन्दन ग्रन्थ .... सं० श्री वरुणा
शिवपूजन रचनावली, भाग ४ .... आचार्य शिवपूजन सहाय
संस्कृति के चार अध्याय .... डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'
राष्ट्रीयता और समाजवाद ... आचार्य नरेन्द्र देव
आर्यभाषा और हिन्दी ... डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय
माधव मिश्र ग्रन्थावली .... सं० झावर मल्ल शर्मा
लोकमान्य तिलक और उनका युग .... इन्द्र विद्यावाचस्पति
भारतेन्दु युग .... डॉ० रामविलास शर्मा
मालवीय अभिनन्दन ग्रन्थ ... पं० सीताराम चतुर्वेदी
मेरी कहानी .... जवाहरलाल नेहरू
सत्य के प्रयोग .... महात्मा गान्धी
आत्म-कथा .... डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
कांग्रेस का इतिहास प्रथम खण्ड .... डॉ० पट्टाभि सीतारमैया
मेरे समकालीन ... महात्मा गांधी
हिन्दुस्तान की कहानी ... जवाहरलाल नेहरू
श्रीमद्दयानन्द प्रकाश .... स्वामी सत्यानन्द
पराड़कर जी और पत्रकारिता .... लक्ष्मीशंकर व्यास
हमारे आराध्य .... श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
रेखाचित्र .... ,,
संस्मरण .... ,,
खड़ी बोली का आन्दोलन .... डॉ० शितिकंठ मिश्र
साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य .... डॉ० रघुवंश
धर्म और जातीयता .... श्री अरविन्द
उत्तरपाड़ा अभिभाषण .... ,,
श्री अरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम) .... ,,
दयानन्द .... ,,
स्वाधीन भारत ! जय हो ! .... विवेकानन्द
भारत में विवेकानन्द .... ,,
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त .... ,,
श्री रामकृष्ण वचनामृत—प्रथम भाग

अँगरेजी पुस्तकें

1. The Doctrine of Passive Resistance····Sri Aurobindo
2. The Discovery of India····Pt. Jawaharlal Nehru
3. Bankim-Tilak–Dayanand····Sri Aurobindo
4. Bande Mataram & Indian Nationalism····Prof. Haridash Mukherjee and Prof. Uma Mukherjee
5. Journalism in Modern India····Edited by Poland E. Wolseley
6. History of Indian Journalism····J. Narayan
7. A History of the Press in India···Nataranjan
8. Points of view····W. Somerset Maugham
9. The Indian Press····Margarita Barns
10. The News Paper in India····Hemendra Pd. Ghosh
11. Crisis in Civilization···Tagore
12. The Rise and Growth of Hindi Journalism····Ram Ratan Bhatnagar
13. Studies in the Bengal Renaissance····Edited by Atul Chandra Gupta
14. How to find out···Lionel Mccolvin
15. The Poverty of India····Dadabhai Naoroji
16. Western influence in Bengali literature···Priya Ranjan Sen
17. The Life of Ramkrishna···Romain Rolland.
18. British Paramountcy and Indian Renaissance····Editor– Dr. P. C. Majumdar
19. The Foundation of New India···K.m. Panikkar.

पत्रिकाएँ

विशालभारत, सरस्वती, माधुरी, नयीधारा, आलोचना, ज्योत्स्ना, अर्चना, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, कल्पना, माध्यम, क ख ग, त्रैमासिक साहित्य, नया समाज, प्रतीक, आज, नवभारत टाइम्स, आर्यावर्त, हिन्दुस्तान, विश्वमित्र।

Bhavan's Journal, Modern Review (Ramananda Centenary Number), Quest, Statesman, Amrita Bazar Patrika, Organiser, National Herald, The Illustrated Weekly of India, Current.

■ ■

नामानुक्रमणिका

● ग्रन्थ

अभिज्ञान शाकुन्तल ७५
अर्चना २२०
अमेरिका और अमेरिका ४००
अनामिका ४६९
अवन्तिका ४०६
अभिनव हिन्दी व्याकरण ४००
श्री अरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम) २२१
अँगरेजी की वर्तनी और उच्चारण ४००
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास ३१
आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास ८
आर्य प्रकाश ६६
आनन्द कादम्बिनी ९४
आर्कटिक होम इन द वेदाज २६३
इवोल्यूशन ऑव स्वदेशी थाट ८२
इकोनोमिक वेक ग्राउण्ड ऑफ़ द सेन्चुअरी; स्टडीज इन द बंगालरिनासाँ २७
इण्डिया इण्टर नेशनल सेण्टर ४१९
उपन्यास तरंग ३५४; ४०८
उन्नीसवीं शताब्दी ४६; १४४
ए नेशन इन मेकिंग ८१
ए हिस्ट्री ऑफ़ द प्रेस इन इण्डिया ३१३
ओरियन २६२, २६३
कपालकुण्डला ७६
कथासरित्सागर ३३७
कर्मयोगशास्त्र ४२१
कलकत्ता की हिन्दी पत्रकारिता : उद्भव और विकास ११
कवि व चित्रकार ९४
कृष्ण चरित्र ७६
कांग्रेस इन बंगाल २२०
कांग्रेस का इतिहास २५, २६, ५८, ७८, ८०, ८३, ८४, ८६, ८७, ८८, २१८, २१९, २६४
गुप्त निबन्धावली ९५, ९७, १७८, २११, २१२, २४४, २५७, ३८३, ३८८, ३९३, ३९७
गीता ७६
गीता-रहस्य ४२०
चिन्तामणि ४१
चीन और भारत ४००
जम्बू प्रकाश ३८७, ३८८
जीवन और साहित्य ३९७
द डॉक्टरिन ऑव पैसिव रेसिस्टेन्स २२३
द डिस्कवरी ऑव इण्डिया १६, १७, २५, २७, २९, १८६, २२६, २६०, ३०८, ३०९
द फाउण्डेशन ऑफ न्यू इण्डिया ३०७
द ब्रिटिश पेरामाउण्टेसी एण्ड इण्डियन रेनेसाँ १५, १७, ७९, २६०
द न्यूज पेपर इन इण्डिया २, १९, २१, २५, २१७, २६४
द लाइफ़ आफ़ रामकृष्ण ६०, ६१, ६२
दुर्गेशनन्दिनी ७६
धर्मतत्व ७६
धर्म और जातीयता २२१, २७६, २८३

निराला अभिनन्दन ग्रन्थ २२०, २२१, ३४६, ३५३
न्यू इण्डिया २२१
पत्रकार कला १०
पत्रकार की आत्मकथा ३६६
पत्र और पत्रकार २, १०, २१, १०१, ३६५, ४०७
पराड़कर जी और पत्रकारिता २४६, ३६४ ४०१, ४०२, ४०३, ४०४
परीक्षागुरु १९३
पावर्टी एण्ड ब्रिटिश रूल इन इण्डिया ८४, १८६
पूर्वीय पंचरत्न २९६
प्रेस इन्स्टीच्यूट ऑव इण्डिया ४१९,
बनारसीदास चतुर्वेदी संस्मरण ३५२,४११
वन्देमातरम् एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म ७५, २२४, २२५, २२७
बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ २३१, २८८, २९३, २९५, ३९६, ३९७
बालमुकुन्द गुप्त एक पुनर्मूल्यांकन ३९७
बालबोधिनी ९४
वेदान्त ७०
बंगाल के हिन्दी सेवी ६४
भारतवर्ष में बौद्ध धर्म ३०१
भारत जीवन ९४
भारतीय शासन पद्धति ४००
भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी ४२७, ४२८
भारत में विवेकानन्द ७०
भारतेन्दु युग ७५, ९०, ९१, ९२, ९५, ११७, १५९, १६८, १६९, १७०, १८७, २१०, २१४ २२८, २२९, २३०, ३९१, ३९५, ३९६
माधवप्रसाद निबन्धमाला २५२
मेघदूत १७०
मेरी कहानी २६१, ३१०, ३११, ३१२
मृणालिनी ७६
युगान्तर २२७, २६५
रघुवंश १९४
रामायणसार ४००
राष्ट्रीयता और समाजवाद ३०७, ३०८
राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ हिन्दी जर्नलिज्म ९, २२, ३४, १०१, ३१३
(श्री) रामकृष्ण वचनामृत ६२, ७४, ३४७
(श्री) रामदेव चोखानी स्मृति ग्रंथ २८६
रेखाचित्र २११, २९४
ऋग्वेद २६२
लार्ड हार्डिंग और भारतवर्ष १२७
लोकमान्य तिलक और उन का युग ७३, १४७, २६३, २६४, २७६, २७८, ३००
वृहज्जातक ४०
वेस्टर्न इन्फ्लुएन्स इन बंगाल लिट्रेचर ५९, ९०
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त ७०
शिवपूजन रचनावली ३१६, ३२०, ३४८, ३५५, ४०८
शिक्षा ४००
समाचार पत्रों का इतिहास ८, ९, ७५, २१२, २८५, २८७, २९९, ३०३, ३४८, ३५७, ३५८, ३५९, ३८५, ३८९
सज्जनकीर्ति सुधाकर ९४, १२३, १८०
सत्यार्थ प्रकाश ६७
सन्ध्या २२७, २७७
सन्ध्या संगीत ९०
संस्कृति के चार अध्याय ५८, ७१, ७३, ७७, ८४, १४७

सांगवेद ४६
साहित्य ३५६
श्रीमद्दयानन्द प्रकाश ६४, ६८
श्राद्ध प्रकाश ४००
स्टडीज इन द बंगाल रेनेसाँ २०, २८, २९, ५२, ५८, ६०, ६३, ६४, ६५, ७२, ७३, ७४, ७७, ७८, ७९, ८२, ८३, ८४, ८७, ८८, ९०, १८४, २००, २२०, २२१, २२५, २२२, २२७, २६२
स्वाधीन भारत जय हो ७०, ७२
हरिश्चन्द्र चन्द्रिका ८९, ९३, ९४, १६५
हरिश्चन्द्र चिन्तामणि ६८
हिन्दी कौमुदी ४००
हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास ९३
हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव ४००
हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव और विकास १९
हिन्दुस्तान की कहानी २६, २७, ५७, १८९
हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास १८, २२, ३२, ३३, ३४, ९९, ११८, २९५, ४००
हिन्दी समाचार पत्रों की आरम्भिक कथा ३१
हिन्दी साहित्य का इतिहास ४६, ६७, ९३, १०१, १६३, १६९, १७०, ३९६, ४२७
हिन्दी साहित्य की भूमिका ३११, ३१२, ३७८, ४०६
हिन्दी साहित्य ८
हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी १६९, १७०, २३०, ३१२, ३१४
हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास ७, ३०, ९६, १०१, ३९१
हिन्दुओं की राजकल्पना ४००

पत्र-पत्रिकाएँ

अखण्ड विश्वास २२६
अवतार ३१५
अखबारे चुनार ३९४
अभ्युदय २९९
अमृत बाजार पत्रिका ८९, ३८८
अग्रवाल उपकारक २४७
आज १०, ३१३, ४०३, ४१४
आजकल ४०४
आर्यदर्शन ८९
आर्यावर्त १७१, २४३, ४३४
आदर्श ३५४, ३५६, ४०८
आलोचना ९४, २२८
इन्दु प्रकाश ८७
इण्डिया गैजेट १८
इण्डिया हैरल्ड १८
इण्डियन वर्ल्ड १८
इण्डियन मिरर ८९, १२२, १४९
इश्तहार ३८
उचितवक्ता ३, ४, ७, ८, ९, ८०, ८१, ८९, ९४, ९६, १०१, १०२, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८१, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९,

२१०, २११, २२८, ३७६, ३७८, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ४२१, ४३१, ४३२, ४३४, ४४०, ४४३, ४४५, ४५५, ४५८
उदन्तमार्तण्ड ३, ८, ३०, ३१, ३४, ३५, ३६, ३७, ३९, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ७५, ३७५, ३७९, ३८०, ४१५, ४२८, ४३१, ४३२, ४३९, ४४५, ४४७
एशियाटिक जनरल २२
ओरियण्टल मैगजीन १८
कल्पना ४३
कलकत्ता समाचार ३६०, ३६१, ३६३, ३६४, ३९२, ४०६
कलकत्ता जेनरल अडवर टाइजर १८
कमल ३५०
काल २६७, ३००, ४०४
क्रिश्चियन वीकली १४७
कविवचन सुधा ९२, ९३, १०६, १२१, १२३, १२८, १२९, १८०, १९०, १९३, १९६, १९७, १९८, १९९
कर्मवीर ३३५
केसरी ८८, ८९, १४७, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २९९, ३७०, ४०१, ४०४, ४२०
किसान ३४६
गोलमाल ३५४
चांद २९७, ३१३
जगदीपक भास्कर ३४
जगतमित्र १२१
जयपुर गजेट १२३, १८०, १८१
जैन गजट ३७०
टाइम्स १०९, ३१३, ३८४
टाइम्स ऑफ़ इण्डिया १९२
टाइम्स ऑफ़ लन्दन ३१३
ट्रिब्यून ८९
तत्त्वबोधिनी पत्रिका २१
दासी ८९
दिग्दर्शन २०
दैनिक लोकमान्य ३७०
देवनागर ४, ८२, २८२, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९४, २९६, २९७, २९८, ३०१, ३०२, ३०३, ४३५, ४३६, ४४१, ४४५, ४५९, ४६१, ४६२, ४६३, ४६५
धर्मयुग ४०८
नवजीवन ३६३
नवगोपाल मित्र ७८
नव विभाकर १२८, १२९
नई धारा १८, ३१९, ४०९
नागरी प्रचारिणी पत्रिका ९४
नृसिंह ९, २६७, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७६, २७८, २७९, २८०, २८३, २८७, ३००, ३०३, ३९८, ४४१
पांचजन्य ३३८, ३४२
पीयूष प्रवाह ९४
प्रकाश ३७०
प्रताप ३३१
प्रभाती २०४
प्रभात ३४१, ३५०
प्रदीप ८९, ९४
प्रयाग समाचार ९४
प्रजामित्र ३४, ४३९
प्रवासी ८९, ४११
बनारस अखबार ७, ८, ३०, ३१
बन्देमातरम् २२७, ३७०

बाम्बे कूरियर १८
बाम्बे गजेट १८
बाम्बे हेरल्ड १८
ब्रह्मोनिकल मैगजीन २०
ब्राह्मण ९४
वंगभूमि १६
वंगदर्शन २८२
वंगवासी २२८, २३१, २३२, ३९६
वंगदूत २१, ३१, ३३, ३५, ४५, ४६, ४७, २८२, ४२९, ४३९, ४४५, ४४८ ४४९
वंगाल गजट २, २०
वंगाल जर्नल १८
वंगाल हेरल्ड २१
वंगाली ८०, ८२, ८९, २००
भारत ३५३
भारत जीवन १९५, २५७
भारतबन्धु ११९, १२१, १२३, १३७, १३८, १३९, १८०, ३९०
भारतमित्र ३, ४, ७, ९, ३०, ७५, ८९, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १०१, १०२, १०३, १०४, १०७, १०८, १०९, ११०, ११३, ११४, ११५, ११६, ११९, १२०, १२८, १२९, १३०, १३३, १७५, १७८, १७९, १८०, १८१, १९४, १९५, १९६, १९७, २०७, २०९, २१२, २२८, २३२, २३३, २३५, २३६, २३७, २३८, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४९, २५७, २६७, २८२, २८६, ३३३, ३४४, ३५७, ३५९, ३६०, ३६१, ३६३, ३६४, ३६७, ३७५, ३७६, ३७८, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३९२, ३९५, ३९६, ३९८, ३९९, ४०१, ४०४, ४०७, ४२०, ४३०, ४३२, ४३३, ४३५, ४४०, ४४१, ४४३, ४४५, ४५०
भाला २६७, ३००, ४०४
मतवाला ४, ६, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२५, ३२६, ३२८, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३५४, ४०९, ४४२, ४४५, ४६५, ४६६, ४६८
मराठा ८८, ८९, १४७, २६३, २६७, २७५
मार्तण्ड ३२, ४०
माध्यम ५
माडर्न रिव्यू ८९, ३५३, ४११
माधुरी ३, ३४, ११५, २१३, ३१३, ३२९, ३५६, ४०८, ४४०, ४४२
मित्रविलास १०६, १२०, १२३, १८०, १९५, १९६, १९९
मैड्रास कूरियर १८
मारवाड़ी बन्धु २६७, ३००, ३०३, ३८५, ४४१
मैड्रास गजट १८
मिरात-उल-अखबार २०, २२, २४
मौजी ३५४
यंग इण्डिया ३०९
रणभेरी ४०३
रिफार्मर २८
वर्मन समाचार ३४५
वैश्य हितकारी २४७
विद्यार्थी १८०
विश्वमित्र ३३६, ३६४, ३६५, ४०७।
विशाल भारत ३१, ४२, ९५, २६७,

३१३, ३५२, ३५३, ३५८, ३५९, ३६०, ३६५, ३६८, ३८४, ३८५, ३९८, ४०४, ४१०, ४११, ४४२
वैश्योपकारक २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, ४३५
विहारबन्धु ११५, ११६, १२३, १४३, १८०, १९५, १९९, ४३२, ४३३
सरस्वती २४५, २५७, २९३, ३१४, ३२९, ४३५, ४४१, ४८२
समन्वय ३४६, ३४७, ३४८, ३५४, ४०८, ४४२
सन्मार्ग ६४
समाचारावली ११८, १६०, १८१, १८३, १९२
सम्मेलन पत्रिका प्रयाग ३३४
समाचार चन्द्रिका २१, २२, ४४, ३७९
समाचार दर्पण २०, ३२, ३३, ४३, ३८०, ४३२
सरोज ३४९, ३५१, ३५२, ४४२
समालोचक २४५, ४३५
सम्वाद प्रभाकर २१
सद्धर्म प्रचारक ३०२
सचित्र साप्ताहिक पत्र ३५५
समाचार सुधा वर्षण ३, १०, ३४, ३५, ४७, ४८, ५०, ५१, ५२, ३५७, ३८१, ४३०, ४३१
स्वतन्त्र २, ३६७, ३७०, ३९९
स्वाधीन भारत ३७०
साधना ८९
साहित्य परिषद् पत्रिका २९५
साप्ताहिक हिन्दुस्तान २८२, ३१०, ३११, ४०४, ४०५
सामदन्त मार्तण्ड ३४, ३६, ७५, ३७५, ४३१
सारसुधानिधि ३, ४, ७, ९, २३, ५७, ८७, ८९, ९४, ९६, ९८, ९९, १००, १०१, १०६, १११, ११८, ११९, १२०, १२१, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४८, १४९, १५१, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६७, १६८, १७०, १७१, १७२, १७५, १८०, १९४, १९५, २०२, २२८, ३७६, ३७८, ३८५, ३८९, ३९०, ३९१, ४३३, ४३४, ४४०, ४४३, ४४५, ४५३, ४५४, ४५५।
श्री कृष्ण संदेश २४४, ३४५, ४०५
श्री वेंकटेश्वर समाचार २५२, ३०२, ३९२, ४२०
सुधारक २५७
सुलभ समाचार ६३, ८९
सुदर्शन २५२, २५७
सुधाकर ४५५, ४५६
सुधा १८०, ३१३, ४४२
सेनापति ३३७, ३३८, ३४१, ३४२
सोमप्रकाश ७५, ८८, ८९, ९६, १२८, १२९
सम्वाद कौमुदी २०, २२
संघर्ष २६२
हरिश्चन्द्र मेगजीन ९३
हिन्दी केसरी ३३२
हिन्दू ८९

हिन्दी का समाचार पत्र ३१
हिन्दी अखबार ३०, २३३, ३५७, ३८३
हिन्दी प्रदीप ८९, ९४, १२३, १८०, १८१, १९३, २५७
हिन्दू पंच ३४४, ४४२
हिन्दू हेरल्ड ४६
हिन्दू पैट्रियल २१, ८९
हिकीज बंगाल गजट १८
हितवार्ता २४६, २५७, २६८, ३००, ३०३, ३५९, ३८८, ३९९, ४०१
हितवादी २६८
हितैषी ३५०
हिन्दी बंगवासी ८९, ९४, २११, २१२, २१३, २२८, २३१, २३२, २४४, २४५, २४६, २६७, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९८, ४००, ४०१, ४०४, ४३५, ४२०, ४४०
हंस ३१३, ४४२
क्षत्रिय पत्रिका १८०, ३३४

● व्यक्ति

अमृतलाल चक्रवर्ती ९८, ९९, २११, २१२, ३६०, ३६१, ३९१, ३९३, ३९४, ४०६
अमहर्स्ट २४
अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ४, ८, ९, १८, २२, ३२, ३३, ३४, ४६, ४७, ७५, ९५, ९७, ९९, ११८, १७७, २११, २१२, २१३, २४५, २४६, २६७, २६९, २७१, २७३, २७९, २८२, २८६, २८७, २९५, २९९, ३००, ३०३, ३१४, ३४४, ३५३, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६४, ३६५, ३६७, ३६८, ३७०, ३७८, ३७९, ३८०, ३८४, ३८५, ३८७, ३८९, ३९७, ४०१, ४०२, ४०४, ४१४, ४२०, ४२५, ४४१, ४४३
अम्बिकादत्त व्यास ९४, २०६
अजीत सिंह २६१, २७७
अनन्त वायु शास्त्री जोशी ३०१
अकबर ३१८
अब्दुल रसूल २२१
अयोध्यासिंह उपाध्याय ३३४, ३४८, ३५०
अरविन्द १६, २१, ६५, ७८, ८७, २१७, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २६८, २७६, २८२, २८३, ४०६
अरविन्द घोष ८३, ९०, २२०, २२७, २६०, २६१, २७४, २७७, ३३९, ३९७, ४१९, ४४१
अश्विनीकुमार ८७, २२०
आत्माराम २४४
आशुतोष २२१, ४०२
आनन्दमोहन ८२
अक्षयकुमार दत्त २८
अक्षयवट मिश्र २८५, २८७, ३०१, ३९६
आसिफजाह २३८
इडेन २०३
इन्द्र विद्यावाचस्पति १४७, २६४, २७६, ३००, ४१७
इलवर्ट ७९, ८०, ९७, १११, ११७
इन्द्रमन ६८

इन्द्रमणि १५२, १९३
इलियड २९७
इलाचन्द्र जोशी २९५, ३५३, ३७८, ४४३
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ७२, ७३, ७५, ११३
ईश्वरचन्द्र गुप्त २१
ईश्वरीप्रसाद वर्मा २८६
उमापतिदत्त शर्मा २४६, २८५, २८६, २८७, ३९६
उमा मुकर्जी २२४, २२७
उमेश बनर्जी ८६
उग्र ३२३, ३३१
ए० सी० बनर्जी २७४
ए० चौधरी २२०, ३३६
एनी बीसेण्ट ७७
एडवर्ड टामसन २६, २७
कमलापति त्रिपाठी २, १०, २१, १०१, ३६५, ४०७
कमलाप्रसाद मुख्त्यार ३५०
कर्जन २२३, २३६, २४१, २४९, २६५
कविराज ज्योतिर्मय सेन ३९६
कबीर २९७, ४११
कल्याणमल लोढ़ा ३३७
काली ६०
कालिदास ७६, १७०, १९४
काली प्रसन्न २४६
कार्तिक प्रसाद ३०
कालीप्रसाद मिश्र १७५
कार्नहिल ४४९
किशोरीदास वाजपेयी १०३
किशोरीलाल गोस्वामी ३३४
कालिकृष्णदेव २९
काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग ८६
काकाराम (म० म०) ५२, ५३, ३८२
कुन्दनलाल ९४
कुमारस्वामी १६१
कुँवरसिंह ४२
कुमारसिंह ४२
कारनावारेन साहब ११२
के० एम० पाठीकर ७२, ३०७
केशवचन्द्र सेन ५९, ६२, ६३, ६४, ६८, ६९, १७३, १८४, ३७७
केशवप्रसाद मिश्र २४६
केशोराम भट्ट १०८
केदारनाथ मिश्र ३३८, ३५२, ४२३, ४४२
केदारनाथ चट्टोपाध्याय ४१०
कन्हैयालाल अलखधारी ६८
कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ४१८
कन्हैयालाल मिश्र ३४१
कनकाप्रसाद चौधरी ३४८
कामधेनु १८५
कालीप्रसाद खेतान ३६०
कैलाश ४६६, ४६७
कोकिलेश्वर भट्टाचार्य ३०१
कृपाराम पण्डित ३७
कृपलानी ३६३
कृष्णस्वामी ऐयर ४६४
कृष्णचन्द्र ३४५, ४०५
कृष्ण चैतन्य महाप्रभु २९८
कृष्ण ६०, २६६
कोल्हटकर ४२०
खड्गसिंह ४२, ४३
गरगजसिंह वर्मा ३१९, ३२२
गणेन्द्रनाथ टैगोर ७८
गणेश ४६७
गणेशप्रसाद ३०१
गणेशशंकर विद्यार्थी ३१४, ३३१, ३६९, ३७८, ३९७, ४१९, ४२४

गणेशदास जयराज दास २५७
गणपति २२०
गंगानारायण त्रिपाठी ४०६
गंगा किशोर भट्टाचार्य २०
गंगा ३८
गायकवाड़ ३२९
गांगेय नरोत्तम शास्त्री २१३, ३६०
गर्दे जी ४०६
ग्लाइडस्टोन ७९, ११०, ११४, १२७, १३८, १४० १८२
गिरिशचन्द्र घोष १११
गिरिजापति ३०
गिरधर शर्मा चतुर्वेदी २४५, ४३५
गुरु गोविन्द लाल श्रीवास्तव २१३
गुरु गोविन्द सिंह १६०, १६१, ३२८ ३४०
गोपाल हालधर ८२
गोपाल १३५
गोरक्ष सिंह ४३
गोविन्द शास्त्री ३२७, ३४१
गोविन्द दास सेठ ३०९
गोकुलदास तेजपाल ८६
गोपाल शरण सिंह ३५०
गोविन्द नारायण मिश्र ६६, ९९, ११८, १७६, २४४, २४५, २४६, २६९, ३८५, ३८६, ३८७, ३८९, ३९६, ३९८, ४२०, ४३५
गोविन्द रघुनाथ थत्ते ३०
गोखले २७४, ३७७
गौरीदत्त ९४
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ३३४, ४०६
गौरीशंकर गुप्त ४०५
गौतम २२५
चन्द्रधर शर्मा गुलेरी २४५, ४३५
चतुरसेन शास्त्री ३३१
चतुर्भुज मिश्र १५२
चक्र सुदर्शन ३३८
चारुचन्द्र दत्त २२०, २२३, २२४
चिन्तामणिराव १९७
चिन्तामणि घोष ४२४
चितरंजनदास २२१
चार्ल्स आर० लैनमैन २९४
चार्ल्स मेटकाफ २५
चुन्निलाल शर्मा १०५
चैतन्य महाप्रभु ६६, २८१
चिन्तामणि सी० वाई० ३७७, ४१९
छविनाथ पाण्डेय ३४५, ३५६
छबीलदास २७८
छबीलेलाल गोस्वामी ३५०
छोटूलाल मिश्र ४, ७४, ९६, ९८, १०१, १०२, १०३, १७७, १८१, ३५९, ३७८, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३९६, ४४३
जगदीशचन्द्र बोस ३३९
जगदीशचन्द्र बंजल २२०
जगदीश्वर १८७
जयचन्द ३२७
जयमल्ल २५२
जगन्नाथ मिश्र ३४१
जगन्नाथ खन्ना ९६
जगतनारायण लाल ३४१
जनरल स्टुअर्ट २०८
जगन्नाथदास ९४, ९९, ३५७, ३५८, ३५९
जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ९८, २४५, २४६, २५९, २८६, ३२९, ३३१, ४३५
ज्योतीन्द्रनाथ टैगोर ८२
जवाहरलाल नेहरू ४, १६, १७, २५,

२७, २९, १८६, १८९, २१३, २२६, २६०, २६१, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१३, ३३०, ३७७, ४१९, ४२१
जीवानन्द विद्यासागर ११९
जी० टी० गेरेट २६
जयशंकर प्रसाद ३४१
जान वुल २२
जार्ज थाम्पसन २८
जेम्स अगस्टस हिन्दी १८
जुगुलकिशोर सूमूल ४४
जोगेशचन्द्र अग्रवाल २२०
जैनेन्द्र ३१२
झावरमल्ल शर्मा ९७, ३२९, ३६१
टाइमस ११०
टेम्पल साहब १९१
ठाकुर लौटूसिंह ३४१
तारकेश्वर ३३०
ताराचन्द दत्त २०, १०६
तारामोहन मित्र ३१
ताराचन्द्र चक्रवर्ती २८
तिलक ७७, ८७, ८८, १७०, २६१, २६४, २६७, २७४, २७६, २७७, २७८, २९७, ३४६, ३६२, ३७७, ४०६, ४२०
तुकाराम २९७
तुलसीदास १७०, १७९, २९७
दलपतराय २९७
दरिद्रनारायण ६०, ६१
दक्षिणरंजन मुखर्जी २८
दयानन्द सरस्वती ६०, ६१, ६४, ६५, ६६, ६७, ६९, ७६, ९७, १४३, १४४, १४५, १४६, १४८, १५१, १६०, १७३, २९८
दादा भाई नौरोजी ५८, ८४, ८९, १२८, १८४, १८६, २०२, २२९, ३७७
दीनानाथ सिगतिया ३५४, ३८२
दीनदयाल शर्मा २३१, २९३, ३६०, ३९४, ३९६
दुर्गादत्त परमहंस २९८
दुर्गाप्रसाद मिश्र ४, ७५, ९६, ९८, ९९, १०१, १०३, १०६, ११८, ११९, १७४, १७५, १७७, १७८, १९५, २०१, २०७, २६९, २८३, २८७, ३००, ३०३, ३२८, ३५८, ३७८, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३९६, ३९८, ४४१, ४४३
देवकीनन्दन खत्री ९४
देवीप्रसाद तिवाड़ी ३७
देवीसहाय शर्मा ३९६
देशवन्धु चितरंजन दास ३६९, ३९२
देशवन्धुदास ३१०
देवकीनन्दन त्रिपाठी ९४
देवेन्द्रनाथ ठाकुर १६०
देवेन्द्रनाथ टैगोर ७३, ७८
द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ३२८
द्वारिकानाथ विद्याभूषण ७५
द्वारकानाथ ठाकुर ३३, ४६, ४४९
द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी ३६१
द्वारकानाथ टैगोर २, २८
नन्ददुलारे वाजपेयी ९१, १७०, २३०, ३१२, ३१४, ३२१
नरेन्द्रदेव आचार्य २६१, २६२, ३०७, ३०८
नवीन ३१२
नवीनचन्द्र राय ६८
नवलकिशोर गुप्त ३५८
नत्थनसिंह ३९७

नवजादिकलाल श्रीवास्तव ३१५, ३३३, ३३८, ३४६, ३४८, ४०२, ४०९
नरेन्द्रदेव शास्त्री ३३१, ३४१
नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा २७
नारायण प्रसाद ३३७, ३५१, ३६५
नाथूराम शंकर शर्मा ३३१, ३३५
नानक ६६
नादिरशाह २३८
निराला ४, १७०, ३१८, ३१९, ३१९, ३२०, ३२२, ३२४, ३३१, ३४६, ३५३, ३५५, ४६६
निक्कामल खत्री १०५
नित्यलाल मल्लिक ९८
निहालचन्द वर्मा ३३६
नीलरत्न हालदार २१, ३३, ४६, ४४९
नाज़िम बहादर ३७
नौरिश साहब ८१
पद्मसिंह शर्मा ३४१, ३४७, ३५३, ४११
पराड़कर जी ३१४, ४०२, ४०३, ४०४, ४२५
परसराम १९४, १९५
परशुराम ३३७, ३४०
प्यारेलाल ९९
प्रसन्नकुमार टैगोर २८, २९
प्रसन्नकुमार ठाकुर ४६, ४४९
प्रताप ३२७, ३४०
प्रसाद १७०, २३०, ३३१
प्रतापनारायण मिश्र ९३, ९४, १७७, ३९५, ३९६, ३९७
प्रवासीलाल वर्मा ३४१
प्रतापनारायण वाजपेयी ३७०
प्रतापसिंह ९७
प्रजापति ४६८
प्रह्लाद २७०
प्रेमचन्द १७०, ३१२, ३३१
प्रेसीडेण्ट पटेल २१३
पारसनाथ सिंह ३७०
पार्वती ४६७
पादरी नोलेस ४६४
पांचकौड़ी बनर्जी ३५८, ३९६
परांजपे ४२०
पट्टाभि सीतारमैया २५, २६, ५८, ७८, ८०, ८३, ८४, ८५, ८६, ८८, २१८, २१९
प्राणतोपदत्त २४६
प्रियारंजन सेन ५९, ९०
पियारीचन्द्र मित्र २८, २९
प्रिंस आव वेल्स १८
पुरुषोत्तम प्रसाद टण्डन १०
पुरुषोत्तम प्रसाद पाण्डेय ३५०
पौल साहब ५१
प्यारी मोहन मुखर्जी ३९६
फसर १४०
फारवर्ड ३९२
फिरोजशाह मेहता २७४, ३७७
फैज महम्मद खां
फोर्ट विलियम २३
बनारसीदास चतुर्वेदी ९७, २११, २३१, ३२८, ३२९, ३५२, ३५३, ३७८, ३९३, ३९४, ४०४, ४१०, ४११, ४१७, ४१९, ४२४
बदरीनाथ भट्ट ३३५
बदरीनारायण चौधरी ९४, ३५५
बर्नार्ड शॉ ५, १७०
बंकटलाल ओझा १८
बलदेव उपाध्याय ३४१
ब्रजकान्त घोष ११०
ब्रजमोहन वर्मा ३४१

ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी ८, ३५
ब्रजेन्द्रनाथ मुखर्जी ३१
ब्रह्मबान्धव उपाध्याय २७७, २७८
ब्रह्मा ३७
बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ७२, ७३, ७५, २८२, २९५
वंशीधर ९४
ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन ५८, ५९, ६२, ६४, ९८, २८२
ब्लूमफील्ड २६३
बालराम उदासीन २९८
बालेन्द्रनाथ टैगोर २१९
बालकृष्ण शिवराम मुंजे २९९
बालकृष्ण राव ५
बाल्मीकि १९४
बालकृष्ण भट्ट ९४, १८१, १९७
बालमुकुन्द गुप्त ४, ७, ९५, ९७, ९९, १०८, १७८, २११, २१२, २१३, २२८, २३०, २३१, २३२, २३३, २४१, २४३, २४८, २४९, २५९, २८२, २८६, ३५७, ३७८, ३८३, ३८६, ३८८, ३९३, ३९४, ३९६, ३९८, ४२०, ४३५, ४४१, ४४३
बाबूराव विष्णु पराड़कर ४, ९९, २१२, २४६, २६७, २६८, ३०३, ३५९, ३६०, ३७८, ३९२, ३९९, ४०१, ४०३, ४०४, ४०६, ४१४, ४२०, ४२३, ४२४, ४४१, ४४३
बालगंगाधर तिलक २६३, २९९, ३०७, ३६९, ४४१
ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय ३१, ३३, ४२, ३५३, ३७२, ४११
वेलेजली ३१
बुद्ध ६१
भगवतीचरण वर्मा ४, ३७८, ४४३
भगतसिंह ३६९
भरद्वाज २५५
भवानीदत्त पन्त २१३
भटनागर जी ८
भण्डारकर १४७
भवानी चरण बनर्जी ४८
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ४, ५, ७५, ९२, ९३, ९७, १०१, १४४, १६३, १६४, १६५, १७०, १८७, २०८, २३०, ३७८, ३८२, ३८८, ३९५
भीम ३४०
भूदेव मुखोपाध्याय २०५
भूपेन्द्रनाथ दत्त २६५
भवानीचरण बन्द्योपाध्याय २०
भूपेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ४०२
भोपटकर ४२०
महावीर प्रसाद द्विवेदी २२९, २३०, २४३, २४४, ३१४, ३३१, ३३५, ३४६, ३४७, ३५३, ३९७, ३९८, ४०९, ४१०, ४२०, ४२४, ४४१
महात्मा गान्धी ४, ६, ८६, ३०७, ३०८, ३०९, ३११, ३१३, ३२१, ३२९, ३६२, ३६७, ३६८, ३७७, ३९९, ४०४, ४२२
मदनमोहन भट्ट १०८
महाराज गुलाबसिंह ३८५
महामाया ५३
मदनलाल हिम्मतसिंह ३५०
महताबराय १९०
महेन्द्रलाल सरकार ८७
महेन्द्रकुमार बसु २१३
मथुरा बाबू ६१
मदनलाल ढींगरा २६५

महम्मद नजफ खाँ १०५
महादेव प्रसाद सेठ ३१५, ३२४, ४६१
महादेव गोविन्द रानाडे ७६
महादेव मुखर्जी १२२
मनोहरदास खन्ना ९८
महाकवि चन्द २९७
मदनमोहन मालवीय २७३, २९९, ३३९,
३८२, ३९६
माधव शुक्ल ३६८
माधवराव सप्रे ४०६
माधव प्रसाद मिश्र २४४, २५२, २५७,
२५९, ३९६, ४३५
माधवानन्द ३४६, ३४७
माखनलाल चतुर्वेदी ३१२
मारगरिटा वर्न्स ६
मि० एण्ड्रूज ३२९
मि० कालिन लिंडसी ३८
मि० जर्ज टकर ३८४
मि० एम० ए० ट्रोटर ३८
मि० विलियम केन २६२
मि० एरडब्लिडवेर्लो ३८
मि० जे० ल्यूइस ३८
मिर्जा महम्मद ३७
मि० आर० एम० मार्टिन ४४९
मि० जेम्स रिचर्डसन ४४९
मि० ए० ए० मेकडानल २६२
मि० एच० पी० गार्डन ३८
मि० डब्ल्यू० पी० पामर ३८
मेक्समूलर २६२
मि० ह्यूम ८४, ८५, ८६
मुहम्मद ६६
मेटकाफ २४
मिलखां नवाब ३७
मुक्ताराम बाबू ३५४, ३७१
मुकुन्दराम १८०
मुकुन्दलाल ३४२
मेजिनि ७९
मैथिलीशरण गुप्त २५८, ३१२
मि० मौर्ली २७५
मोहनसिंह सेंगर ३५३
मोहनसिंह मेहता ३५०
मोहनलाल मेहतो ३४१, ३४२, ३५०
महाराज प्रताप सिंह ३८२
माथुस्वामी अयार ११०
मोतीलाल मिश्र ३६०
मोतीलाल घोष २७७ ३१६, ४१९
मोनियर विलियम्स १६
मुहम्मद ६६
महम्मद खलिलुद्दीन खाँ ३७
मौलाना मुहम्मद अली ३६१
मैकाले १७, २९
मूर २७५
मेजर वेयरिंग २०३
मूलचन्द्र अग्रवाल ३६५, ३६६, ३७०,
४०६, ४०७
मि० उलवि जेस्सन ३७
यतीन्द्र मोहन ठाकुर १३६
यशोदानन्दन आखौरी १३६, २८५, २८६
२८७, २८८, २९६, ४०५
यादवचन्द्र शील ५१
युधिष्ठिर ३२९
युगलकिशोर शुक्ल ३१, ३२, ३४, ३६,
४१, ४१, ७५, २८३, ३७१ ३८०,
४१५
योगेशचन्द्र वसु १४
रवीन्द्रनाथ टैगोर ७२, ९०, २१९, २२५,
२२७, ३२५, ३३९, ४२२
रवीन्द्रनाथ ठाकुर १६, ८२, २२१, २२५,
२२६, ३१२

रमानाथ बन्द्योपाध्याय ५२,
रमा ९७, १४६, १४७, १४८
रसिक कृष्ण मलिक २८
रत्नाकर जी ३६८
रन्जीतसिंह ४०, ४२, ४३, ४३२
रमेशचन्द्र दत्त २६२, २८२
आर० डब्ल्यू० पो ३८, ४४
रमेशचन्द्र मजूमदार १७, ७२, ७९, ९८,
२६०, २६२
रामनाथ सुमन ३३१, ४०६
राजनाथ मित्र ४४९
रामगिरधारी लाल ३७
राजेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी ९०
राजेन्द्रचन्द्र शास्त्री ३९६
राजेन्द्र प्रसाद २२०, ३३९, ३४५
राजकृष्ण सिंह ३३, ४६, ४४३
रामलाल नेमाणी २४७
रामतीर्थ २५३
रामानन्द चटर्जी ८९, ४२२, ४२४
रामगोविन्द त्रिवेदी ३३१, ३३६, ४०९,
४४२
रामलाल मित्र २३१
रामानन्द चट्टोपाध्याय ४१०
रामपुरी ४३२
राम अवतार शर्मा ३०१, ३३६, ३३९
रामचरित्र तिवारी २९६
रामकृष्ण परमहंस १६, ६०, ६१, ७४,
७५, २८४
रामशंकर त्रिपाठी ३७०
रामेश्वर भट्ट ३५५
रामप्रसाद पाण्डेय ३४८
रामदयाल अछनेरा १५६
रामजीलाल शर्मा ३४१
रामदास वर्मा ९८
रामकृष्ण वर्मा ९४, २०९
रामकृष्ण ६१, ६२, ६३, ३७४
रामगुलाम अवस्थी ९४
रामनारायण मिश्र ९०
रामानन्द बाबू ३५२, ३५३
रामचन्द्र गुप्त २५४
रामचन्द्र शुक्ल ४६, ६७, ९३, ९५, १०१
१६३, १६९, १७०, २२९, २६६,
४२७
रामलाल शर्मा ३४२
राममनोहर लोहिया ४४३
रामपालसिंह २३१, ३९२
रामगोपाल घोष २८, २९, १०५
रामदीनसिंह १७७
रामधारी सिंह दिनकर ७१, ७२, ७७, ८४,
१४७, ३३९, ३४०,
रामविलास शर्मा ७५, ९१, ९२, ९३,
९४, ९५, ११७, १४३, १५९,
१६४, १६७, १६८, १६९, १७०,
२१०, २१३, २१४, २२९, २३०,
३९५, ३९६
रामरतन भटनागर ९, १९, २२, २४,
२५, ३३, ३४, ९३, ९४, १०१,
२२८, ३१३
राजा रामचन्द्र १३९, ४५६
राजा शिवप्रसाद ३०, १४५, १८९,
१९१, १९७, २०८
राजनारायण बोस ७८, ७९, ८२, ८३,
२१९
राजा शिवचन्द्र रायबहादुर ३७
रासविहारी २७४
राजा आनन्द किशोर ४२
राजा राममोहनराय १, २, ४, १५, १६,
१७, २०, २२, २४, २८, २९, ३२,

३३, ३५, ४५, ५९, ७४, १६०, २८२, २८४, ३७७, ४४०, ४४३, ४४४, ४४८
राधाचरण गोस्वामी ९४, ९७, १५५, १६५, १६७, १६९, ३३१, ३९१
राधाकृष्णदास ७, ८, ३०, ९६, १०१, १०६, १७७, ३९०, ३९१
राधाकृष्ण चतुर्वेदी ९८, ९९
राधाकान्त देव २९, ३५, ५२, ७४
राधानाथ मित्र ३३, ४६
राधारमण पाण्डेय ३७०
राजेन्द्रलाल मित्र २९५
राधाकृष्ण मिश्र २५१, २५८
राधामोहन गोकुल ३४१
रानाडे ७६, ७७, ८७, १४७
राजा भूपसिंह ३७
राजगुरु ३६९
राहु ४५७
आर० एम० मार्टिन ३३, ४६
रिपन महोदय १३७, १९१, २०८
रिमार्स टामसन २०३
रिचर्ड जानसन १८
रुद्रदत्तशर्मा ४, ९४, ९८, २४६, ३५३, ३७८, ४४३
रुद्रशिव ७१
रूडमल गोयनका २५७, २५९, ३०३, ३८५, ३९८
रूपनारायण पाण्डेय ३५६
रोमा रोलाँ ६१
लल्लूलाल ३८९
लटर मोहन मुखर्जी १०३
ललताप्रसाद खत्री १०५
लक्ष्मणदत्त शास्त्री ३९६
लक्ष्मी २९३
लरेनस १४०
लक्ष्मीधर वाजपेयी ३४१
लज्जाराम मेहता ४०६
लक्ष्मीशंकर व्यास ३६०, ३६४, ४०२, ४०४
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ४६, १४४
लक्ष्मणनारायण गर्दे ९९, २१२, २६७, ३००, ३३३, ३४४, ३४५, ३४६, ३९५, ४०२, ४०४, ४०६, ४१९, ४४१, ४४३
लाला काका २६६
लाला रामचन्द्र जी २४७
लाला भगवानदीन ३२९, ३३९
लाला लाजपत राय २५३, २६०, २६१, २७४, २७६, २७७, ३२८, ३६७, ३६९, ३९७, ४१९, ४४१,
लार्ड अमहर्स्ट १७, ३७
लार्ड वेलेजली २२
लार्ड विशप १८
लार्ड डफरिन ८५, ८६
लार्ड लिटन २५, ८२, ८९, १११, ११४, १३०, १३३, १३४, १३६, १३७, १३८, १८३
लार्ड कर्जन २१७, २१८, २३३, २३५, २३८, २४३ २५०, ३९४
लार्ड केनिंग ३०
लार्ड डर्बी ११२
लार्ड नार्थ विलफ़ ३६५
लार्ड हालिफाक्स ११२
लार्ड बैंटिक २४, २७
लार्ड हार्डिंग ३२९
लार्ड रिटन ७९
लार्ड रिपन ८०, ८६, १३६, १४१, १६३, २०२

लुई फिशर ३१०, ३११
लोचनप्रसाद शर्मा ३०१
लोचन प्रसाद पाण्डेय २३७
लोकमान्य तिलक २५०, २६०, २६६, २७२, ३६१, ३६३, ३९७, ४०१, ४१९
वासुदेव मिश्र ३५८, ३८५
वाजीराव ३४०
विकसफील्ड १४२
विवेकानन्द १६, ६०, ६९, ७०, ७१, ७२, २२७, ३३०, ३४६, ४६९
विद्यासागर ७४, १६०
वारीन्द्रकुमार घोष ८३, २२०
विक्टोरिया ५७, १११, ११२, १९३
विश्वनाथ शर्मा ३, १०, ३४, २१३, ४११, ४४०
विष्णुदत्त शुक्ल ३५३
विशुद्धानन्द सरस्वती २८३, ३८२
विष्णुकान्त शास्त्री ३९७, ४०१
विद्यापति २८२
वियोगी हरि ३५६
विशम्भर पण्डित ३७
विलियम हुक्रानी १८
विपिनचन्द्र पाल ६४, ८२, ९०, २१९, २२०, २२१, २२२, २२४, २२७, २६०, २६१, २७४, २३७, ४१५, ४१९, ४४१
वीरभद्र देव शर्मा २६९, ४६७, ४६८
वेसेन्ट (डॉ०) ८३
वेचन शर्मा उग्र ३७८, ४४३
शालग्राम खन्ना १०४, ११०
शाइस्त खाँ २३९, २४०
शिवनारायण मिश्र ४२४
शिवकुमार सिंह ९०
शिवकुमार मित्र २०
शिशिर कुमार घोष ३८८
शिव-पार्वती ४६६
शिवनारायण दास ३५४
शिवनारायण सिंह ९९
श्यामसुन्दर खत्री ३२०
शिवराम ३७
शिवप्रसाद गुप्त ३१३, ४२८
शम्भुनाथ मिश्र ९९, १००, ११८, ११९, १७७, १८०, ३८५, ४५२
शिवनाथ शास्त्री ८२, २१९
शिवानन्द ३३०
शिवचन्द्र जी भरतिया २४६
शिवबिहारी लाल ३९८
शिवशम्भु २२३, २३६, २४१, २८६, ३९५
शिवपूजन सहाय ४, ५, ३१५, ३१६, ३१९, ३२०, ३२२, ३२३, ३३३, ३४६, ३४७, ३५५, ३७१, ३७८, ४०८, ४०९, ४१०, ४२३, ४४३
शंकर नायर २७८
शंकराचार्य २९८, ३६२
शारदाचरण पाण्डे १९२
श्यामसुन्दर सेन ३४, ४७, ३५७, ३८१, ३८२
श्यामसुन्दर दास ३०, ९०, ३२९
शारदाचरण मित्र ८२, १०८, २८१, २८२, २८३, ४४१
शान्तिप्रिय द्विवेदी ३५०, ३५४
शिवाजी ८८, २२०, २५०, २५१, ३२७, ३४०, ४०९
शंकर ४६७, ४६८
शंकर घोष ३१८, ४६६, ४६९
शुकदेव ३६९

सुरेन्द्रनाथ टैगोर २८, २९, ८२, ९०
सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ७९, ८०, ८१, ८२, ८४, ११४, १८६, २००, २२१, २५१, ३०१, ३७७, ४१९
सदानन्द मिश्र ४, ९४, ९९, ११४, ११७, ११८, ११९, १२२, १३०, ३७८, ३८५, ३८६, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१
सारदाचरण मित्र २४३, २८४, २८५, २८६, २८८, २८९, २९३, २९५, २९६, २९८, ३०१, ३९६
सूर्यकान्तत्रिपाठी निराला ३१५, ३३२, ३३३, ३५५, ३७८, ४४२, ४४३, ४६९
श्रीनिवास दास १९१, १९३, २०८, ३८८
सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ४, ३५३, ३७८, ४४३
सरत कुमार मित्र २८७, २८८
सुनीत कुमार चट्टोपाध्याय ३, २८३, ३६९, ३७७, ४२७, ४४२
सखाराम गणेश देउस्कर २४६, २५१, ३९६, ४०१
सीताराम दास श्रीवास्तव ३५५
सम्पूर्णानन्द ४०४
एस० के० वर्मन ९८, ३४४, ४०५
स्वामी सहजानन्द २१३
स्वामी सत्यानन्द ६४, ६७
सर सैय्यद अहमद ६८
श्रीनाथ मिश्र ३४१
सुधाकर पाण्डेय २८८, ४५७
सत्यनारायण घोषाल २९
स्वामी सच्चिदानन्द ३३०
स्वामी दयानन्द २८४
सुब्रह्मण्यम शास्त्री ३३, ४६
सेन गुप्त ३६८
सदानन्द जी शुक्ल ३५८
सुमित्रानन्दन पन्त ३३१, ३३२
श्रीराम शर्मा २४३, ३३७, ३५३
श्रीधर पाठक २३०, ३३५
श्री कृष्णलाल ८, ३१
सावरकर ३३९
सियारामशरण गुप्त ३१२
सुभाषचन्द्र बोस २१३
श्रीनिवास शास्त्री १४८
सर गुरुदास बन्द्योपाध्याय ३९६
सत्येन बोस ८३
सुरेशचन्द्र समाजपति ३९६
सुकुमार मित्र २०, ४८
सिद्धेश्वरी ६२
साक्षी गोपाल १३६
सिराजुद्दौलाओं १८६
सनेही ३५२
सकलनारायण शर्मा ३६८
सारदाचरण सेन ३५८
सेण्ट जौन १८३
श्रीमती एनीबेसेण्ट ५८, ८६
ष्टीवेन्स साहब ५२, ३८१
सर विलियम हण्टर २६२
सिडेन हाम २१
ष्टरलिंग २७८, २७९
सर आर्कलेण्ड कोलविन ८४
सर जोस्ट जी साहब १८३
सर हाइडइस्ट १५
स्माल पेज साहब ५०
सर वैमफोल्ड २३९
सुतर्रा इडेन १९१
एस० नटराजन ३१३
सी० आर० दासोदल ३२९

हजारीप्रसाद द्विवेदी ३११, ३१२, ३७८, ४०६, ४१०
हरिश्चन्द्र ५२, ९२, १४३, १६३, १९१, १९५, २९७, ३८७, ३८८
हेमेन्द्र प्रसाद घोष २, १९, २१, २५, २१७
हरमुकुन्द शास्त्री ९७, ९८, १७७
हेस्टिंग्स २३
हनुमान प्रसाद कपूर ९८
हिरण्य कशिपु २७०
हार्ट १४०
हरखचन्द १०८
हीरेनकुमार सान्याल ९०
हरिदास मुखर्जी २२४, २२७
हुइटली टोक्स २०३
हरनचन्द राय २०
हरिऔध ३३१, ३४१, ३४९
हीरेननाथ दत्त ९०, २२१, ४०२
हम्फ्रीज १८
हनुमान जी १५०, ३४०
हरप्रसाद शास्त्री २८१
हंसकुमार तिवारी २८२
हरिकृष्ण जौहर ३५१
हरद्वारप्रसाद जालान ३५०

● **संस्था**

अखिल भारतीय हिन्दू सभा ३४१
अग्रवाल सभा २४७
अमरावती कांग्रेस २७८
अनुशीलन समिति २२०
अहमदाबाद कांग्रेस ३०९
आर्य्य सन्मार्ग संदर्शिनी सभा १४५
आर्य समाज ६१, १५६, २९८, ३८७
इण्डियन एसोसिएशन ८०, ८४, ११४
इण्डियन नेशनल कांग्रेस ८५
ईस्ट इण्डिया कम्पनी २२
ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन ८४
उन्नत विद्यायनी सभा १५४
एकलिपि विस्तार परिषद ८२, २८३, २८४, २८५, २८७, २८८, २९५, २९६, ३०१, ४४१, ४६१
कलकत्ता कांग्रेस २२९, २७३, ३१३
कलकत्ता विश्वविद्यालय ५९, ८५, २८१
कैम्ब्रिज २९४
कांग्रेस ७७, ८४, ८६, ८७, ९२, ९७
काशी विश्वविद्यालय ३२९
काशी विद्यापीठ ३११
क्रिश्चियन मिशनरी १९
गांधी आश्रम ३६३
गुजरात विद्यापीठ ३११
जमींदारी एसोसिएशन २८
तत्त्वबोधिनी सभा ७३
तदीय समाज ९१
तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ ३११
द इण्डियन प्रेस ६, ३४, ३१२, ३७७
द न्यूज पेपर प्रेस ४८
देवसमाज २९८
देवनागरी प्रचारणी सभा काशी ३०, ९०, १०८, ३२९, ३३२
नया समाज ४११

नेशनल कालेज २६८, २६९, ३११, ४०२
नेशनल मुस्लिम यूनिवर्सिटी ३११
नेशनल सोसाइटी ७९
पशुपति अत्याचार निवारणी सभा १८१
पटना नेशनल कालेज बिहार ३११
प्रयाग विश्वविद्यालय ८
प्रार्थनासभा ७६
फोर्ट विलियम कालेज ३
बड़ौदा साहित्य सम्मेलन २८२
बालकृष्ण प्रेस ३१५, ३१८, ३४६, ४६६, ४६९
ब्राह्म समाज ६२, ६४, ६८, ७६
ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन २९, ७३, ७८, १३३
ब्रिटिश पार्लमिण्ट ८७
बंगाल अकादमी ऑव लिट्रेचर ९०
बंगाल ब्रिटिश सोसाइटी २८
बंगाल प्राविन्सियल कान्फ्रेंस ८७
बंगाल नेशनल यूनिवर्सिटी ३११
बंगाल नेशनल कालेज और स्कूल २२५
बंगीय साहित्य परिपद् ९०, २९७
बिहार विद्यापीठ ३११
भारतीय राष्ट्रीय महासभा ५९
मारवाड़ी एसोसिएशन २५६
मेवाड़ स्टुडेन्ट्स क्लब १०५
रामकृष्ण मिशन ४४२
राष्ट्रीय पुस्तकालय ३४
राष्ट्रसंघ ४१०
राष्ट्रभाषा प्रचारसमिति वर्धा ४०४
लन्दन इण्डिया सोसाइटी ८४
लैण्ड होल्डर्स सोसाइटी २८
वणिक् प्रेस ३५४
विश्व भारती ९०, २१९
श्री सनातन धर्म २६९, ३९२, ३९८
सरस्वती प्रेस १०३, १७४
सीरामपुर मिशनरी २०
संजीवनी सभा ८२
शारदापीठ ३६२
हार्वर्ड यूनिवर्सिटी २९४
हिन्दू कालेज १७, २८
हिन्दी पुस्तक भण्डार ४०८
हिन्दी साहित्य सभा कलकत्ता २५७
हिन्दी साहित्य सम्मेलन ३२९, ३४१, ३५०, ३६८
ज्ञानवर्धिनी सभा ११४
ज्ञानमण्डल ४०२

● स्थान (देश-प्रदेश-नगर)

अफगानिस्तान ७९, ८०, १५८, १६०,
अमेरिका ९७, १४७, १६२, २६३, २९४
अमरावती ८७
अमड़ातल्ला ३१
अजमेर २४७
अयोध्या ४८, ११२
अलीगढ़ १८०
अवध १५७
अहमदाबाद २५४, ३६३
आनन्दवन १७३
इलाहाबाद १७९, १८१, ३९२
इंग्लैण्ड २५, ५८, ५९, ६२, ८४, ८५,

११२, १३२, १३४, १३८, १४२,
१४७, १५७, १८४, १८५, १८८,
२२३, २२६, २३८, २६१, २६६,
२७३, ३६५, ४५७, ४६४
उत्तर प्रदेश ८७
उड़ीसा २६
कन्दहार १८३
कन्याकुमारी ६७
(कलकत्ते) कलकत्ता २, ३, ४, ६, ८, १०,
१५, १८, २२, ३०, ३१, ३२, ३४,
३६, ३८, ४१, ४३, ४५, ४७, ४८,
४९, ५१, ६२, ७५, ७६, ७७, ८०,
८१, ९६, ९९, १००, १०१, १०३,
१०५, १०६, १०८, १११, ११४,
११८, १२०, १५४, १६०, १७१,
१७२, १७५, १७७, १७८, १८२,
१९१, २००, २११, २१३, २१४,
२१९, २२०, २२८, २३०, २३१,
२३६, २४६, २५८, २६१, २६५,
२६७, २६९, २७०, २७१, २७४,
२८१, २८७, २८८, २९३, ३००,
३०२, ३०८, ३१०, ३१५, ३१७,
३२८, ३३६, ३३७, ३४८, ३५३,
३५४, ३५६, ३५७, ३६७, ३६८,
३६९, ३७१, ३७५, ३७७, ३७८,
३७९, ३८५, ३९२, ४०१, ४०३,
४०४, ४०७, ४१२, ४२३, ४२६,
४२८, ४३६, ४३९, ४४०, ४४१,
४४२, ४५०, ४५२, ४५५, ४६१,
४६५, ४६९
कामाख्या ९७
कानपुर ४८, ३४५, ३४६, ३७९, ३९७,
काबुल ९५, १०७, ११२, १२८, १३३,
१३४, १८२, १८३
काशी ३०, ५२, ६१, ७५, ४०१
काश्मीर ६७, ९७, १११, १७७, १७९,
१९२, २३०, ३८५, ३८७
कालाकांकर ३९२
कुमारिका अन्तरीप २९०, ४५९
फोलू टोला ३१
गान्धार ४५९
गाजीपुर ३९२
गुजरात ११३
गुलबर्गा १९२
गोकुल १५६
गोवर्धन १५६
गोरखपुर ३८
चन्द्रनगर २६७, ४०१
चटगांव ११०
चीन १८२, १८३
चौबीस परगना ४९, ३९१
चिरपुर १०६
जम्मू १७९, ३८४
जबलपुर ३३५
जयपुर १२१, १२२, १८१
जर्मनी १८३
जलियां वाला बाग ३०८
जर्मनी १८३
जुलू ९५
जोधपुर ३९
जौनपुर १५०
झांसी २५८
टपरदा २३७
टर्की १३२, १८३
डुमरांव २९६
दरभंगा १७२
दिल्ली ५१, १३७, ३५९, ३७१
नागपुर ३०८

नैनीताल १८२
न्यूयार्क १४७
पटना ११७
पश्चिमोत्तर प्रदेश १५७
पावना ज़िला ८४
पाण्डीचेरी ४०६
प्रयाग ९७, १५३, ३५६
पूना १६१, २६५
पेरिस ११०, ३२९
पंजाब ८२, १५७, २०३, २०४, २५३, २६१, २६५, ३५६, ४०५
वर्किंघम ७८
वम्वई ७३, ८५, ११०, १४१, १५७, १८३, २२३, २६५, ३६७, ३७१, ४२०
वनारस १५०, २६३, ३१३, ३१९, ३६३
वलिया २९६
वड़ौदा ३३९
व्रिटिश १९
वंगलौर ४००
विहार २६, ८३, ८७, १८२, २०५
वंगाल २, १५, १७, १८, १९, २६, २८, २९, ५९, ७४, ८२, ८३, ८७, ८९, १३३, १४७, १६३, १७१, १८३, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २३९, २६१, २६४, २६५, २६९, ३७७, ३९१
भागलपुर ३८, ५०, १५०
भारत १, २, १५, १६, १७, १९, २१, २५, २९, ३०, ५८, ५९, ६३, ७१, ८०, ८५, ८६, १०२, ११५, १३४, १३६, १३९, १५३, १५७, १५८, १८४, २०४, २१८, २३६, २४९, २६२, २६४, २६६, २७३, २८१, २८३, २९१, ३८४, ४१३, ४१५, ४१७, ४१८, ४२५, ४४८, ४५६, ४५७, ४६० ४६१, ४६५।
भारतवर्ष ४८, ७२, ९९, ११०, १२८, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६ १३७, १३८, १४०, १४१, १५४, १५५, १५७, १५९, १६१, १६२, १६५, १७२, १७८, १८५, १८६, १८८, २००, २०१, २२९, २४३, २५३, २८२, २८४, २९०, ३११, ३२९, ३३०, ३४५, ३६६, ३६९, ३८६, ३९०, ४३१, ४३२, ४५९, ४६३, ४६८
भरतपुर ३९
भोजपुर २९६
मदुरा ११०
मद्रास १८, ७३, ८७, ८९, ११०, २६४, ४६४
मध्यप्रदेश ८७, १५७, २३७
महेशपुर ५०
मनचेस्टर ७८, १८२
मथुरा १२६, १४६, ३८८
महाराष्ट्र ७६, ८२, ८८, १४७, २२०, २५०, २६०, २६१, २६५, ४०१, ४२०
मिर्ज़ापुर १५०, ३२०
मुरादाबाद १५६
मुज़फ़्फ़रपुर २६५, २६६
मुर्शिदाबाद ४२७
मेदिनीपुर ४९, ५०
मेरठ ३०, ९७, १९५
योरोप १६२, २३६, २९४, ४६४
रशिया १३२, १८३
रायगढ़ २३७

रूस १३२
रावलपिण्डी २७८
लखनऊ ३५६
लाहौर ४२, ४३, ९८, १३७, १८०, १९५, ३७०, ४३२
लन्दन १०९, १६०, २६५, ३८४, ४८९
लंकाद्वीप १६०, १६१
वृन्दावन ६१, १५६, १६७
साइबीरिया १८३
शिमला १८३
सीरामपुर १८
सुन्दरवन ३८
सूरत २७३
स्काटलैण्ड ४९, ५०, ५१
शाहाबाद ४२
हजारीबाग १८२
हनुमान गढ़ी ४८
हरिद्वार ६६
हिन्दुकुश ४५६
हिन्दुस्तान २७, ९२, ९४, ११२, १२६, १३३, १५०, १५६, १६०, १६५, १८२, २०४, २३१, २४३, २६१, ३२७, ३५८, ३९२, ३९४, ४३३, ४५०, ४५१, ४५४
हैदराबाद १४९, १५०, १९२, ४२७, ४२८

■

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
● प्रारम्भिक			
	ऊपर से नीचे उपशीर्ष को छोड़ कर		
८	३	चेतना की	चेतना को
९	१२	श्रमिक	क्रमिक
९	१७	अध्यक्षा आदरणीय	अध्यक्षा आदरणीया
● मूलग्रन्थ			
१	८	पक्ष समर्थन	पक्ष-समर्थन
१	१७	अँगरेजियत	वे अँगरेजियत
१	२०	वर्ग	इस वर्ग
१	२६	एक और	एक ओर
२	१४	साम्पातिक	सांघातिक
३	१२–१३	समाचार-पत्र 'सुधावर्षण'	'समाचार सुधावर्षण'
५	३	खण्डित हो जाता है	खण्डित हो जाती है
६	२०	आलोकवर्ती	आलोकवर्षी
६	२०	व्यक्तित्व के समग्र	व्यक्तित्व से समग्र
८	२१	यह प्रबन्ध पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के	यह प्रबन्ध कलेवर की दृष्टि से बहुत बड़ा है। पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के
१५	४	प्रवेश करतो	प्रवेश करती।
१६	६	अर्थवेत्ता	अर्थवत्ता
१७	१०	शिक्षा अनुकूल	शिक्षा के अनुकूल
३७	२४	रीक्ष	रीझे
४०	१५	....	(यह बिन्दु-रेखा अनावश्यक है)
५७	१५	पार्ल्यामेण्ट क	पार्ल्यामेण्ट के

५९	१७	पराजय जनित निरासा	पराजय जनित निराशा
६९	२०	अपने पैरों	वह अपने पैरों
६९	२०	रंग रँगे	रंग में रँगे
७३	२५	प्राचीन विद्या को आधुनिक युग के लिए	प्राचीन विद्या को आधुनिक रूप देना चाहते थे ताकि आधुनिक युग के लिए
७५	८	पुरानी प्रतियां देखी थी	पुरानी प्रति देखी थी
७७	२१	होमल्ल लीग	होमरूल लीग
७७	२२	होमल्ल लीग	होमरूल लीग
७८	१७	पितामह राजनारायण बोस	मातामह राजनारायण बोस
७९	१५	ग्लैडस्ट्रोन	ग्लैडस्टोन
७९	२४	लार्ड रिटन	लार्ड लिटन
८०	३१	शोक संग्रह	शोक-संवाद
८३	६	दारिद्र	दारिद्र्य
८४	४	उन्नसवीं	उन्नीसवीं
८४	५	के साथ	के हाथ
१६९	५	बाईस वर्ष	अट्ठाईस वर्ष
१७०	१३	सभी प्रयुगों के लिए	सभी युगों के लिए
१९५	२५	सब्र अभ्यास	सब को अभ्यास
२०३	२६	प्रवर्द्धन किया	प्रवर्द्धन दिया
२०४	२४	हिन्दी भाषी पत्र	अहिन्दी भाषी पत्र
२०५	११	स्थान भी	स्थान की
२१३	१८	कुछ ही ऊपर	कुछ को ऊपर
२१७	उपशीर्षक	बर्तानवी शासन	बर्तानिया शासन
२१८	२६	जापान की विजय ने	रूस पर जापान की विजय ने
२२३	२७	लार्ड कर्जल	लार्ड कर्जन
२३०	१६	तुन्हारी	तुम्हारी
२३१	८	ठिप्पणी	टिप्पणी
२३९	१८	—कुँवर साहब के नाम'	—फुलर साहब के नाम'
२४२	५	'कर्जनाना'	'कर्जन नामा'
२४४	२७	कल्लू अल्हदुत	कल्लू अल्हइत
२६३	४	मिरास	निरास
२६४	८–९	पूर्व रूप से	पूर्ण रूप से
२६४	१३	गार्हस्तिक सुख	गार्हस्थिक सुख

२६५	१८	'इन्द्र प्रकाश'	'इन्दु प्रकाश'
२७६	८	प्रथम उद्दश्य	प्रथम उद्देश्य
२७७	२०	का सम्पूर्ण दायित्व	सम्पूर्ण दायित्व
२७८	५	इसी सन्दर्भ	इस सन्दर्भ
२८५	२३	मित्र	मिश्र
२९८	१८	कुछ पहले उद्‌धृत	कुछ 'परिशिष्ट' में उद्‌धृत
२९९	२२	जाग्रत	जागृत
३०१	९	अनन्त वायु शास्त्री जोशी	अनन्त वायु शास्त्री
३१३	उपशीर्षक	यग	युग
३१६	१	मेरा कलेवा	मेरा कलेजा
३२१	१२	(पाद टिप्पण संख्या) २	१
३२४	७	माह-माया	मोह-माया
३२९	६	क्या कहा।	क्या कहना।
३२९	८	'पियकूड' 'थोड़ा थोड़ी'	'पियक्कड़' 'घोड़ा घोड़ी'
३३६	'सेनापति' का		
	मुख पृष्ठ	शक १	शंख १
३५३	१४	निकलते	निकले
३५३	२७	वह आज भी निकल रहा है।	अब इस का प्रकाशन बन्द हो गया है।
३६०	३३	वे अंश	वे अंक
३६४	१८	उन की चर्चा	उन की चर्या
३७८	६	प्रतिभा-शक्ति	प्रातिभ-शक्ति
३७८	२१	की शीर्ष प्रस्तुति	को शीर्ष प्रस्तुति
३८५	२१	पयाल	पुआल
३८६	२४	जातीय विवेचना	जातीय दृष्टि की विवेचना
३९०	८	वड़ा विरोध	कड़ा विरोध
३९६	२८	अँगरेजी पत्रों की भाँति	अँगरेजी पत्रों के सम्पादकों की भाँति
३९५	१३	छिए	लिए
३९७	८	उन्नीसवीं शताब्दी मानस-मनीषा	उन्नीसवीं शताब्दी की मानस-मनीषा
३९७	१७	राष्ट्रीय स्वर के साधकों की	राष्ट्रीय स्वर-साधकों की
४०६	१	का साधन ही	का साधन हो
४३२	११	आज की हिन्दी गद्य में	आज हिन्दी गद्य में

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१५	२५	paramountency	PARAMOUNTANCY
६१	३१	concerning	Coercing
६१	३२	Found	Find
६३	२९	cast	Cost
६५	२८	Regeration	Regeneration
७९	३०	Hindusm	Hindism
१२२	१५	Varnacular	Vernacular
१२२	२१	Ascept	Accept
१२३	१७	Rection	Section
१२३	२३	Fiftusion	confusion
१२३	२६	In the	If the
१२८	२५	of	off
१२८	२९	Awakended	Awakened
१९०	३०	Loyality	Loyalty
२२३	३४	Hellow	Hollow
२६०	३३	bach	back
३१३	२०	Ninteenth	Nineteenth
४२७	२६	Philauthropist	Philanthropist
४२७	२७	Scould	Scold

४२७   २८ वीं पंक्ति का अन्तिम शब्द और २९ वीं पंक्ति दुबारा मुद्रित।

■ ■